मुद्रा, बैंकिंग, विनिमय
और
विदेशी व्यापार

(Money, Banking, Exchange & Foreign Trade)

लेखक

कालका प्रसाद भटनागर एम० ए०, एल-एल० बी०
(वाइस-चांसलर, आगरा यूनिवर्सिटी, आगरा)

सुरेश चन्द्र गुप्त एम० ए०, पी-एच० डी०
(प्राध्यापक, डी० ए० वी० कालिज, कानपुर)

और

तिलक नारायण हजेला एम० ए०
(प्राध्यापक, बरेली कालिज, बरेली)

सरस्वती सदन
मसूरी

मूल्य ७ रु० ५० न. पैसे

दो शब्द

आधुनिक आर्थिक जगत में मुद्रा, बैंकिंग, विनिमय एवं व्यापार का बहुत अधिक महत्व है। प्रत्येक देश की समृद्धि इन्हीं प्रणालियों के सुचारु रूप से कार्य करने पर निर्भर है। वास्तव में उत्तम मौद्रिक एवं साख नीतियाँ ही किसी देश की अर्थव्यवस्था की प्राण होती हैं, क्योंकि मूल्य के उतार-चढ़ाव आर्थिक संतुलन को क्षणभर में भंग कर सकते हैं। इसीलिए यह आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक देश की मुद्रा और साख-प्रणाली सुसंगठित हो और देश की साख-नीति का निर्माण इस प्रकार किया जाय कि देश की अर्थव्यवस्था की प्रगति में बाधा न पड़े।

प्रस्तुत पुस्तक में लेखकों ने पाठकों के सम्मुख विनिमय-सम्बन्धी विषयों की प्रारम्भिक समस्याओं का स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न किया है। वैसे तो इस विषय पर अनेकों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं, फिर भी लेखकों ने इस पुस्तक में विषय का सरल किन्तु वैज्ञानिक रूप से विवेचन करने का प्रयत्न किया है। पुस्तक में मौलिकता का दावा कर सकना तो सम्भव नहीं है, परन्तु इसकी भाषा इतनी सरल है कि विद्यार्थी बिना किसी कठिनाई के विषय को समझ सकते हैं। क्योंकि यह विषय सरल नहीं है, इसीलिए इस पुस्तक में सरल भाषा एवं विवेचना की एक नयी रीति अपना कर विषय को सरल बनाने का प्रयास किया गया है। कहाँ तक लेखक इस प्रयास में सफल हुए हैं, इसका निर्णय केवल भविष्य ही कर सकता है।

यह पुस्तक विशेषकर भारतवर्ष के विश्वविद्यालयों के बी० ए० और बी० कॉम० के विद्यार्थियों के लिए लिखी गयी है। परन्तु यह उन सर्वसाधारण पाठकों के लिए भी रुचिकर सिद्ध होगी, जो मुद्रा, बैंकिंग, विदेशी विनिमय एवं विदेशी व्यापार सिद्धान्तों एवं समस्याओं की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। इस पुस्तक में भारतीय बैंकिंग प्रणाली एवं विदेशी व्यापार का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

आशा है कि यह पुस्तक अध्यापकों और विद्यार्थियों को पसंद आएगी। पुस्तक को संशोधित करने के हेतु प्राप्त सुझावों का पूर्णरूप से स्वागत करेंगे। है अध्यापक बन्धु निसंकोच अपने सुझाव भेजेंगे।

लेखक उन सभी सज्जनों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हैं जिनसे उन्हें इस पुस्तक के लिखने में सहायता मिली है। हम श्रीमती उर्मिला हजेला, एम० ए० एवं प्रो० कृष्ण मोहन सहाय के हृदय से आभारी हैं, जिन्होंने समय-समय पर लेखकों को विशेष सहायता पहुँचाई है। लेखकगण अपने प्रकाशकों के भी विशेष रूप से आभारी हैं, जिन्होंने एक मास के अल्पकाल में ही पुस्तक का मुद्रण करा के पाठकों के सम्मुख रखा है।

कालका प्रसाद भटनागर
सुरेश चन्द्र गुप्त
तिलक नारायण हजेला

विषय सूची

प्रथम भाग—मुद्रा

द्वितीय भाग--बैंकिंग

पहला अध्याय
विषय-प्रवेश

आधुनिक मनुष्य की आवश्यकतायें अनन्त हैं और इसी कारण वह प्राचीन मनुष्य की अपेक्षा अधिक प्रयत्नशील है। अपने प्रयत्नो द्वारा वह अधिक से अधिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की चेष्टा करता है, जिसके लिये उसको दूसरे मनुष्यो की भी सहायता लेनी पड़ती है। अपनी आवश्यकताओं की सारी वस्तुओं का निर्माण मनुष्य स्वयं ही नहीं कर सकता, कुछ वस्तुओं का उत्पादन वह स्वयं करता है और कुछ वस्तुओं को वह दूसरे मनुष्यों से विनिमय (Exchange) करके प्राप्त करता है। इसी प्रकार प्राचीन मनुष्य आधुनिक बना; विनिमय के द्वारा ही मनुष्य को यह आधुनिकता प्राप्त हुई। विनिमय ने न केवल उत्पादन और उपभोग को सुगम बनाया बल्कि श्रम-विभाजन और बड़े पैमाने के उत्पादन को उन्नत किया। अतः विनिमय को आधुनिक आर्थिक जगत का सचालक कहना मिथ्या न होगा।

मनुष्य के साथ-साथ विनिमय के रूप में भी परिवर्तन हुआ। प्राचीन काल में विनिमय प्रत्यक्ष रूप से होता था। आर्थिक व्यवस्था इतनी जटिल न थी, न मनुष्यों की आवश्यकतायें ही ज्यादा थी और न श्रम-विभाजन का ही जन्म हुआ था। हर मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की वस्तुएं स्वयं ही निर्माण करता था, और अपने क्षेत्र में स्वावलम्बी था। परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्यो की आवश्यकताओं में भी वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप श्रम विभाजन और विनिमय की आवश्यकता प्रतीत हुई। उस समय में मनुष्य अपनी वस्तु देकर दूसरे मनुष्य की वस्तु ले लेता था। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वस्तुओं का यह लेन देन बिना किसी ध्येय के होता था। मनुष्य अपने पास की अतिरिक्त वस्तु देकर दूसरे मनुष्य से अपनी आवश्यकता की वस्तु ले लेता था। इस प्रकार की व्यवस्था को वस्तु-विनिमय व्यवस्था (Barter System) कहते हैं। जैवन्स के अनुसार "तुलनात्मक अतिरिक्त वस्तु का अदल-बदल तुलनात्मक आवश्यक वस्तु के साथ ही विनिमय है"[1] उदाहरणार्थ यदि मैं अपने पास की अतिरिक्त मेज देकर शंकर से अपनी आवश्यकता की दो कुर्सियाँ ले लूँ तो यह वस्तु विनिमय होगा।

वस्तु विनिमय में विनिमय का कार्य अति सरल तथा प्रत्यक्ष होता है क्योंकि कोई भी दो व्यक्ति अपनी फालतू वस्तुओं का आपस में आदान प्रदान करके विनिमय

१—"Exchange is the barter of the comparatively superfluous with the Comparatively necessary" by Jevons.

कर सकते हैं। वस्तु विनिमय केवल आरम्भ काल में ही प्रचलित नही था बल्कि यह आजकल भी दृष्टिगोचर होता है, परन्तु उस समाज में जो कि आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ है। भारतवर्ष के शहरो अथवा गाँवो दोनो ही में आजकल भी वस्तु विनिमय प्रचलित है। वस्तुओ तथा सेवाओ के बदले में वस्तुएँ तथा सेवाएँ प्राप्त की जाती है। गाँवो में अनाज के बदले में साग, फल, नमक, धोबी और भंगी आदि की सेवायें ली जाती है और शहर में स्त्रियाँ फटे पुराने कपड़ो के बदले में चीनी तथा शीशे के बर्तन ले लेती हैं।

मनुष्य के आर्थिक तथा सामाजिक विकास के साथ-साथ विनिमय का महत्व भी बढता गया, उसकी स्वावलम्बिता घटती गई और वस्तु विनिमय का लोप हो गया। जैसा कि हम पहले ही कह चुके है कि वस्तु विनिमय केवल एक पिछडे हुए समाज की बात है, जहाँ पर मनुष्य की आवश्यकताएँ बहुत ही सीमित हो तथा विनिमय का क्षेत्र सकुचित हो। परन्तु एक सभ्य एव उन्नत समाज में इसका चलन विस्तृत हो जाता है। इसीलिये जब मानवी आवश्यकताएँ बढी, उत्पादन में वृद्धि हुई, श्रम-विभाजन के रूप में परिवर्तन हुए और आर्थिक बाजार का क्षेत्र बढने लगा, तब वस्तु विनिमय में भांति-भाति की कठिनाइयाँ दृष्टिगोचर होने लगी जिसके कारण विनिमय कार्य दुर्लभ होता गया और एक समस्या बनने लगा।

वस्तु विनिमय की कठिनइयां

वस्तु विनिमय की प्रमुख कठिनाइया निम्न प्रकार है :—

(१) **आवश्यकताओ के दोहरे संयोग का अभाव** (Lack of Double coincidence of wants)—स्वभावत: वस्तु विनिमय में विनिमय कार्य दो व्यक्तियो के बीच काल्पनिक समभौते पर निर्भर है। इसके लिये दो व्यक्तियो की आवश्यकताओ तथा वस्तुओ का दुहरा सयोग होना अत्यन्त आवश्यक है, जिसके अभाव में विनिमय कार्य असफल हो जाएगा। परन्तु केवल दो व्यक्तियों और दो वस्तुओं की उपस्थिति से ही काम नही बनता। ऐसे दो व्यक्तियो की भी आवश्यकता होती है जिनमें से हर एक के पास वही वस्तु फालतू हो, जिसकी आवश्यक्ता दूसरे को हो। इसे हम एक उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—यदि 'अ' गेहूँ को देकर चीनी लेना चाहता है, तो वह तभी सफल हो सकेगा जब कि उसे कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाए जिसको गेहूँ की जरूरत हो और जिसके पास चीनी भी फालतू हो ताकि वह 'अ' को गेहूँ के बदले दे सके। ऐसी स्थिति को आवश्यक्ताओ का दोहरा सयोग कहते है। प्राचीन काल मे जब मनुष्यो की आवश्यक्तायें बहुत कम थी और केवल थोड़ा सा ही उत्पादन करके उनकी सन्तुष्टि हो सकती थी तब ऐसा सयोग अधिक्तर सम्भव हो जाता होगा। परन्तु आज कल ऐसी स्थिति केवल संयोग की ही बात है। उपरोक्त उदाहरण में यदि यह सम्भव भी हो जाय कि 'अ' को 'ब' एक ऐसा व्यक्ति मिल जाय जिसके पास चीनी हो तो यह जरूरी नहीं कि उसको गेहू की आवश्यकता ही हो। हो सकता है वह चीनी के बदले में घी चाहता हो। इस प्रकार 'अ' और 'ब' में आवश्यक्ताओ की दोहरी समानता के अभाव में विनिमय कार्य न होगा। यह पहली बाधा है, जिसके कारण वस्तु विनिमय

असम्भव हो जाता है।

(२) **सर्वमान्य मूल्य मापक का अभाव** (Lack of a common Denominator of Value)—वस्तु विनिमय में जो दूसरी कमी प्रतीत होती है, वह एक ऐसे माप-दण्ड की है जिससे हर वस्तु का मूल्य आंका जा सके। दूसरे शब्दो में यह कह सकते है कि विनिमय में वस्तुओ के पारस्परिक अनुपात का निश्चय करना, जब कि एक सामूहिक माप दण्ड न हो, असम्भव हो जाता है। यह तय करना कि एक वस्तु विशेष की मात्रा विशेष के बदले में दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा मिलनी चाहिये, विनिमय कार्य के लिये परम आवश्यक है। हमारे उपरोक्त उदाहरण में 'अ' को यदि 'स' एक ऐसा व्यक्ति मिल भी जाय जो चीनी देकर गेहूँ लेना चाहता है, किन्तु वह 'अ' के एक मन गेहूँ के बदले में कितनी मात्रा चीनी की दे। जब तक यह निश्चित नही हो जाय कि वह दोनो कितनी मात्रा में वस्तुएँ आपस में अदल-बदल करे विनिमय होना एक समस्या बन जाएगा। अत इस समस्या को सुगम बनाने के लिये दोनो ही व्यक्तियो को विनिमय-दर का ज्ञान होना अनिवार्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त मनुष्य केवल एक ही वस्तु का उत्पादन करता है, परन्तु उसके बदले में उसको अनेको वस्तुओ की आवश्यकता होती है। इसीलिये अब यहाँ यह समस्या उत्पन्न होती है कि विनिमय करने वालो को केवल दो ही वस्तुओ की विनिमय दरो की जानकारी ही काफी नही हे, वरन् जितनी वस्तुएँ समाज में प्रचलित है, उन सभी की विनिमय दरो का ज्ञान होना चाहिये। एक उन्नत एव सभ्य समाज में यह अनिवार्य सा हो जाता है। लेकिन वस्तु विनिमय व्यवस्था में जो कि कदाचित् एक पिछड़े हुए समाज की बात है, इस प्रकार विनिमय दरो का निश्चित होना कठिन ही नही वल्कि असम्भव है क्योकि वहाँ पर कोई सामान्य मूल्य मापक नही होता है। अत. यह वस्तु विनिमय की दूसरी कठिनाई है।

(३) **ईकाइयो के विभाजन का अभाव** (Lack of Divisibility of Units)—विनिमय होने वाली वस्तुओ में कुछ वस्तुएँ ऐसी भी होती है, जिनको छोटी-छोटी ईकाइयो में नही बाँटा जा सकता। क्योकि ऐसा करने से वस्तु या तो उपयोगिता-हीन हो जायेगी अथवा मूल्यहीन। उदाहरणार्थ, यदि एक व्यक्ति के पास गाय है जिसके बदले में वह खेती के लिये बीज, कुर्तो के लिये कपडा, कुछ धोतियाँ, जूते आदि वस्तुएँ लेना चाहता है। ऐसी परिस्थिति मे विनिमय होना एक समस्या होगी। ऐसे व्यक्ति को खोज लेना, जिसको गाय की आवश्यकता हो और जिसके पास विनिमय की वे सारी वस्तुएँ हों जिनकी आवश्यकता गाय के स्वामी को है, बहुत मुश्किल है और फिर ऐसे व्यक्ति की अनुपस्थिति में गाय को टुकडो में बाँटकर आवश्यकता की सारी वस्तुएँ भी नही ली जा सकती क्योकि गाय के टुकडे करने से एक तो उसकी उपयोगिता समाप्त हो जायगी और दूसरे उसकी हड्डी, मास तथा खाल को कदाचित वह लोग लेने को तैयार न हो जिनके पास वह वस्तुएँ मौजूद है। अत: ऐसी अवस्था में विनिमय होना असम्भव है और यही है वस्तु विनिमय की अन्तिम कठिनाई।

अदल-बदल प्रथा की इन कठिनाईयो से मनुष्यो को बहुत सी असुविधाओ का सामना करना पडा। विनिमय क्षेत्र बहुत सकुचित हो गया, बहुत सी आवश्यकताएँ

असन्तुष्ट रहने लगी और आर्थिक विकास रुक सा गया जिसके फलस्वरूप मनुष्यों को एक ऐसे माध्यम की खोज करनी पडी, जिसमें सर्वमान्यता हो और जिससे वस्तु विनिमय की सारी कठिनाइयाँ दूर हो सकें। ऐसा माध्यम उन्हें मुद्रा में मिला, जिसके प्रयोग से विनिमय का रूप ही बदल गया। इस प्रकार एक आधुनिक अर्थ व्यवस्था का निर्माण हुआ और धीरे-धीरे वस्तु विनिमय पद्धति का स्थान मुद्रा-पद्धति ने ले लिया।

मुद्रा-पद्धति में विनिमय कार्य प्रत्यक्ष रूप से न होकर परोक्ष रूप से होता है। इसमें हर वस्तु का मूल्य मुद्रा में आका जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपनी वस्तु देकर दूसरी वस्तुएँ लेना चाहता है तो वह पहले अपनी वस्तु बेचकर मुद्रा प्राप्त करेगा, फिर उस प्राप्त मुद्रा से अन्य वस्तुएँ लेगा। इस प्रकार विनिमय के दो भाग हो जाते हैं, एक तो वस्तु के बदले मुद्रा प्राप्त करना और दूसरे मुद्रा के बदले वस्तु प्राप्त करना। पहले भाग को बेचना तथा दूसरे भाग को खरीदना कहते हैं। यद्यपि विनिमय के दोनो रूपों में कोई विशेष अन्तर नही है, जहाँ तक कि ध्येय का सम्बन्ध है, फिर भी विनिमय करने की रीति में काफी अन्तर है।

हम मुद्रा युग मे रहते हुये भी वस्तु विनिमय से दूर नही हो सके हैं, यह सभी जानते हैं। यह निर्विवाद है कि हमने आर्थिक क्षेत्र मे काफी उन्नति की है, हमने वस्तु विनिमय का स्थान क्रय-विक्रय को दे दिया है, जो कि विनिमय का एक नया रूप है जिससे आज हम अपनी हर आवश्यकता को सतुष्ट करने में सफल हो सके है परन्तु फिर भी हम परोक्ष ढग से वस्तु विनिमय को ही अपनाये हुये हैं। यह केवल पिछडी तथा असभ्य जातियो में ही नही अपितु आधुनिक सभ्य जातियो में भी प्रचलित है। इस पद्धति के अभी तक बने रहने का एकमात्र कारण इसकी सरलता हो हो सकता है। ग्रामीण अर्थ व्यवस्था में तो इसका प्रमुख चलन है ही जैसे बढई, चमार, मजदूर आदि की सेवाओ का प्रतिफल आज भी अनाज के रूप में ही दिया जाता है। किन्तु व्यापारिक जगत में भी इसका काफी प्रयोग हो रहा है। आज का विदेशी व्यापार भी अधिकतर वस्तु विनिमय पर ही निर्भर है। मुद्रा के मूल्य की अनिश्चितता बढ जाने के कारण इस पद्धति का प्रचार और भी बढ रहा है। आजकल दो देशो के बीच व्यापार आपसी समझौते द्वारा होता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि ससार फिर से वस्तु विनिमय की ओर लौट रहा है।

दूसरा अध्याय

मुद्रा की परिभाषा, प्रकृति एवं कार्य

किसी भी विषय को आरम्भ करने से पहले एक प्रथा सी बन गई है कि उसकी परिभाषा की जाय। अतः इस प्रथा को अपनाते हुए, यहाँ पर भी मुद्रा की परिभाषा करना परम आवश्यक हो जाता है। परिभाषा से पूर्व यह जानना भी आवश्यक है कि मुद्रा शब्द कैसे बना? हिन्दी भाषा का 'मुद्रा' शब्द अंग्रेजी भाषा के Money शब्द का अर्थ है, जो लेटिन Latin भाषा के शब्द Moneta से निकला है। आरम्भ में Moneta देवी Juno का नाम था। रोम में जूनो के मन्दिर में सिक्के बनाये जाते थे, इसलिये अंग्रेजी भाषा का शब्द Mint (टकसाल) वह जगह कहलाई, जहाँ पर मुद्रा बनती है। प्राचीन रोमन शब्द Moneta जिसका तात्पर्य सिक्के से है, Moneo शब्द से निकला है, जिसका अर्थ उस आदेश से है, जो कि सिक्कों पर मुहर लगाने और सिक्कों का मूल्य नियत करने के लिये सरकार द्वारा दिया जाता था। कुछ विद्वानों का मत है कि मुद्रा (Money) शब्द उन प्राचीन आर्थिक जुर्मानों से निकाला गया है जो कि रोमन लोग (Romans) पशुओं के रूप में जनता से वसूल करते थे। इसी प्रकार प्राचीन रोमन शब्द Pecunia भी जिसका अनुवाद मुद्रा किया जाता है, और जिसका तात्पर्य 'पशुधन' से लेते थे, Pecus शब्द से बना है जिसका अर्थ पशुओं के एक झुण्ड से लगाया जाता था जो कि बिल्कुल मुद्रा का ही काम करते थे। पशु वह धन थे जो कि रोम और यूनान (Greece) दोनों ही जगह विनिमय के माध्यम का कार्य करते थे। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुद्रा (Money) शब्द उपरोक्त दो ही स्रोतों से निकला है।

मुद्रा की परिभाषा (Definition of Money)

मुद्रा की कोई एक और पूर्णरूप से उपयुक्त परिभाषा करना एक कठिन कार्य है। अभी तक जितनी भी परिभाषाएँ हमारे सन्मुख आई हैं, उन सबमें अर्थशास्त्रियों ने भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये हैं। इन परिभाषाओं का वर्गीकरण हम दो आधारों पर कर सकते हैं जो कि निम्न प्रकार हैं :—

(१) अर्थशास्त्रियों की विचारधारा के अनुसार, और दूसरे

(२) परिभाषाओं की प्रकृति के अनुसार।

पहले आधार के अनुसार हमको मुद्रा की परिभाषा के विषय में तीन विचार-धारायें मिलती हैं।

प्रथम, वह अर्थशास्त्री जो कि केवल धातु-मुद्रा को ही मुद्रा कहते हैं। द्वितीय वह अर्थशास्त्री जिनके अनुसार सभी प्रकार के विनिमय के माध्यम मुद्रा हैं जैसे—धातु

के सिक्के, कागजी मुद्रा, चैक, हुंडी आदि। और तृतीय वर्ग में वे अर्थशास्त्री आते हैं जो केवल धातु मुद्रा और कानूनी ग्रहण कागजी मुद्रा को ही 'मुद्रा' मानते है।

पहले वर्ग में राबर्टसन (Robertson) जैसे अर्थशास्त्री आते है। राबर्टसन के अनुसार "मुद्रा एक ऐसी वस्तु है जो उस वस्तु की ओर सकेत करती है जो वस्तुओं के मूल्य के भुगतानो में अथवा दूसरे व्यापारिक दायित्व ,को निपटाने में विस्तृत रूप से ग्रहण की जाती है।"[१]

चूंकि धातु-मुद्रा ही विस्तृत रूप से ग्रहण की जाती है, इसलिये उपरोक्त परिभाषा पहले वर्ग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है।

कोल (Cole) दूसरे वर्ग के अर्थशास्त्री है जो हर प्रकार के विनिमय के माध्यम को मुद्रा मानते है। जैसा कि उनकी परिभाषा से विदित है। कोल के अनुसार "मुद्रा केवल क्रय-शक्ति है······ऐसी वस्तु जो दूसरी वस्तुएं खरीदती है।"[२]

तीसरे वर्ग में ऐली (Ely), मार्शल (Marshall) आदि जैसे अर्थशास्त्री आते है। प्रोफेसर ऐली के शब्दो में "कोई भी वस्तु जो स्वतन्त्रतापूर्वक विनिमय के माध्यम के रूप में हस्तान्तरित होती हो और जो सामान्य रूप से ऋणो के अन्तिम भुगतान में स्वीकार होती हो, मुद्रा है।"[3]

इसी प्रकार प्रोफेसर मार्शल के विचार में "मुद्रा में वे सब वस्तुएं सम्मिलित है जो (किसी विशेष समय अथवा स्थान पर) बिना सन्देह अथवा विशेष जांच के वस्तुओं और सेवाओं के खरीदने तथा खर्चा चुकाने के साधन के रूप में सामान्य रूप से ग्रहण की जाती है।"[४]

मुद्रा की परिभाषाओं का दूसरा वर्गीकरण उनकी प्रकृति के अनुसार किया जाता है। वास्तव में हर परिभाषा के दो महत्त्व हो सकते है— प्रथम, सैद्धान्तिक और द्वितीय व्यवहारिक। यह स्पष्ट है कि एक अच्छी परिभाषा सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनो ही दृष्टिकोण से सही उतरनी चाहिये। परन्तु अधिकाश परिभाषायें

१—"Money is a commodity which is used to denote anything which is widely accepted in payment of goods or in discharge of other business obligations" —Robertson.

२—"Money is simple purchasing power something which buys things" —Cole.

३—"Money is anything that passes freely from hand to hand as a medium of exchange and is generally received in final discharge of debts" —Ely.

४—"Money includes all those things which are (at any time or place) generally current without or special enquiry as a means of purchasing commodities and services and of defraying expenses." —Marshall.

ऐसी होती है जो एक ही दृष्टिकोण को सतुष्ट करती है, ठीक यह ही बात मुद्रा की परिभाषाओं के सम्बन्ध में भी लागू होती है। यह अवश्य है कि सौभाग्य से मुद्रा की सभी परिभाषाओं में एक तार मिलता है, किन्तु एक अन्तर भी, परन्तु जो अन्तर मिलता है उसके आधार पर हम कुछ विशेष दृष्टिकोण बना सकते हैं। यह ही दृष्टिकोण उन परिभाषाओं के प्रतिनिधि है और इन्ही के आधार पर परिभाषाओं का वर्गीकरण निम्न प्रकार कर सकते हैं।

(१) वैधानिक परिभाषायें (Legal Definitions)

(२) वर्णनात्मक परिभाषायें (Descriptive Definitions)

और (३) मुद्रा की सर्वग्रहणीयता पर आधारित परिभाषायें (Definitions based on the general acceptability of Money)

वैधानिक परिभाषायें —नैप (Knapp) तथा हॉटरे (Hawtrey) जैसे अर्थशास्त्रियों का मत है कि सरकार द्वारा घोषित की हुई वस्तु मुद्रा कहलाती है।[1] यह सभी को मालूम है कि आजकल सरकार द्वारा ही मुद्रा का प्रचलन होता है और जो वस्तुएं सरकार द्वारा मुद्रा घोषित कर दी जाती हैं, वह ही मुद्रा के रूप में चलती रहती हैं। इनको ग्रहण करना हर व्यक्ति के लिए अनिवार्य है और जो इनको मुद्रा के रूप में लेने के लिए तैयार नही होता उसको सरकार द्वारा दड भी दिया जाता है, अर्थात् बहुत सी ऐसी वस्तुएँ मुद्रा के रूप में चलन मे आ जाती हैं कि यदि उनके पीछे कानूनी दबाव न होता तो कोई भी उन्हे ग्रहण नही करता। जैसे कि कागजी मुद्रा की जब सरकार कानूनी ग्रहणता समाप्त कर देती है तो कोई भी उन्हे मुद्रा नही मानता। अतः मुद्रा में सर्वग्रहणता सरकारी दबाव के कारण है, न कि उसकी अपनी शक्ति द्वारा या अपने गुणों द्वारा। परन्तु कभी ऐसा भी होता है कि सरकार की ओर से घोषित होते हुए भी मुद्रा सर्वग्रहण नही होती। यह परिस्थिति अधिक मुद्रा-प्रसार हो जाने के कारण पैदा हो जाती है, जैसा कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी मे हुआ। जनता का मुद्रा पर से विश्वास हटने लगा, सरकार ने हजारों प्रयत्न किये—कड़े से कड़े नियम बनाये—मुद्रा स्वीकार न करने वाले के लिए मृत्यु दड रक्खा, परन्तु फिर भी जनता का मुद्रा में विश्वास न जम सका, जबकि सरकार ने कागजी मुद्रा को भूमि में परिवर्तनीय करने की घोषणा कर दी। इसलिए मुद्रा की स्वीकृति सरकारी घोषणा पर नहीं बल्कि जनता के विश्वास पर निर्भर होती है। अतः नैप का दृष्टिकोण पूर्णतया सत्य नही है। इसके अतिरिक्त एक कमी और भी प्रतीत होती है। मुद्रा विनिमय का माध्यम होती है और विनिमय अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक (Free and Voluntary) होना चाहिये। यदि मुद्रा की स्वीकृति सरकार द्वारा घोषित कर दी जाती है और उसका ग्रहण करना अनिवार्य कर दिया जाना है तो विनिमय कार्य स्वतन्त्र तथा ऐच्छिक नही होता। अत. नैप की परिभाषा का यह एक बडा दोष है। यह सत्य है कि वैधानिक और व्यवहारिक दोनों ही दृष्टि-

१—Vide—The State Theory of Money by Lucas and Bonar.

कोण से यह सही प्रतीत होती है किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इसमें बहुत बड़ी कमी है।

हॉटरे ने कुछ हद तक अपनी परिभाषा को नैप की परिभाषा के दोषों को ध्यान में रखते हुए, सुधारने का प्रयत्न किया है। वह मुद्रा को कानूनी ग्रहण (Legal Tender) मानते है, और साथ ही साथ हिसाब की इकाई (Unit of Account) भी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उन्होंने मुद्रा की क्रय-शक्ति को भी नैप के विचार के साथ मिला दिया है। इसीलिए उनकी परिभाषा नैप की परिभाषा से अच्छी है।

वर्णनात्मक परिभाषायें, मुद्रा की परिभाषा के स्थान पर उसकी विशेषताओं पर अधिक ध्यान देती है। यह मुद्रा के कार्यो का वर्णन करती है, परन्तु यह नही बताती कि मुद्रा क्या है। इस वर्ग में हॉर्टले विदर्स (Hartley Withers), टामस (Thomas) जैसे अर्थशास्त्रियो की परिभाषायें आती है। विदर्स के अनुसार "मुद्रा वह है जो मुद्रा के कार्य करती है।"[१] इसी प्रकार टामस के शब्दो मे "मुद्रा एक वस्तु है जो एक मूल्य मापक तथा अन्य वस्तुओ के बीच विनिमय माध्यम का कार्य करने के लिए एकमत होकर चुन ली जाती है।"[२] यद्यपि वर्णनात्मक परिभाषायें सरलता से परिपूर्ण होती है और व्यवहारिक जीवन में भी उपयोगी सिद्ध होती है, परन्तु तर्क के दृष्टिकोण से बेकार होती है, क्योंकि इनमें केवल वस्तु के गुणो तथा कार्यो का ही वर्णन होता है, उसकी परिभाषा का नही। इसी कारण टामस, विदर्स जैसे अर्थशास्त्रियो की परिभाषायें उपयुक्त नही है।

कुछ परिभाषायें ऐसी है जिनमें सामान्य ग्रहणता का एक तार मिलता है। यह परिभाषायें उपरोक्त वर्गीकरण के अनुसार तीसरे वर्ग में आती है। यद्यपि इनमें आपस में भी काफी अन्तर होता है, फिर भी आधार एक ही है। मार्शल, राबर्टसन, कोल, ऐली, वॉकर, क्राउथर, सैलिगमैन, कीन्स, कैंट, हॉम इत्यादि की परिभाषायें इस वर्ग में आती हैं।

क्राउथर के शब्दो में "यह (मुद्रा) वह चीज है जिसे साधारणतया विनिमय माध्यम मान लिया गया हो अर्थात् देना-पावना चुकाने का जो साधन हो और साथ ही जो मूल्य की माप और उसके कोष का काम करती हो।"[३]

वाकर का मत है कि "मुद्रा वह है जो वस्तुओ के पूर्णरूप से मूल्य चुकाने और ऋणों का अन्तिम भुगतान करने में स्वतन्त्रतापूर्वक एक हाथ से दूसरे को जाती है,

१—"Money is what money does"—See, "The Meaning of Money" by Withers

२—"money is a commodity chosen by common consent to be a measure of Value and a means of exchange between all other commodities." Elements of Economics—Chapter XXIII.

by S. E. Thomas,

३—Vide Hindi Version of Crowther's 'Outline of money.'

जो चुकाने वाले व्यक्ति के चरित्र अथवा जाँच के बिना ही स्वीकार कर ली जाती है और प्राप्त करने वाले व्यक्ति का स्वयं उसका उपभोग या उपयोग करने का इरादा नहीं होता बल्कि उसे कभी न कभी विनिमय में दूसरे व्यक्ति को दे देता है।"[१]

सेलिगमैन के अनुसार "मुद्रा वह वस्तु है जिसे सर्वग्राहिता प्राप्त हो।"[२]

इसी प्रकार कैंट के अनुसार "कोई भी वस्तु जो विनिमय के माध्यम या मूल्य मापक के रूप में साधारणतः प्रयोग कर ली गई हो और सामान्य रूप से ग्रहण कर ली गई हो, मुद्रा है।"[३]

कीन्स का विचार भी यह ही है। वह कहते हैं कि "मुद्रा वह है जिसको देकर ऋण करारों का भुगतान किया जाता है और जिसके रूप में सामान्य क्रय-शक्ति जमा की जाती है।"[४]

हॉम के विचार में "मुद्रा शब्द का प्रयोग विनिमय का माध्यम और मूल्य का मान, दोनों ही को सम्बोधित करने के लिए किया गया है।"[५]

और इसी प्रकार वाघ (Waugh) के मतानुसार "मुद्रा में एक समाज की वे सब वस्तुएँ आती है, जिनको सर्व स्वीकृति प्राप्त होती है और जो स्वतन्त्रतापूर्वक विनिमय माध्यम के रूप में हस्तान्तरित होती है। परन्तु कोई भी वस्तु सब स्थानों पर सर्वग्रहण नहीं होती। इसीलिए मुद्रा सदैव स्थानीय होती हैं। कुछ स्थानों में यह

१—"Money is that which passes freely from hand to hand, in full payment of goods, in final discharge of indebtness, being accepted equally without reference to the character or credit of the person tendering it, and without any intention on the part of the person receiving it himself to consume or otherwise use it than by passing it on, sooner or later, in Exchange" by Walker.

२—"Money is one thing that possesses general acceptability"—Seligman.

३—Money is anything which is commonly used and generally accepted as a medium of exchange or as a standard of value"
—*Vide Kent's 'Money and Banking'.*

४—"Money is that by the delivery of which debt contracts and price contracts are discharged and in the shape of which a store of general purchasing power is held."
—Vide Keynes's 'A Treatise on money" Vol. I.

५—"The word money has been used to designate the medium of exchange as well as the standard of value."
—Monetary Theory by Halm.

मुद्रा होती है तथा अन्य स्थानो में इसे स्वीकार नही किया जाता है ।"[1]

इस प्रकार मुद्रा की उपरोक्त परिभाषाओं से मुद्रा के समस्त गुणो का पता चल जाता है । सामान्य स्वीकृति को अधिकतर लेखको ने मुद्रा का एक विशेष गुण माना है । इसके अतिरिक्त यह स्वीकृति स्वतन्त्र एव ऐच्छिक होनी चाहिए, हॉम ने मुद्रा को विनिमय-माध्यम तथा मूल्य का सामान्य मान, दोनो को एक साथ माना है । और इस प्रकार हम कह सकते हैं कि मुद्रा वह वस्तु है जिसे समाज में विनिमय के माध्यम, मूल्य-मापक और ऋणो के अन्तिम भुगतान तथा भविष्य के लिए मूल्य सचय करने में सामान्य स्वीकृति प्राप्त हो ।

मुद्रा के कार्य (The functions of Money)

मुद्रा की परिभाषा करने के पश्चात् अब हम भलीभाँति उसके कार्यों का अध्ययन कर सकते हैं । उपरोक्त विवेचन से वैसे तो मुद्रा के कार्य स्पष्ट हैं ही, परन्तु उनका ज्ञान क्रम-बद्ध करने के लिए विस्तृत रूप से वर्णन करना आवश्यक है । साधारणत मुद्रा के चार कार्य हैं, मुद्रा विनिमय का माध्यम है, मूल्य का सामान्य मापक है, इसके द्वारा भविष्य में मूल्य का सचय कर सकते हैं और अन्त मे मुद्रा भविष्य में ऋण के भुगतान का प्रमाण है । यह संक्षिप्त में मुद्रा के कार्य हैं । परन्तु विस्तृत रूप से इसका अध्ययन करने के लिए प्रो० किनले ने मुद्रा के कार्यो को तीन भागो में विभक्त किया है ।

(१) मुख्य कार्य (Primary functions)
(२) गौण कार्य (Secondary functions)
(३) आकस्मिक कार्य (Contingent functions)

(१) मुख्य कार्य (Primary functions)

मुद्रा के मुख्य कार्यो में हम उन कार्यो का अध्ययन करते हैं जो मुद्रा ने हर काल, हर देश और आर्थिक उन्नति की हर अवस्था में सम्पन्न किये हैं । यह कार्य दो हैं .—

(क) विनिमय का माध्यम (Medium of Exchange)
(ख) मूल्य का सामान्य माप (Common Denominator of Value)

(क) मुद्रा का सर्वप्रथम कार्य यही है कि वह विनिमय का माध्यम है। आरम्भ-काल में वस्तु-विनिमय की कठिनाइयो का जब लोगो ने सामना किया, तब कालान्तर में उन्होने मुद्रा का प्रयोग किया । यह विनिमय कार्य को सरल तथा सुगम बना देती है । हर वस्तु का मूल्य मुद्रा में आका जाता है । इस कारण वस्तु और सेवाओं के बदले में वस्तुएँ और सेवायें न लेकर अब मुद्रा ली जाती है और फिर आवश्यकता पड़ने

१—"Money consists of those things which, within a society are of general acceptability passing from hand to hand as a medium of exchange... . No commodity is, however, universally acceptable and in this sense money is always local, it is money in some places and in other places it is not acceptable."—by Waugh.

पर मुद्रा देकर वस्तुयें और सेवायें प्राप्त की जाती हैं। मुद्रा की सर्व स्वीकृति का गुण ही उसको यह कार्य करने में सफलता प्रदान करता है, और इस प्रकार कोई भी वस्तु जिसमें यह गुण है, मुद्रा का कार्य कर सकती है। कदाचित् इसीलिए कोल ने मुद्रा को क्रय-शक्ति (purchasing power) कहा है।

(ख) मुद्रा का द्वितीय मुख्य कार्य समाज की सब वस्तुओं के मूल्य को आंकने का है। वस्तु विनिमय की एक बड़ी कठिनाई यह थी कि एक वस्तु की मात्रा विशेष के बदले दूसरी वस्तु की कितनी मात्रा मिलनी चाहिए। मुद्रा ने इस कठिनाई को दूर कर दिया है। अब हर वस्तु का मूल्य मुद्रा में व्यक्त किया जाता है। इसीलिए मुद्रा मूल्य का सामान्यसूचक (Common Denominator of Value) है। हर वस्तु का मूल्य आंकने के बाद यह भिन्न-भिन्न वस्तुओं और सेवाओं के बीच एक अनुपात (Ratio) निर्धारित करती है, जिस पर उनका परस्पर विनिमय हो सकता है। मुद्रा की सहायता से हम सामान्य-मूल्य-स्तर (General price level) भी नाप सकते हैं और मूल्यों की तुलना भी सुगमता से कर सकते हैं।

उपरोक्त दोनों कार्य मुद्रा के मुख्य कार्य हैं। इन कार्यों को कभी-कभी आवश्यक (essential), आधारभूत (Fundamental) अथवा मौलिक कार्य (Original functions) के नाम से भी पुकारा जाता है। दोनों कार्यों में से कौनसा कार्य कब किया जाता है यह कहना कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव है। सत्य तो यह है कि यह दोनों कार्य लगभग साथ ही साथ सम्पन्न किये जाते हैं।

(२) गौण कार्य (Secondary Functions)

मुद्रा के गौण कार्य समाज की आर्थिक उन्नति के साथ-साथ उत्पन्न होते हैं। यह कार्य तीन हैं।

(क) भविष्य के भुगतान का प्रमाण (Standard of Deffered Payment)

(ख) मूल्य-सग्रह करने का साधन (Store of Value)

(ग) विनिमय शक्ति का हस्तान्तरण (Transfer of Value)

(क) भविष्य के भुगतान का प्रमाण—आजकल के आर्थिक और विशेषकर व्यापारिक क्षेत्र में साख का जो महत्त्व है उससे सभी व्यक्ति भलीभाँति परिचित है। अगर साख को आर्थिक उन्नति की आधार शिला कहा जाय तो मिथ्या न होगा। साख का साधारण तात्पर्य उधार लेना है। बहुत से व्यक्ति वर्तमान में उधार लेकर भविष्य में देते हैं। यह भुगतान वे मुद्रा ही में करते हैं और आधार भी मुद्रा के ही रूप में लेते हैं। आज यदि हम ५० रु० का माल उधार ले तो एक वर्ष बाद हम ५० रु० देकर भुगतान कर सकते हैं, परन्तु हम खरीदे हुए माल को एक वर्ष बाद लौटा नहीं सकते, ऐसा करने से कदाचित् उसका उत्पादन ही बन्द हो जाय और वह वस्तु लौटाने के कारण बाजार में उपलब्ध ही न होगी या उस वस्तु के गुणों में अन्तर आ जाय। मुद्रा ही एक वस्तु ऐसी है जिसको हम स्थगित शोधनों का माप बना सकते हैं क्योंकि मुद्रा का मूल्य अन्य वस्तुओं की तुलना में अधिकतर स्थिर रहता है। साधारणतः वस्तुओं का मूल्य नित्य दिन चढ़ता उतरता रहता है। परन्तु मुद्रा का मूल्य शीघ्रता से तथा बहुत

बड़े अश तक नही उतरता और चढ़ता । इसीलिए भविष्य में होने वाले भुगतानों का हिसाब मुद्रा में होता है, जिससे न तो देने वाले को ही हानि होती है और न लेने वाले को । इसके अतिरिक्त एक तो मुद्रा में अन्य वस्तुओं की अपेक्षा टिकाऊपन अधिक होता है और दूसरे मुद्रा में सर्वग्रहिणता एक ऐसा गुण है, जिससे वह भलीभाँति इस कार्य को करने में सफलता प्राप्त कर लेता है ।

(ख) मूल्य संग्रह करने का साधन (Store of Value)—प्राचीन समय में जबकि वस्तु विनिमय ही विनिमय का एकमात्र रूप था, मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक वस्तु का संचय करता था, जिससे वस्तु की उपयोगिता और मूल्य दोनो ही कम होने की बहुत सम्भावना होती थी । इसलिए उस समय में लोगो को धन संचय करने में बड़ी कठिनाई होती थी । परन्तु जब से मुद्रा का आविष्कार हुआ है, वस्तु विनिमय की यह कठिनाई पूर्णरूप से दूर हो गई है । अब हर फालतू वस्तु को मुद्रा के रूप में बदलकर सचय हो जाता है । मनुष्य जिस वस्तु का उत्पादन करता है, उसको बेचकर वह मुद्रा प्राप्त करता है । उसमें से कुछ मुद्रा से वर्तमान की आवश्यकतायें सतुष्ट करता है और कुछ को वह भविष्य में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जमा कर लेता है । अत. मुद्रा ही ऐसी वस्तु है, जिसके रूप में मूल्य या क्रय-शक्ति को सचय किया जा सकता है, क्योंकि इसमें अधिक टिकाऊपन होता है और अन्य वस्तुओं की अपेक्षा मूल्य में ह्रास भी कम होता है ।

मुद्रा का यह कार्य मनुष्य की आर्थिक और सामाजिक उन्नति के पश्चात् ही शुरू हुआ है । मध्यकालीन समय में जबकि मुद्रा का आविष्कार नही हुआ था, मनुष्य सोने चाँदी के रूप में क्रय-शक्ति का सचय करता था । यह मूल्यवान धातुएँ भी मुद्रा की ही भाँति थी । आधुनिक युग में जबकि साख का प्रचार बहुत अधिक हो चुका है, मनुष्य अब भी क्रय-शक्ति का सचय करते हैं, यह सत्य है कि यह संचय वास्तविक मुद्रा में न होकर पत्र मुद्रा के रूप में होता है । परन्तु साख पत्र और सरकारी बौंड भी तो मुद्रा का ही एक रूप है और इस प्रकार मुद्रा आजकल भी मूल्य के संचय करने का कार्य करती है ।

(ग) विनिमय शक्ति का हस्तान्तरण (Transfer of Value)—मुद्रा विनिमय शक्ति को एक मनुष्य से दूसरे मनुष्य को हस्तान्तरित करती है । मुद्रा का यह कार्य उसके मुख्य कार्य 'विनिमय माध्यम' का सहायक कार्य है । यह सभी जानते हैं कि मनुष्य की आर्थिक उन्नति का तात्पर्य 'विनिमय क्षेत्र के विस्तृत होने से ही है । एक देश की वस्तु दूर-दूर देशो को जाने लगी जिसमें मुद्रा ने बहुत ही सहायता की । क्योंकि मुद्रा सर्वग्रहण होती है, इसलिए हर व्यक्ति जहाँ चाहे वस्तु बेच सकता है और जहाँ चाहे खरीद सकता है । हर सौदे का अन्तिम भुगतान भी मुद्रा ही में होता है । अतः विनिमय शक्ति मुद्रा ही के रूप में एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को हस्तान्तरित हो जाती है । यदि मुद्रा में यह शक्ति, जोकि उसको सर्व स्वीकृति के कारण प्राप्त हुई है, न होती तो शायद हमारी आर्थिक उन्नति का चक्र कभी का रुक जाता । साख व बैंकिंग व्यवस्था, व्यापार व व्यवसाय, रेल, तार, डाक कुछ भी न होते और हम प्राचीन वन मनुष्य

(Apeman) से किसी प्रकार भी अधिक सभ्य न होते।

यह ही मुद्रा के महत्त्वपूर्ण कार्य हैं। सर्वप्रथम विद्वानो ने केवल चार ही कार्य बताये थे, जो कि निम्न छद से सकेत होते है।

"Money is a matter of functions four ;
A medium, a measure, a standard, a store."

मुद्रा के है कार्य चार।
माध्यम, माप, कोष, आधार॥

एक विद्वान ने इसी में दो पक्तियाँ और जोड दी है, जिससे कि उपरोक्त पाचो कार्य मुख्य तथा गौण आ जाते हैं। वे पक्तियाँ इस प्रकार है।

'है क्योंकि व्यौरा यह अपूर्ण।
जोडो हस्तान्तरित इसमे और।"

"But as this does not complete the picture,
We may add transferability more."

(३) **आकस्मिक कार्य** (Contingent Functions)—मुख्य तथा सहायक कार्यों के अतिरिक्त मुद्रा के आकस्मिक कार्य भी है। यह कार्य किनले (Kinley) द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं। यह कार्य आधुनिकता के सूचक है। प्राचीन अर्थ व्यवस्था में मुद्रा यह कार्य नही करती थी। इसलिए इसका जन्म विशेषकर आधुनिक अर्थ व्यवस्था की विशेषताओं एव विपमताओ के कारण हुआ है। किनले के अनुसार आकस्मिक कार्य निम्न प्रकार हैं।

(क) सामाजिक आय का वितरण (The distribution of social Income)

(ख) खर्चो की सीमात उपयोगिता में समानता लाना (The Equalisation of marginal utility in Expenditure)

(ग) साख का आधार पैदा करना (The furnishing of the basis of a credit system)

(घ) पूँजी को एक सामान्य रूप प्रदान करना (Giving a general form to capital)

(क) सामाजिक आय का वितरण—मुद्रा राष्ट्रीय आय (National Income) को बाँटने में सहायता प्रदान करती है। वितरण की समस्या क्योकि आधुनिक समस्या है, इसलिए मुद्रा का इसमें विशेष महत्त्व है। मुद्रा एक सामान्य वितरण मान (Standard for Distribution) है, चूँकि वह सर्वग्रहण है और वस्तुओ के मूल्य आकने का एक सामान्य माप है। आधुनिक समय में उत्पादन सीधे उपभोग के लिए न होकर बाजार के बेचने के लक्ष्य से किया जाता है। वर्तमान उत्पादन केवल एक व्यक्ति द्वारा नही होता बल्कि सामूहिक रूप से होता है। इसीलिए सामूहिक रूप से उत्पादित वस्तु को बाजार में बेचने के पश्चात् जो धन प्राप्त होता है, उसको उत्पादन में सहायता देने

वालो में बाटना आवश्यक है, क्योकि यही तो उनकी क्रिया का प्रतिफल है। यही वितरण की समस्या है। इस वितरण के लिए मुद्रा एक सामान्य माप प्रदान करती है।

(ख) सीमान्त उपयोगिताओ में समानता लाना—आधुनिक समय में हर वस्तु मुद्रा द्वारा ही उपलब्ध होती है। हर व्यक्ति अपनी आवश्यकतानुसार वस्तुएँ मुद्रा द्वारा खरीदकर अधिकतम सतुष्टि प्राप्त कर सकता है। केवल मुद्रा ही उसको ऐसा अवसर प्रदान करती है। मनुष्य मुद्रा की इकाइयो का इस प्रकार व्यय करे कि व्यय की प्रत्येक मद से समान सीमान्त उपयोगिता मिले, इसी प्रकार उसे अधिकतम सतुष्टि प्राप्त हो सकती है। क्योंकि मुद्रा क्रय-शक्ति है, इसी- लिए ऐसा सम्भव हो सकता है। यदि और कोई साधारण वस्तु प्रयोग में लाई जाय तो अधिकतम लाभ कभी भी प्राप्त नही हो सकता। इसी प्रकार एक उत्पादक, उत्पत्ति के विभिन्न साधनो की सीमान्त उत्पादकता समान करके अधिकतम उत्पादन प्राप्त कर सकता है। अतएव मुद्रा द्वारा उपभोक्ताओ और उत्पादको दोनों ही को यह अवसर प्राप्त हो सका है कि वे अधिकतम लाभ प्राप्त कर सकें।

(ग) साख का आधार—यह सभी जानते है कि आधुनिक अर्थ व्यवस्था साख की आधार शिला पर टिकी हुई है। साख बिना किसी भी प्रकार की आर्थिक उन्नति सम्भव नही है और मुद्रा बिना साख की व्यवस्था होना असम्भव है। बैंको की साख निर्माण करने की सफलता, उनके नकद कोषो पर ही निर्भर रहती है जो जनता में विश्वास उत्पन्न करते हैं। यदि बैंक अपने पास आवश्यकतानुसार नकद कोष न रक्खे तो वह समय आने पर अपने ग्राहको की माग पूरा करने में असमर्थ रहेगे, जिससे जनता के विश्वास को एक बहुत बडा धक्का लगेगा और जनता बैंको का प्रयोग करना समाप्त कर देगी, जिससे साख का पूरा ढाँचा ताश के पत्तो के घर के समान कुछ ही देर में खडित हो जायगा। क्योकि मुद्रा ही नकद कोषो को बनाती है, जिसके द्वारा जनता मे विश्वास पैदा होता है और बैंक साख निर्माण करने में समर्थ होते हैं, इसलिए मुद्रा का विशेष महत्व है। यही नही बल्कि आधुनिक सरकारो (Modern Governments) की आर्थिक व्यवस्था भी पत्र-मुद्रा द्वारा ही चलती है। हर सरकार परिवर्तनीय पत्र मुद्रा छापते समय एक निश्चित अनुपात में नकद कोष रखती है, या तो सोने चाँदी के रूप में या देश के प्रामाणिक सिक्को (Standard coins) के रूप में, जिससे कि जनता का विश्वास सरकार में अटल रहता है। जिस समय भी यह विश्वास खंडित हो जाता है उसी समय राज्य का आर्थिक सगठन ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा वर्तमान युग में साख निर्माण के आधार का कार्य करती है, जिसके बिना किसी भी प्रकार की साख व्यवस्था हो ही नही सकती।

(घ) पूँजी को सामान्य रूप प्रदान करना—मुद्रा सब प्रकार की पूँजी व सम्पत्ति को एक सामान्य रूप देती है। हम अन्य प्रकार की सम्पत्ति न रखकर केवल मुद्रा ही जमा कर सकते हैं और आवश्यकता पडने पर जिस वस्तु को चाहे उपलब्ध कर सकते हैं। क्योकि मुद्रा में तरलता (Liquidity) और गतिशीलता (mobility) दोनो ही बहुत अधिक होती हैं। जिस प्रकार तरल पदार्थ जिस बर्तन में रक्खा जाता है, उसी

का रूप धारण कर लेता है, ठीक उसी प्रकार मुद्रा भी जिस वस्तु को चाहे उसी का रूप धारण कर सकती है। यानी हम जिस वस्तु को चाहें मुद्रा द्वारा खरीद सकते हैं। इसीलिये पूँजी को नित नये उपयोगो में ला सकते हैं। मुद्रा का यह कार्य आधुनिक जगत में अति सराहनीय है।

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त विद्वानो ने अपने लेखों में मुद्रा के और भी कार्यों का उल्लेख किया है। यह कार्य निम्नलिखित हैं।

(क) तरल सम्पत्ति के रूप में (As a Liquid Asset)

(ख) मुद्रा ऋण चुकाने की शक्ति प्रदान करती है (Money is a guaranteer of Solvency)

(ग) निर्णय का साधन (Bearer of option)

(क) तरल सम्पत्ति के रूप में (In the form of Liquid Assets)--कीन्स के अनुसार मुद्रा का यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य है। मुद्रा के मूल्य सचय का कार्य भी इसी तरलता के कारण होता है। हर मनुष्य व कम्पनी के कुछ आदेय (assets) होते हैं। अन्य आदेयो की तुलना में मुद्रा ही सबसे अधिक तरल आदेय है, क्योंकि मुद्रा को सामान्य स्वीकृति प्राप्त है, इसीलिए हर व्यक्ति उसे अपने पास इकट्ठा करना चाहता है। हर मनुष्य एव कम्पनी को आय एक निश्चित समय पर प्राप्त होती है, परन्तु व्यय हर समय ही करना पडता है। इसी कारण उत्पादको और उपभोक्ताओ के लिए एक बड़ी समस्या उत्पन्न हो जाती है। इस समस्या को सुलझाने के लिए हर मनुष्य तथा कम्पनी अपनी आय का एक भाग अपने पास जमा रखते हैं, ताकि समय आने पर आवश्यकताओ की पूर्ति हो सके। यदि आय का यह भाग मुद्रा के रूप में सचित किया जाता है तो किसी भी समय मुद्रा के बदले कोई भी वस्तु ली जा सकती है। परन्तु यदि मकान या किसी और वस्तु के रूप में रखा जाय तो समय पड़ने पर यदि वह न बिके तो वही समस्या फिर उत्पन्न हो जायेगी। इसीलिए मुद्रा ही सबसे तरल सम्पत्ति है, क्योंकि इसमें सर्व स्वीकृति, टिकाऊपन, स्थिरता आदि सभी गुण विद्यमान हैं।

(ख) मुद्रा ऋण चुकाने की शक्ति प्रदान करती है—कैंट (Kent) के अनुसार मुद्रा ऋण चुकाने की शक्ति प्रदान करती है। किसी भी कम्पनी में अपने ऋण चुकाने की शक्ति उसी समय तक रहती है जब तक कि उसके पास मुद्रा है। कितने भी आदेय क्यो न हो पर समय आने पर वे सब बेकार पड़े रहेंगे, क्योंकि ऋणदाता अपना भुगतान मुद्रा में ही करवाना चाहते हैं। इसलिए मुद्रा की अनुपस्थिति में ऐसी कम्पनियाँ दवालियाँ घोषित कर दी जाती हैं। अतएव अपने ऋण चुकाने की शक्ति को बनाये रखने के लिए हर कम्पनी व व्यवसायी अपने पास तरल मुद्रा अवश्य रखते हैं। इसी प्रकार बैंक और देश की सरकारें भी करती हैं।

(ग) निर्णय का साधन—प्रो० ग्रेहम ने मुद्रा की क्रय-शक्ति के सचय करने के कार्य के आधार पर मुद्रा के एक दूसरे कार्य का वर्णन किया है। उनका मत है कि मुद्रा मनुष्य को ऐसी क्षमता प्रदान करती है जिसके द्वारा वे भविष्य में उत्पन्न होने वाली परिस्थि-

तियो के अनुसार सचित क्रय-शक्ति का प्रयोग कर सकते है। यदि मुद्रा के स्थान पर किसी अन्य वस्तु का संचय किया जाय तो यह सुविधा उपलब्ध नही हो सकती, क्योकि मुद्रा को तो सुगमता के साथ किसी वस्तु में भी बदल सकते हैं, परन्तु किसी दूसरी वस्तु को तो वस्तु में बदलना इतना सरल नही। अत: मुद्रा हर मनुष्य को भविष्य में होने वाले निर्णय को कार्यरूप में लाने का सुअवसर प्रदान करती है।

मुद्रा के कार्यो के उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है, कि मनुष्य के आर्थिक जीवन के लिए मुद्रा कितनी उपयोगी है। यह निर्विवाद सत्य है कि बिना मुद्रा के मनुष्य किसी भी प्रकार अपना जीवन निर्वाह नही कर सकता। आरम्भ काल से आज तक निरन्तर मुद्रा के कार्यो में वृद्धि होती आई है, और वास्तव में मुद्रा ही हमारी आर्थिक उन्नति का सूचक है।

तीसरा अध्याय

मुद्रा का विकास तथा महत्त्व

मुद्रा का विकास (The Evolution of Money)

मुद्रा का आरम्भ कब और किस प्रकार हुआ, यह कहना असम्भव है। परन्तु इतना अवश्य कह सकते है कि जबसे मनुष्य सभ्यता की ओर अग्रसर हुआ तबसे तो मुद्रा का प्रयोग अवश्य ही आरम्भ हो गया होगा। अपितु जब मनुष्य जगली अवस्था में था तब भी जानवरो की खालो और सीगो, सीपी आदि को विनिमय के माध्यम के रूप में उपयोग में लाता था। मुद्रा का विकास तथा जन्म ससार के सारे देशो के लोगो व जातियो ने एक साथ मिलकर किया, ऐसा विचार करना भी भूल होगी। ससार के विविध देशो का इतिहास इस बात का साक्षी है कि हर देश में पृथक-पृथक विनिमय के माध्यमो का प्रयोग हुआ है। जैसे कि ऋगवेद काल मे भारत में गाय को विनिमय का माध्यम माना हुआ था। इतिहास हमे यह पूर्णरूप से बताता है कि ससार में मुद्रा ने अनेको रूप धारण किये है। मूगे, मोती से लेकर भूमि के टुकड़े, सोने-चाँदी के सिक्के और आजकल कागज के टुकड़े तक मुद्रा के रूप मे उपयोग किये गये हैं।

कुछ विद्वानो का मत है कि मुद्रा मनुष्य को स्वयं ही मिल गई है, इसकी खोज किसी ने भी नही की है। स्पालडिंग (Spalding) इस मत के पक्षपाती है। उनके विचार में यदि मानव के आर्थिक इतिहास पर एक दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि हर काल में जातियो ने जिस वस्तु को उपयुक्त समझा, विनिमय का माध्यम बना लिया, और यह माध्यम समय तथा परिस्थितियो के अनुसार बदलते रहे हैं। स्पालडिंग और उनके साथियो के इस विचार के विपरीत एक और दूसरी विचारधारा दृष्टिगोचर होती है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य ने वस्तु विनिमय की कठिनाईयो से मुक्त होने के लिये ही मुद्रा का अविष्कार किया था।

कौनसी विचारधारा अधिक उपयुक्त है यह एक लम्बे चौड़े वाद विवाद का विषय बन सकता है, परन्तु इससे हमें कोई लाभ नही। अपने-अपने स्थान पर हर विचार-धारा ठीक है। किसी भी विचारधारा को लें परन्तु वर्तमान मुद्रा प्रणाली के विकास का इतिहास शताब्दियो पुराना है। मुद्रा के विकास को हम तीन युगो में विभाजित कर सकते हैं।

(१) वस्तु-मुद्रा का युग।

(२) धातु-मुद्रा का युग।

(३) कागजी-मुद्रा का युग।

(१) वस्तु-मुद्रा का युग—रोम और यूनान के प्राचीन समाज में पशु ही एक व्यक्ति का धन था, जितने अधिक पशु मनुष्य पास होते थे उतना ही धनी वह कहलाता था। इस बात का प्रमाण हमें प्राचीन बाईबिल में मिलता है। इसके प्रति-

रिक्त अन्य वस्तुएँ जैसे—तम्बाकू, खालें, सीपियाँ आदि भी उस काल में मुद्रा के स्थान पर प्रयोग में लाये जाते थे। ऐतिहासिक प्रमाणो के अनुसार शिकारी युग में जानवरों की खालें, चरागाह युग में मवेशियो के झुंड, भेड़ें इत्यादि, और कृषि युग में जमीन की उपज का मुद्रा के स्थान पर उपयोग हुआ था। इस प्रकार पिछड़े हुए समाज में वस्तु-मुद्रा का प्रयोग होता था, वैसे तो आजकल भी कही-कही वस्तुओ का प्रयोग मुद्रा के रूप में होता है।

(२) **धातु-मुद्रा का युग** —सभ्यता के विकास के साथ-साथ वस्तु-मुद्रा का प्रयोग भी कम होने लगा। मनुष्य को विनिमय की बहुत अधिक आवश्यकता पड़ने लगी और उसको वस्तु-मुद्रा में बहुतसी कठिनाईयो का अनुभव होने लगा। विनिमय की मात्रा तथा क्षेत्र में वृद्धि होने के साथ-साथ मनुष्य की कठिनाइयाँ और भी अधिक हो गई। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के आरम्भ होते ही उसको ऐसी मुद्रा की आवश्यकता पडी जिसे संसार के अन्य देश भी ग्रहण कर सकें, जिसकी खोज में लगभग उसे हर धातु का प्रयोग करना पड़ा। चूंकि सोना और चाँदी मूल्यवान धातु हैं—यह बहुत पहले से ही मनुष्य को ज्ञात हो चुका था, इसीलिये इनका प्रयोग भी मुद्रा के रूप में होना आरम्भ हुआ। भारत, मिश्र, बेबीलोन जैसे देशो के रहने वाले प्राचीन काल से ही धातु—मुद्रा का प्रयोग करते थे। सर्वप्रथम वह मूल्यवान धातुओ, विशेषकर सोना चाँदी को डिम्मो के रूप में प्रयोग करते थे, फिर बाद में उसके टुकडे करके विनिमय के माध्यम के स्थान पर उपयोग में आये। तत्पश्चात इन टुकडो को सामान्य वज़न के बनाने का विचार आया और हर टुकडे पर उसका मूल्य, वज़न आदि लिखा जाने लगा। इसी प्रकार धीरे-धीरे सिक्के ढालने का काम आरम्भ हुआ। सोलहवी शताब्दि में सिक्को की ढलाई में कुछ उन्नति हुई। अमेरिका में बहुत अधिक मात्रा में नई चाँदी की खोज हुई, जिसमें बहुत सी चाँदी योरप के देशो में भी आई और उसके कारण सिक्के ढालने का एक अधिक उत्तम ढंग विदित करने की आवश्यकता का आभास हुआ। सर्वप्रथम इटली ने इस हेतु मशीन का आविष्कार किया, तत्पश्चात स्पेन, फास, इंगलैड आदि ने भी इस मशीन का उपयोग किया। अठारहवी शताब्दि में सिक्के-ढलाई की कला अपनी चरम सीमा पर पहुँची और अनेको मशीनो का आविष्कार हो गया। इस प्रकार सिक्के की ढलाई का कार्य यद्यपि साधारण मनुष्यो द्वारा आरम्भ हुआ था, परन्तु अन्त में राज्य का इस पर पूर्ण अधिकार हो गया।

(३) **कागज़ी-मुद्रा का युग**—यद्यपि पूर्ण निश्चिय से यह नही कह जा सकता कि पत्र-मुद्रा का आविष्कार कब और कैसे हुआ परन्तु सन् ८०७ में चीन मे इसके प्रयोग में आने के प्रमाण अवश्य प्राप्त हुए हैं। आजकल लगभग सब ही देशो में पत्र—मुद्रा का प्रयोग हो रहा है।

एक अच्छी मुद्रा पदार्थ के गुण (Qulities of a good Mooney Material)

मुद्रा के कार्यों का अध्ययन करने के पश्चात यह भलीभाति ज्ञात हो चुका है कि मुद्रा किस प्रकार कीहोनी चाहिये। वही धातु अच्छी मुद्रा पदार्थ हो सकती है जो

मुद्रा के कार्यों को पूर्णरूप से सम्पन्न कर सके। एक अच्छी मुद्रा पदार्थ के गुणों का वर्णन जैवन्स ने अपनी पुस्तक में किया है। यह गुण क्रमशः निम्न प्रकार हैः—(१) उपयोगिता अथवा मूल्य (Utility or Value), (२) वहनीयता (Portability), (३) अनुरूपता (Homogeneity), (४) विभाजिता (Divisibility), (५) मूल्य की स्थिरता (Stability of Value), (६) परिचयता (Cognisability) जैवन्स के बाद के विद्वानों ने इन गुणों में दो गुण और सम्मिलित किये हैं। (७) टिकाऊपन (Durability) और (८) ढलाऊपन (Malleability)।

(१) उपयोगिता अथवा मूल्य (Utility or Value)—एक अच्छे मुद्रा पदार्थ में उपयोगिता और विनिमय शक्ति दोनों का ही होना आवश्यक है। यह दोनो गुण उस पदार्थ में सर्व स्वीकृति का गुण उत्पन्न करेंगे। जिस वस्तु को सब व्यक्ति स्वीकार करने को तैयार हो वह बिना सदेह एक अच्छी मुद्रा पदार्थ होगी। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी भी समय में लोग केवल ऐसी ही वस्तु को ग्रहण करने को तैयार होगे जिसे दूसरे लोग भी आसानी से ले सकें अथवा जो दूसरे उपयोगो में भी आ सकती हो। इन उद्देश्यो की पूर्ति करते हुए सोना और चाँदी अच्छे पदार्थ हैं। यद्यपि कागज के नोटों में तो मूल्य ही है उपयोगिता नही, फिर भी हर व्यक्ति उसे स्वीकार कर लेता है। इस सम्बन्ध में यह कहना उपयुक्त होगा कि कागजी मुद्रा स्वयं अपने गुणों से चलन में नही रहती वरन राज्य अथवा सरकार के दबाव के कारणवश लोग उसे स्वीकार करते हैं।

(२) वहनीयता (Portability)—वहनीयता एक दूसरा आवश्यक गुण है जो एक अच्छी मुद्रा में होना चाहिये। वहनीयता से तात्पर्य है कि एक वस्तु सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान को ले जाई जा सके तथा उसके ले जाने में खर्चा भी कम हो। इसलियें एक तो वस्तु में टिकाऊपन हो और दूसरे थोडे से बोझ में मूल्य अधिक होना चाहिये, तब ही उस वस्तु में वहनीयता आ सकती है। इस दृष्टिकोण से भी सोना चाँदी अच्छे पदार्थ हैं किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से कागजी मुद्रा में यह गुण बहुत होता है। इसी कारण नित्यप्रति पत्र-मुद्रा का प्रयोग बढता जा रहा है।

(३) अनुरूपता (Homogeneity)—एक अच्छी मुद्रा वस्तु होने के लिये उसमे अनुरूपता भी होनी चाहिये। अनुरूपता से हमारा तात्पर्य यह है कि मुद्रा पदार्थ के कितने भी टुकडे कर दिये जायें किन्तु उन सबका मूल्य समान रहे और फिर यदि इन छोटे टुकड़ो को एक बड़े ठोस टुकडे में परिवर्तन किया जाय तो भी उसके मूल्य में कमी न आये। इसलिये मुद्रा वस्तु ऐसी होनी चाहिये जिसके प्रत्येक समान वजन अथवा आकार वाले टुकड़े का मूल्य समान रहे। सोना और चाँदी इस दृष्टिकोण से भी अच्छी मुद्रा बन सकते हैं।

(४) विभाजिता (Divisibility)—एक अच्छी मुद्रा वस्तु में यह भी आवश्यक है कि उसमें विभाजिता का गुण भी होना चाहिये। दूसरे शब्दो में वह पदार्थ ऐसा होना चाहिये कि उसके छोटे से छोटे टुकड़े होने पर भी उसके टुकड़ो का मूल्य अथवा उपयोगिता में कमी न होने पावे, जिससे थोड़ी और बडी दोनो ही प्रकार

की रकमो का भुगतान आसानी से हो सके। सोना और चांदी के अतिरिक्त और किसी भी पदार्थ में यह गुण नही है। यद्यपि हीरा भी एक मूल्यवान धातु है किन्तु उसे अच्छी मुद्रा वस्तु नही कह सकते क्योंकि उसके टुकड़े कर देने से उसके मूल्य में भारी कमी आ जाती है।

(५) मूल्य की स्थिरता (Stability of value)—क्योंकि मुद्रा अन्य वस्तुओ के मूल्य का मापक है, तथा इसके द्वारा क्रय-शक्ति का सचय किया जाता है और भविष्य में होने वाले भुगतानो के लिये मान का कार्य करती है, इसलिये यह आवश्यक हो जाता है कि केवल वह ही पदार्थ अच्छी मुद्रा का कार्य कर सकते हैं जिसके मूल्य में स्थिरता रहे। मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होने से बड़े भयकर परिणाम होते हैं, जिनका अध्ययन अगले पृष्ठो में किया गया है। यह अवश्य है कि सदैव स्वय मुद्रा के मूल्य में भी स्थिरता रहना असम्भव है किन्तु जहाँ तक हो सके मुद्रा के लिये ऐसे पदार्थो का उपयोग किया जाय किन्तु मूल्यो में परिवर्तन कम हो और वह परिवर्तन भी केवल नाममात्र को ही हो। सोने और चांदी ही ऐसे पदार्थ हैं जिनके मूल्यो में कम परिवर्तन होते हैं, क्योंकि न तो इनकी पूर्ति आसानी से बढाई जा सकती है और न ही उनकी माग में अधिक परिवर्तन होते हैं। इसीलिये सोने अथवा चाँदी का ही अधिक उपयोग किया गया है।

(६) परिचयता (Cognisability)—मुद्रा को सामान्य स्वीकृति प्राप्त होती है, इसलिए यह आवश्यक है कि अच्छे मुद्रा पदार्थ में यह गुण होना चाहिये कि उसकी हर इकाई आसानी से पहचानी जा सके। यदि पहचानने में किसी प्रकार की कठिनाई होती है, तो व्यक्ति उसे ग्रहण करने से इन्कार कर देंगे, क्योंकि एक तो उन्हे धोखेबाजी का भय रहेगा, दूसरे समय भी बेकार नष्ट होगा। जब मुद्रा इस गुण से पूर्ण होगी तब ही वह विनिमय के माध्यम के रूप में भलीभाति चल सकती है अन्यथा नही। सोने अथवा चाँदी में यह गुण भलीभाँति पाया जाता है।

(७) टिकाऊपन (Durability)—मुद्रा पदार्थ में टिकाऊपन भी होना चाहिये अर्थात् मुद्रा पदार्थ अविनाशी होना चाहिये। यदि इस गुण का अभाव है, तो क्रय-शक्ति का सचय नही हो सकता, जो कि मुद्रा का एक विशेष कार्य है। मुद्रा अधिक समय तक रखे रहने पर न तो उसमें घिसावट आनी चाहिये और न मूल्य की ही हानि होनी चाहिये। यह गुण भी सोने और चांदी में पाया जाता है।

(८) ढलाऊपन (Malleability)—मुद्रा पदार्थ में ढलाऊपन होना भी परम आवश्यक है। यह एक ऐसा पदार्थ होना चाहिये जिसको आवश्यकतानुसार गलाकर ढाला जा सके और नया रूप दिया जा सके। उसमें चित्र आदि बनाया जा सके या मुहर लगाई जा सके ताकि जाली सिक्के न बन सकें। यह गुण लगभग सभी धातुओ में पाया जाता है।

उपरोक्त गुण अधिकतर धातुओ में पाये जाते है, किन्तु सोने और चाँदी की अपेक्षा और धातुओं में यह गुण मात्रा में कम पाये जाते हैं। इसीलिये काफी लम्बे समय से सोने और चाँदी के सिक्के मुद्रा के रूप में उपयोग में लाये जा रहे है। वैसे

तो गिलट और तांबे के सिक्कों का भी काफी प्रयोग हुआ है, परन्तु देश के प्रमुख सिक्कों के रूप में नही बल्कि गौण सिक्कों के रूप में। कुछ ही समय पूर्व सोने और चाँदी के सिक्कों का उपयोग कम कर दिया गया है और उनकी जगह आजकल कागजी मुद्रा का प्रयोग होने लगा है, क्योकि सोने और चाँदी की पूर्ति बहुत कम है और विनिमय क्षेत्र दिन प्रति दिन उन्नति के शिखर पर पहुँच रहा है।

मुद्रा का महत्त्व तथा लाभ

ऊपर के पृष्ठो में मुद्रा के कार्यों के सम्बन्ध में जो विवेचना की गई है, उससे मुद्रा के महत्त्व का आभास हो जाता है। जिस प्रकार भोजन बिना नमक के बेस्वाद हो जाता है, उसी प्रकार यदि हमारे जीवन से द्रव्य लुप्त हो जाय तो हमारा जीवन बिल्कुल बेकार हो जायेगा। हमारे आर्थिक जीवन की गति रुक जायेगी, उसका गला दब जायेगा। न जीवन में कोई उथल पुथल होगी और न ही कोई उमग। जिस प्रकार बिना श्वास के यह शरीर केवल हड्डियों और मास का एक ढाँचा-सा प्रतीत होने लगता है, उसी प्रकार बिना मुद्रा के हमारा आर्थिक-चक्र-स्तम्भ समाप्त हो जायेगा। अकसर यह देखा गया है कि जब किसी भी देश की मुद्रा प्रणाली (Monetary System) बिगड जाती है तो उस देश की प्रगति रुक जाती है, और देश उन्नति करने की अपेक्षा अवनति की ओर चलने लगता है। इसीलिये तो हर देश थोडे-थोडे समय बाद अपनी-अपनी मुद्रा-प्रणाली में हेरफेर करते रहते है ताकि जनता का जीवन कष्टमय न होने पावे। मनुष्य के जीवन में मुद्रा को कितना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है, इसका उल्लेख क्राउथर ने अपनी पुस्तक 'मुद्रा की रूप रेखा' में बहुत ही सुन्दर ढग से किया है। एक स्थान पर वह कहते है कि जिस तरह यन्त्र शास्त्र में पहिया, भौतिक विज्ञानो में अग्नि और राजनीति शास्त्र में वोट (Vote) आधार स्तम्भ है उसी तरह अर्थशास्त्र तथा मनुष्य के सामाजिक जीवन में मुद्रा एक ऐसा आविष्कार है जिस पर सब दूसरी बातें आधारित हैं। मुद्रा के लाभो का अध्ययन व्यवहारिक एव सैद्धान्तिक दोनो ही दृष्टिकोण से किया जा सकता है। व्यावहारिक जीवन में मुद्रा का महत्त्व जितना उपभोक्ता जीवन में है उतना ही उत्पादक के जीवन मे भी है। इनका उल्लेख निम्न प्रकार है.—

मुद्रा के लाभ उपभोक्ताओ के लिये

मुद्रा के चलन से उपभोक्ताओं को अनेकों लाभ प्राप्त हुए है। मुद्रा के द्वारा मनुष्य अपनी आवश्यकता के अनुसार दूसरे मनुष्यो की बनाई हुई वस्तुओ और सेवाओ पर अपना अधिकार जमा सकता है। मुद्रा ने मनुष्य की क्रय-शक्ति (Purchasing power) को बहुत ही बढा दिया है। मनुष्य जब भी चाहे, जैसा भी चाहे, अपनी सुविधा के अनुसार वस्तुओ को एक जगह से दूसरी जगह ले जा सकता है। यह ही नही, मुद्रा ने मनुष्य को एक ऐसा मापदण्ड प्रदान किया है, जिससे वह अपने व्यय से अधिक से अधिक संतुष्टि प्राप्त कर सकता है। सच तो यह है कि मुद्रा ने मनुष्य के उपयोग सम्बन्धी सारी कठिनाइयो को दूर कर दिया है।

मुद्रा के लाभ उत्पादकों के लिये

उत्पादको को भी मुद्रा के आविष्कार से काफी लाभ पहुँचे हैं। वे अपने उत्पादन को काफी कुशल और सस्ता बना सके हैं। अपने उत्पादन में जिस साधनो की वह सहायता लेते हैं उनका वेतन अथवा पुरस्कार वह मुद्रा के ही रूप में देते हैं। इस प्रकार उत्पादक वर्ग उन साधनो को क्रय-शक्ति प्रदान करते हैं। मुद्रा ने इस प्रकार उत्पादन अथवा वितरण, दोनो ही कार्यों को बहुत आसान बना दिया है। जिस प्रकार मुद्रा ने उपभोक्ताओ को अधिक से अधिक सतुष्टि प्राप्त करने में सहायता पहुँचाई है, उसी प्रकार उत्पादक वर्ग भी मुद्रा की सहायता से उत्पादन में प्रयोग किये साधनो से अधिक से अधिक उत्पादन करने का प्रयत्न करता है, और इस तरह वह अपने लाभ को अधिक से अधिक बढाने की कोशिश करता है।

इस प्रकार हम देखते है कि मुद्रा ने उपभोक्ताओ, उत्पादको और व्यापारियो को अनेको लाभ तथा सुविधाएँ प्रदान की हैं। मुद्रा के यह लाभ हम सभी को व्यवहारिक जीवन में अनुभव होते हैं। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भी मुद्रा के बहुत से लाभ हैं, जो कि निम्न प्रकार हैं।

(१) वस्तु विनिमय की कठिनाइयाँ दूर हो गई हैं—मुद्रा के आविष्कार से वस्तु विनिमय की सारी कठिनाईयाँ दूर हो गई। क्योंकि मुद्रा सामान्य एव सामूहिक मूल्य-मापक का कार्य करती है, और इसको देश में सभी लोग लेने को तैयार हो जाते हैं, इसलिये न तो अब वस्तु-विनिमय प्रणाली की तरह आवश्यकताओ के दोहरी समानता की आवश्यकता महसूस होती है, न वस्तुओ को छोटी-छोटी इकाईयों में विभाजित करने में कोई कठिनाई पडती है, न एक और सेवा की दूसरी वस्तु और सेवा से बदलने में असुविधा और न ही मूल्य के सचय करने मे ही कोई असुविधा का सामना करना पडता है। हर मनुष्य इस तरह से अपने-अपने क्षेत्र मे स्वतन्त्र-सा हो गया है। अतएव मुद्रा ने वस्तु-विनिमय (Barter System) प्रणाली के सारे दोषो को दूर कर दिया है।

(२) श्रम और पूंजी गतिशील हो गये हैं—श्रमिको की मजदूरी मुद्रा के रूप में ही दी जाती है। मुद्रा सामान्य-क्रय-शक्ति (General Purchasing-Power) है इसलिये मजदूर एक जगह से अपनी नौकरी छोड कर सुगमतापूर्वक दूसरी जगह चला जाता है। यही कारण है कि श्रमिकों में एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की प्रवृत्ति पाई जाती है। मुद्रा ने ही यह गतिशीलता प्रदान की है। पूंजी भी इसी प्रकार गतिशील हो गई है, क्योंकि ब्याज भी मुद्रा ही के रूप में दिया जाता है। देश की उन्नति में यह गतिशीलता अनेको प्रकार से सहायक होती है। देश का चारो ओर से एक-सा विकास हो जाता है, देश में जनता के बचाने की आदत को प्रोत्साहन मिलता है। यातायात के साधनो तथा बडे-बडे उद्योग धन्धों का विकास मुद्रा प्रणाली का ही चमत्कार है।

(३) मुद्रा देश की आर्थिक प्रगति की सूचक होती है—मुद्रा देश की आर्थिक एव सामाजिक उन्नति का सूचक होती है। जिस प्रकार बरोमीटर (Barometer)

किसी स्थान का तापक्रम और थरमामीटर (Thermometer) शरीर के तापक्रम का सूचक है, उसी प्रकार मुद्रा किसी भी देश की आर्थिक प्रगति की सूचक है। सामाजिक एव आर्थिक उन्नति एक दूसरे पर निर्भर रहती है। हर देश अपनी आर्थिक व्यवस्था को कायम रखने मे अपनी सामाजिक उन्नति के साथ साथ अपनी मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन करता रहता है। इस प्रकार हम मुद्रा के विकास के इतिहास का अध्ययन करके हम देश की आर्थिक उन्नति का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

(४) राजनैतिक क्षेत्र में मुद्रा जनता में जागृति पैदा करती है—किसी भी देश की जनता अपने करो का भुगतान मुद्रा में ही करती है। भुगतान करते समय हर व्यक्ति को, जेब से जब पैसा जाता है, इस बात का अनुभव हो जाता है कि वह भी देश के सचालन में सहायता दे रहा है। उसमें राजनैतिक जागृति की भावना उत्पन्न हो जाती है। वह अपने कर्तव्य और अधिकारो को भली प्रकार से समझने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार एक आधीन देश तो स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर होने लगता है और स्वाधीन देश का सचालन कार्य पहले से भी अधिक अच्छी तरह चलने लगता है।

(५) मुद्रा राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों को बढ़ाने में सहायता प्रदान करती है—मुद्रा के कारण विनिमय कार्य बहुत ही सरल हो गया है, जिससे व्यापारिक क्षेत्र मे काफी उन्नति हुई है। रेलो, जलमार्गो तथा हवाई मार्गो का विकास होने से व्यापार को और भी अधिक प्रोत्साहन मिला है। देशो की दूरी दूर होने लगी और आपसी सम्पर्क बढने लगा। इतना ही नही बल्कि एक देश दूसरे देश पर आर्थिक क्षेत्र में तो निर्भर होने ही लगता है, परन्तु इस आर्थिक निर्भरता के कारण अन्य क्षेत्र में भी आपसी सम्बन्ध और भी दृढ हो जाते हैं।

(६) मुद्रा समाज सुधारक के रूप में—समाज सुधारक के रूप में मुद्रा का कार्य अति सराहनीय है। इसने सामाजिक स्वतन्त्रता को प्राप्त होने में बड़ी सहायता दी है। इतिहास का अध्ययन इस बात को पूर्ण रूप मे स्पष्ट कर सकता है कि हमने मुद्रा के बल से किस प्रकार मध्यकालीन परम्पराओ, सामाजिक रीति-रिवाजो, आर्थिक व राजनैतिक आधीनता से छुटकारा पाया है। प्राचीन समय में किसान जमीदारो के, श्रमिक पूँजीपतियो के व उपभोक्ता बड़े-बड़े व्यापारियो के पजे मे थे। लगान व मजदूरी वस्तुओ के रूप में दी जाती थी जिस कारण किसानो तथा मजदूरो को बहुत हानि उठानी पड़ती थी। परन्तु मुद्रा ने इन लोगो को इस दासता से मुक्त कर दिया और वह आज अपने श्रम का पूर्ण लाभ प्राप्त कर रहे हैं। पाश्चात्य देशो ने जो उन्नति प्राप्त की है वह भी केवल मुद्रा के कारण ही। इस प्रकार मुद्रा ने सारे समाज का ढाँचा ही बदल कर रख दिया है।

मुद्रा का महत्त्व पूंजीवादी अर्थ व्यवस्था में (Importance of Money in Capitalistic Economy)

पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में पूँजी पर मुट्ठी भर व्यक्तियो का स्वामित्व होता है। इसमें निजी सम्पत्ति का अधिकार, उद्योग व व्यापार की स्वतन्त्रता तथा अपनी

सम्पत्ति को किसी भी उपयोग में लाने की पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता होती है। उत्पादन कार्यों पर भी पूंजीपतियों का पूर्ण अधिकार होता है जिसकी व्यवस्था वह अपनी इच्छानुसार करते हैं। प्रत्येक मिल मालिक अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करता है। इस प्रथा में मूल्य का एक विशेष महत्त्व होता है, हर वस्तु व सेवा का उपयोग मूल्य के अनुसार ही चुना जाता है। इस प्रथा में आर्थिक चक्र माग और पूर्ति के नियमों तथा बाजारू मूल्य के सहारे बिना किसी रोक टोक के चलता रहता है। उपभोक्ता अपनी आवश्यता की वस्तुओं की उपयोगिता उन वस्तुओं के मूल्य द्वारा ही आंकता है, और उत्पादक भी अपने उत्पादन व्यय का अनुमान बाजार मूल्य के आधार पर लगाते हैं। अत मूल्य वह केन्द्र बिन्दु है जिसके चारों ओर आर्थिक क्रियाएँ चक्र लगाती हैं और मूल्य मुद्रा द्वारा ही आका जाता है। इस प्रकार मुद्रा का महत्त्व पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था में एक विशेष स्थान रखता है।

मुद्रा का महत्व सामाजिक अर्थ व्यवस्था में (Importance of Money in Socialistic Economy)

सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में स्वयं सरकार का ही देश के विभिन्न साधनों पर आधिपत्य होता है। इस प्रथा में सरकार उत्पादन पर पूर्ण नियन्त्रण रखती है और वस्तुओं का मूल्य-निर्धारण लाभ के लिये नही वरन् जनता के हित के लिए होता है। इस तरह सामाजिक अर्थ-व्यवस्था में पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की अपेक्षा मूल्य का कोई विशेष महत्त्व नही रहता, किन्तु फिर भी मूल्य-प्रणाली का होना आवश्यक हो जाता है। देश की उन्नति व जनता की भलाई के लिए जो भी आर्थिक योजनाएँ बनाई जाती हैं, उन सबमें श्रमिकों की सेवाओं का मूल्य आका जाता है। उत्पादन तथा उपभोग में भी एक उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिए और धन का समान रूप से वितरण होने के लिए सरकार द्वारा ऐसी योजनाएँ बनाई जाना स्वाभाविक ही है। इसमें न तो वस्तुओं का अभाव और न ही वस्तुओं की अधिकता रहती है, हर व्यक्ति हर समय अपनी ऐच्छिक वस्तुएँ प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में भी मुद्रा के बिना कोई कार्य नही चल सकता। रूस में कई बार मुद्रा का अन्त करने की योजनाएँ बनाई गईं परन्तु सब असफल रहीं।

उपरोक्त विवरण से यह भलीभाँति विदित हो जाता है कि आधुनिक जगत में मुद्रा का कितना महत्त्व है। किसी भी देश की मुद्रा-प्रणाली मे जरा सा हेर-फेर हो जाने से उस देश की अर्थ-व्यवस्था गड़बड़ में पड़ जाती है। मुद्रा केवल सामान्य-मूल्य-मापक तथा विनिमय के माध्यम के कार्य नही ही करती बल्कि यह उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों ही रूप में सन्तुष्ट करती है। यह श्रम विभाजन और पूंजी व श्रम की गतिशीलता को प्रोत्साहन देती है, और देश के उत्पादन तथा सामान वितरण में सहायता देती है। साराश तो यह है कि मुद्रा हर वस्तु की प्राप्ति के लिए कुंजी है और केवल स्वर्ग के अलावा हर जगह जाने का एक आज्ञा-पत्र (Passport) है।

मुद्रा के दोष अथवा मुद्रा से हानियाँ

मुद्रा के दोषों का अध्ययन दो दृष्टिकोणों से किया जा सकता है। (१) आर्थिक और (२) नैतिक।

आर्थिक दृष्टिकोण से मुद्रा में निम्न दोष प्रतीत होते हैं :—

(१) मुद्रा ने पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था को जन्म दिया है। इस प्रथा में उत्पादन के साधन कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में एकत्रित हो जाते हैं। उत्पादन की वृद्धि के साथ-साथ धनी लोग निर्धन लोगों के श्रम का अनुचित लाभ उठाकर और अधिक धनी हो जाते हैं। समाज में असमानताएँ बढ़ती जाती हैं और चारों ओर असन्तोष की एक लहर फैल जाती है।

(२) बीसवीं शताब्दी का आर्थिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि मुद्रा के मूल्य की अस्थिरता का समाज के विभिन्न वर्गों पर कितना दुष्प्रभाव पड़ता है। उपभोक्ताओं के जीवन-स्तर में उथल-पुथल होती रहती है, जिससे आर्थिक जीवन बहुत ही अनिश्चित हो जाता है। फलस्वरूप उद्योग, व्यवसाय तथा व्यापार की उन्नति रुक जाती है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य के परिवर्तन समाज के लिए बहुत ही घातक होते हैं।

(३) मुद्रा साख का आधार है। आर्थिक क्रियाओं की गति तीव्र करने के लिए यह ऋण के रूप में एक मनुष्य के हाथ से दूसरे मनुष्य के हाथ में सुगमता से चली जाती है। जितना साख का प्रचार मुद्रा युग मे हुआ है उतना वस्तु-विनिमय-प्रणाली (Barter System) में नहीं था, क्योंकि उस युग में उधार लेने तथा देने की क्रियायें इतनी सरल नहीं थी, जो कि आधुनिक युग में उपलब्ध है, यह सब मुद्रा के कारण हुआ। सुगमता से ऋण प्राप्त हो जाने के कारण लोग मुद्रा का दुरुपयोग करने लगे हैं, समाज में फजूलखर्ची बढ़ गई है। औद्योगिक क्षेत्र में भी साख-व्यवस्था के कारण आवश्यकता से अधिक विनियोग (Investment) हो जाता है। उत्पादन माग से अधिक होने लगता है, जिसका प्रभाव समस्त समाज पर पड़ता है।

नैतिक दृष्टिकोण से मुद्रा को समस्त दोषों की जड़ कहा जाता है। यह मनुष्य को लोभी बना देती है। व्यक्ति धनी होकर निर्धन वर्ग का शोषण करने लगता है। समाज में चोरी, डकैती, धोखेबाजी, बेईमानी आदि अनेकों बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए कुछ अर्थ-विद्वानों ने कहा है कि मुद्रा मनुष्य के लिए एक अभिशाप है। "मुद्रा का दोष उस समय ज्ञात होता है, जब वेश्या तुच्छ धन के लिए अपने शरीर को बेच देती है, तथा जज अपने न्याय के विरुद्ध फैसला दे देता है।" परन्तु वास्तव में इन बुराइयों को उत्पन्न करने मे केवल मुद्रा का ही हाथ नहीं है, जितना मानव प्रकृति का है। मुद्रा का जन्म तो केवल विनिमय कार्य को सुगम बनाने को हुआ था। इसका प्रयोग केवल वस्तुओं और सेवाओं के प्राप्त करते समय ही होना चाहिए था, परन्तु मानव प्रकृति ने तो इस उद्देश्य को ही पलट दिया।

उपरोक्त दोषों का वर्णन करते हुए कुछ विद्वान पूछ बैठते हैं कि क्या बिना

मुद्रा के कार्य नही चल सकता ? क्या मुद्रा का उपयोग करना नितान्त आवश्यक है ? यदि इन प्रश्नो का उत्तर नही में दिया जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि हमें फिर से वस्तु-विनिमय की शरण लेनी होगी और आजकल जबकि विनिमय-क्रिया इतनी जटिल हो गई है, विनिमय का क्षेत्र इतना बढ गया है, जबकि व्यापार इतनी उन्नति कर चुका है, और आज जब हम उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके है, हमारा काम कभी भी वस्तु-विनिमय प्रणाली (Barter System) से नही चल सकेगा। साम्यवादी तथा समाजवादी देश भी मुद्रा का त्याग नही कर सकते और अब भी उन देशो में कम-से-कम लेखे की इकाई (Unit of Account) के रूप में मुद्रा का प्रयोग हो रहा है। यद्यपि मुद्रा में कुछ दोष अवश्य हैं जिन्हे सुधारा नही जा सकता परन्तु समाज जितने लाभ मुद्रा से प्राप्त करता है, उसकी तुलना में इन दोषो का कोई मूल्य नही है।

चौथा अध्याय

मुद्रा का वर्गीकरण

मुद्रा का वर्गीकरण कई प्रकार से किया गया है। भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपनी-अपनी रीतियाँ अपनाई हैं। मुख्य-मुख्य वर्गीकरण निम्नलिखित हैं —

वास्तविक मुद्रा एवं हिसाबी मुद्रा (Actual money and Money of Account)

पहले वर्गीकरण मे मुद्रा को दो भागों मे बाँटा गया है। एक तो वास्तविक मुद्रा और दूसरी हिसाबी मुद्रा। वास्तविक मुद्रा उस मुद्रा को कहते हैं जो देश के अन्दर चलती हो, जो वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय का माध्यम हो और जो सामान्य रूप से वस्तुओं और सेवाओं का मूल्य आंक सके। इस प्रकार की मुद्रा से सभी प्रकार के ऋणों का भुगतान किया जाता है और इसी के द्वारा क्रय-शक्ति (Purchasing power) सचित की जाती है। हमारे देश मे रुपया, अठन्नी, चवन्नी, दो-अन्नी, आधा आना और एक पैसे का सिक्का व कागजी नोट इसी प्रकार की मुद्रा हैं। इस प्रकार देश का प्रचलित-चलन (Currency) ही देश की वास्तविक मुद्रा होती है।

हिसाबी मुद्रा से हमारा अभिप्राय उस मुद्रा से है, जो वास्तव में देश में न चलती हो किन्तु लेन-देन सम्बन्धी जितने भी हिसाब किताब हों वह उसी में रखे जाते हों— इसे लेखे-जोखे की इकाई भी कहते हैं। हिसाबी-मुद्रा देश की वस्तुओं, सेवाओं, ऋणों तथा साधारण क्रयशक्ति को बताती है। भारतवर्ष में लेन देन का हिसाब रुपये, आने और पाई में रक्खा जाता है। और सब ऋणों, सौदों व वस्तुओं की कीमतें इन्हीं इकाईयों द्वारा सूचित की जाती है, इस प्रकार यह हमारे देश के हिसाबी-मुद्रा है। जर्मनी में सन् १९२३ में मार्क (Mark) देश की वास्तविक मुद्रा थी, लेकिन डालर और फ्रेंक हिसाबी मुद्रा थी। इंगलैंड में, हालांकि सोने का पौंड चलन में नहीं है किन्तु फिर भी लेखे की इकाई पौंड ही है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविक और हिसाबी-मुद्रा क्या है। वास्तविकता तो यह है कि हिसाबी-मुद्रा, वास्तविक-मुद्रा का केवल एक वर्णन मात्र है। कुछ लेखकों का विचार है कि यदि वास्तविक मुद्रा चलन की मुद्रा का व्यवहारिक रूप है तो हिसाबी मुद्रा उसका सैद्धान्तिक रूप है। वास्तविक-मुद्रा के रूप तथा गुणों में परिवर्तन होते रहते हैं परन्तु हिसाबी मुद्रा का रूप सदा एक ही रहता है। इस दृष्टि से दोनों मुद्राओं में भेद करना सम्भव हो जाता है और इसी कारण इन दोनों को अलग-अलग भी किया गया है।

कीन्ज (Keynes) ने वास्तविक-मुद्रा को मुख्य-मुद्रा (Money Proper) बताया है। कीन्स के अनुसार मुख्य-द्रव्य को भी दो भागों में विभाजित किया जा

सकता है अर्थात पदार्थ द्रव्य (Commodity Money) और प्रतिनिधि-मुद्रा (Representative Money)

कीन्स के अनुसार मुद्रा के भाग
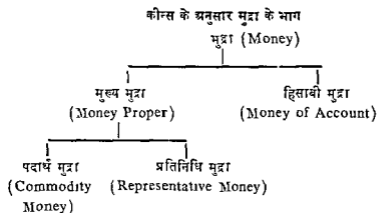
पदार्थ मुद्रा (Commodity Money) —पदार्थ मुद्रा को पूर्णकाय मुद्रा (Full bodied Money) भी कहते हैं। इसमें सिक्के का अंकित मूल्य उसके धातु के मूल्य के बराबर होता है। यह विनिमय के माध्यम का कार्य तो करता ही है परन्तु इसके द्वारा विनिमय शक्ति का सचय भी होता है।

प्रतिनिधि मुद्रा (Representative Money) —प्रतिनिधि-मुद्रा को कागज़ी मुद्रा भी कहते हैं। यहाँ हमारा अभिप्राय उस मुद्रा से है जो चलन में होती है और विनिमय के माध्यम का भी कार्य करती है परन्तु विनिमय-शक्ति का संचय नही हो सकता। वे केवल पदार्थ-मुद्रा के प्रतिनिधि हैं। उनको पदार्थ मुद्रा मे बदलने की सुविधा प्राप्त होती है। हमारे देश में २) रु० के नोट से लेकर १०००) रु० तक के नोट प्रतिनिधि-मुद्रा हैं। किन्तु प्रतिनिधि मुद्रा भी दो प्रकार की होती है। एक तो वह मुद्रा जिसको पदार्थ मुद्रा से बदलने की सुविधा प्राप्त होती है इसको परिवर्तनीय-मुद्रा (Convertable Money) कहते हैं; और दूसरे वह मुद्रा जिसके बदले में पदार्थ-मुद्रा न प्राप्त हो सके जिसको अपरिवर्तनीय मुद्रा (Inconvertable Money) कहते हैं।[1]

कानूनी मुद्रा एवं ऐच्छिक मुद्रा (Legal-tender Money and Optional Money)

देश की सरकार या देश के विधान द्वारा जो मुद्रा हर प्रकार के भुगतान के साधन का कार्य करने लिये *ग्रहण की जाती है उसे कानूनी मुद्रा या विधि-ग्राह्य मुद्रा* कहते हैं। इस मुद्रा से देश के भीतर हर प्रकार का भुगतान किया जा सकता है। चाहे वह वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य का भुगतान हो या ऋणो का। इसको ग्रहण करने में किसी को भी कोई आपत्ति नही हो सकती यदि। कोई व्यक्ति इसे लेने से इन्कार कर दे तो उसको कानून द्वारा दण्ड दिया जा सकता है। भारतवर्ष में रुपये का

१—इसका पूरा विवरण आगे चल कर दिया गया है।

सिक्का, रुपये का नोट और अन्य नोट भी तथा अठन्नी, दुअन्नी आदि सब ही कानूनी-मुद्रा हैं।

इस मुद्रा के भी दो भेद है। सीमित कानूनी मुद्रा (Limited Legal Tender Money) और असीमित कानूनी मुद्रा (Unlimited Legal Tender Money)। यदि सरकार किसी भी मुद्रा के सम्बन्ध में यह कानून बना दे कि वह मुद्रा भुगतान करते समय किसी एक निश्चित मात्रा में दी जा सकती है तो ऐसी मुद्रा को सीमित कानूनी मुद्रा कहते हैं। वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य अथवा ऋणों का भुगतान करते समय इस मुद्रा का प्रयोग हम केवल एक निश्चित मात्रा तक ही कर सकते हैं। किसी भी व्यक्ति को इस सीमा से ऊपर भुगतान स्वीकार करने के लिये मजबूर नही किया जा सकता, इस क्षेत्र में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, वह चाहे तो स्वीकार करे या न करे। हमारे देश में चवन्नी, दुअन्नी तथा इकन्नी के सिक्के केवल १०) रु० तक ही विधि-ग्राह्य है और दो पैसे तथा एक पैसे के सिक्के १) रु० तक ही।

ऐच्छिक मुद्रा विधि-ग्राह्य नही होती। वैसे तो इसका प्रयोग सामान्य रूप से हर व्यक्ति करता ही है परन्तु भुगतान करते समय इसका स्वीकार करवाना या करना अनिवार्य नही है। वास्तव में इस मुद्रा की स्वीकृति व्यक्तिगत साख के ऊपर निर्भर होती है। यदि भुगतान पाने वाले को भुगतान करने वाले पर विश्वास है तो वह मुद्रा स्वीकार कर लेगा अन्यथा नही। इस प्रकार इनका चलन केवल विश्वास पर ही आधारित होता है। हर देश में इस प्रकार की मुद्रा का चलन होता है, और इनके अनेको रूप होते हैं। बैंक नोट, हुडी, विनिमय बिल, चैक, प्रतिज्ञा-पत्र इत्यादि इसी के उदाहरण हैं। ऐच्छिक मुद्रा को साख मुद्रा या बैंक मुद्रा भी कहते हैं। इसका क्षेत्र कानूनी मुद्रा की अपेक्षा बहुत ही सीमित होता है।

धातु मुद्रा एवं कागज़ी मुद्रा (Metallic Money and Paper Money)

धातु मुद्रा वह मुद्रा होती है जो किसी धातु की बनी होती है। जैसे सोना, चाँदी, तांबा आदि के सिक्के। कागज़ी मुद्रा से हमारा अभिप्राय कागज़ी नोटो से है जो सरकार द्वारा चलाये जाते हैं। भारतवर्ष में धातु मुद्रा के अन्तर्गत निकिल के रुपयो से लेकर एक पैसे तक के जितने भी सिक्के है वह सब आते है और कागजी मुद्रा में सब प्रकार के नोट जो भारतीय सरकार द्वारा चलाये गये है, आ जाते हैं। पिछले जमाने में अधिकतर सिक्के सोने और चांदी के हुआ करते थे और गिल्ट, तांबे के सिक्के केवल खेरीज की आवश्यकता की पूर्ति करते थे, परन्तु आजकल सोने और चांदी के सिक्कों की अपेक्षा कागजी मुद्रा से काम चलाया जाता है। इस प्रकार मुद्रा के आधुनिक रूप दो हैं, एक तो कागज़ी मुद्रा और दूसरे छोटी कीमत के तुच्छ धातुओ के सिक्के।

धातु-मुद्रा और कागज़ी-मुद्रा दोनों को दो अलग-अलग भागो में विभाजित किया जाता है। धातु-मुद्रा को धातु-चलन (Metallic Currency) और धातु-मान (Metallic Standard) दो भागो में बांटा जाता है। इसी प्रकार कागज़ी मुद्रा

भागो मे बाटा जा सकता है। इस प्रकार :—
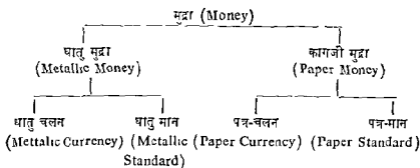
धातु चलन से मतलब उन धातु के सिक्कों से है जो एक देश के अन्दर वस्तुओ अथवा सेवाओं के क्रय-विक्रय के सम्बन्ध मे चलते है या जिन्हे जनता विनिमय के माध्यम के रूप मे प्रयोग करती है। जिस धातु का मुख्य सिक्का देश में चलता है वह ही उस देश का धातु-मान हो जाता है, जैसे यदि सोने का सिक्का चलता है तो स्वर्ण मान (Gold standard) और यदि चाँदी का सिक्का चलता है तो रजत-मान (Sivler Standard) हो जाता है। इसी प्रकार कागजी नोट उस कागजी मुद्रा को कहते हैं जो देश में विनिमय के माध्यम के रूप मे चलती है। पत्र-मान एक ऐसा मुद्रा-मान (Monetary Standard) होता है, जिसमे वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य का सामूहिक मापक धातु नही होती बल्कि कागजी मुद्रा ही के द्वारा सारी वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य आका जाता है।

धातु-चलन (Metallic Currency)

सिक्का और सिक्का ढलाई (Coins and coinage)—आजकल मुद्रा ने सिक्कों का रूप धारण कर लिया है। पुराने जमाने में बहुमूल्य धातुओ का प्रयोग मुद्रा की भाँति हुआ करता था। परन्तु इसमें बहुत सी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता था। भुगतान करते समय उनको तोलने, परखने व इसी प्रकार की अन्य कठिनाइयां होती थी। इन्ही कठिनाइयो को दूर करने के लिए सरकार ने सिक्का ढलाई का कार्य शुरू किया। वास्तव मे सिक्का उस धातु के टुकडे को कहते हैं जो एक विशेष रूप और वजन का हो और जिस पर सरकारी मुहर और छाप हो तथा वजन और मूल्य भी अंकित हो।

जैवन्स के शब्दों में "सिक्का धातु का वह टुकडा है जिस पर सरकार ठप्पा या छाप लगाती है जिससे उसके वजन और शुद्धता का प्रमाण मिले।"[१]

सिक्कों का प्रयोग आरम्भ होते ही सिक्को की ढलाई की समस्या उत्पन्न हो

१—"An ingot of which the weight and fineness as certified by the integrity and designs impressed upon the surface of the metals." —Jevons.

गई। सिक्के बनाने का कार्य ही मुद्रा ढलाई या सिक्का ढलाई कहलाता है। किनले का कथन है कि "सिक्का-ढलाई धातु के टुकडे पर मुद्रा के उपयोग के लिए छाप लगाना है, जिससे इसका नाम और मूल्य प्रत्यक्ष रूप से या इसके वजन और शुद्धता के संकेत द्वारा ज्ञात हो जाए।"[1]

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि आरम्भ में धातुओ के टुकडे मुद्रा की जगह प्रयोग मे लाये जाते थे। परन्तु वे टुकडे एक ही शुद्धता और एक ही वजन के नही हुआ करते थे और इसी कारण उनको परखने और तोलने में बड़ी कठिनाई होती थी। इसी कारण राज्य ने सिक्के बनाने का कार्य स्वय करना शुरू कर दिया। किन्तु प्राचीन समय में इस कला में निपुण व्यक्तियो का मिलना भी असम्भव था, जिसके कारण सिक्को में सदैव एकरूपता की कमी रहती थी और लोगो को बेईमानी करने का काफी अवसर प्राप्त हो जाता था। वे लोग या तो तेजाब में डालकर (Sweating) या उनके किनारे काटकर (Clipping) या एक थैले में डालकर और खूब हिलाकर धातु के छोटे-छोटे कणों के रूप में निकालकर (Abrasion) सिक्को में धातु का वजन कम कर दिया करते थे। धीरे-धीरे सुधार होने लगे। शुरू में सिक्का-ढलाई का कार्य अनेको टकसालो और कारखानो में हुआ करता था, फिर भी सिक्के में असमानता रहती ही थी। सिक्को में समानता लाने का केवल एक ही उपाय था, कि सिक्का ढलाई का कार्य देश में केवल एक ही व्यक्ति या एक ही सस्था द्वारा किया जाय। धीरे-धीरे सिक्का ढलाई का अधिकार अपने हाथो में ले लिया और इस प्रकार सिक्का ढलाई राज्य का एकाधिकार बन गया और आजकल सब सिक्के समान शुद्धता और समान वजन के तैयार किये जाते है।

सिक्के ढलाई के उद्देश्य—सिक्का ढलाई के विशेषकर निम्नलिखित उद्देश्य होने चाहिए।

(१) सिक्का इस प्रकार का होना चाहिए कि उसकी नकल न हो सके। इसी कारण सरकार सिक्के पर अपनी मुहर लगाती है और इस प्रकार ढालती है कि लोग जाली सिक्के न बना सकें। भारतीय रुपया में पहियेदार किनारा होने के कारण उसकी नकल होना असम्भव हो गया है।

(२) क्योंकि मनुष्य सिक्के को तेजाब में डालकर या किनारे काटकर, थैले में डालकर और हिलाकर धातु के कण निकालकर उसकी धातु का वजन कम कर देते है। इसलिए सिक्के ढालते समय सरकार को दश और विशेष ध्यान देना चाहिए। सिक्के ऐसे ढाले जायें कि उनका वजन किसी प्रकार से भी कम न किया जा सके।

(३) सिक्के इस प्रकार ढाले जायें कि वह कम से कम घिसें। पूर्ण वजन के को भी पत्र-मुद्रा (Paper-Currency) और पत्र-मान (Paper-Standard) दो

१—Stamping of a piece of metal for use as money so as to make known its denomination and value directly or by indicating its weight and fineness" Kinley.

सिक्के चलते-चलते घिस जाते हैं और काफी मात्रा में धातु नष्ट हो जाती है जिससे देश को काफी हानि पहुँचती है। इसलिये यह आवश्यक है कि सिक्कों में कडापन हो ताकि वह आसानी से घिस न सकें। यही कारण है कि सोने और चाँदी के सिक्के बनाते समय इनमें थोडा सा और धातु मिला दिया जाता है।

(४) सिक्के सुन्दर तथा कलायुक्त होने चाहिये। वह अपने काल के प्रतीक बन सकें, इसलिये उनपर चित्र बनाने चाहियें। ऐसे चित्र तथा चिन्ह अंकित होने चाहिए, जो देश की सभ्यता एव सस्कृति के प्रतिनिधि हों, ताकि वह भविष्य में स्मरण चिन्ह बन सकें।

सिक्का ढलाई के रूप

आजकल ससार के सारे देशों की सरकारें सिक्का-ढलाई करते समय इन्हीं उद्देश्यों का पालन करती हैं। सिक्का ढलाई भी दो प्रकार की होती है। एक तो स्वतन्त्र सिक्का ढलाई (Free Coinage) और दूसरी सीमित सिक्का ढलाई (Limited Coinage).

स्वतन्त्र सिक्का ढलाई उस पद्धति को कहते हैं जिसमें जनता को टकसाल में एक निश्चित दर पर सोना या चाँदी ले जाकर सिक्के ढलवाने की पूरी आज़ादी होती है। इसको असीमित सिक्का ढलाई भी कहा जाता है। भारत में सन् १८९३ से पहले स्वतन्त्र सिक्का ढलाई की प्रथा थी। इसके अतिरिक्त अमेरिका, फ्रास, इंगलैंड और जापान में भी यही प्रणाली प्रचलित थी लेकिन अब ससार के सभी देशों में सीमित सिक्का ढलाई की प्रथा है। इस प्रणाली में सरकार स्वय ही सिक्के ढलाई का कार्य करती है। जनता को सिक्के ढलवाने की स्वतन्त्रता नहीं होती है।

सिक्का ढलाई में सरकार का कुछ खर्चा अवश्य होता है। जब सरकार सिक्का ढालने का खर्चा जनता से कुछ भी नहीं लेती, उस समय ऐसी सिक्का ढलाई निःशुल्क सिक्का ढलाई (Gratuitous coinage) कहलाती है। दूसरे शब्दों में, सरकार स्वय इस खर्चे को सहन करती है और जनता के लिये मुफ्त सिक्के ढल जाते हैं। इस प्रणाली का उपयोग उसी समय हो सकता है जबकि सिक्के का बाह्य मूल्य (Face Value) या अंकित मूल्य सिक्के के आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) या धातु के मूल्य के बराबर हो। यदि ऐसा नहीं है तो सरकार को बहुत हानि होगी और जनता को निरन्तर लाभ होता रहेगा। यदि सिक्के का अंकित मूल्य धातु के मूल्य से कम है तो जनता सिक्कों को गलाकर धातु के रूप में बाज़ार में बेचना शुरू कर देगी और यदि परिस्थिति इसके विपरीत है तो जनता बाजार से धातु खरीदकर टकसाल से सिक्के ढलवाने में लाभ प्राप्त करेगी।

सरकार जब सिक्का ढलाई का खर्चा जनता से वसूल करती है तब इस प्रथा को सशुल्क सिक्का ढलाई (Non-gratuitous coinage) कहते हैं। जब सरकार जनता से केवल सिक्के ढलवाई के वास्तविक व्यय के बराबर शुल्क लेती है तब उस प्रणाली को ढलाई व्यय प्रणाली (Brassage) कहते हैं। और जब सरकार ढलाई के लागत व्यय से अधिक शुल्क जनता से लेती है तो उस प्रणाली को ढलाई लाभ प्रणाली (Seigniorage) कहते हैं। इस प्रणाली में सरकार जनता से व्यय के अतिरिक्त कुछ लाभ

भी प्राप्त करती है। यह लाभ दो प्रकार से प्राप्त किया जा सकता है या तो सरकार सिक्को के रूप में शुल्क ले ले या धातु की मात्रा कम करके उसमें और कोई धातु मिला कर कुल वजन पूरा कर दे और फिर उसको ढाल दे। यह प्रणाली उसी समय अपनाई जाती है जबकि सिक्के का अंकित मूल्य (Face Value) उसके आन्तरिक मूल्य (Intrinsic Value) से ज्यादा होता है। इस तरह जनता को सिक्के पिघलाकर धातु प्राप्त करने से कोई लाभ नही होता।

भारत में सिक्का ढलाई (Coinage in India)

भारत की प्राचीन सभ्यता एव सस्कृति के जो चिन्ह प्राप्त होते हैं, उनसे ज्ञात होता है कि प्राचीन समय में भी हमारी सिक्का ढलाई की कला काफी उन्नत थी। मोहनजोदडो तथा हरप्पा की खुदाइयों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय में धातु-मुद्रा का प्रयोग होता था, क्योकि वहाँ के अवशेषो से बहुत से सिक्के मिले हैं। प्राचीन सोने के सिक्को को 'पद' (Pada) या निष्क (Nishk) कहते थे। बौद्ध काल में प्रचलित चाँदी के सिक्को को कार्शापण (Karshapan) या पण (Pan) के नाम से पुकारते थे। जो अधिकारी टकसालो इत्यादि की देखभाल करते थे उनको लक्षणाध्यक्ष के नाम से पुकारते थे और जो अधिकारी सिक्को की जाँच पडताल करते थे उन्हे रूपाकर्ष कहते थे। इनका वर्णन हमें चाणक्य के अर्थशास्त्र में मिलता है।

कुछ अर्थ-विद्वानो का विचार था कि भारत में सिक्का ढलाई की विदेशी रीतियो को अपनाया गया है। परन्तु उनका विचार बिलकुल गलत था क्योकि यह सिद्ध हो चुका है कि सिक्का ढलाई का जन्म स्वय भारत में ही हुआ था। प्राचीन सिक्को पर केवल चिन्ह अंकित रहते थे कोई लिखित नही रहता था, किन्तु कुछ समय बाद वह ढाले जाने लगे। गुप्त काल में इनके रूप में काफी परिवर्तन हुआ।

मध्यकालीन भारत के इतिहास पर जब हम एक नज़र डालते हैं, तो हमें मालूम होता है कि उस काल के बादशाहो ने सिक्के सम्बन्धी काफी सुधार किये। इलतुतिमश ने एक चाँदी का सिक्का निकाला जिसमें १७३ ग्रेन चाँदी थी। यह देश का प्रामाणिक सिक्का था। मुहम्मद तुगलक ने ताबे के साँकेतिक सिक्को का प्रयोग किया, परन्तु वह अपने इस प्रयत्न में असफल रहा। इसके पश्चात शेरशाह ने एक सिक्का जिसमें १७२.५ ग्रेन चाँदी थी प्रचलित किया और साथ ही साथ एक ताँबे का सिक्का जिसको दाम (Dam) कहते थे चलाया। अकबर और औरगजेब ने भी इसी नीति को अपनाया। मुगल साम्राज्य का अन्त होने पर जब छोटे-छोटे राज्य स्थापित हुए तो उन्होंने भी अपने-अपने सिक्के चलाये।

जब ईस्ट इडिया कम्पनी भारत में स्थापित हुई उस समय लगभग ९९४ सिक्के चल रहे थे, जिनका वजन और शुद्धता भिन्न-भिन्न थी। कुछ ही समय बाद सरकार ने एक प्रामाणिक सिक्का चलाने का प्रयत्न किया। सन् १८१८ में बम्बई में और १८२३ में मद्रास में इस प्रकार के प्रयत्न हुए। १८० ग्रेन वजन चाँदी का सिक्का चलाया गया जिसकी शुद्ध चाँदी थी। अन्त में १८३५ में चाँदी का रुपया कानून द्वारा प्रामाणिक

घोषित कर दिया गया और साथ ही साथ सोने का सिक्का भी चलता रहा। इन सिक्कों के साथ ही साथ, सरकार ने सोने की मुहरो के प्रयोग को भी प्रोत्साहन देना आरम्भ किया और उनका अनुपात १५ : १ निश्चित कर दिया। सन् १८९३ तक यह ही दशा रही, परन्तु उसके पश्चात् सन् १९०० तक स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई बद कर दी गई जो कि फिर बाद में खोल दी गई थी।

सन् १९०६ के भारतीय सिक्का ढलाई के Act III में कुछ संशोधन होने के पश्चात् तीन प्रकार के सिक्के बनने लगे। यह सिक्के चाँदी, गिलट और पीतल के थे, रुपये, अठन्नी, चवन्नी और दुवन्नी जो कि क्रमशः १८०, ९०, ४५, २२.५ ग्रेन वजन के थे और जिनमें ११/१२ शुद्ध चाँदी थी। सन् १९१८ में चाँदी की दुवन्नी बन्द कर दी गई।

दूसरे महायुद्ध के समय सचय करने के कारण जनता में चाँदी के सिक्को की माग बहुत बढने लगी। अतएव सरकार ने इन सिक्को में चाँदी की मात्रा आधी कर दी और छोटे सिक्के अधिक प्रचलित कर दिये। चाँदी के अभाव के कारण विक्टोरिया और एडवर्ड सप्तम के रुपये १ अप्रैल, सन् १९४१ से और अठन्नियाँ मई, सन् १९४२ से बंद कर दी गई। १ मई, सन् १९४३ से जार्ज पचम के सिक्को, व दुवन्निओ और चवन्निओ को भी बन्द कर दिया। सन् १९४६ में रुपया से चवन्नी तक के सिक्के विशुद्ध गिलट के ढाले जाने लगे।

देश स्वतन्त्र हुआ और १५ अगस्त, १९५० से एक नये प्रकार के सिक्के चलाये गये, जिन पर प्रजातन्त्र राज्य का द्योतक अशोक चिन्ह अंकित है। इन सिक्को में केवल एक पैसे का सिक्का अवश्य नये ढग का था और बाकी सिक्के रूप तथा तौल में पहले जैसे ही रहे। एक पैसे का सिक्का तांबे का था जिसका वजन ६० ग्रेन था। सन् १९५१ की फरवरी से एक पैसे का वजन ४५ ग्रेन कर दिया गया है।

भारतवर्ष की वर्तमान सिक्के ढालने की शक्ति बहुत बढी हुई है। यह केवल भारत की ही माग को नही वरन् विदेशो की मुद्रा की माग को भी पूरा कर सकती है। इस समय देश में तीन टकसालें हैं :—

(१) बम्बई में जो १० लाख सिक्के रोजाना बना सकती है।

(२) हैदराबाद में जो १९५० से बम्बई टकसाल की शाखा हो गई है। यह रोजाना ३ लाख सिक्के ढाल सकती है।

(३) अलीपुर, कलकत्ता में जो १९ मार्च सन् १९५० को चालू की गई थी और जिसकी शक्ति प्रत्येक आठ घटे में १२ लाख सिक्के तैयार करने की है।

धातु-चलन के रूप (Forms of Metallic Currency)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है धातु मुद्रा या धातु-चलन कानूनी ग्राह्य होती है। धातु चलन मे धातुओ के सिक्के चलन में आते हैं। इन सिक्को में से कुछ सीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं। इन सिक्को के दो रूप होते हैं :—

(१) प्रमाणिक सिक्का या मुख्य सिक्का (Standard coin or Maincoin)

(२) साकेतिक सिक्का या गौण सिक्का (Token coin or Subsidiary coin)

(१) प्रामाणिक सिक्का—प्रामाणिक सिक्के वह सिक्के होते हैं जिनका अंकित मूल्य उसमें लगी हुई वास्तविक धातु के मूल्य के बराबर होता है। ऐसे सिक्को को गलाकर जो धातु प्राप्त हो यदि उसे बेचा जाय तो कोई हानि नही होती इसीलिये इनको पूर्णकाय सिक्के (Full-bodied Coins) भी कहते हैं। यह सिक्के देश में दूसरे प्रकार की मुद्रा का माप होते हैं। प्रामाणिक सिक्को के गुण निम्न प्रकार है:—

(क) अंकित मूल्य उसमें लगी हुई धातु के मूल्य के बराबर होता है।

(ख) इसकी स्वतन्त्र ढलाई होती है।

(ग) यह देश का मुख्य सिक्का होता है। यह वस्तुओ और सेवाओ के सामूहिक मूल्य का सामान्य माप है। यह लेखे की इकाई (Money of Account) का प्रतीक होता है।

(घ) असीमित कानूनी ग्राह्य होता है।

(ङ) यह देश के अन्य सिक्को के मूल्य का माप (Standard) है।

(२) सांकेतिक सिक्का—साकेतिक सिक्को में अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से अधिक होता है। दूसरे शब्दो में इनका अंकित मूल्य उसमें लगी हुई धातु के मूल्य से अधिक होता है। यह छोटी-छोटी कीमत (Small denominations) के सिक्के होते हैं। इन सिक्कों का प्रयोग खेरीज (Small change) के लिए होता है। यह छोटी-छोटी वस्तुओ अथवा सेवाओ का भुगतान करने के काम में आते हैं। ऐसे सिक्को का मूल्य उनमें रहने वाली धातु पर निर्भर नही होता बल्कि उनका मूल्य सरकार तय करती है। इसी कारण इनको कानूनी या प्रादिष्ट सिक्के (Fiat coins) भी कहते हैं। ऐसे सिक्कों की ढलाई से काफी लाभ होते हैं। प्रथम, व्यापार की वृद्धि के साथ-साथ द्रव्य की माग भी देश के अन्दर बढने लगती है। यदि सरकार बहुमूल्य धातु की कमी अनुभव करती है तो वह मुद्रा की पूर्ति साकेतिक सिक्को द्वारा करती है। दूसरे, इनके प्रयोग से बहुमूल्य वस्तुओ की बचत हो जाती है। तीसरे, जनता द्वारा सिक्के गलाये जाने पर भी रोक हो जाती है। और चौथे, जनता को छोटे-छोटे सौदो का भुगतान करने में भी बहुत सुविधा प्राप्त होती है। ऐसे सिक्को की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं।

(क) इनका अंकित मूल्य वास्तविक मूल्य से सदैव ज्यादा होता है।

(ख) इनका प्रामाणिक सिक्के से एक निश्चित सम्बन्ध होता है।

(ग) यह बहुत थोड़ी कीमत के होते हैं।

(घ) यह कम कीमत की वस्तुओं तथा सेवाओ के मूल्य के भुगतान में काम आते हैं।

(ङ) इनकी स्वतन्त्र ढलाई नही होती।

(च) यह सीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं।

कभी-कभी साकेतिक सिक्के, धातु का मूल्य बढ जाने के कारण पूर्णकाय सिक्के (Full-bodied) हो जाते हैं। इस परिस्थिति में इनका संचय भी हो सकता है और

इनको गलाया भी जा सकता है। भारतीय रुपया सन् १९४० से पहले सांकेतिक सिक्का था, परन्तु १९४० में चाँदी का मूल्य बढ जाने के कारण यह पूर्णकाय हो गया और यह चलन से बाहर जाने लगा। सरकार ने धीरे-धीरे चाँदी की मात्रा कम करनी शुरू कर दी और अन्त मे सन् १९४६ में गिल्ट के रुपयो का श्री गणेश हुआ। अब यह गलाये भी नही जा सकते और न संचित ही किये जा सकते हैं।

भारतीय रुपया की परिस्थिति

रुपया भारतवर्ष का प्रधान व मुख्य सिक्का (Main coin) है। यह देश में सामान्य मूल्य को प्रमाणित करता है। यह असीमित कानूनी ग्राह्य है। इन गुणो के अनुसार रुपया प्रामाणिक सिक्का (Standard coin) का कार्य करता है, परन्तु यह पूर्णकाय (Full-bodied) सिक्का नही है, यानी इसका वास्तविक मूल्य उसके धात्विक मूल्य (Metallic) से ज्यादा है और न ही इसकी ढलाई स्वतन्त्र है। अतएव यह सांकेतिक सिक्का (Token coin) भी हो जाता है। इस प्रकार यह प्रामाणिक सिक्का भी है और सांकेतिक भी, इसी वजह से लेखक इसको सांकेतिक मान (Token Standard) कहते हैं।

पाँचवाँ अध्याय

धातुमान[1] (Metallic Standard)

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कि धातु-मुद्रा (Metallic Money) के दो रूप होते हैं। एक तो धातु-चलन (Metallic Currency) और दूसरा धातु-मान (Metallic Standard)। धातु-चलन सम्बन्धी सभी बातो का हम पिछले अध्याय में अध्ययन कर चुके हैं। यहाँ पर हम धातु-मान से सम्बन्धित सभी समस्याओ की विवेचना करेंगे।

व्यावहारिक जीवन में धातु-मान के निम्न रूप मिलते हैं —

एक धातु-मान (Mono-metallism)

जब एक ही धातु का प्रामाणिक सिक्का (Standard Coin) चलन में होता है, तब ऐसे मान को एक धातु-मान कहते हैं। वैसे तो किसी भी धातु का उपयोग किया जा सकता है, परन्तु व्यवहार में केवल सोने और चाँदी का उपयोग किया गया है। जब प्रामाणिक सिक्का सोने का होता है तो उसे स्वर्ण-मान (Gold Standard) और जब प्रामाणिक सिक्का चाँदी का होता है तो उसे रजत-मान (Silver Standard) कहते हैं। जैसे सन् १९२७ से १९३१ तक भारत में स्वर्ण-मान था और इससे पूर्व १८९३ तक रजत-मान भी रहा। चीन में रजत-मान था, इगलैंड में सन् १९३१ तक और फ्रास में सन् १९३६ तक स्वर्ण-मान रहा। एक धातु-मान में दूसरी धातुओ के बने साकेतिक सिक्के तथा कागजी-मुद्रा भी प्रचलित हो सकते हैं। ऐसी मुद्राओ का मूल्य सदैव प्रामाणिक सिक्को पर ही आधारित रहेगा।

१—यहाँ पर 'मान' (Standard) शब्द-सम्बन्धी कुछ बातें बताना आवश्यक हो जाता है। 'मान' शब्द का प्रयोग दो स्थानो पर होता है। प्रथम, मुद्रा-मान (Monetary Standard) में और द्वितीय मूल्य-मान (Standard of Value) मे। एक साधारण व्यक्ति के दृष्टिकोण से तो इन दोनो में कोई अन्तर न होगा, परन्तु अर्थशास्त्र में इन दोनो में काफी अन्तर किया जाता है। मूल्य-मान की अपेक्षा मुद्रा-मान एक अधिक विस्तृत शब्द है। मूल्य-मान उस मान को या मापदण्ड को कहते हैं, जिसमें देश की वस्तुओं तथा सेवाओं का मूल्य नापा जाता है और किसी देश की मुद्रा-इकाई ही उस देश में सामान्य मूल्य नापने के काम में आती है, इसलिये मूल्य-मान से हमारा आशय देश की मुद्रा-इकाई से होता है, जैसे भारत में रुपया, अमेरिका में डालर, इङ्गलैंड में पौण्ड इत्यादि। मूल्य-मान को निर्धारित करने के अतिरिक्त सरकार और भी बहुत से आवश्यक कार्य करती है, जैसे मुद्रा सम्बन्धी नियम तथा व्यवस्थायें, साकेतिक सिक्कों का चलाना, कागजी मुद्रा की व्यवस्था करना तथा साख पर

इस मान में अधिकतर देशो ने सोने का ही प्रयोग किया है। भारत, चीन और दक्षिणी अमेरिका के कुछ भागो में चाँदी का उपयोग अधिक नही हुआ है। एक-धातु-मान स्वर्ण-मान के रूप में काफी लम्बे काल तक ससार में चलता रहा है।

एक-धातुमान के निम्नलिखित लाभ हैं :—

(क) इस प्रणाली में केवल एक ही प्रामाणिक सिक्का होने के कारण ग्रेशम का नियम लागू होने की सम्भावना कम हो जाती है।

(ख) यह प्रणाली काफी सरल होती है। साधारण व्यक्ति भी इसको आसानी से समझ सकता है, क्योकि इसमें केवल एक ही धातु का मूल्य मान के रूप में प्रयोग होता है। जनता को भी इस प्रणाली में काफी विश्वास रहता है, क्योकि इसमें केवल मूल्यवान् धातुओ का ही प्रयोग किया जाता है।

(ग) एक-धातु-मान को यदि अन्तर्राष्ट्रीय मान कहा जाय तो कोई त्रुटि न होगी। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में तथा अन्य आर्थिक क्षेत्रो में बहुत सहायता मिली है, इसीलिए यह ससार में काफी लम्बे काल तक प्रचलित रहा है।

एक-धातु-मान के दोष निम्न प्रकार हैं :—

(क) स्वर्णमान का अत इसी कारण हुआ कि ससार के समस्त देशो में सोने की मात्रा पर्याप्त नही थी। इससे यह सिद्ध होता है, कि ससार के सब देश एक साथ मिलकर इस मान को स्थापित नही कर सकते, क्योकि जिस धातु का भी प्रयोग करेंगे, उसी की पूर्ति कम हो जायेगी, और अन्त में देशो को विवश हो इसका त्याग करना पडेगा, जैसा कि वास्तव मे हो भी चुका है।

(ख) एक-धातुमान में मूल्यो का स्थिर रहना बहुत कठिन है। धातुओ के मूल्य सदैव स्थिर नही रहते, जिसके कारण मुद्रा-मान का मूल्य भी घटता बढता है। इसका प्रभाव देश के सामान्य-मूल्य-स्तर (General-Price-Level) पर पडता है, जिससे जनता को बडी असुविधा होती है। यदि हम विभिन्न देशो के आर्थिक इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पता चलेगा कि ससार के किसी कोने में भी नई खान के पता लगाने से या समाप्त होने से अथवा धातु के जहाज डूबने से सभी देशो मे उस धातु के मूल्य पर प्रभाव पडे हैं और मुद्रा-मान स्थिर नही रह सका है।

(ग) एक अच्छी मुद्रा प्रणाली लोचपूर्ण होनी चाहिए, अर्थात् विनिमय तथा

नियन्त्रण करने के लिये नियम बनाना, बहुमूल्य धातुओं के क्रय-विक्रय तथा आयात निर्यात की व्यवस्था करना और मुद्रा के मूल्य को स्थिर रखने का प्रयत्न करना आदि। यह सब कार्य मुद्रा-मान के क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। हर देश का मुद्रा-मान उसके मूल्य-मान पर आधारित रहता है। एक अच्छा मुद्रा-मान देश की सामाजिक, आर्थिक, राज-नैतिक एवं व्यापारिक उन्नति में सहायक होता है, और जब मुद्रा-मान में दोष उत्पन्न हो जाते हैं तो देश के सर्वनाश का कारण भी बन जाता है।

मुद्रा-मान दो प्रकार के होते हैं, धातु-मान एव पत्र-मान। पहले में मूल्य-मान धातु का होता है और दूसरे मे पत्र का। पत्र-मान आधुनिक अविष्कार है। इस अध्याय में हम धातु-मान पर ही दृष्टिपात करेंगे।

व्यापार का क्षेत्र विस्तृत होने के साथ-साथ मुद्रा की मात्रा बढाई जा सके और आवश्यकता पडने पर मुद्रा की मात्रा घटाई जा सके। परन्तु इस मान में धातु की मात्रा बिना बढाये मुद्रा की मात्रा बढाना कठिन है। इस प्रकार देश के व्यापार को बडी हानि होगी, और उस समय ऐसे मान को त्याग देना होगा, जैसा कि प्रथम महायुद्ध में काफी देशो को त्याग देना पडा था। इसलिए यह प्रणाली लोचपूर्ण नही है।

द्वि-धातुमान (Bi-metallism)

जब दो धातुओ के प्रामाणिक सिक्के साथ-साथ प्रचलित होते हैं, तो उसे द्वि-धातुमान कहते हैं। इन दोनो का विनिमय एक निश्चित अनुपात में होता है। भुगतान करते समय दोनो ही का स्थान बराबर होता है। दोनो सिक्को में प्रामाणिक सिक्को के सारे गुण पाये जाते है।

द्वि-धातुमान की विशेषतायें

इस प्रणाली का भी काफी लम्बे समय तक प्रयोग हुआ है, परन्तु सन् १६०० के पश्चात् ससार के लगभग सारे देशो ने इसको स्थगित कर दिया था। वास्तव में द्वि-धातु-मान की सफलता कुछ बातो पर निर्भर रहती है, यदि इनमें से कोई भी बात पूरी न की जाय तो इस प्रणाली का चलना कठिन हो जाता है। द्वि-धातुमान में यह आवश्यक है कि प्रत्येक देश अपनी मुद्रा का मूल्य दोनो धातुओं की एक निश्चित मात्रा में अलग-अलग निर्धारित करे, जैसे सन् १७९२ में अमेरिकन डालर का मूल्य २४ ७५ ग्रेन सोने के और ३७१ २५ ग्रेन चाँदी के बराबर था और इसी कारण सोने और चाँदी का सरकारी विनिमय अनुपात १ : १५ था। दूसरे, पत्र-मुद्रा (Paper-Money) को प्रामाणिक सिक्को में परिवर्तनीय घोषित करना चाहिए। तीसरे, दोनों प्रकार के सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य होने चाहिए। और चौथे, सरकार को दोनो प्रकार के सिक्को की स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई करनी चाहिये और सोने तथा चाँदी, दोनो ही धातुओ के क्रय-विक्रय खुले बाजार में होने की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये। ऐसा करने से सोने और चाँदी, दोनो ही प्रकार के सिक्को का अंकित-मूल्य और धातु-मूल्य बराबर हो जायेंगे। इस प्रकार द्वि-धातु-मान की सफलता उक्त लिखित चार बातो पर निर्भर रहती है।

द्वि-धातुमान के लाभ (Advantages of Bi-metallism)

अब हम द्वि-धातुमान के गुण और दोषो का अध्ययन आसानी से कर सकते हैं, और यह भी निर्णय कर सकते हैं कि एक-धातुमान और द्वि-धातुमान, दोनो में से कौनसा अच्छा है। प्रथम हम द्वि-धातु-मान के गुणो पर दृष्टिपात करेंगे।

यह लाभ इस प्रकार हैं :—

(१) *द्वि-धातुमान वाले देश को व्यापारिक क्षेत्र मे बडी सुविधा होती है।* बडी आसानी से विनिमय दर रजतमान और स्वर्णमान वाले देशो से निश्चित की जा सकती है। यदि इन धातुओ के आयात और निर्यात स्वतन्त्र रहें तो विदेशी विनिमय दरो में परिवर्तन होने की सम्भावना भी बहुत कम होती है। यह सुविधा एक-धातु-मान वाले देशो को प्राप्त नही होती, क्योकि रजतमान वाले देशों को स्वर्णमान वाले

देशों से और स्वर्णमान वाले देशों को रजतमान वाले देशों से विनिमय-दर निर्धारित करने में बड़ी-बड़ी अड़चनों का सामना करना पड़ता है।

(२) द्वि-धातु-मान में मुद्रा को आवश्यकतानुसार बढ़ाया भी जा सकता है और घटाया भी जा सकता है, क्योंकि इसमें दो धातुओं के सिक्के चलते हैं। यह सुविधा एक-धातु-मान में नहीं रहती।

(३) पत्र-मुद्रा की निकासी के लिए यह आवश्यक है कि उसके पीछे धातु-कोष हो। जितना अधिक धातुकोष (Metallic Reserve) होगा उतनी ही मुद्रा सुरक्षित रहेगी और लोगों का विश्वास अटल होगा। एक-धातुमान में कोष केवल एक धातु ही हो सकेगा और इस तरह सुरक्षित कोषों की कमी होने के कारण देश में कागजी मुद्रा का परिवर्तन नहीं हो सकेगा। यदि परिवर्तनीय कागजी मुद्रा की निकासी करना है और यदि जनता का विश्वास बनाये रखना है तो सुरक्षित कोष पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए। यह उद्देश्य केवल द्वि-धातुमान में ही सफल हो सकता है, क्योंकि दोनों धातुएँ मिलकर एक बड़ा कोष बना सकती हैं।

(४) इस प्रणाली में मूल्य अधिक स्थिर रहते हैं। यह सभी जानते हैं कि सोने और चाँदी की माग और पूर्ति में परिवर्तन होते रहते हैं। इन परिवर्तनों का प्रभाव उनके मूल्य पर पड़ता है और इसका प्रभाव मुद्रा-मान पर पड़ता है। एक-धातुमान में तो इन परिवर्तनों के बड़े भयकर परिणाम हो सकते हैं। परन्तु द्वि-धातु-मान में यह प्रभाव अपना जोर नहीं दिखा पाते, क्योंकि जब एक धातु का मूल्य ऊपर चढ़ता है तो दूसरी धातु का मूल्य गिर जाता है, जिससे दोनों धातुओं के सामूहिक कोष का मूल्य वैसा ही रहता है। इस प्रकार एक धातु दूसरी धातु की क्षतिपूर्ति कर देती है। इसे द्वि-धातुमान का क्षतिपूरक प्रभाव (Compensatory action of Bi-metallism) कहते हैं। जैवन्स (Jevons) ने एक बड़ा ही सुन्दर और उपयुक्त उदाहरण दिया है। वह कहते हैं कि यदि दो शराबियों को, जिनमें से एक दाईं ओर और दूसरा बाईं ओर गिरता है, आपस में बाँध दिया जाय तो वह कुछ समय के लिए अवश्य ही सीधे होकर चलेंगे, परन्तु यदि दोनों की प्रकृति एक ही ओर गिरने की है तो उनका गिरना काफी हानिकारक हो सकता है। जैवन्स एक दूसरी जगह इसी सम्बन्ध में लिखते हैं कि :—

> "पानी की दो टंकियों की कल्पना करो, जिनमें से प्रत्येक पर पानी की माग और पूर्ति के परिवर्तनों का भिन्न-भिन्न प्रभाव पड़ता है। दोनों को आपस में जोड़ने वाले नल के अभाव में, उनमें से हर एक की सतह केवल अपने ही परिवर्तनों से प्रभावित होगी। किन्तु यदि उन दोनों को मिला दिया जाय तो उन दोनों में पानी एक समतल पर आ जायगा और पानी की अधिक पूर्ति या अधिक माग के प्रभाव दोनों टंकियों के समस्त क्षेत्रफल पर बँट जायेंगे।"[१]

१—Imagine two reservoirs of water each subject to independent variation of supply and demand. In the absence of any connecting pipe the level of water in each will be subject to its

द्वि-धातुमान के क्षतिपूरक प्रभाव को जानने के हेतु एक उदाहरण लेना आवश्यक हो जाता है। मान लिया कि एक देश में सोने और चाँदी दोनों के सिक्के प्रचलित हैं। उनका टकसाल अनुपात १ : १५ है, अर्थात् १ सोने के सिक्के के बदले में १५ चाँदी के सिक्के और १५ चाँदी के सिक्को के बदले में १ सोने का सिक्का मिलता है। बाजार में चाँदी की अपेक्षा सोने का भाव बढ जाता है और अब बाजार में एक सोने के सिक्के में १६ चाँदी के सिक्को के बराबर चाँदी मिल जाती है। इसलिए लोग सोने के सिक्को को गलाकर बाजार में बेचने लगेंगे और उसके बदले चाँदी ले लेंगे। इस प्रकार बाजार में सोने की पूर्ति बढ जायेगी और उसकी कीमत गिर जायेगी। दूसरी ओर चाँदी की माग, सिक्के बनाने के लिए बढेगी, जिससे चाँदी का मूल्य बढ जायेगा। इस प्रकार बाजार दर भी गिरने लगेगी और १६ १ से कम होने लगेगी और टकसाल दर के बराबर आ जायेगी। अब यदि बाजार दर १ . १४ हो जाय तो इसका अभिप्राय यह हुआ कि सोना सस्ता हो गया। ऐसी परिस्थिति में लोग सोने के सिक्के ढलवायेंगे और चाँदी को गलाकर बाजार में बेचेंगे। इसका परिणाम यह होगा कि सोने की माग बढेगी और कीमत बढ जायेगी। उधर चाँदी की माँग कम होने से और पूर्ति बढने से मूल्य गिर जायगा। अन्त में फिर बाजारू दर टकसाल दर के बराबर आ जायेगी। यह ही धातु-मान का क्षतिपूरक प्रभाव (Compensatory action) है।

द्वि-धातुमान की हानियाँ (Disadvantages of Bi-metallism)

(१) क्षतिपूरक प्रभाव के लिए यह आवश्यक है कि ससार के सारे देशो में सोने और चाँदी का बाजारू अनुपात एक समान हो। सोने और चादी का बाजार विश्व-विस्तृत होता है। इसलिए इन दोनो का बाजारू अनुपात उनकी समस्त विश्व की माग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। संसार के एक देश का अनुपात दूसरे देश के अनुपात से ज्यादा भिन्न नही होना चाहिए। यह तब ही सम्भव हो सकता है, जबकि उनके यातायात पर कोई रोक न हो, जिसके कारण ससार की जिस टकसाल में भी सोने का मूल्य अधिक होगा, सब देशो से सोना उस टकसाल में पहुँच जावेगा। सोने के बदले चाँदी उस टकसाल से निकलकर अन्य देशो में चली जावेगी। ठीक उसका उल्टा तब होगा जब चाँदी का मूल्य बढेगा तो सारे देशो से चाँदी जाने लगेगी और सोना उसके बदले आने लगेगा। इस प्रकार क्षति पूर्ति हो जायेगी। अत: द्वि-धातुमान रखने के लिए यह जरूरी है कि सारे देशो का टकसाल-अनुपात निश्चित हो और उन में सहयोग हो, अर्थात् द्वि-धातुमान अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। किन्तु यह सिद्ध हो चुका है कि यह असम्भव है। उन्नीसवी शताब्दी के अन्त में इस सम्बन्ध में दो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मे-

---

own fluctuations only. But if we open a connection the water in both will assume a certain mean level and the effects of any excessive supply or demand will be distributed over the whole area of both reservoirs"—Money and the Mechanism of Exchange BY—Jevons.

लन हुए और दोनों ही असफल रहे। इगलैंड तैयार नही हुआ, उसकी अनुपस्थिति में जर्मनी ने भी मना कर दिया और दोनो की देखादेखी अमेरिका ने भी मना कर दिया। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय द्वि-धातुमान के लिए हर योजना बेकार रही।

(२) द्वि-धातुमान मे क्षतिपूरक कार्य द्वारा मूल्यो को स्थिर रखने में बडी सहायता मिलती है। परन्तु यह सदैव ही सम्भव नही कि क्षतिपूरक कार्य के मूल्य स्थिर ही रहे, अर्थात क्षतिपूरक कार्य हमेशा ही क्रियाशील हो। यदि दोनो धातुओ के मूल्यो में एक साथ एक ही दिशा में परिवर्तन हो तो स्वय द्वि-धातुमान सामान्य कीमतो में उतार चढाव का कारण बन जाता है। इस प्रकार क्षति पूरक कार्य केवल तभी सफल हो सकता है जबकि देश के पास दोनों धातुओ के इतने बडे सुरक्षित कोष हो कि दोनो धातुओ के निर्यात हो जाने के पश्चात भी धातुओं की कोई कमी अनुभव न हो। परन्तु किसी भी देश में इतनी सामर्थ्य नही होती जो इतने बडे कोष रख सके। इसी वजह से द्वि-धातुमान स्थापित करने के लिये जितने भी प्रयत्न हुये वे सभी असफल रहे।

(३) द्वि-धातुमान में व्यापारिक सौदो इत्यादि में बडी गडबड हो जाती है। ऋणी वर्ग सारे ऋणो अथवा सौदो का भुगतान उस मुद्रा में करना चाहता है जिसका मूल्य गिरा हुआ है। और ऋणदाता उस धातु में भुगतान लेना चाहते हैं जिसका मूल्य चढा हुआ है, जिसके कारण सब व्यवहारो में अस्थिरता आ जाती है। इसके अतिरिक्त बाजार में सट्टेबाजी को बहुत प्रोत्साहन मिलता है। सौदा करने वाले सदैव यह सोचते हैं कि जिस धातु का मूल्य अब गिरा हुआ है, भविष्य में उसके बढ जाने से उन्हे लाभ होगा। इसलिये वे सौदे लगातार करते रहते हैं।

आजकल धातु-मान ससार के किसी भी देश में दृष्टिगोचर नही होता तो फिर द्वि-धातुमान का प्रश्न ही नही उठता। सभी देशो ने पत्र-मान स्थापित कर लिया है। ससार में अब तक जितने भी प्रयत्न धातु-मान की स्थापना के लिये किये गये, वे सब ही असफल रहे। सन् १९४४ में जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन (International Monetary Conference) हुआ, उसने भी ससार की प्रवृति का अध्ययन करते हुए यह ही निर्णय किया कि सोने को केवल परोक्ष रूप से एक सामान्य मूल्य मापक मान लिया जाय, परन्तु व्यवहार में हर देश को पत्र-मान स्थापित करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी। इसलिये आधुनिक परिस्थितियो में न तो एक-धातुमान ही सफल हो सकता है और न द्वि-धातुमान ही। इसलिये हर वाद-विवाद इस सम्बन्ध में बेकार ही होगा।

लंगड़ा-मान (Limping Standard)

साधारणतया द्वि-धातुमान में जो दो धातुओ के प्रामाणिक सिक्के चलते हैं, उनमें सारे गुण प्रामाणिक सिक्को के होते है। परन्तु कभी-कभी सरकार कुछ आर्थिक कारणो से दबकर ऐसा भी कर सकती है कि उन दोनों सिक्कों में से किसी एक के गुणो में कुछ फेर बदल कर दे। द्वि धातुमान में जब दो प्रकार के प्रामाणिक सिक्के जैसे सोने और चाँदी के, किसी देश में चलते हैं तो दोनो में एक निश्चित विनिमय दर

निर्धारित कर दी जाती है, दोनों ही असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं और दोनों ही की ढलाई भी स्वतन्त्र होती है। परन्तु जब सरकार एक की ढलाई स्वतन्त्र और दूसरे की सीमित कर दे तो ऐसे मान को लंगडा-मान कहते हैं। इसको पगु-द्वि-धातुमान (Limping Bi-metallism) भी कहते हैं। इस मान में वह सिक्का जिसकी ढलाई सीमित कर दी जाती है वह घिसट-घिसट कर चलता है, स्वतन्त्रतापूर्वक नही चलता, ठीक ऐसे ही जैसे कि एक लंगडा आदमी चलता है। इसीलिये इस मान को लंगड़ा मान कहते हैं। वास्तव में यह द्वि-धातुमान का एक अपूर्ण रूप है। द्वि-धातुमान में इससे पहले कि एक मुद्रा दूसरी मुद्रा को बाहर निकाले, सरकार कम मूल्य वाली मुद्रा की ढलाई बन्द कर देती है। पिछली लड़ाई से पहले अमेरिका मे यही प्रणाली चलन में थी। सोने और चाँदी दोनो के ही सिक्के असीमित कानूनी ग्राह्य थे, परन्तु केवल सोने ही के सिक्को की ढलाई स्वतन्त्र थी।

बहु-धातु-मान (Multi-metallism)

इस धातु मे कई धातुओं के सिक्के प्रामाणिक सिक्कों के रूप में एक साथ प्रचलित रहते हैं। सभी सिक्कों के बीच एक विशेष विनिमय-दर निश्चित हो जाती है। सैद्धान्तिक दृष्टि से ऐसी प्रणाली में मूल्यों की स्थिरता बनाये रखने मे काफी सहायता मिलती है, परन्तु व्यवहार में यह प्रणाली आजतक कहीं भी नही लाई गई है। वास्तव में यह असम्भव है कि मूल्य-स्तर स्थिर रह सकें, क्योंकि इतनी धातुओं मे से किसी न किसी के मूल्य में परिवर्तन अवश्य ही आयेगा और इन परिवर्तनों के कारण उनके बीच में एक सामान्य विनिमय-दर का निर्धारित करना और उसको बनाये रखना कभी भी सम्भव नही हो सकता। इसलिये किसी भी देश ने इस मान को नहीं अपनाया।

समानान्तर-मान (Parallel Standard)

यह मान भी द्वि-धातुमान का एक दूसरा रूप है। इसमें भी द्वि-धातुमान के समान दो प्रामाणिक सिक्के चलते हैं और उन दोनो के गुण भी एक से होते हैं, परन्तु एक अन्तर केवल यह होता है कि द्वि-धातुमान में तो दोनो सिक्को का टकसाली अनुपात सरकार द्वारा निर्धारित होता है, परन्तु इस मान में यह अनुपात स्वयं धातुओं के बाजारू मूल्यों पर निर्भर रहता है। जो विनिमय अनुपात इस प्रकार निर्धारित होता है, उसके आधार पर टकसाली विनिमय अनुपात निर्धारित होता है। इस प्रकार टकसाली अनुपात की दर निश्चित नही रहती। उसमें भी धातुओं के मूल्य में परिवर्तन होने के साथ-साथ परिवर्तन होते रहते हैं। यह ही इस मान का सबसे बडा दोष है। यह प्रणाली सर्व प्रथम इंगलैण्ड में सन् १६६३ में आरम्भ हुई थी, परन्तु शीघ्र ही समाप्त हो गई, क्योंकि व्यापारियों को प्रतिदिन नये-नये सिक्को को गिनना पडता था, जिनका आपसी विनिमय अनुपात भी बदलता रहता था और इस प्रकार काफी असुविधा उठानी पड़ती थी।

आज्ञा-मान (Fiat Standard)

धातुमान के अन्तर्गत प्रमाणिक सिक्के का मूल्य धातु की एक मात्रा विशेष के

बराबर रक्खा जाता है। जैसे भारत में २१ रुपये ७ आने १० पाई एक तोला सोने के बराबर होते थे, परन्तु आज्ञा-मान में प्रामाणिक सिक्के का मूल्य धातु की किसी भी मात्रा के बराबर नही रखा जाता। कुछ विशेष परिस्थितियो में यह मान स्थापित किया जाता है। सरकार उन असाधारण परिस्थितियो में जान बूझकर ऐसी मुद्रा की निकासी करती है कि जिसका धातु-मूल्य बिलकुल कम होता है या नही के बराबर होता है। यह परिस्थिति उस समय भी उत्पन्न होती है, जबकि एक धातुमान वाला देश जिसमें कागज़ी परिवर्तनशील मुद्रा भी चल रही है, अपनी कागजी मुद्रा को अपरिवर्तनीय घोषित कर दे।

यद्यपि इस मान का प्रयोग केवल असाधारण परिस्थिति में ही किया जाता है, परन्तु कुछ का कहना यह भी है कि इस मान की सरकार की मुद्रानीति का एक स्थाई भाग होना चाहिए, क्योकि इस प्रणाली में मुद्रा एव साख को एक अनिश्चित मात्रा तक बढाया जा सकता है और देश के मानवीय एवं प्राकृतिक साधनो का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है। परन्तु इसमें कुछ दोष भी बताये गये हैं; जैसे कि आज्ञा-मान में मुद्रा की निकासी की मात्रा पर कोई नियन्त्रण तो होता नही, इसलिए मुद्रा की निकासी आवश्यकता से अधिक भी हो सकती है। और इस प्रकार देश की मुद्रा प्रणाली में ज्वार-भाटा उत्पन्न हो सकते हैं। इससे देश में मुद्रा-प्रसार हो जायेगा। देश की आर्थिक प्रणाली असमान हो जायेगी, जनता का सरकार में विश्वास समाप्त हो जायेगा और अन्त में चारो ओर अशान्ति और अव्यवस्था फैल जायेगी। दूसरे यदि ससार के सारे देश इस मान को स्थापित कर ले तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को तो लकवा लग जायेगा, जो ससार की आर्थिक उन्नति को आगे बढने से रोक देगा। यदि सारे देश इसे न भी अपनायें, बल्कि यह प्रणाली केवल एक ही देश मे स्थापित हो तो भी देशी मुद्रा-इकाई का विदेशी मुद्रा-इकाई से कोई प्रत्यक्ष व स्थाई सम्बन्ध न रहने पर विनिमय दर में उतार चढाव होते रहेगे, जो अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गडबड पैदा कर देंगे, जिसका अन्त कभी न होगा। इसके अतिरिक्त, इसके विरुद्ध वे सब आरोप भी लगाये जाते हैं, जो कि धातुमान के विपक्ष में कहे जाते हैं।

आज्ञा-मान को प्रादिष्ट-मान भी कहते हैं। इसका सबसे अच्छा उदाहरण हमें अमेरिका से प्राप्त होता है। जबकि सन् १८६२ से १८७६ तक अमेरिका में यह प्रणाली चली और उसी के अन्तर्गत ग्रीन बैंक्स (Green-backs) की निकासी हुई, जो न तो स्वर्ण में परिवर्तित ही किये जा सकते थे और न ही उनका मूल्य सोने की किसी मात्रा के बराबर ही था।

इस प्रकार आज्ञा-मान में मुद्रा की तीन विशेषताएँ होती है —

(१) यह परिवर्तनशील नही है। इसको देश के प्रमाणिक सिक्के में नही बदला जा सकता।

(२) इस मुद्रा का मूल्य या तो बहुत कम होता है या कुछ भी नही होता।

(३) इसकी क्रय-शक्ति (Purchasing Power) को किसी धातु अथवा किसी भी वस्तु जैसे सोना या चाँदी के बराबर नही रखा जाता।

सूचीबद्ध-मान (Tabular-Standard)

सूचीबद्ध-मान का विचार फिशर (Fisher) ने प्रस्तुत किया था। इस मान को सूचक-अंक-मान (Index-Number-Standard) भी कहते है, क्योंकि यह मान देश के सामान्य-मूल्य-स्तर (General-Price-Level) के आधार पर स्थापित किया जाता है और सामान्य-मूल्य-स्तर अको (Index Numbers) द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। फिशर के अनुसार एक अच्छी मुद्रा प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता यह होनी चाहिए, कि वह देश के आन्तरिक मूल्यों के परिवर्तनो को रोक दे। यदि इस गुण का अभाव है तो मुद्रा प्रणाली दोषपूर्ण है। किसी भी एक सामान्य वर्ष को (जिसमें पूर्ण रूप से शान्ति रही हो, न युद्ध ही और न अकाल ही का प्रभाव पड़ा हो) आधार मानकर वर्षों की कीमतो के सूचक अक बनाये जा सकते है। इन सामान्य मूल्यों के आधार पर मुद्रा का मूल्य निश्चित किया जा सकता है, जिससे कभी भी हानि होने की सम्भावना नही रहेगी। किन्तु फिशर यह भूल गये कि यदि मुद्रा का मूल्य, सामान्य-मूल्य-स्तर के द्वारा निर्धारित किया जायेगा तो उसमे हर वर्ष परिवर्तन होंगे। सामान्य-मूल्य-स्तर के हर परिवर्तन के साथ-साथ मुद्रा का मूल्य भी घटाना और बढाना होगा, और देश की सरकार न तो विनिमय दरों में और न भुगतानो में समानता ला सकेगी, जिससे देश की अर्थ-व्यवस्था सब चौपट हो जायेगी।

ऊपर से देखने में यह विचार बहुत ही अच्छा व शुद्ध लगता है। इस प्रणाली में मूल्यो में स्थिरता लाई जा सकती है, क्योंकि यदि सूचक-अक १५% का मूल्यों में तेजी दिखाता है तो सरकार सोने के निर्धारित मूल्यो में १५% कमी करके साख-मुद्रा को कम कर देगी और इस प्रकार मूल्य कम कर देगी। इसकी विपरीत दशा में सरकार मुद्रा की कीमतो को बढाकर स्थिति को सभाल लेगी। परन्तु इस प्रणाली में व्यवहारिकता नही है, क्योंकि सूचक अक केवल भूतकालीन प्रवृत्तियो को ही व्यक्त करने में सहायक होते है न कि वर्तमान और भविष्य की, क्योंकि यह अधिकतर अनुमानजनक होते हैं। इनके निष्कर्ष निश्चित नही होते। इस प्रकार फिशर का विचार उपयुक्त नही है।

मिश्रित-धातुमान (Symmetallism)

मिश्रित-धातुमान उस प्रणाली को कहते हैं, जिसमें एक ऐसा मान होता है, जो धातुओं की मिश्रित मात्रा से बनता है। द्वि-धातुमान की असफलता पर मार्शल ने यह सिद्धान्त प्रस्तुत किया था। ग्रेशम का नियम द्वि-धातुमान को असफल कर देता है, इसलिए यदि किसी प्रकार भी ग्रेशम के नियम को लागू होने से रोक दिया जाये तो द्वि-धातुमान सफलतापूर्वक कार्य करता रहेगा। ग्रेशम के नियम को लागू होने से रोकने के लिए मार्शल ने एक नये धातुमान का निर्माण करने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि द्वि-धातुमान स्थापित हो जाने के पश्चात् देश की मुद्रा को सोने और चाँदी में बदल लेने की आज्ञा होनी चाहिए, बल्कि उसको एक ऐसे पांसे या छड में बदल लेने की आज्ञा होनी चाहिए, जो सोने और चाँदी, दोनो ही धातुओ का एक

निश्चित अनुपात में मिलाकर बनाई गई हो। इस प्रकार देश का प्रामाणिक सिक्का न केवल चाँदी का ही और न केवल सोने का ही रहता है और न दोनों ही धातुओं के सिक्के अलग-अलग ही चलते हैं, बल्कि एक ऐसे प्रमाणिक सिक्के का चलन होता है, जिसमें दोनों धातुएँ होती हैं। इसमें ग्रेशम का नियम भी लागू नहीं होगा और द्वि-धातुमान के सारे गुण भी होंगे। परन्तु यह मान केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही उपयुक्त है, व्यवहार में लाने योग्य नहीं है। इसीलिए किसी भी देश ने इसे स्थापित नहीं किया।

छठा अध्याय

धातुमान (क्रमशः)

स्वर्णमान और रजतमान

आधुनिक समय में ससार की सर्वश्रेष्ठ जातियो ने स्वर्ण को ही मुद्रा-मान का आधार बनाया है। शताब्दियो पहले से सोना एक स्थिर सम्पत्ति के रूप में प्रयोग में आता रहा है। सोना ही एक ऐसी धातु है, जिसका आदर-सत्कार हर काल में हर जाति द्वारा होता आया है और हर देश में यह मूल्य का आधार रहता चला आया है। सोने को इतना महत्व या तो इसकी कमी के कारण या इसकी उपयोगिता और स्वरूप के कारण प्राप्त हुआ होगा। आरम्भ में स्वर्ण-मान केवल धनी [illegible] द्वारा ही अपनाया गया था, लेकिन धीरे-धीरे इसका क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया और इसके परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन और विनियोग (Investment) को काफी प्रोत्साहन मिला। कीन्स (Keynes) स्वर्ण-मान से इतने अधिक प्रभावित थे, कि एक बार उन्होने लिखा था कि "यदि सारे योरोप में स्वर्णमान स्थापित कर दिया जाये तो इसके द्वारा केवल उत्पादन और व्यापार का ही विकास नही होगा वरन् अन्तर्राष्ट्रीय साख को भी प्रोत्साहन मिलेगा और आवश्यक स्थानो को पूँजी भी पहुँच सकेगी।"

परिभाषा

इससे पहले कि हम स्वर्ण-मान का विस्तारपूर्वक अध्ययन करें, यह आवश्यक हो जाता है कि हम स्वर्ण-मान को परिभाषित करें। यह पिछले अध्याय में ही बताया जा चुका है कि एक-धातु-मान (Mono-metallism) के अन्तर्गत जिस धातु का सिक्का प्रामाणिक सिक्के के रूप में चलता है, उसी का वह 'मान' हो जाता है अर्थात् यदि सोने का सिक्का चलता है तो स्वर्ण-मान और चाँदी का सिक्का चलता है तो रजत-मान। इस प्रकार स्वर्ण-मान एक-धातु-मान का वह रूप है, जिसमे सोने का प्रामाणिक सिक्का चलन मे होता है; *अर्थात् जहाँ मुद्रा का मूल्य सोने के मूल्य पर आधारित होता है*। इसकी परिभाषा हम इस प्रकार कर सकते हैं कि जिस देश में मुद्रा स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है, उस मुद्रा-मान को स्वर्ण-मान कहते हैं। रोबर्टसन (Robertson) के अनुसार स्वर्ण-मान वह अवस्था है, जिसमें एक देश अपनी मुद्रा की इकाई का मूल्य और सोने के एक निश्चित वजन का मूल्य बराबर रखता है।"[1] इसी प्रकार कालबार्न ने भी अपना विचार प्रकट किया है। उनका विचार है कि "स्वर्ण-मान एक *व्यवस्था है जिसमें जनता की मुद्रा की मुख्य इकाई एक विशेष प्रकृति के सोने की एक*

१—Gold Standard is a state of affairs in which a country keeps the value of its monetary unit and the value of a defined weight of gold at an equality with one another." —Robertson

निश्चित मात्रा में परिवर्तनशील है।"[1]

शर्तें—स्वर्ण-मान के लिए निम्नलिखित बातों का होना अति आवश्यक है—

(१) मुख्य मुद्रा इकाई का मूल्य सोने में परिभाषित होना चाहिए। यह दो प्रकार से हो सकता है—या तो मुद्रा में शुद्ध स्वर्ण की मात्रा को घोषित कर दिया जाय, जैसे इंगलैंड में हुआ था, या स्वर्ण का टकसाली मूल्य निर्धारित कर दिया जाय ,जैसे भारतवर्ष में एक तोला सोना २१ रुपये ७ आने और १० पाई के बराबर था, या अमेरिका में एक औंस सोने का मूल्य ३५ डालर निर्धारित किया गया था।

(२) इसी निश्चित दर पर सरकार सोने को बेचने और खरीदने को तैयार हो।

(३) देश की प्रचलित मुद्रा मुख्य मुद्रा में परिवर्तनशील हो।

(४) मुद्रा की इकाई सारे भुगतानो के लिए असीमित कानूनी ग्राह्य (Unlimited legal tender) होनी चाहिये।

(५) स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई (Free coinage) होना चाहिए।

(६) स्वर्ण का स्वतन्त्र व्यापार होना चाहिए। उसके आयात और निर्यात पर कोई रोक-टोक नही होनी चाहिए।

स्वर्ण-मान केवल इसीलिए स्थापित किया जाता है कि देश की मुद्रा का मूल्य सोने की एक निश्चित मात्रा के बराबर रहे। देश में किसी प्रकार की भी मुद्रा प्रचलित क्यो न हो चाहे धातु-मुद्रा हो या कागजी मुद्रा, उन सबकी प्रत्येक इकाई का मूल्य सोने की एक निश्चित इकाई के अनुपात में होना चाहिए। स्वर्ण-मान के अच्छी प्रकार कार्यशील होने के लिए सरकार कुछ नियमो की रचना करती है, जिनके अभाव में स्वर्ण-मान का स्थापित होना कठिन ही नही असम्भव भी हो जाता है।

स्वर्णमान के रूप (Forms of Gold Standard)

संसार के विभिन्न देशो में स्वर्ण-मान ने नये-नये रूप धारण किये हैं। मुख्यत इसके तीन रूप रहे हैं :—

(अ) स्वर्ण-चलन-मान या पूर्ण-स्वर्ण-मान (Gold Currency Standard or Full Gold Standard)

(आ) स्वर्ण धातु-मान (Gold Bullion Standard)

(इ) स्वर्ण-विनिमय-मान (Gold Exchange Standard)

व्यावहारिक जीवन में स्वर्णमान के उपरोक्त तीन रूप ही मिलते हैं। परन्तु कुछ लेखको ने एक नये स्वर्णमान की सम्भावना के हेतु एक नये स्वर्ण-मान की रचना की है। वह स्वर्णमान का चौथा रूप हो जाता है।

(ई) स्वर्ण-कोप-मान (Gold Reserve Standard)

१—"The gold standard is an arrangement whereby the chief piece of money of a currency is exchangeable with a fixed quantity of gold of a specific quality." —Coulborn.

अब हम प्रत्येक रूप का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।

स्वर्ण-चलन-मान (Gold Currency Standard)

यह मान अमेरिका में तो १९३३ तक चलन में रहा, पर ससार के अधिकाश देशों में इसका चलन प्रथम महायुद्ध तक रहा और लडाई के बाद इसका बदला हुआ रूप प्रचलित हुआ। इस मान को हम स्वर्ण-टक-मान (Gold Coin Standard), स्वर्ण-प्रचलन मान (Gold Circulation Standard) और स्वर्ण-मान मुख्य (Gold Standard proper) आदि जैसे नामो से पुकारते है। इस मान में सोने के सिक्के चलन में होते है और वे पूरे मूल्य वाले (Full-bodied) या पूर्णकाय होते हैं। मुद्रा की प्रत्येक इकाई का मूल्य स्वर्ण के मूल्य से सम्बन्धित कर दिया जाता है।

विशेषताएँ (Features of Gold Currency Standard)

स्वर्ण-चलन-मान में निम्न विशेषतायें दृष्टिगोचर होती हैं:—

(१) सोने के सिक्को की स्वतन्त्र ढलाई होती है।

(२) मुद्रा इकाई असीमित कानूनी ग्राह्य होती है।

(३) सोने के सिक्को के अतिरिक्त देश में सहायक सिक्को व कागजी मुद्रा का भी चलन होता है, जो एक निश्चित अनुपात में स्वर्ण में परिवर्तनशील होती है।

(४) मुख्य मुद्रा इकाई का मूल्य स्वर्ण की एक मात्रा विशेष में घोषित कर देते हैं।

(५) सोने का स्वतन्त्र बाजार होता है। इसके आयात-निर्यात पर भी कोई प्रतिबन्ध नही होता है।

(६) मुद्रा इकाई में सोने की एक निश्चित मात्रा होती है।

(७) मुद्रा का विस्तार सोने के कोषो अथवा निधि के विस्तार पर निर्भर रहता है।

(८) हर प्रकार की साख मुद्रा को उसके मूल्य के अनुसार सोने मे बदलने की सुविधा रहती है।

(१) स्वतन्त्र ढलाई—जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, इस प्रणाली में जनता को पूरी आजादी होती है कि वह असीमित मात्रा में सोना टकसाल में ले जाकर उसके सिक्के ढलवा सकती है। यह मूल्य में स्थिरता लाने में बडा सहायक सिद्ध हो सकता है। अगर मान लिया जाय कि एक औंस सोने के सिक्के का मूल्य १ औस सोने के बराबर है। अब बाजार में यदि सोने का मूल्य बढ जाय, तो लोग सिक्के को पिघला कर सोने के रूप में बेचना शुरू कर देंगे और बाजार में सोने की पूर्ति बढने से उसका मूल्य गिरने लगेगा और एक अवस्था ऐसी आयेगी जब सिक्के के मूल्य से बाजार में एक औस सोने का मूल्य कम हो जायगा। इस अवस्था में बाजार से सोना खरीद कर टकसाल में ले जाया जाने लगेगा और उसके सिक्के ढलने लगेंगे और बाजार में सोने की मात्रा कम होने लगेगी और माँग अधिक होने से सोने का मूल्य बढ जायगा। इस प्रकार मूल्यो में स्थिरता रहेगी।

(२) **असीमित कानूनी ग्राह्य**—प्रमाणिक सिक्के से हमारा अभिप्राय ही यह होता है कि वह असीमित कानूनी ग्राह्य हो। स्वर्ण चलन मान में भी स्वर्ण के सिक्के हर प्रकार के भुगतान के लिये, चाहे वह व्यक्तिगत हो या सरकारी, असीमित कानूनी ग्राह्य होते हैं।

(३) **सहायक सिक्को एवम् कागजी मुद्रा का चलन**—सोने के सिक्को के साथ देश में अन्य प्रकार की मुद्रा भी चलन में रहनी चाहिये क्योकि स्वर्ण के सिक्को की मात्रा स्वर्ण की मात्रा के ऊपर निर्भर रहती है। मुद्रा का प्रसार बढाते समय स्वर्ण की आवश्यकता होगी। स्वर्ण के अभाव में अन्य प्रकार की मुद्रायें देश की मुद्रा की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेगी जिनसे व्यापारिक एवम् आर्थिक चक्र सुविधापूर्वक चलते रहेगे।

(४) **मुद्रा इकाई का मूल्य स्वर्ण की एक निश्चित मात्रा में घोषित करना**—यह विधि जनता में विश्वास उत्पन्न करेगी और देश के व्यापार व वाणिज्य में विशेष उन्नति होगी और विदेशो में आदर व सम्मान होगा।

(५) **स्वतन्त्र बाजार**—स्वतन्त्र बाजार से हमारा अभिप्राय यह है कि जनता को स्वर्ण के क्रय, विक्रय, आयात और निर्यात की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। वह स्वर्ण को जिस जगह से चाहे, खानो से या टकसाल से, खरीद सकते हैं। सिक्को को पिघलाने तथा बेचने की भी पूरी आजादी होती है। सोने का निर्यात भी कर सकते हैं। इस नीति का सबसे बडा लाभ यह है कि मुद्रा का अंकित मूल्य एवम् धातु मूल्य बराबर रहेगे जिससे देश में मूल्यो में स्थिरता आयेगी

(६) **मुद्रा में एक निश्चित सोने की मात्रा**—नियमो द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि एक मुद्रा इकाई में स्वर्ण कितनी मात्रा में हो। जब तक देश में स्वर्ण मान रहेगा यह नियम अन्य नियमो की भांति अटल रहेगा। १९३३ से पहले अमेरिका में स्वर्णमान था। देश के विधान के अनुसार एक डालर में २५.८ ग्रेन सोना होना चाहिये जिसमें ९⁄₁₀ हिस्सा (यानी २३.२२) ग्रेन विशुद्ध सोना था।

(७) **मुद्रा विस्तार एवम् स्वर्ण निधि**—मुद्रा का विस्तार स्वर्ण कोषो के ऊपर निर्भर रहता है। जब कोष बढ जाय, तो मुद्रा का विस्तार भी बढ जाता है और कोष में सोने की मात्रा कम होने से विस्तार घट जाता है। इसका सबसे बड़ा लाभ यह है कि देश में मूल्य स्थिर रहते हैं और विदेशी विनिमय दर में अधिक उतार-चढाव नही होते।

(८) **साख मुद्रा की परिवर्तनशीलता**—इस नीति से देश की तमाम मुद्राओ में समानता आ जाती है और उनका प्रयोग बिल्कुल स्वर्ण मुद्रा की भांति होने लगता है। क्योकि देश में स्वर्ण की मात्रा पर मुद्रा की मात्रा निर्भर रहती है इस कारण से मुद्रा एवम् साख मुद्रा पर प्रतिबन्ध रहता है। स्वर्ण चलनमान में विदेशी विनिमय दरो पर भी नियत्रण रहता है। यह प्रतिबन्ध जान-बूझकर नही रक्खा जाता वरन प्राकृतिक शक्तियो के स्वय सचालन के द्वारा मुद्रा की पूर्ति पर नियत्रण रहता है। स्वर्णचलन नाममें विदेशी विनिमय दरो पर भी नियत्रण रहता है। क्योकि स्वर्ण का आयात और निर्यात स्वतन्त्र होता है, सोने के कोषो में विशेष परिवर्तन होते रहते हैं और

इस प्रकार सोने का मूल्य भी चढता उतरता रहता है। मूल्य के इन परिवर्तनो का व्यापाराधिक्य (Balance of Trade) पर भी प्रभाव पड़ता है जिससे सोने का आयात और निर्यात स्वयं रुक जाता है।

युद्ध काल में सोने का प्रयोग युद्ध सचालन सम्बन्धी कार्यो में होने लगता है जिससे सोने के कोषो मे वृद्धि तो हो नही सकती बल्कि कमी होने लगती है। उधर युद्ध सम्बन्धी कार्यों के लिये मुद्रा की आवश्यकता होती है। स्वर्ण चलन मान में बिना सोने के कोषो में वृद्धि हुए मुद्रा का प्रसार नही हो सकता क्योकि स्वर्ण कोष में वैसे ही कमी हो जाती है। इसलिये युद्ध काल मे बहुत से देश इसको स्थगित कर देते हैं, और अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा (Inconvertible Paper Currency) का प्रयोग आरम्भ कर देते हैं। इसका प्रमाण हमें प्रथम महायुद्ध (१६१४–१८) में मिलता है जबकि अधिकाश देशों ने स्वर्ण मान को स्थगित कर दिया था और कागजी नोट छापना शुरू कर दिया था। युद्ध काल में तो कागजी नोटो से सारी अवश्यकतायें सतुष्ट हो गई परन्तु बाद में उन देशो को स्वर्णमान अपनाने में बडी कठिनाई हुई क्योकि उन देशो में कागजी मुद्रा इतनी ज्यादा छप चुकी थी कि उसमें परिवर्तनशीलता लाना असम्भव था। दूसरे शब्दो में पुराने ढग पर स्वर्णमान स्थापित करना असम्भव था।

स्वर्ण चलन मान के गुण

स्वर्ण चलन मान की विशेपतायें जानने के पश्चात् उसके गुणो का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है। वैसे तो इसके अनेको लाभ बताये जाते हैं पर मुख्य लाभ निम्न लिखित है—

(१) विदेशी विनिमय दरों में स्थिरता—जबकि अन्य चलन इस दिशा में सफलता प्राप्त नही कर सके, स्वर्णमान ने ही विदेशी विनिमय दरो में स्थिरता लाने में सफलता प्राप्त की। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विस्तार विशेषकर विनिमय दरो पर ही निर्भर रहता है। विनिमय दरो के अधिक उतार-चढाव विदेशी व्यापार के लिये हानिकारक होते हैं। स्वर्णमान मे विदेशी विनिमय दर स्थिर रहती है क्योंकि सारे देश स्वर्णमान पर होते हैं और सब ही की मुद्राओं का मूल्य सोने के मूल्य के अनुसार निर्धारित होता है, जिससे स्वयं ही विनिमय दरो में स्थिरता आ जाती है। ससार के आर्थिक इतिहास में हमें बहुत से ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि स्वर्णमान के अतिरिक्त और किसी मान से विनिमय दरो में स्थिरता आती है। जैसा कि प्रथम महायुद्ध के काल में जिन देशो ने स्वर्णमान को स्थगित कर दिया था उनके व्यापार में युद्ध के पश्चात कमी आ गई थी।

(२) स्वयं संचालकता (Automatic working)—स्वय-सचालकता स्वर्णमान का एक विशेष गुण है। वास्तव में न तो सरकार को ही कोई विशेष प्रयत्न करना पड़ता है और न ही किसी अन्य नियंत्रण की आवश्यकता पडती है। प्रत्येक सरकार को स्वर्णमान स्थापित करते समय कुछ नियम बनाने पड़ते हैं। जैसे कि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोषो (Gold Reserves) के अधीन होनी चाहिये। अर्थात् स्वर्ण कोषों या

निधि के परिवर्तनों के साथ-साथ मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन आवश्यक है। दूसरे स्वर्ण के आयात निर्यात पर किसी प्रकार की भी रोक टोक नही होनी चाहिये। इन्ही दो नियमो का पालन करने से स्वय-सचालकता आ जाती है। यदि सरकार विदेशी व्यापार में भुगतान करते समय स्वर्णमान वाले देशो को किसी प्रकार का धोका भी देना चाहे तो भी वह अपने प्रयत्न में सफल नही हो सकती। क्योंकि इस मान में मुद्रा की पूर्ति स्वय मुद्रा कोष द्वारा निर्धारित होती है। इसीलिये कैनन (Cannan) ने इस मान को 'मूर्ख सिद्ध एवम् मक्कार-सिद्ध' (Fool proof and knave-proof) कहा है।

(२) **सामान्य मूल्य स्तर में स्थिरता** (Stability of price level)—हर आर्थिक प्रणाली में जो दोष उत्पन्न होते हैं वे मुद्रा के मूल्य मे उतार चढाव होने के कारण होते हैं यह उतार चढाव देश की आर्थिक व्यवस्था के लिये बडे भयकर होते हैं और देश की आर्थिक साम्यता के लिये बड़े घातक होते हैं। यदि किसी प्रणाली में मुद्रा के परिवर्तनो को रोकने की व्यवस्था है तो वह प्रणाली सबसे अच्छी समझी जायगी। स्वर्णमान में यह गुण है और इसी कारण यह अन्य प्रणालियो से श्रेष्ठ समझा जाता है। वास्तव में स्वर्ण का मूल्य मान के रूप मे प्रयोग करने से इन परिवर्तनो की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। एक तो सोने की मात्रा में, दूसरे उसके मूल्य में कोई विशेष परिवर्तन न होने के कारण ससार में सोने के मूल्यो में कही भी कोई परिवर्तन नही होते और अन्त में सामान्य मूल्य-स्तर भी स्थिर रहता है।

(३) **जनता का देश की मुद्रा में विश्वास**—स्वर्ण मान में मुद्रा इकाई का अकित मूल्य धातु मूल्य के बराबर होता है, इसीलिये हर व्यक्ति उसे ग्रहण करने को तैयार रहता है। स्वर्ण मुद्रा के मूल्य कम हो जाने पर भी, मुद्रा की ढलाई बन्द हो जाने के बाद भी जनता को कोई हानि नही होती क्योकि वह सिक्के की धातु का उपयोग कर सकती है। कागजी मुद्रा पर भी जनता को विश्वास रहता है क्योकि वह जानती है कि वह हर समय सोने में बदले जा सकते हैं। इस विश्वास का एक और भी कारण है – वह यह कि मुद्रा की मात्रा स्वर्ण निधि (Gold Reserve) पर निर्भर रहती है। बिना स्वर्ण निधि बढाये मुद्रा की मात्रा भी नही बढाई जा सकती—इसीलिये जनता का विश्वास और भी दृढ हो जाता है।

स्वर्ण चलनमान के दोष

स्वर्ण चलायमान आलोचको ने इसकी कडी आलोचना की है। इसके लाभो को केवल कल्पनामात्र बताया है, और इसके बहुत से दोष बताये हैं। इस मान के मुख्य दोष निम्नलिखित हैं:—

(१) स्वर्ण चलन मान का एक बडा गुण यह है कि यह जनता में विश्वास उत्पन्न कर देता है। पर इसके समालोचको का मत है कि यह विश्वास केवल अच्छे दिनो में ही रहता है अर्थात केवल समृद्धि के दिनो तक ही यह विश्वास सीमित रहता है। जब देश में व्यावसायिक उन्नति होती है तो देश में मजदूरी की दर भी ऊँची होती है और लाभ भी अधिक होता है और लोगो में अविश्वास पैदा होना असम्भव हो जाता

है। विश्वास सकट काल मे भी रहना चाहिये। आर्थिक सकट काल मे स्वर्णमान के प्रति विश्वास समाप्त हो जाता है और स्वर्ण को जमा करने के लिये उसकी माग बढ जाती है, बैको पर भीड़ लग जाती है और हर तरफ अशाति फैल जाती है। अत. एक-स्वर्णमान जो विश्वास पैदा करता है एक तो वह टिकाऊ नही होता और दूसरे यह उस समय में विश्वास उत्पन्न करता है जब उसकी आवश्यकता नही होती। कुछ आलोचको ने इसे अनुकूल-परिस्थिति-मित्र (Fair-weather friend) कहा है।

(२) यह प्रणाली बेलोच हो जाती है—स्वर्ण चलन मान में मुद्रा की मात्रा *स्वर्ण निधि पर आधारित रहती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि आवश्यकता के समय* यदि स्वर्ण कोष न बढ सके तो मुद्रा की मात्रा भी न बढ सकेगी। परन्तु युद्ध अथवा दूसरे आर्थिक सकटो के समय मुद्रा की मात्रा को बढाना अनिवार्य सा हो जाता है। ऐसी अवस्था में या तो देश सकट में ही रहेगा या स्वर्णमान के नियमो का पालन न किया जाय जिससे स्वर्ण मान की स्वय-सचालकता समाप्त हो जायगी और या स्वर्ण मान को स्थगित ही कर दिया जाय। इसी कारण इस मान में मुद्रा प्रणाली बेलोच हो जाती है।

(३) कीमतों की स्थिरता एक कल्पना है—समालोचको का कहना है कि मुद्रा के मूल्य को सोने के मूल्य से बाधने की नीति बहुत ही हानिकारक है। यह मूल्यो में स्थिरता लाने की अपेक्षा और भग कर देगी, क्योकि सोने की कीमतो के हर परिवर्तन से मूल्य स्तर पर प्रभाव पड़ेगा। सोने की कीमत में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। किसी पुरानी खान की समाप्ति से सोने की मात्रा में कमी हो जायगी और सोने का मूल्य ऊपर चढ जायगा। और यह भी सम्भव है कि सोने की किसी नई खान की खोज होने से या खोदने के ढगो में उन्नति होने से सोने की पूर्ति बढ जाय और उसका मूल्य कम हो जाय। इस प्रकार सोने की कीमतों में स्वय परिवर्तन होते रहते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न देशो के बीच सोने का इतना असमान वितरण है कि मूल्यो में किसी प्रकार की भी स्थिरता सम्भव नही।

(४) कीमतो और विदेशी विनिमय दरो की स्थिरता केवल स्वर्णमान में ही नही बल्कि प्रबन्धित मुद्रा प्रणाली (Managed Currency Standard) में भी आ सकती है। जैसे कि आजकल अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund) बिना स्वर्णमान की स्थापना के केवल अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा ही सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है। फिर कीमतो की स्थिरता भी तो सदैव ठीक नही होती। कीमतें लोचपूर्ण होनी चाहियें, क्योकि कभी-कभी कीमतों के उतार चढाव भी देश की समृद्धि के कारण बन जाते हैं।

उपरोक्त गुणों अथवा दोषो की विवेचना करने के पश्चात किसी निर्णय पर पहुँचना बडा कठिन हो जाता है। परन्तु यह कहना बुरा न होगा कि किसी भी मान की व्यावहारिक सफलता और बात है, और सैद्धान्तिक दृष्टि से उसकी सफलता दूसरी बात। इसमें सन्देह नहीं है कि प्रथम महायुद्ध से पहले स्वर्णमान ने ससार में बड़ी सफलता प्राप्त की क्योकि स्वय-सचालकता का गुण इस मान के अतिरिक्त अन्य किसी मान में नही है। परन्तु हमें यह भी नही भूलना चाहिये कि इसकी सफलता एक

तो केवल समृद्धि काल में ही रही है और दूसरे इसकी सफलता का मूल आधार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग था। जिस समय भी सकट उत्पन्न हुआ, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का अभाव हुआ या इसके नियमों का उल्लघन हुआ, उसी समय इसका अत हो गया जैसा कि प्रथम महायुद्ध के बाद बहुत से देशों में हुआ। वास्तव मे इसकी सफलता का रहस्य इसके नियमो का भली प्रकार पालन करने में ही निहित है। प्रथम महायुद्ध के बाद बहुत से देश पूर्ण रूप से इन नियमों का पालन नही कर पाये क्योकि या तो स्वर्ण कोष इतने अधिक विस्तृत हो गये थे कि उनके अनुपात में मुद्रा का विस्तार करना मुद्रा-प्रसार (Inflation) को निमन्त्रण देना था या वे इतने छोटे थे कि उनके अनुपात में मुद्रा घटाने का परिणाम मुद्रा सकुचन (Deflation) होता। दोनों ही दशायें शोचनीय थी, और ऐसी दशा में केवल स्वय-सचालकता का आश्रय लेना भी भयकर सिद्ध हो सकता था। अतएव इन देशों ने प्रबन्धित मुद्रा-प्रणाली (Managed Currency Standard) अपनाई। इन घटनाओ से यह सिद्ध होता है कि स्वर्णमान सकट के समय में उपयोगी सिद्ध नही होता और इसकी सफलता भी केवल सयोगिक (Conditional) ही है। इसी कारण कीन्स (Keynes), जो स्वर्णमान के बहुत पक्ष में थे उन्होंने भी पुराने स्वर्णमान को स्थगित करना ठीक समझा। वह कहते हैं कि, "मै स्वर्णमान की युद्ध से पहले वाले ढग पर स्थापित करने की नीति को अस्वीकार करता हूँ। मै कीमतो, साख और जीविका की स्थिरता को सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण समझता हूँ। और मुझे इस बात का बिल्कुल विश्वास नही है कि पुराने ढग का स्वर्णमान कभी भी वैसी स्थिरता ला सकेगा, जो यह लाया करता था।"[1] उनके अनुसार कोई भी प्रणाली जो किसी भी रूप अथवा मात्रा में प्रचलित कागजी मुद्रा के बदले में सोना देने का यकीन दिलाती है स्वर्णमान कहलाई जा सकती है। इसलिये कीन्स (Keynes) ने स्वर्णमान की परिभाषा इस प्रकार दी है—"अपने सार में एक 'अव्यवहारिक मान जहाँ कि सोने का मूल्य पूर्णतया निर्धारित नही किया गया है वरन जहाँ मूल्यों के परिवर्तन बहुत छोटी सीमाओ के अन्तर्गत सीमाबद्ध हो सकते हैं या जहाँ मुद्रा की इकाई का लगभग एक ही निश्चित स्वर्णमूल्य होता है।"[2]

1. "I reject the policy of restoring the gold standard on pre-war lines···I regard the stability of prices, credit and employment as of paramont importance and feel no confidence that as old fashioned gold standerd will ever give us the modicum of stability as it used to give" Keynes

2 Keynes has defined a gold standard as "in its essence an abstract standard where the price of gold has been fixed not absolutely but so far that variations of the prices are restricted within very narrow limit or what amounts to the same thing where the unit of currency has an approximately fixed gold value"

स्वर्ण-धातु-मान (Gold Bullion Standerd)

इस मान में सोने का सिक्का नही चलता बल्कि प्रामाणिक सिक्के की अपेक्षा प्रामाणिक सोने की छडो या पासो का चलन रहता है। कागजी मुद्रा का परिवर्तन, इस प्रकार सिक्को में न होकर सोने की धातु की छडो या पासो में होता है। इसीलिये इस मान को स्वर्ण-धातु-मान कहते हैं। इस मान में और स्वर्ण चलन मान में कोई विशेष अन्तर नही है। इसे यदि स्वर्ण चलन मान का एक परिवर्तित रूप कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रथम महायुद्ध के बाद जबकि स्वर्णमान का त्याग करना पडा तो अधिकाश देशो ने इस प्रणाली को ही अपनाया। इस प्रणाली में एक बडी सुविधा यह थी कि थोड़े ही स्वर्ण-कोष से स्वर्णमान स्थापित हो जाता था।

स्वर्ण धातुमान की विशेषतायें (Features of the Gold Bullion Standrd)

इसकी विशेषतायें निम्नलिखित हैं—

(क) इस प्रणाली में सोने का सिक्का नही चलता। केवल तुच्छ धातुओ के सिक्के और कागजी मुद्रा का ही चलन होता है परन्तु इन मुद्राओ का मूल्य स्वर्ण द्वारा ही निर्धारित होता है।

(ख) कागजी मुद्रा स्वर्ण की छडो अथवा पांसो मे परिवर्तनशील है। परन्तु कागजी मुद्रा के पीछे १००% स्वर्ण निधि नही रखी जाती। जितने कागजी नोट छपते हैं उनका कुछ प्रतिशत ही स्वर्ण के रूप में रक्खा जाता है। (यह प्रतिशत भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न रहा है। कही ३०% तो कही ४०%) क्योंकि जनता का सरकार में विश्वास होता है अत एव कागजी मुद्रा स्वय ही चलती रहती है। कुछ भाग ही बदलने के लिये आता है और वह भी एक दम नही आता। इमी कारण वह इस स्वर्ण-निधि मे सुविधापूर्वक बदला जा सकता है।

(ग) सिक्का ढलाई स्वतन्त्र नही होती।

(घ) सरकार सोने का मूल्य निश्चित कर देती है और इसी मूल्य पर जनता को सोना बेचने और खरीदने की व्यवस्था करती है। वैसे तो जनता किसी भी मात्रा में सोना खरीद सकती है, परन्तु बार-बार जनता द्वारा सोना खरीदे जाने पर सरकार को बेचने में काफी कठिनाई भी होती है और खर्चा भी उठाना पडता है। इसीलिये इन कठिनाइयो से बचने के लिये और बचत के दृष्टिकोण से सरकार एक न्यूनतम सीमा निश्चित कर देती है और एक बार में उससे कम सोना नही बेचा जाता। जैसे भारतवर्ष में ४० तोले से कम सोना नही बेचा जाता था।

(ङ) सरकार यही प्रयत्न करती है कि विदेशी भुगतान के लिये उसके पास काफी सोना रहे ताकि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा बनी रहे। अपने पास सोना जमा करने के कारण ही वह घरेलू कामो में स्वर्ण का प्रयोग बहुत कम करती है। और, सोने को कोषो में जमा करती रहती है ताकि उसका उपयोग विदेशी व्यापार के लिये हो सके। इस प्रकार स्वर्ण धातु मान में सरकार अपनी प्रतिष्ठा विदेशी व्यापार

में बनाये रख सकती है।

१९२५ में इस मान को इगलैंड में स्थापित किया गया। उस समय कागज़ी मुद्रा के ३पौ० १७ शि० १०½ पेंस प्रति औंस सोने की दर पर बदले जाते थे। एक बार में चार सौ औंस सोने से कम बदलने की आज्ञा नही थी। यह प्रणाली भारत में १९२७ में अपनाई गई। भारत सरकार ने देश की मुद्रा को २१ रुपये ७ आने १० पाई फी तोला की दर से ४०-४० तोले की सिलो में बदलने की घोषणा की थी। सर्वप्रथम इगलैण्ड ने फिर भारत ने और १९३६ तक ससार के अन्य सब देशो ने इसको स्थगित कर दिया।

स्वर्ण-धातुमान के लाभ

(१) **मितव्ययिता** (Economy)—स्वर्ण धातु मान में स्वर्ण चलन मान के गुणो के अतिरिक्त और भी बहुत से गुण पाये जाते है। स्वर्ण चलन मान को यह लाभ इसलिये प्राप्त नही होते क्योकि उसमें सोने के सिक्के चलते हैं जो स्वर्ण धातु मान में नही होता। इससे अन्य भी कई लाभ उत्पन्न होते हैं। सर्वप्रथम सोने का ह्रास जो घिसावट में होता है उसकी बचत हो जाती है। दूसरे, सिक्के ढलाई के खर्चे की बचत हो जाती है, और तीसरे सोने की बचत हो जाने से अन्तर्राष्ट्रीय-व्यापार की दृढता भी बनी रहती है। इसके साथ-साथ राष्ट्रीय सुरक्षित कोष (Gold Reserves) भी बढते जाते हैं।

(२) **सरकारी कोषागार की दृढ़ता** (Strength of Govt. Treasury)—यह एक वास्तविकता है कि स्वर्ण धातु मान मे स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा सोने की बचत होती है। चलन मान में जो सोना व्यक्तिगत कोषो में जमा होता है वह ही सोना अब एक स्थान अर्थात् सरकारी कोषागार में जमा हो जाता है। यह भी सत्य है कि जनता अधिकतर नोटो और साकेतिक सिक्को (Token Coins) का ही प्रयोग करती है, केवल असाधारण परिस्थितियो में ही सोने के सिक्को का प्रयोग होता है। इसलिये स्वर्ण मुद्रा के चलन से कोई विशेष लाभ नही होता। रही जनता के विश्वास की बात सो वह तो सोने के सिक्को की अनुपस्थिति में भी बना रहता है। इसीलिये यह मान स्वर्ण चलन मान की अपेक्षा अधिक उपयुक्त होता है। स्वर्ण धातु मान में एक ओर तो जनता का विश्वास मुद्रा पर बना रहता है और दूसरी ओर सोने का उपयोग सार्वजनिक तथा सामान्य उन्नति के लिये होने लगता है।

(३) **विनिमय दरो में स्थिरता** (Stabilisation of rates of exchange)—इस प्रणाली में भी स्वर्णमान के नियमो का पालन होता है, जिसके कारण इसमें स्वयं-सचालकता आ जाती है। जब मुद्रा की माग घटती है तो लोग सोना खरीदना शुरू कर देते हैं। स्वर्ण कोषो में कमी आने लगती है और मुद्रा की पूर्ति कम होकर माग के बराबर हो जाती है। इसी प्रकार जब मुद्रा की माग बढती है तो लोग सोना बेचते हैं, स्वर्ण कोषो में सोने की मात्रा बढने लगती है जिसके कारण मुद्रा की पूर्ति बढकर माग के बराबर हो जाती है। इस प्रकार यह पारस्परिक सम्बन्ध सदैव ही

बना रहता है जिसके कारण मूल्य और विनिमय दर स्थिर रहते हैं।

(४) मुद्रा प्रणाली लोचपूर्ण हो जाती है (Elasticity) — इस प्रणाली में क्योकि चलन की मात्रा का कुछ भाग ही सोने की निधि के रूप में रखा जाता है इसीलिये सरकार चलन की मात्रा में परिवर्तन बडी आसानी से कर सकती है। केवल चलन और सुरक्षित कोषो के आपसी अनुपात में थोडी फेर बदल करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार मुद्रा की मात्रा जब चाहे बढाई जा सकती है। यह गुण स्वर्ण चलन मान में नही है।

(५) छोटे स्वर्ण कोष वाले देश भी इसे ग्रहण कर सकते हैं (Countries with small gold reserves can also adopt this standard)—वह देश भी जिनके पास बडे-बडे स्वर्णकोष नही हैं, इस प्रणाली को स्थापित कर सकते हैं क्योकि इस प्रणाली में स्वर्ण के छोटे कोषो से भी काम निकल सकता है और सारे स्वर्णमान के सारे लाभ प्राप्त हो सकते हैं। यह ही कारण था कि प्रथम महायुद्ध के बाद स्वर्ण कोषो का असमान वितरण होने पर भी ससार के विविध देशो ने इस प्रणाली को अपनाया।

स्वर्ण धातु मान के दोष

(१) यह मान केवल शाति तथा समृद्धि काल में ही सफल होता है। असाधारण परिस्थितियो में इसको बनाये रखना असम्भव हो जाता है। यह ही कठिनाई स्वर्ण चलन मान में भी थी जिसके कारण इसका परित्याग करना पडा और यही कठिनाई होने के कारण यह मान भी केवल ६ वर्ष ही चल सका।

(२) इस प्रणाली में सरकारी नियन्त्रण की काफी आवश्यकता है, स्वर्ण चलन प्रणाली में ऐसी कोई आवश्यकता नही पडती।

(३) इस प्रणाली में जनता को उतना विश्वास नही होता जितना कि स्वर्ण चलन मान में, क्योकि पहली में तो कागजी मुद्रा का सोने से सम्बन्ध परोक्ष रूप से होता है और दूसरी मे प्रत्यक्ष रूप से।

(४) स्वर्ण चलन मान की तुलना में यह प्रणाली मितव्ययी (Economical) नही होती अर्थात् स्वर्ण धातु मान में मितव्ययिता का अभाव रहता है। जो लोग इस मान के समर्थक हैं उनका कहना है कि चलन मान की अपेक्षा इसमें जो खर्चा अधिक पडता है वह दो कारणो से होता है। एक तो बड़ी मात्रा में सोना सुरक्षित कोषो में बेकार पडा रहता है और दूसरे साख मुद्रा की व्यवस्था करने में काफी निरीक्षण आदि करने पड़ते हैं और खर्चा भी विशेष रूप से अधिक होता है।

इस मान के समालोचको का कहना है कि केवल यही मान मितव्ययी नही वरन स्वर्णमान के और भी रूप हो सकते हैं जो इसमे अधिक मितव्ययी होते हैं, जैसे स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange standard)। स्वर्ण विनिमय मान में स्वर्ण धातु मान की अपेक्षा बहुत कम स्वर्ण कोषों से ही काम चलाया जा सकता है।

स्वर्ण विनिमय मान (Gold Exchange Standard)

स्वर्ण विनिमय मान को अधिकाश देशो ने प्रथम महायुद्ध के पश्चात ही अप-

नाया था—वैसे तो इसका चलन प्रथम महायुद्ध से पहले भी कुछ देशों में जैसे भारत, आस्ट्रेलिया, फिलिपपाइन, डेनमार्क आदि देशों में था, परन्तु अधिकाश देशो ने इसे प्रथम महायुद्ध के बाद ही ग्रहण किया था। इस मान में देश का चलन प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण में परिवर्तनशील नही होता वरन देश का चलन ऐसे चलन में बदला जाता है जो सोने में परिवर्तनशील होता है। मुद्रा अधिकारी भी जनता को इस बात का विश्वास दिलाते है। इस प्रकार देश की कागजी मुद्रा का सम्बन्ध सोने से न होकर किसी ऐसी मुद्रा से होता है जो सोने में परिवर्तनशील होती है। देशी सरकार की यह जिम्मेदारी अवश्य होती है कि उसको समय-समय पर विदेशी मुद्रा की माँग को पूरा करना पड़ता है। इस मान की स्थापना केवल ऐसे देशो द्वारा ही हुई थी जो निर्धन थे और जिनके पास इतने स्वर्ण कोष नही थे कि वे स्वर्णमान को अपना सकें।

स्वर्ण विनिमय मान की विशेषतायें (Features of Gold Exchange Standard)

इसकी मुख्य विशेषतायें निम्नलिखित है :—

(१) देश में केवल कागजी मुद्रा और साकेतिक सिक्को का ही चलन होता है। चलन मान और धातु मान की भाँति सोने के सिक्के और परिवर्तनशील कागजी मुद्रा चलन में नही आते।

(२) इस पद्धति में देश की मुद्रा का सम्बन्ध एक घुमावदार तथा परोक्ष रीति से सोने से स्थापित किया जाता है। देश मे सोने के सिक्के भी नही चलते और स्वर्ण कोष भी नही रक्खे जाते जिसके कारण देश की मुद्रा का नाता विदेशी मुद्रा से जोड़ दिया जाता है, एक ऐसी विदेशी मुद्रा से जो स्वर्ण चलन मान पर होती है या स्वर्ण धातु मान पर।

(३) साधारणतया मुद्रा अधिकारी जनता को इस बात का विश्वास दिलाते है कि देश की मुद्रा एक निश्चित दर पर स्वर्ण तथा विदेशी मुद्रा में बदली जायगी, यद्यपि वास्तव में ऐसा नही होता। परन्तु वास्तविकता यह है कि देशी मुद्रा को सोने में उसी समय बदला जायगा जबकि विदेशी भुगतानो की आवश्यकता होती है और यह सोना भी विदेशी विनिमय (Foreign Exchange) के रूप में ही दिया जाता है।

(४) देश मे मूल्य तो सोने के मूल्यो से ही निर्धारित होते है परन्तु सोने का उपयोग विनिमय के माध्यम के रूप में और मूल्य-मान (Standard of Value) के रूप में नही होता ; पर ऐसा स्वर्ण चलन मान और धातु मान में होता है।

(५) विदेशो से भुगतान या तो सोने में या स्वीकृत विदेशी मुद्रा में लिये जाते है।

भारतवर्ष में यह पद्धति सन् १९०० में स्थापित की गई थी और भारतीय रुपये का नाता इगलैंड के पौंड से जोड दिया गया था। विनिमय दर एक पौण्ड ४ पेंस फी रुपया निर्धारित की गई थी। यह मान यहाँ पर अधिक सफलता प्राप्त नही कर सका, जिसका मुख्य कारण चादी की कीमतो के भारी उतार चढ़ाव थे।

स्वर्ण विनिमय मान के लाभ

(१) इस मान में बिना सोने का प्रयोग हुये ही विदेशी विनिमय दरो को

स्थिर रखा जा सकता है। एक निर्धन देश भी जिसके पास सोना नही है व्यापाराधिक्य (Balance of Trade) को भी ठीक रख सकता है।

(२) इस मान में सोने की बचत बहुत होती है क्योकि न तो सोने का आयात निर्यात होता है और न सोने के सिक्कों का ढलाई व्यय और न ही घिसावट के रूप में धातु का ह्रास होता है और न ही धातु के रूप में सोना कोषों में बन्द पडा रहता है। बचे हुये सोने का प्रयोग दूसरे कामो में होता है। इस प्रकार यह मान बहुत ही मितव्ययी होता है।

(३) देश की सरकार इससे लाभ भी कमाती है। विदेशी विनिमय की खरीदने तथा बेचने की दरों मे अन्तर होने के कारण भी लाभ प्राप्त होता है। देशी सरकार की जिम्मेदारी केवल विनिमय दरो को स्थिर करने की ही है और स्वर्णमान का सचालन दायित्व भी विदेशी सरकार के ऊपर होता है। विदेशो में अपनी पूजी का विनियोग करके देशी सरकार ब्याज कमाती है।

स्वर्ण विनिमय मान के दोष

(१) स्वर्णमान की तरह यह स्वय-सचालक मान नही है। इसमें सरकार को नियत्रण तथा व्यवस्था करने की आवश्यकता होती है। इस प्रकार यह एक व्यवस्थित मान (Managed Standard) है, और एक बडे अश तक इसका संचालन मुद्रा अधिकारियो की इच्छा पर निर्भर है।

(२) यह मान मितव्ययी नही है, इसमें बहुत खर्चे की जरूरत पडती है। इसमें दो स्थानो में सोना बेकार बन्द पड़ा रहता है, जिसका प्रयोग बडी सुगमता से अन्य आर्थिक क्षेत्रों मे किया जा सकता है।

(३) इस मान की सफलता के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि विदेशो में बड़ी मात्रा में 'रोके' (Reserves) रहे। ऊपर से देखने में यह रीति बहुत ही सस्ती और अच्छी प्रतीत होती है परन्तु आर्थिक सकटों के समय में इससे बडी हानि पहुँचने की सभावना रहती है। यदि आधार देश ही स्वर्णमान को स्थगित कर दे तो उस पर आधारित जितने भी देश हैं वह अपने पैरो पर तो खडे नही हो सकेगे और मुंह के बल जमीन पर गिरेंगे। बिलकुल यही स्थिति १९३१ में हुई, जबकि इगलेड ने स्वर्ण मान को त्याग दिया था।

(४) विनिमय दर को स्थिर रखना असम्भव हो जाता है और जब विनिमय दरो में उतार चढाव होते हैं तो स्थिति सभालना मुश्किल हो जाता है क्योकि सदैव आधार देश का ही मुँह ताकना पडता है।

(५) इस मान में मुद्रा स्फीति (Inflation) का भी भय रहता है।

(६) समालोचकों का कहना है कि इस मान में आधार देश पर निर्भरता आधार देश को भी डुबो देती है। आधार देश की मुद्रा प्रणाली भी असुरक्षित हो जाती है। आधार देश में भी स्वर्ण कोष एक सीमित मात्रा में ही होता है और उसी कोष से आधार देश को गौण देशो की मागे पूरी करनी पडती है। यदि सोने की माग

इतनी अधिक हो जाय जिसकी पूर्ति करना आधार देश की शक्ति के बाहर हो तो ऐसे समय में आधार देश भी सकट में पड जायगा और मुद्रा प्रणाली की व्यवस्था भी न कर सकेगा।

(७) इस प्रणाली में तरल साधनो (Liquid assets) का समान वितरण नही हो पाता और विभिन्न देशो के मूल्य स्तर साम्य स्तर पर नही पहुँच पाते। एक देश के तरल साधनो का हस्तातरण उतना आसान नही होता जो अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय सतुलन के स्थापित होने से कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता है।

यह "मान एक परतन्त्र मान है।" यदि आधार देश की मुद्रा प्रणाली स्वतन्त्र और सुव्यवस्थित है तो गौण देश भी उन्नति कर सकते हैं वरना उनको आर्थिक सकटो से छुटकारा नही मिल सकेगा।

भारत में स्वर्ण विनिमय मान के व्यावहारिक सचालन की जाँच करते समय हिल्टन यग कमीशन (Hilton Young Commission) ने निम्नलिखित दोष मालूम किये थे :—

(अ) यह पद्धति साधारण व्यक्ति की समझ में नही आती। यह प्रणाली काफी कठिन और सैद्धान्तिक है। इसके प्रति जनता का विश्वास होना भी कठिन है।

(आ) इस पद्धति में स्वयं-सचालकता का गुण नही होता। यह मुद्रा अधिकारियों के हाथ में कठपुतली के समान रहती है।

(इ) देश में मुद्रा का चलन विदेशी चलन पर निर्भर रहता है, और उसके भाग्य बनने बिगड़ने के साथ गौण देशों का भाग्य भी बनता बिगडता रहता हैं।

(ई) इस पद्धति में भारत में कई प्रकार के कोष थे और यह कोष भारत में भी रहते थे और इगलैंड में भी। इस प्रकार बहुत सा सोना बेकार बन्द पडा रहता था।

(उ) यह पद्धति लोचपूर्ण नही होती। मुद्रा का प्रसार तो हो सकता है पर सकुचन करना असम्भव ही होता है।

स्वर्ण-कोष-मान (Gold-Reserve-Standard)

इस मान की स्थापना १९३६ में हुई और १९३९ तक कुछ देशों में यह मान प्रचलित रहा। मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने एवम् विनिमय दरो में स्थिरता लाने के लिये इगलैण्ड, फ्रान्स, अमेरिका, हालैण्ड, स्विटजरलैण्ड और बैल्जियम के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार स्वर्ण का आगमन केवल मुद्रा सम्बन्धी कामो के एक देश से दूसरे देश को हो सकता था। यह आवागमन केवल सरकार तक ही सीमित था, व्यापारियो को सोना भेजने व मगाने का कोई अधिकार नही था। इस उद्देश्य को पूरा करने के हेतु लगभग सभी देशों में विनिमय समाशोधन कोषो (Exchange Equalisation Fund) की स्थापना की। प्रत्येक कोष में सोना और देश की मुद्रा एक बहुत बड़ी मात्रा में होती थी और इसका संचालन देश की केन्द्रीय बैंक करती थी। इन कोषों द्वारा विनिमय दरो में स्थिरता लाने का प्रयत्न किया गया। जब किसी देश का चलन दूसरे देश में ज्यादा जमा हो जाता था और दूसरा देश अब और जमा

नही करना चाहता था तो इस देश का चलन उसी को वापस करके उसके बदले सोना ले लेता था। इसी प्रकार विनिमय दरो में स्थिरता लाई जाती थी। एक उदाहरण द्वारा इसको भली प्रकार समझा जा सकता है:—

यदि 'अ' देश का यह विचार है कि 'ब' देश का चलन ज्यादा जमा हो गया है तो ऐसी परिस्थिति में वह 'ब' देश की सरकार या केन्द्रीय बैंक को सूचना देगा कि अब भविष्य में वह 'ब' देश के चलन को और ग्रहण नही करेगा। क्योकि यह सब देशो के बीच पहले ही निश्चित हो चुका है कि एक देश दूसरे देश को अपने चलन के बदले सोना दे देगा, इसलिये 'ब' कोष अपना चलन लेकर 'अ' कोष को सोना दे देगा। इस प्रकार दोनो देशो में सतुलन स्थापित हो जायगा।

उपरोक्त उदाहरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि एक देश से दूसरे देश को सोने का आवागमन होता रहता था। इस पद्धति को स्वर्ण कोष पद्धति भी कहते है। इस पद्धति में सोने का मूल्य देश के चलन मे निश्चित नही करते थे। दूसरी विशेषता यह भी है कि विनिमय दरो में स्थिरता लाने के लिये न तो ब्याज की दरो में परिवर्तन करना पड़ता था और न ही देश की आर्थिक प्रणाली मे कोई हस्तक्षेप करना पडता था। इतने गुणो के बाद भी यह प्रणाली अधिक समय तक न चल सकी और दूसरे महायुद्ध के काल में ही इसका अन्त हो गया।

जब हम स्वर्णमान के इतिहास पर एक दृष्टि डालते है तो हमको बहुत-सी नई-नई बातो का पता लगता है। १६वी शताब्दी में द्वि-धातु मान (Bi-metallism) की स्थापना के लिये कई प्रयत्न किये गये पर उनमे से एक भी सफलता प्राप्त न कर सका। सबसे बड़ी कठिनाई रजतमान की स्थापना में यह हुई कि चादी की कीमतो में बहुत ज्यादा उतार चढाव हुये। सोने की कीमतें स्थिर रहने के कारण इस शताब्दी में सामान्य रूप से स्वर्णमान ही स्थापित हुआ। ससार के स्वर्णमान का पहला रूप स्वर्ण चलन मान था। इसके अतर्गत सोना देशी एवम् विदेशी दोनो ही क्षेत्रो मे विनिमय का आधार था। दो देशो के बीच विनिमय दर, उनके चलनो के सोना खरीदने की शक्ति के अनुपात से निर्धारित होती थी। इन विनिमय दरो में परिवर्तन नाममात्र को होते थे, परन्तु वे दोनो सीमाओ के बीच होते थे—एक स्वर्ण आयात की और दूसरी स्वर्ण निर्यात की। स्वर्ण मान को स्वय-सचालकता का गुण पैदा करने के लिये दो नियमो का पालन करना पडता था। एक तो स्वर्ण के आयात और निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाते थे और दूसरे मुद्रा चलन स्वर्ण कोषो पर निर्भर रहता था। जब भी स्वर्ण कोषो में परिवर्तन हुआ, ठीक उसी अनुपात में मुद्रा की मात्रा मे भी परिवर्तन हो जाता था।

स्वर्ण चलन मान ठीक प्रकार चल रहा था। पर कुछ देशो को इसके सचालन में विशेष कठिनाइया उत्पन्न होने लगी, अतएव उन देशो को मजबूर होकर इसका परित्याग करना पड़ा। इसका मात्र कारण था स्वर्ण कोषो का अभाव। अतएव उन्होने एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जिसमें सोने के सिक्को का चलन नही होता था। इसको स्वर्ण-विनिमय-मान का नाम दिया गया। इस पद्धति में देश की मुद्रा किसी

स्वर्णमान वाले मुद्रा से जोड़ दी जाती है और इन दोनो के बीच एक विनिमय दर निश्चित कर दी जाती है। एक ऐसे कोष का निर्माण किया गया था जिसमें स्वर्ण, विदेशी मुद्रा और देशी मुद्रा आदि सब रहते थे, और इस कोष द्वारा देशी मुद्रा, विदेशी मुद्रा या स्वर्ण में एक निश्चित दर पर बदल दी जाती थी। भारत में यह प्रणाली १६०७ से १६१० के बीच में प्रचलित रही। इस काल में देशी व्यापार तथा विनिमय के बीच में चादी के रुपये और विदेशी भुगतानों में इगलैण्ड की मुद्रा (पौण्ड या स्टर्लिग) का प्रयोग होता था। रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर १ शिलिंग ४ पेंस प्रति रुपया थी।

स्वर्णमान अपने अतिम रूप मे किसी प्रकार चल रहा था कि प्रथम महायुद्ध ने इस शाति को भग कर दिया। संसार के बडे-बडे देश भी इस परिस्थिति का सामना न कर सके और मैदान छोड कर भाग निकले। देशो ने सोना निकालना बद कर दिया और उसके आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। सोने के सिक्को का चलन बन्द हो गया और उसका स्थान अपरिवर्तनशील कागजी मुद्रा (Inconvertible paper Currency) ने ले लिया और इस प्रकार स्वर्णमान का अत हो गया।

युद्ध समाप्त हो गया और आर्थिक दशाओ ने फिर करवट बदली। ससार के बडे बडे देशो ने एक बार फिर से स्वर्णमान को स्थापित करने का प्रयास किया। सन् १६२० में ब्रूसेल्स (Brussels) में एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन हुआ और १६२२ में एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन हुआ। इन दोनों सम्मेलनोका मुख्य ध्येय स्वर्णमान की पुनःस्थापना था। स्वर्णमान पुन स्थापित हुआ और अमेरिका ने सर्वप्रथम इसको १६१६ में अपनाया और उसके बाद १६२५ में इगलैंड और फ्रास ने। भारतवर्ष ने इसको पुन १६२७ में ग्रहण किया। स्वर्णमान को फिर से स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य विश्व में आर्थिक शाति स्थापित करना था और युद्ध में जिन देशो ने मुद्रा स्फीति के भयकर परिणामो को भुकता था, उनसे कुछ सीखकर अपने-अपने देशो को, भविष्य में, इन परिणामो से बचाना था। परन्तु स्वर्णमान शीघ्र ही टूट गया। भिन्न-भिन्न देशो की भिन्न भिन्न आर्थिक कठिनाईयाँ थी, उनकी प्रकृति और आकार में भी भिन्नता थी। इगलैंड और फ्रास में कागजी मुद्रा का प्रसार बहुत हो गया था—उधर स्पेन के पास स्वर्ण कोषो का अभाव था। इसके अतिरिक्त देशो में आशका की एक ऐसी लहर दौड रही थी, कि कोई भी देश अपने स्वर्ण को बाहर निकालना नही चाह रहा था, विदेशी व्यापार पर हर प्रकार के प्रतिबन्ध लगा दिये गये थे और परिणामत अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग समाप्त हो चुका था। इसका परिणाम यह हुआ कि सन् १६३१ में इगलैण्ड ने, १६३३ में अमेरिका ने और सन् १६३६ में फ्रास ने इसे छोड़ दिया। इस प्रकार स्वर्णमान की समाप्ति हुई।

स्वर्णमान के टूटने से भी शाति स्थापित न हो सकी, और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा लेन देन में बडी—बडी उलझनें उत्पन्न हो गई। द्वितीय महायुद्ध ने अग्नि में घी का काम किया और एक बार फिर से अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग प्राप्त करने की कोशिश की गई। सन् १६४४ में ब्रेटन वुड्स (Bretton Woods) में एक अन्तर्राष्ट्रीय

मौद्रिक सम्मेलन हुआ जिसमें अर्न्तराष्ट्रीय क्षेत्र मे मुद्रा सहयोग सम्बन्धी एक योजना तैयार की गई। इस योजना में दो सस्थाओ का निर्माण करने की सलाह दी गई थी। एक तो अर्न्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Money Fund) और दूसरी पुनर्निर्माण एव विकास बैंक (International Bank for reconstruction and development)। यद्यपि इस योजना के अर्न्तगत स्वर्णमान को स्थापित करने का आयोजन नही था, फिर भी स्वर्ण को एक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था जैसे कि

(१) हर सदस्य अपने अभ्यश (Quota) का एक निश्चित भाग सोने में जमा करेगा।

(२) यदि मुद्रा कोष के पास किसी भी देश के चलन की कमी अनुभव हो रही है, तो वह उस चलन को सोने से खरीद सकता है।

(३) हर देश के चलन का मूल्य सोने मे परिभाषित होता है, जिसके आधार पर विदेशी विनिमय दरें निर्धारित होती है।

इस प्रकार सोने की परोक्ष सहायता से व्यापार तथा विनिमय के क्षेत्रो मे स्थिरता लाने का प्रयत्न किया गया है। यह प्रणाली अभी तक अच्छी तरह कार्य कर कर रही है, भविष्य में क्या होगा यह क्या कहा जा सकता है।

स्वर्णमान के नियम (The Rules of Gold Standard)

स्वर्णमान के शुभ सचालन के लिये कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक हो जाता है। पहले भी कई बार इन नियमो का विवरण दिया जा चुका है परन्तु यहा पर हम इन नियमो का विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे। इन नियमो को यदि 'स्वर्णमान की शर्तें' कहा जाय, तो भी अनुचित न होगा। कुछ लोगो ने इसे खेल के नियम (Rules of the game) कह कर भी पुकारा है। यह नियम निम्न प्रकार हैः—

(१) स्वतन्त्र व्यापार की नीति का पालन करना (To follow the policy of free trade)—संतुलित व्यापार एवम् स्वर्ण के समान वितरण के लिये यह आवश्यक है कि देश स्वतंत्र व्यापार की नीति को अपनाये। इस नीति के पालन करने से केवल यह ही लाभ नही होता, वरन देश के अन्दर कीमतो में स्थिरता आ जाती है और विदेशी विनिमय की दरें भी स्थिर रहती है। स्वतत्र व्यापार की नीति से हमारा अभिप्राय यह है कि विदेशी व्यापार के अर्न्तगत वस्तुओ के आयात निर्यात पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नही होने चाहियें। इसके अतिरिक्त सोने के आयात और निर्यात पर भी किसी प्रकार के नियत्रण नही लगाने चाहियें। कभी-कभी देश अपने आर्थिक उत्थान के लिये, अपने उद्योग धधों को प्रोत्साहन देने के लिये और उनको विदेशी प्रतियोगिता से बचाने की दृष्टि से संरक्षण (Protecteon) की नीति अपनाते हैं जिससे अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार का दम सा घुट जाता है। इसके अतिरिक्त कभी-कभी देश आर्थिक राष्ट्रीयवाद (Economic Nationalism) के पक्षपाती हो जाते है। वे राष्ट्रीयता की झूठी भावुकता में वह जाते है और ऐसी नीति अपनाते है जिससे

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। कभी-कभी विदेशी वस्तुओं के मगाने व विदेशो को अपना माल भेजने के लिये Quota तक हो जाता है। इसी प्रकार के बहुत से प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं जिससे कि स्वर्ण मान की सचालन-विधि में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। यह सब नियन्त्रण विदेशी व्यापार के संतुलन को बिगाड़ देने से होता है। और एक समय ऐसा आता है जबकि व्यापाराधिक्य (Balance of Trade) इतना बिगड जाता है कि उसको सभालना कठिन हो जाता है। सोने के आयात और निर्यात पर भी किसी प्रकार की रोक टोक नही होनी चाहिये। ऐसा करने से स्वर्णमान देशों के बीच सोने का वितरण समान होने की प्रवृत्ति हो जाती है और हर देश को आवश्यकतानुसार सोना मिल जाता है। सोने के आवागमन से व्यापार भी सतुलित हो जाता है। इसके अलावा स्वर्ण कोषों में भी परिवर्तन होते रहते हैं और क्योंकि देश में मुद्रा की मात्रा स्वर्ण कोषो पर निर्भर रहती है, इसीलिये मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन होते रहते हैं। इस प्रकार मूल्य स्तर के परिवर्तन अंत में व्यापार में सतुलन पैदा कर देते हैं।

(२) **मुद्रा को स्वर्ण कोषो के परिवर्तनों के अनुपात में घटाना और बढ़ाना** (To increase or decrease the currency in proportion to the changes in Gold Reserves)—स्वर्ण मान के सफल सचालन के लिये यह आवश्यक है कि स्वर्ण कोषों के परिवर्तनों के साथ-साथ मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन हो। स्वर्ण कोषो की कमी के कारण जिस समय मुद्रा की मात्रा कम कर दी जायगी तो देश में कीमतें गिरनी शुरू हो जायेगी, और देश के निर्यात को प्रोत्साहन मिलेगा, देश के आयात घटने शुरू हो जायेंगे और जो सोना बाहर जाता था वह रुक जायगा। इसके अतिरिक्त बाहर से सोना हमारे देश मे आने लगेगा जिसका परिणाम यह होगा कि सोना बढने से देश की मुद्रा भी बढेगी और मूल्य स्तर फिर ऊपर जायगा। इस प्रकार बराबर सोने का आयात और निर्यात होने से न तो कीमतें गिरेंगी और न ही बढेंगी और एक संतुलन स्थापित हो जायगा। इसीलिये स्वर्णमान को स्वय-सचालक मान कहा जाता है। इसके लिये स्वर्ण के आयात निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही होना चहिये। साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि मुद्रा अधिकारी निरन्तर सोने की मुद्रायें और मुद्रा को सोने में बदलते रहे, जिससे सोने के बढ़ने और घटने का पूरा प्रभाव मुद्रा के ऊपर पडता रहे और कीमत स्तर (Price-level) साम्य पर रहे।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान (International Gold Standard)

स्वर्ण मान का महत्व अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बहुत अधिक है। वास्तव में, जैसा कि पहले भी कई बार कहा जा चुका है, स्वर्णमान इसी रूप मे उपयोगी होता है। व्यक्तिगत रूप में तो इसका अध्ययन किया जा चुका है और यह भी सिद्ध हो चुका है कि व्यक्तिगत देशों के लिये भी अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता होती है। वास्तव में, स्वर्ण ने विनिमय माध्यम तथा मूल्य मान के रूप ससार में प्रतिष्ठा प्राप्त की है। यह सत्य है कि एक देश व्यक्तिगत रूप में कागजी-मुद्रा मान मे अपना काम चला

सकता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक जगत में अपने सम्बन्धो को बनाये रखना कठिन हो जाता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान कुछ अन्य कारणो की वजह से भी अधिक उपयोगी है, वे निम्न लिखित हैं—

(१) **स्वर्ण अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय माध्यम तथा मूल्य मान है** (Gold as an international medium of exchange and measure of value)—ससार के हर देश ने सोने को विनिमय माध्यम और मूल्य मान के रूप मे हर समय स्वीकार किया है। हर देश व हर व्यक्ति स्वर्ण के बदले हर वस्तु प्राप्त कर सकता है। सोने द्वारा विनिमय सुगम हो जाता है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार विस्तृत हो जाता है।

(२) **अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तरों की समानता** (Similarity of International price level)—सभी स्वर्णमान वाले देशो में सोने के स्वतन्त्र आवागमन से मूल्य स्तर समान होने की प्रवृत्ति हो जाती है। हर देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो जाता है और हर देश में समान उन्नति की सम्भावना रहती है।

(३) **विदेशी विनिमय दरो में स्थिरता** (Stability in the rates of Foreign Exchange)—सोने के स्वतन्त्र आयात और निर्यात से विदेशी विनिमय दरो में परिवर्तन तो अवश्य होते हैं परन्तु इन परिवर्तनो की सीमाये बहुत सकुचित होती हैं, यह परिवर्तन केवल अल्पकाल में ही होते हैं। इसका कारण यह है कि इन दरो में थोड़ा सा भी उतार चढाव होने से सोना एक देश से दूसरे देश को जाने लगता है, और इसीलिये उतार चढाव अधिक दिन तक नही चल सकते। यह आयात-कर्ताओ (Importers) और निर्यात-कर्ताओ (Exporters), विनियोग कर्ताओ (Investors) और बैंको के लिये विनिमय दरो में स्थिरता स्थापित करने का काम करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की हानियाँ (Disadvantages of International Gold Standard)

(१) **देश के मूल्यों की अस्थिरता** (Instability of prices in the country)—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान प्रणाली की बहुत से लोगो ने बडी कड़ी आलोचना की है। समालोचको का कथन है कि देश के मूल्य स्तर को अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य स्तर से सम्बन्धित कर देने से देश की आर्थिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। यह अवश्य है कि इस रीति से विदेशी विनिमय दरें तो स्थिर होती हैं, परन्तु यह भी सच है कि देश की आर्थिक स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है। जैसा कि इस अध्याय में कई बार कहा जा चुका है, विदेशी विनिमय दरो में स्थिरता लाना भी अति आवश्यक है क्योकि इसके द्वारा देश के व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और स्वर्ण कोषो का विभिन्न देशो में समान वितरण भी हो जाता है। परन्तु देशी मूल्य स्तर खतरे में पड जाता है। स्वर्ण मान में हर देश असतुलन उत्पन्न होने पर आन्तरिक मूल्यो में परिवर्तन करके विनिमय दरो को स्थिर रखने को प्रयत्न करता है। इसके अतिरिक्त यदि एक देश में मूल्य गिरते हैं, तो विनिमय दरो में स्थिरता लाने के लिये स्वर्ण मान वाले सारे देशो को भी

अपने आन्तरिक मूल्य स्तर को गिराना पड़ता है। इस प्रकार विदेशी व्यापार की उन्नति के लिये देश की आर्थिक व्यवस्था का बलिदान करना पड़ता है।

(२) स्वर्णगति के प्रतिकूल प्रभाव (Adverse effects of Gold Movement)—स्वर्णमान में सोने के आयात और निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होता, जिसके कारण स्वर्ण पूरी स्वतन्त्रता से एक देश से दूसरे देश को आता जाता रहता है। इस सम्बन्ध में आलोचकों का मत है कि सोने की यह गति देशों के लिये हितकर नहीं होती। स्वर्ण के साथ-साथ आर्थिक संकटों का भी आवागमन होता है। यदि किसी देश में मुद्रा संकुचन (Deflation) की अवस्था उत्पन्न हो गई है तो वस्तुयें सस्ती हो जाने से उस देश के निर्यात बढ़ने लगते हैं और सोने का आयात उस देश में होने से मूल्य स्तर में भी वृद्धि होने लगती है। इसी प्रकार मुद्रा स्फीति (Inflation) की अवस्था में जो दुष्परिणाम एक देश में उत्पन्न हो जाते हैं वे अन्य देशों को भी भुगतने पड़ते हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के नियम (Rules of the International Gold Standard)

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान की सफलता के लिये कुछ नियमों का पालन आवश्यक हो जाता है। पहले हम स्वर्ण मान के नियमों का वर्णन कर चुके हैं, यहाँ पर हम अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में स्वर्ण मान के कार्य संचालन के लिये जिन बातों की आवश्यकता होती है उनकी विवेचना करेंगे।

(१) स्वर्ण कोषों का पर्याप्त मात्रा में तथा समान वितरण होना—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान के लिये यह परमावश्यक होता है कि स्वर्णमान देशों के पास स्वर्ण पर्याप्त मात्रा में हो और उसका वितरण भी समान हो। यदि किसी देश के पास स्वर्ण पर्याप्त मात्रा में नहीं है तो न तो वह देश की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकता ही पूरी कर सकेगा और न ही अन्तर्राष्ट्रीय भुगतानों को समय पर कर सकेगा, जिसके कारण उसे मजबूर होकर स्वर्णमान छोड़ना पड़ेगा। केवल सोना पर्याप्त मात्रा में ही नहीं होना चाहिये वरन उसका वितरण सारे स्वर्ण मान देशों के बीच भी समान होना चाहिये। समान वितरण से हर देश को व्यापारिक क्षेत्र में समान सुविधायें प्राप्त होती हैं और साथ-साथ उनकी आर्थिक उन्नति भी होती है।

(२) बहुत से देशों द्वारा स्वर्णमान की स्थापना—अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता की दूसरी आवश्यकता है कि ज्यादा से ज्यादा देश इसे ग्रहण करें। सच तो यह है कि सोने की पूर्ण उपयोगिता हो उस समय प्राप्त की जा सकती है, जबकि यह अधिकांश देशों में विनिमय माध्यम और मूल्यमान के रूप में प्रयोग किया जाय। हर देश को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह स्वर्णमान के विभिन्न रूपों में से जिस रूप को चाहे स्थापित करे, परन्तु छोटे देशों में स्वर्णमान की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि बड़े-बड़े देश स्वर्ण मुद्रा-मान या स्वर्ण धातु-मान को अपनायें, ताकि छोटे देशों की मुद्रा का सम्बन्ध उनसे स्थापित किया जा सके।

(३) **अन्तर्राष्ट्रीय ऋणों का न होना**—जहाँ तक सभव हो सके एक देश का ऋण दूसरे देश पर न हो। जब किसी देश पर बाह्य ऋण बहुत मात्रा में हो जाते हैं तो उसका काफी स्वर्ण ब्याज व मूलधन के भुगतान में चला जाता है, जिससे स्वर्ण कोष कम हो जाते हैं और देश में आर्थिक सकट व मुद्रा सकुचन आरम्भ हो जाता है, जिस के कारण देश में उपभोग एवम् उत्पादन सम्बन्धी वस्तुओं का अभाव होने लगता है और आर्थिक सकट पुनः देश को घेर लेता है।

(४) **विदेशी व्यापार का स्वतन्त्र होना**—स्वतन्त्र विदेशी, व्यापार स्वर्ण मान की सफलता का मुख्य भेद है। विदेशी व्यापार पर किसी प्रकार की भी रुकावट नही होनी चाहिये तभी स्वर्णमान सफल हो सकता है। इस नीति से मूल्य स्तर व विनिमय दरो में स्थिरता आती है और स्वर्ण का वितरण भी समान होने लगता है।

(५) **व्यक्तिगत देशों की आर्थिक व्यवस्था लोचपूर्ण होनी चाहिये**—स्वर्णमान वाले सारे देशो की व्यवस्था में लचक होनी चाहिये। उनकी व्यवस्था में यह गुण होना चाहिये कि वह दर परिवर्तन को सहन कर सके और समय के अनुसार दर बदली जा सके। स्वर्ण कोषो के दर परिवर्तन का प्रभाव देश की मुद्रा पर पड़ना चाहिये। यदि स्वर्ण-निधि बढ़ जाय तो ब्याज दर घटनी चाहिये और मूल्य स्तर भी घट जाना चाहिये। इसी प्रकार स्वर्ण निधि कम होने के साथ-साथ ब्याज दर व मूल्य-स्तर बढ जाना चाहिये। ब्याज दर व मूल्य स्तर के परिवर्तन पुनः अपना प्रभाव स्वर्ण निधि पर डालते हैं, और इस प्रकार एक संतुलन स्थापित हो जाता है।

(६) **स्वर्ण मान के नियमों का पालन**—स्वर्ण मान के दो नियम हैं एक तो स्वतन्त्र-व्यापार-नीति का पालन और दूसरे मुद्रा का स्वर्ण कोषों के अनुपात में घटना बढना। इन नियमों की विवेचना पहले ही की जा चुकी है। अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की सफलता का यह मुख्य आधार है।

(७) **राजनैतिक शांति**—सब देशो में परस्पर अच्छे सम्बन्ध होने चाहिये। आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना नही उत्पन्न होनी चाहिये। अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के अतिरिक्त हर देश में आन्तरिक शांति भी होनी चाहिये ताकि देश की आर्थिक व्यवस्था को कोई धक्का न लगे। घरेलू झगड़े फैल जाने से उत्पादन की मशीन रुक जाती है, लोग घरों पर धन जमा करने लगते है और विदेशों में पूंजी का विनियोग आरम्भ हो जाता है।

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के टूटने के कारण (Causes of the breakdown of the International Gold Standard)

अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्ण मान के सक्षिप्त इतिहास (जो पहले दिया जा चुका है) से यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि १९३३ से पहले ही स्वर्णमान का अन्त हो चुका था। इस प्रणाली में इतने गुण होते हुये भी इसका इतनी जल्दी से समाप्त हो जाना आश्चर्यजनक अवश्य है परन्तु इसके कई कारण थे, जिनसे कि इसका टूटना

स्वाभाविक ही था। यह कारण निम्न प्रकार हैं:—

(१) **स्वर्णमान के नियमों का उल्लंघन**—अंतर्राष्ट्रीय स्वर्णमान की आवश्यक शर्तों की व्याख्या करते समय यह बतलाया जा चुका है कि इस प्रणाली की सफलता बहुत काफी मात्रा में स्वर्णमान के दोनों नियमों के पालन करने पर निर्भर रहती है। परन्तु स्वर्ण मान का इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि प्रथम महायुद्ध से पहले और बाद में भी इन नियमों का पालन नहीं हुआ। फ्रांस और अमेरिका ने आयात और निर्यात पर रुकावटें लगाना शुरू कर दिया था और फ्रांस और इंगलैण्ड ने अपने देश की मुद्रा में स्वर्णकोषों के अनुसार परिवर्तन नहीं किये थे। जब युद्ध के बाद स्वर्णमान फिर स्थापित हुआ तो फ्रांस ने अपनी मुद्रा को असली कीमत से कम पर सोने में बदलने की सुविधा प्रदान की थी, जिसके कारण फ्रांस के निर्यात बढ़ने लगे और ज्यादा से ज्यादा मात्रा में सोना फ्रान्स में आने लगा, परन्तु फ्रान्स ने उसके अनुसार मुद्रा में परिवर्तन नहीं किये। अमेरिका ने भी यही नीति अपनाई। उधर इंगलैंण्ड ने अपनी मुद्रा को वास्तविक मूल्य से ज्यादा दर पर परिवर्तित किया, जिसके कारण उसके आयात बढ़ने लगे और सोना निरन्तर बाहर जाने लगा। मुद्रा संकुचन के भय और स्वर्ण कोषों में कमी होने के डर से भी इंगलैंण्ड ने मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन नहीं किये। इन रुकावटों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के संतुलन में बड़ी बाधायें उत्पन्न होने लगी और अन्त में स्वर्णमान दूर हो गया।

(२) **स्वर्ण कोषों का असमान वितरण**—प्रथम महायुद्ध-काल में भी और उसके बाद भी सोने का वितरण बहुत ही असमान हो गया था। कुछ देशों के पास जैसे अमेरिका, फ्रान्स आदि में सोना बहुत ही मात्रा में जमा हो गया था और कुछ देशों के पास जैसे इंगलैण्ड और जर्मनी, सोने का अभाव था। जैसे फ्रान्स और अमेरिका अपने जमा सोने को निकालना नहीं चाहते थे, उधर जर्मनी और इंगलैण्ड प्रत्येक आयात को रोकना चाहते थे ताकि सोने की कमी के कारण मुद्रा व्यवस्था कहीं टूट न जाय। इस प्रकार के नियंत्रणों ने स्वर्णमान की स्वयं-संचालकता को समाप्त कर दिया था।

(३) **आर्थिक राष्ट्रीयता की भावना की उत्पत्ति**—प्रथम महायुद्ध में सभी देशों के विदेशी व्यापार में बहुत कमी आ गई थी। जो देश विदेशी आयात पर निर्भर थे, उनमें तो आर्थिक संकट की कोई सीमा नहीं थी। न तो कच्चा माल ही और न पक्का माल या खाद्यान्न के ही उपलब्ध होने की कोई सम्भावना नजर आती थी। इसीलिये बहुत से देशों ने अपने औद्योगिक विकास के लिये संरक्षण की नीति अपनाई और आयातों पर नियंत्रण लगाने शुरू कर दिये। इस प्रकार के सभी नियंत्रण स्वर्णमान के नियमों के विरुद्ध थे। इसीलिये यह अधिक समय तक नहीं टिक सका।

(४) **बैंकिंग और साख मुद्रा के नियंत्रण में कठिनाई**—प्रथम महायुद्ध के पश्चात हर देश में बैंकिंग का इतना विकास हुआ कि नियंत्रण करना असम्भव सा हो गया था। इसके अतिरिक्त, साख मुद्रा का भी इतना प्रसार हो चुका था कि केन्द्रीय बैंक की कोई नीति उस पर नियंत्रण करने में सफल न हो सकी। देश के मूल्य स्तर में भारी वृद्धि होनी प्रारम्भ हो चुकी थी जिसके कारण व्यापाराधिक्य में असन्तुलन हो गया था।

(५) स्वर्ण मान के भिन्न-भिन्न रूप—युद्ध के पश्चात् अधिकतर देशों ने स्वर्ण धातुमान और स्वर्ण विनिमय मान स्थापित कर लिये थे, जिसके कारण स्वर्ण मान का स्वय-सचालकता का गुण नष्ट हो गया था। इसके फलस्वरूप देशों ने बेईमानी करनी शुरू कर दी थी जिसके कारण अन्त में स्वर्णमान स्थगित करना पड़ा।

(६) शरणार्थी पूँजी के भयंकर परिणाम—एक देश अपनी पूंजी का विनियोग व्याज प्राप्त करने के कारण दूसरे देशों में कर देते हैं। जिस समय प्रथम महायुद्ध ने प्रचण्ड रूप धारण किया उस समय भी ऐसे बहुत से अल्पकालीन ऋण थे परन्तु प्रथम महायुद्ध के पश्चात् बहुत से देशों ने विदेशी पूंजी पर नियंत्रण लगाने शुरू कर दिये, व्याजों का भुगतान करना बन्द कर दिया और कुछ ने तो मूलधन लौटाना भी बन्द कर दिया था। इन प्रतिबन्धों के कारण विदेशी पूंजी एक देश से दूसरे देश में घूमने लगी और जो देश ज्यादा सुरक्षित लगा उसी में रुक गई। इस प्रकार कोष एक देश से दूसरे देश को जाने लगे। इसी पूँजी को 'शरणार्थी पूजी' (Refugee Capital) कहते हैं। इन पूँजियों का आवागमन इतना शीघ्र और आकस्मिक था कि हर देश अपने मूल्य स्तर में इनके अनुसार परिवर्तन न कर सका जिसके कारण स्वर्ण मान का गला घुटन लगा।

(७) प्रथम महायुद्ध के बाद की राजनैतिक परिस्थितियां—युद्ध के समाप्त हो जाने के पश्चात् विजयी देशों ने परास्त देशों से युद्ध के हरजाने की माग शुरू कर दी जैसे अमेरिका ने। इसका परिणाम यह हुआ कि परास्त देशों से स्वर्ण कोष अमेरिका को जाने लगे। जर्मनी ऐसा ही परास्त देश था, जो ऋण के बोझ को सहन न कर सका और अन्त में उसको स्वर्णमान स्थगित कर देना पड़ा। इसके अतिरिक्त आयागमन के साधनों के उन्नत हो जाने से, सोने के यातायात और बीमे के खर्चे कम हो जाने से सोने का आवागमन बहुत ही आसान हो गया था। उधर विनिमय दरों में भी बहुत अस्थिरता आ गई थी। ऐसी दशाओं में सोने की कमी के कारण निर्धन देशों ने सोने के आवागमन पर रुकावटें लगा दी जिससे स्वर्णमान को बहुत हानि पहुँची।

(८) स्वर्णमान में देशों की दासता—स्वर्णमान में देश दूसरे देशों का दास हो जाता है। यदि किसी प्रकार एक देश में प्रतिकूल परिस्थितिया उत्पन्न हो जाती है, तो सभी स्वर्णमान देशों पर उनका प्रभाव पड़ता है। इनका परिणाम यह होता है कि सारे देशों की आर्थिक व्यवस्था बिगड़ जाती है।

(९) वैसे भी स्वर्ण मान को 'अनुकूल परिस्थिति का मित्र' कहा गया है। यह आर्थिक संकटों में साथ नहीं देता। इसीलिये यह युद्ध के परिणाम से बिगड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था वाले क्षेत्रों में न चल सका।

(१०) ससार के सबसे बड़े अवसाद (Great Depression) ने भी इसमें एक महत्त्वपूर्ण भाग लिया। बड़े-बड़े देशों तक में मजदूरी की दर गिरने लगी, कीमतें गिर गई, बैंक टूट गये और इस प्रकार चारों ओर अशांति फैल गई। इन सब मुसीबतों से घबड़ा कर देशों ने इसका परित्याग करना ही उचित समझा।

रजत मान (Silver Standard)

रजत मान उस मान को कहते हैं जिसमें चादी मूल्य-मान और विनिमय-

माध्यम का कार्य करती है। जैसे स्वर्णमान में सोने के प्रामाणिक सिक्को का प्रयोग होता है, रजत मान मे प्रामाणिक सिक्के चादी के होते हैं। हर मुद्रा की इकाई की कीमत चादी की एक निश्चित मात्रा के मूल्य से निर्धारित होती है। इस मान में भी स्वर्णमान की तरह स्वतन्त्र मुद्रा-ढलाई (Free coinage) होती है और एक निश्चित मात्रा तथा शुद्धता के सिक्के ढाले जाते हैं। भारतवर्ष ने भी इस मान को सन् १८३५ से सन १८९३ तक ग्रहण किया था और उस समय १८० ग्रेन का चादी का रुपया जिसकी शुद्धता ११/१२ थी, प्रचलित था। यह प्रणाली भी स्वर्णमान की तरह स्वयं-सचालित थी। सन् १८७४ तक सब कुछ ठीक चलता रहा परन्तु इसी वर्ष चादी की पूर्ति बढ़ जाने के कारण चादी के मूल्य बहुत गिरने लगे। जनता सस्ते दामो पर चांदी लेकर सिक्के ढलवाने लगी, बाजार में मुद्रा की पूर्ति बढने से मूल्य स्तर ऊँचा हो गया, हमारा विदेशी व्यापार प्रतिकूल होने लगा और हमारी सरकार अपने बजट को संतुलित न रख सकी। परिणामस्वरूप हरशैल समिति (Herschell Committee) की स्थापना हुई, जिसकी सिफारिशो पर १८९३ में चादी के सिक्को की स्वतत्र ढलाई समाप्त कर दी गई। रजतमान स्वर्णमान की भाति अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपना सिक्का नही जमा सका और इसीलिये ससार के कुछ ही देशो में इसका चलन रहा जैसे चीन भारतवर्ष इत्यादि।

सातवाँ अध्याय
कागजी-मुद्रा-मान

कागजी मुद्रा का उद्गम (The Origin of Paper Money)

कागजी मुद्रा का प्रयोग काफी लम्बे समय से होता आया है। योरप की अपेक्षा एशिया में इसका आरम्भ बहुत पहले हो गया था। सर्वप्रथम इसका उपयोग चीन में हुआ। प्राचीन इतिहास पर एक नजर डालने से पता लगता है कि नवी शताब्दि में ह्यान-साँग के राज्य काल में कागजी मुद्रा चलन में आई थी। कुछ लोगो का विचार है कि इसका प्रयोग कदाचित् नवी शताब्दि से भी पहले से होता आ रहा था। धातु-मुद्रा को लाने और ले जाने में जो कठिनाइयाँ होती थी, उन्ही से मुक्त होने के लिए कागजी मुद्रा का आरम्भ हुआ था। चीन में सत्रहवी शताब्दि तक कागजी मुद्रा का चलन रहा। चीन की देखा देखी जापान और परशिया में भी कागजी मुद्रा का प्रयोग होने लगा। कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं जिससे यह कहा जा सकता है कि प्राचीन एसीरिया (Assyria) और बेबीलोन (Babylon) में भी कागजी मुद्रा का चलन था। उसके पश्चात योरप के देशो में भी इसका प्रयोग प्रारम्भ हो गया। आरम्भ में चमडे के नोट निकाले गये जैसा कि हुमायू के राज्यकाल में बच्चा सक्का ने चमड़े के सिक्के चलाये थे और उसके पश्चात् लगभग सब ही देशो ने सत्रहवी शताब्दि के अन्त तक कागजी मुद्रा को ग्रहण कर लिया था। अभी तक केवल परिवर्तनीय कागजी मुद्रा का ही प्रयोग हुआ था, लेकिन अट्ठारहवी शताब्दि में अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा भी चलन में आ गई थी।

प्रथम महायुद्ध से पत्र-मुद्रा को बहुत प्रोत्साहन मिला। स्वर्ण व धन के अभाव के कारण योरप के सब ही देशो ने धातु-मुद्रा की जगह कागजी-मुद्रा का प्रयोग शुरू कर दिया। इगलंड, फ्रास व जर्मनी की भाति भारत में भी अपरिवर्तनीय कागजी नोटो का प्रकाशन आरम्भ हो गया। युद्ध के समाप्त हो जाने के बाद भी कागजी मुद्रा चलती रही। सन् १९३१ में स्वर्णमान के फिर टूट जाने के कारण, लगभग सब देशो ने कागजी-मुद्रा प्रणाली को अपना लिया। दूसरे महायुद्ध ने तो यह सिद्ध कर दिया है कि कागजी-मुद्रा-मान ही सबसे अच्छा और सस्ता मान है। किन्तु यह सबसे खराब भी है। नियन्त्रण की आदर्श परिस्थितियो में यह एक आदर्श मान है, लेकिन जब इसका अधिक चलन हो जाता है तो यह प्रचण्ड रूप धारण कर लेता है, और इसके भयकर परिणाम होते है, तब उस समय यह सबसे खराब मान हो जाता है।

कागजी मुद्रा के भेद (The Kinds of Paper Money)

कागजी मुद्रा के दो मुख्य भेद है। एक तो कागजी-मुद्रा-चलन (Paper Currency) और दूसरे कागजी-मुद्रा-मान (Paper Standard)। पहले हम कागजी-

मुद्रा-चलन की व्याख्या करेंगे और उसके पश्चात कागज़ी-मुद्रा-मान की।

कागज़ी-मुद्रा-चलन (Paper Currency)

कागजी-मुद्रा-चलन के चार रूप होते हैं —

(१) प्रतिनिधि-कागजी-मुद्रा (Representative-Paper-Money)
(२) परिवर्तनीय-कागजी-मुद्रा (Convertible-Paper-Money)
(३) अपरिवर्तनीय-कागजी-मुद्रा (Inconvertible-Paper-Money)
(४) आज्ञा-प्राप्त-मुद्रा (Fiat Money)

प्रतिनिधि-कागज़ी-मुद्रा

पत्र-मुद्रा का चलन सरकार के विश्वास पर होता है। सरकार जनता के इस विश्वास को दृढ बनाये रखने के लिये नोटो की निकासी करते समय किसी बहुमूल्य धातु की आड (Reserve) रख लेती है ताकि आवश्यकता होने पर उसको धातु या धातु के सिक्को में बदला जा सके। इस काम के लिये विशेषकर दो ही धातुओं का प्रयोग होता है—सोना और चाँदी। इस मुद्रा प्रणाली में कागजी नोट छापते समय उनके *पीछे १०० प्रतिशत धातु की निधि रख ली जाती है।* इस प्रकार यह मुद्रा केवल धातु या धातु-मुद्रा की प्रतिनिधि के रूप में कार्य करती है। जनता को पूर्ण अधिकार होता है कि वह किसी भी समय कागजी नोटो को धातु में बदल सकती है। केवल धातुओं के प्रयोग एव उनके ह्रास में मितव्ययिता लाने के लिये ही पत्र-मुद्रा का चलन हुआ। इस प्रकार की मुद्रा का उदाहरण हम व्यावहारिक जीवन से ले सकते हैं, हालाकि ऐसी *मुद्रा का प्रयोग कम ही रहा है।* अमेरिका में सोने और चांदी के *प्रमाण-पत्र* (*Gold* and Silver Certificates) इसी प्रकार की मुद्रा के उदाहरण हैं।

प्रतिनिधि-कागज़ी-मुद्रा के गुण

(१) यह मुद्रा बहुत ही मितव्ययी होती है। इससे सोने और चादी की बचत होती है। जो सोना सिक्कों की घिसावट से नष्ट हो जाता था, वह सोना अब बेकार नही होता। इसके अतिरिक्त सोने और चाँदी के *सिक्के ढालने में श्रम और पूँजी* का जो व्यय होता था, वह अब बच जाता है।

(२) इसमें जनता को पूर्ण विश्वास रहता है क्योकि वह जानती है कि कागज के नोटो के बदले में किसी भी समय उनको सोना या चाँदी मिल सकती हैं।

(३) इसमें मुद्रा-प्रसार का भय नहीं होता, क्योकि इसमें कागजी नोट छापते *समय १०० प्रतिशत निधि रखना अनिवार्य होता है, इसलिये बिना सोना व चाँदी* प्राप्त किये कागजी मुद्रा को नही बढाया जा सकता। क्योंकि सोने और चाँदी की पूर्ति लगभग सीमित रहती है, इसलिये मुद्रा की निकासी भी सीमित रहती है।

प्रतिनिधि-कागज़ी-मुद्रा के दोष

(१) यह सोने को सुरक्षित कोषो के रूप में बेकार बन्द कर देती है।

(२) यह प्रणाली बेलोच है। व्यवसाय और वाणिज्य की प्रगति के साथ-साथ मुद्रा की मात्रा नही बढाई जा सकती। आर्थिक संकट काल में जब कि मुद्रा के

विस्तार की विशेष आवश्यकता होती है, और जब कि सोना और चाँदी पर्याप्त मात्रा में नही मिलते हैं, मुद्रा का विस्तार असम्भव हो जाता है।

परिवर्तनीय कागज़ी-मुद्रा

प्रतिनिधि-कागजी-मुद्रा प्रणाली का सबसे बडा अवगुण उसका बेलोच होना है। इस दोष को दूर करने के हेतु कुछ देशो ने इसमें परिवर्तन कर दिये। परिवर्तनीय-कागज़ी-मुद्रा प्रतिनिधि-कागजी मुद्रा का एक परिवर्तित रूप है। इस प्रणाली में कुल कागजी नोटो की कीमत से कम सोने व चाँदी की आड रक्खी जाती है। परन्तु यह कागजी नोट हर समय सोने व चाँदी में परिवर्तित किये जा सकते है।

परिवर्तनीय-कागज़ी-मुद्रा की विशेषताएं निम्नलिखित है :—

(१) कुल नोटों की मात्रा के एक निश्चित प्रतिशत के पीछे ही सोने और चाँदी की आड रक्खी जाती है।

(२) हर कागजी नोट सोने अथवा चाँदी में परिवर्तनीय होता है।

(३) सुरक्षित-कोषों का एक निश्चित भाग देश की धातु-मुद्रा में भी रक्खा जाता है, जिसमें देश के प्रामाणिक अथवा सांकेतिक, दोनों ही प्रकार के सिक्के सम्मिलित रहते है।

(४) विदेशी भुगतानो के लिये एक अलग कोष रक्खा जाता है, जिसमे केवल सोना अथवा चाँदी ही होता है।

(५) सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य पर सोने व चाँदी का स्वतन्त्र क्रय-विक्रय होता है, अर्थात् इन निर्धारित कीमतो पर सरकार हर समय सोने व चाँदी को खरीदती अथवा बेचती रहती है।

परिवर्तनीय-कागजी-मुद्रा प्रणाली के अन्तर्गत दो प्रकार की मुद्रा का चलन होता है, एक तो ऐसी कागजी मुद्रा जिसके पीछे सोने और चाँदी की शत प्रतिशत आड़ रहती है, और दूसरी ऐसी मुद्रा जिसके पीछे केवल कागजी प्रतिभूतियो (Securities) की आड रहती है। पहले प्रकार की मुद्रा को रक्षित-मुद्रा (Covered Issue) कहते हैं, और दूसरी प्रकार की मुद्रा को अरक्षित-मुद्रा (Fiduciary Issue) कहते है। यह प्रणाली सन् १९२५ मे इंगलैंड तथा फ्रांस, दोनो ही देशो मे स्थापित हुई थी। भारतवर्ष ने सन् १९२७ में इसे ग्रहण किया था।

परिवर्तनीय-कागज़ी-मुद्रा के लाभ (Advantages of Convertible-Paper-Money)

(१) इस प्रणाली में जनता का पूर्ण विश्वास रहता है, क्योंकि सरकार कागज़ी नोटों को सोने और चादी में बदलने का आश्वासन दे देती है।

(२) कागज़ी नोटो की कुल मात्रा के केवल एक निश्चित भाग के पीछे सोने और चाँदी की आड़ होने से सोने व चाँदी की काफी बचत होती है। यह सोना तथा चाँदी विदेशी और देशी, दोनो ही प्रकार के व्यापार के लिये प्राप्त हो जाता है।

(३) यह मुद्रा प्रणाली लोचदार होती है, क्योंकि इसमें कम सुरक्षित कोष के आधार पर कई गुनी अधिक कागज़ी मुद्रा की निकासी हो जाती है।

परिवर्तनीय-कागज़ी-मुद्रा के दोष (Disadvantages of Convertible Paper-Money)

(१) इस प्रणाली में जनता को विश्वास इतना अधिक दृढ़ नहीं हो सकता, जितना कि प्रतिनिधि कागज़ी मुद्रा प्रणाली में होता है।

(२) इस प्रणाली में मुद्रा-प्रसार का बड़ा भय रहता है; क्योंकि सरकार बिना सोचे विचारे कागज़ी नोट छापती जाती है।

अपरिवर्तनीय-कागज़ी-मुद्रा

जिस कागज़ी मुद्रा के पीछे किसी भी प्रकार की धातु के कोष नहीं होते या यदि कोष है भी तो केवल नाममात्र के, ऐसी मुद्रा को अपरिवर्तनीय-कागज़ी-मुद्रा कहते है। इस प्रणाली में कागज़ी नोट धातु में परिवर्तित नहीं किये जाते। इसका चलन केवल सरकार की साख के आधार पर होता है। पहले इस मुद्रा का चलन केवल युद्ध तथा अन्य आर्थिक संकटों के समय में ही होता था। परन्तु आजकल सामान्य रूप से सारे ही देशों में इसका प्रयोग हो रहा है।

अपरिवर्तनीय कागज़ी-मुद्रा की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:

(१) कागज़ी नोट प्रामाणिक-मुद्रा का कार्य करते हैं।

(२) यह कागजी नोट अपरिमित कानूनी मुद्रा होते है।

(३) कागज़ी नोटो के पीछे किसी भी प्रकार की धातु की निधि नहीं होती। सुरक्षित कोष केवल कागज़ी होता है, अर्थात् सुरक्षित कोष में सोने अथवा चाँदी की अपेक्षा सरकारी बौन्ड्स (Government Bonds), प्रतिभूतियाँ (Securities), और कोषागार-विपत्रों (Treasury Bills) की आड़ रहती है।

(४) विदेशी भुगतानों को सुविधाजनक बनाने के लिये देश की सरकार मुद्रा को एक निश्चित दर पर विदेशी विनिमय में परिवर्तित कर देती है।

(५) कागजी-मुद्रा को सोने या चाँदी मे बदलने का सरकार कोई आश्वासन नहीं देती।

आज्ञा-प्राप्त-मुद्रा (Fiat Money)

इस मुद्रा का प्रयोग केवल संकट के समय में या असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाता है। इसके पीछे किसी भी प्रकार का सुरक्षित कोष नहीं होता और न ही यह किसी भी धातु में परिवर्तनीय होती है, इस प्रकार यह अपरिवर्तनीय-कागज़ी-मुद्रा का ही एक दूसरा रूप है, लेकिन अपरिवर्तनीय-कागज़ी-मुद्रा से भिन्न है।

आज्ञा-प्राप्त मुद्रा और अपरिवर्तनीय कागजी-मुद्रा में अन्तर:—

(क) आज्ञा-प्राप्त मुद्रा की निकासी केवल असाधारण परिस्थितियों में ही होती है।

(ख) यह केवल सीमित मात्रा में ही निकाली जाती है।

(ग) इसके पीछे किसी की आड़ नहीं होती न धातु की आड़ और न सरकारी बौन्ड्स एवं प्रतिभूतियों की ही।

आज्ञा-प्राप्त-मुद्रा की तीन मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :—

(१) धातु के रूप में इसका मूल्य कुछ भी नही होता ।

(२) सरकार की ओर से इस मुद्रा को किसी ऐसी वस्तु से बदलने का जिसका कि मूल्य इस मुद्रा के समान हो, कोई आश्वासन नही होता ।

(३) इसकी क्रय-शक्ति का किसी और वस्तु के मूल्य से सम्बन्ध नही होता । इस प्रकार इस मुद्रा का मूल्य स्वय ही निर्धारित होता है ।

उपरोक्त गुणो के आधार पर ही आधुनिक अर्थ-विद्वान् इस मुद्रा की सराहना करते है । परन्तु वे यह भूल जाते है कि व्यावहारिक जीवन मे ऐसी मुद्रा भयकर परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देती है ।

आज्ञा-प्राप्त-मुद्रा के दोष निम्न प्रकार हैं ।

(१) इस प्रणाली में मुद्रा अन्तर्राष्ट्रीय मूल्य-मान एव विनिमय के माध्यम का कार्य नही करती । क्योकि यदि सभी देशो में यह प्रणाली स्थापित हो जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भयकर कठिनाईयाँ उत्पन्न हो जायेंगी ।

(२) मुद्रा-प्रसार होने की सदैव ही सम्भावना रहती है जैसे सन् १९२३ मे जर्मनी में हुआ ।

(३) इस मुद्रा के अधिक चलन से सट्टेबाजी (Speculation) और जुएबाजी (Gambling) को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे कि व्यापारिक क्षेत्र में स्थिरता, नैतिकता तथा सुरक्षा का अभाव रहने लगता है ।

इस प्रकार की मुद्रा के फ्रास के ऐसाइनेट (Assignate), जर्मनी के पेपर मार्क्स (Paper Marks), सयुक्त राष्ट्र अमेरिका के ग्रीन-बैक्स (Green-backs) और भारत का एक रुपये का नोट बहुत ही उपयुक्त उदाहरण हैं ।

कागजी-मुद्रा के लाभ (Advantages of Paper Money)

आधुनिक काल में लगभग ससार के समस्त देशो में कागजी-मुद्रा का प्रयोग हो रहा है। यही नही बल्कि हर देश में मुद्रा का अधिकाश भाग कागजी-मुद्रा के रूप में पाया जाता है। इसके प्रयोग से जो विशेष सुविधाएँ प्राप्त होती हैं, उन्ही के कारण इसका प्रचार इतना अधिक हो गया है कि आर्थिक शब्दो में आज का युग कागजी-मुद्रा युग कहलाता है ।

कागजी-मुद्रा के निम्नलिखित लाभ बताए गए हैं—

(१) कागजी-मुद्रा के उपयोग से बहुमूल्य धातुओ की बहुत बचत होती है, जो कि देश की औद्योगिक तथा अन्य आर्थिक समस्याओं के सुलझाने और कला-कौशल की उन्नति के काम में आ सकती है । जैसा कि एडम स्मिथ ने कहा है कि "कागज के नोट आकाश मार्ग की भाँति हैं—उनके नीचे की भूमि भी काम में लाई जा सकती है और उस पर अन्न आदि उत्पन्न करके मनुष्य की अन्य आवश्यकताएँ भी पूरी की जा सकती हैं।"

(२) कागजी-मुद्रा बहुत सस्ती व मितव्ययी होती है । इसमें धातु-मुद्रा की

अपेक्षा श्रम और पूंजी का व्यय भी कम होता है।

(३) कागजी-मुद्रा का आवागमन बहुत ही सुविधाजनक है। मूल्य के अनुपात में यह बहुत हल्की होती है और स्थान भी कम घेरती है।

(४) कागजी-मुद्रा का गिनना तथा हिसाब लगाना बहुत ही सुविधाजनक है। इस युग में जबकि बैंकिंग प्रथा इतनी उन्नत हो गई है, जबकि हर कार्य में मुद्रा का प्रयोग होता है, धातु-मुद्रा का गिनना कागजी-मुद्रा की अपेक्षा अधिक समय लेता है और असुविधा भी बहुत होती है। बड़े-बड़े भुगतानों में सदैव गिनने में त्रुटि हो जाने की सम्भावना भी रहती है, इसके अतिरिक्त धातु को परखने की भी आवश्यकता पड़ती है। परन्तु कागजी-मुद्रा में ऐसी कोई भी समस्या उत्पन्न नहीं होती।

(५) कागजी-मुद्रा के प्रचलन से देश की मुद्रा प्रणाली लोचपूर्ण हो जाती है और मुद्रा का विस्तार आवश्यकतानुसार हो सकता है। इसके विपरीत धातु-मुद्रा का धातु की सीमित पूर्ति होने के कारण विस्तार नहीं हो सकता।

(६) आर्थिक संकटों के काल में यह सरकार के लिये एक डूबते को तिनके के सहारे का कार्य करती है। सरकार आपत्ति काल में कागज़ के अधिक नोट छाप कर अपने देश को उस संकट से बचा सकती है।

कागज़ी-मुद्रा की हानियां (Disadvantages of Paper–Money)

कागजी-मुद्रा के उपरोक्त लाभ होते हुए भी इसमें बहुत से दोष पाए जाते हैं, जो कि निम्नलिखित हैं :—

(१) कागजी-मुद्रा का क्षेत्र अति सीमित होता है। इसका चलन केवल देश के अन्दर ही होता है, यह विदेशी भुगतानों के काम में नहीं आती। इस प्रकार कागजी-मुद्रा का क्षेत्र राष्ट्रीय है, अन्तर्राष्ट्रीय नहीं।

(२) कागजी-मुद्रा का एक मुख्य दोष उसके मूल्य की अस्थिरता है। इसके मूल्य में घोर परिवर्तन होते रहते हैं, जिसके कारण देश की आर्थिक व्यवस्था में सदैव ही हलचल मची रहती है। देश के मूल्य स्तर, मजदूरी की दरों तथा ब्याज की दरों में सदैव ही उतार चढ़ाव रहता है। इसके अतिरिक्त विदेशी-विनिमय की दरों में भी काफ़ी परिवर्तन होते रहते हैं, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बहुत ही हानि पहुँचती है।

(३) कागज़ी-मुद्रा का कोई मूल्य नहीं होता, क्योंकि यह तो केवल एक कागज़ का टुकड़ा है जिसके विमुद्रीकरण (Demonetization) हो जाने के पश्चात्, वस्तु के रूप में कुछ भी मूल्य नहीं रह जाता। इसीलिये इस मुद्रा में जनता का बहुत कम विश्वास होता है।

(४) कागज़ी-मुद्रा का प्रयोग करते समय काफी सतर्कता से काम लेना पड़ता है, क्योंकि इनके गल जाने, जल जाने, तथा फट जाने का बहुत भय रहता है। यद्यपि सरकार ऐसे नोटों के बदले नये नोट देने की गारन्टी देती है फिर भी इन नोटों के बदलने में जनता को असुविधा होती ही है। इसलिये कागजी-मुद्रा जनता के लिये काफी असुविधाजनक होती है।

(५) यद्यपि कागज़ी-मुद्रा की निकासी एक आन्तरिक ऋण का ही रूप है और उसकी प्रकृति करारोपण जैसी ही है, फिर भी यह करारोपण न्यायपूर्ण नहीं है और निर्धन श्रेणी के लोगों के लिये यह बहुत ही कष्टदायी है। सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से भी यह उचित नहीं है, क्योंकि मुद्रा की निकासी व्यापारिक व औद्योगिक विस्तार के अनुसार नहीं होती, बल्कि सरकार की आर्थिक आवश्यकताओं के अनुसार होती है।

(६) कागज़ी मुद्रा के चलन से सट्टेबाज़ी (Speculation) को प्रोत्साहन मिलता है। पूँजीवादी देशों में यह व्यापार-चक्करों (Trade-Cycles) को जन्म देती है। इसीलिये कुछ अर्थ-विद्वानों ने कागज़ी-मुद्रा को 'सामाजिक धोखे, (Social Fraud) का नाम दिया है। किसी लेखक ने सच ही कहा है कि "पत्र-मुद्रा किसी देश की सबसे भयंकर महामारी है। कोई भयंकर से भयंकर बीमारी किसी व्यक्ति को जितना अधिक से अधिक कष्ट दे सकती है उससे भी अधिक कष्ट पत्र-मुद्रा के कारण समाज को होता है।"

(७) कागज़ी-मुद्रा की अन्तिम तथा महत्त्वपूर्ण हानि है मुद्रा-प्रसार। वास्तव में ऐसा होता है कि सरकार अपनी इच्छानुसार नोट छापती रहती है। परन्तु इस अत्यधिक नोटों की निकासी का परिणाम ही मुद्रा-प्रसार होता है। इस बढ़ती हुई निकासी को रोकना सरकार के लिये कठिन ही नहीं बल्कि असम्भव हो जाता है। इस मुद्रा-प्रसार से देश की समस्त आर्थिक स्थिति बहुत भयंकर रूप धारण कर लेती है, जिसके फलस्वरूप जनता को अनेकों कष्टों का सामना करना पड़ता है। कीमतों में अत्यधिक वृद्धि हो जाने से समाज के समस्त वर्गों पर शोचनीय प्रभाव पड़ता है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जर्मनी की खराब स्थिति से स्पष्ट हो जाता है। और दूसरा उदाहरण हमें भारत का ही मिलता है, जबकि द्वितीय महायुद्ध के काल में तथा उसके पश्चात् कीमतें बढ़ने से कैसे देश में उथल-पुथल मच गई थी। परन्तु यह भी निर्विवाद सत्य है कि प्रतिनिधि-पत्र-मुद्रा (Representative Paper Money) की अपेक्षा परिवर्तनीय-पत्र-मुद्रा (Convertible Paper Money) में नोटों की संख्या मनमानी बढ़ाई जा सकती है, तथा अपरिवर्तनीय पत्र-मुद्रा (Inconvertible-Paper-Money) और आज्ञा-प्राप्त-मुद्रा (Fiat Money) में इस बढ़ते हुए आवेग पर कोई रोक नहीं लगाई जा सकती।

कागज़ी-मुद्रा-मान (Paper-Standard)

कागज़ी-मुद्रा-मान उस प्रणाली को कहते हैं जिसमें प्रामाणिक-मुद्रा कागज की होती है। कागज़ी-मुद्रा देश के मूल्यमान और मुद्रा-मान, दोनों ही का कार्य करती है। यह अपरिवर्तनीय होती है, और इसका प्रकाशन बिना किसी धातु आधार के किया जाता है। इस मुद्रा-प्रणाली का चलन केवल असाधारण परिस्थितियों में ही किया जाता था परन्तु आजकल लगभग सब देशों ने ही इसको सामान्य रूप से ग्रहण कर लिया है। संसार में इसका चलन प्रथम महायुद्ध काल में बहुत अधिक हुआ। देशों ने मनमाने नोट छापे। परन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद देशों ने फिर से स्वर्ण-मान को

अपनाना चाहा पर कागज़ी-मुद्रा का प्रकाशन इतना अधिक हो गया था, कि उसको सम्भालना असंभव हो गया था। कुछ देशों ने स्वर्णमान का पुन:स्थापन किया भी, परन्तु सन् १६२६ के अवसाद के पश्चात् तो स्वर्ण-मान बिल्कुल ही समाप्त हो गया।

कागज़ी मुद्रा-मान की विशेषताएं निम्न प्रकार हैं :—

(१) कागज का नोट प्रामाणिक द्रव्य का कार्य करता है।

(२) कागज़ी-मुद्रा असीमित कानूनी मुद्रा होती है।

(३) इसमें मुद्रा को किसी भी धातु में बदलने की व्यवस्था नहीं की जाती।

(४) इस प्रणाली में मुद्रा का मूल्य किसी धातु के आधार पर निश्चित नहीं किया जाता, बल्कि स्वतन्त्र रूप से निश्चित किया जाता है।

(५) नोट प्रकाशन का नियन्त्रण अथवा व्यवस्था सरकार या सरकार के प्रतिनिधि द्वारा होता है।

(६) विदेशी भुगतानों में क्योंकि सोने का प्रयोग होता है, इसलिये इस प्रणाली में विदेशी भुगतानों को सुविधाजनक बनाने के लिये सोने का एक कोष रक्खा जाता है।

इस प्रणाली की कार्य विधि के लिये भारतीय चलन-मान का उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। भारत अन्य देशों की भांति स्वर्णमान पर १६३१ के बाद नहीं रह सका। भारत में जो नोट प्रचलित थे वे कागजी नोट इंगलैंड के पौंड स्टर्लिंग (Pound Sterling) में परिवर्तनीय थे। जब तक स्टर्लिंग सोने में परिवर्तनीय था भारतीय रुपया भी परोक्ष रूप से सोने में परिवर्तनीय था, परन्तु जब स्टर्लिंग स्वयं ही अपरिवर्तनीय कागज़ी-मुद्रा हो गया तब भारतीय रुपया भी एक अपरिवर्तनीय कागज़ी-मुद्रा रह गया। स्टर्लिंग में रुपया का मूल्य १ शि० ६ पैन्स रक्खा जाता है। भारत में नोट प्रकाशन और मुद्रा-संचालन का कार्य देश की केन्द्रीय बैंक अर्थात रिजर्व बैंक द्वारा होता है। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिये रिजर्व बैंक १०,००० पौंड या उससे अधिक मात्रा १ शि० ५$\frac{63}{64}$ पैंस फी रुपया की दर से खरीदती है, और १ शि० ६$\frac{3}{16}$ पैंस की दर से बेचती है। अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष (International Monetary Fund) की स्थापना के पश्चात अब रुपया का मूल्य स्वयं सोने में निर्धारित कर दिया गया है, और यद्यपि एक प्रकार से भारतीय रुपया सन् १६४७ से स्वतन्त्र हो गया है अर्थात स्टर्लिंग से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है, परन्तु व्यावहारिक जीवन में अब भी वह सम्बन्ध बना हुआ है।

कागज़ी-मुद्रा-मान के दोष (Disadvantages of Paper-Standard).

यद्यपि कागज़ी-मुद्रा प्रणाली में बहुत से गुण-दोषों का अध्ययन पहले कागज़ी-मुद्रा-चलन के अन्तर्गत किया जा चुका है, फिर भी कागज़ी मुद्रा चलन के दोषों के अतिरिक्त इस प्रणाली के अपने भी कुछ दोष हैं :—

(१) कागज़ी-मुद्रा के पीछे किसी प्रकार की धातु की आड़ न होने से मुद्रा की निकासी आवश्यकता से अधिक होने का भय रहता है।

(२) कागज़ी-मुद्रा की कीमतों में बहुत परिवर्तन होते रहते हैं। यह प्रणाली केवल एक धोखे की टट्टी है, क्योंकि कागज के टुकड़ों का मूल्य ही क्या हो सकता है।

(३) विदेशी विनिमय-दरों में भी स्थिरता नहीं रह पाती जिस कारण विदेशी व्यापार को बहुत आघात पहुँचता है।

कागज़ी-मुद्रा की यह कठिनाईयाँ, अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष (International Monetary Fund) के स्थापित होते ही दूर हो गई हैं। इसका विवरण विस्तार से आगे चलकर दिया गया है।

आज्ञा-प्राप्त मान (Fiat Standard)

जिस प्रणाली में आज्ञा-प्राप्त-मुद्रा का चलन होता है, उसे आज्ञा-प्राप्त-मान या प्रादिष्ट मान या नियन्त्रित कागज़ी-मुद्रा-मान (Managed Paper Currency Standard) कहते हैं। आज्ञाप्राप्त मान की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) इसका वस्तु मूल्य कुछ भी नहीं होता।

(२) यह परिवर्तनीय नहीं होता, क्योंकि इसका किसी वस्तु के मूल्य से कोई सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जाता।

(३) इसकी क्रय-शक्ति की समानता किसी भी वस्तु की क्रय-शक्ति से नहीं होती।

यद्यपि इस प्रणाली का उपयोग केवल असाधारण परिस्थितियों में ही होता आया है, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों का मत है कि आजकल हर सरकार को इस प्रकार की प्रणाली स्थाई रूप से अपनानी चाहिये। उन लोगों का विचार है कि यह कथन कि धातु-मुद्रा के प्रति जनता का अधिक विश्वास होता है, और धातु-मुद्रा परिवर्तनीय होती है एक धोखा है, क्योंकि व्यवहार में यह देखा जा चुका है कि धातु भी असाधारण परिस्थितियों में ठीक नहीं रहती और जनता का विश्वास समाप्त हो जाता है। बिल्कुल यह ही स्थिति आज्ञा-प्राप्त मुद्रा में होती है, तो फिर इन दोनों में तो कोई भिन्नता रह नहीं जाती। हर देश की आर्थिक प्रगति के कारण ही मुद्रा की माग बढ़ती है जैसे औद्योगिक उन्नति, यातायात और सवादवाह के साधनों की उन्नति, बैंकिंग एव साख का प्रसार इत्यादि। परन्तु आर्थिक उन्नति का धातु-कोषों से कोई सम्बन्ध नहीं होता, तो फिर क्यों मुद्रा की मात्रा को मुद्रा कोषों से बाध दिया जाय। रोबर्टसन का भी यही मत है। वह कहते हैं कि अनेकों बार स्वर्ण कोषों के अभाव के कारण साख का सतोषजनक प्रसार नहीं हो पाया है, जिस कारण देश के मानवीय और भौतिक साधनों का सदुउपयोग नहीं हो सका है। इस प्रकार हर समय में आज्ञा-प्राप्त कागज़ीमुद्रा का प्रयोग ही अच्छा रहता है, क्योंकि इसमें 'खेल के नियमों' को पालन करने का प्रश्न नहीं उठता बल्कि मानवीय नियत्रण द्वारा व्यापारिक एव औद्योगिक वर्ग की आवश्यकतायें अच्छी प्रकार पूरी की जा सकती है। कुछ लोग कहते हैं कि इसमें मूल्य-स्तर अधिक निश्चित रह सकता है क्योंकि आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा में परिवर्तन किये जा सकते हैं। इसमें अन्य मुद्रा-मान की अपेक्षा अधिक लोच होती है और यह अनेक प्रकार की वित्त सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करता है। परन्तु एक तो विनिमय दरो की अस्थिरता और दूसरे मुद्रा-प्रसार के भय के कारण इस मान के विपक्ष में काफी लेखकों ने अपने मत प्रकट किये हैं।

नोट-प्रकाशन

कागजी-मुद्रा का उपयोग अनेकों कठिनाईयो को जन्म देता है, जैसे इसकी निकासी कौन करे ? बैंक अथवा सरकार। यदि बैंक द्वारा इसकी निकासी हो तो केवल एक ही बैंक को एकाधिकार प्राप्त हो या कई बैंक इसको निकाल सकते है। नोट प्रकाशन सम्बन्धी जो सिद्धान्त है उनमें किसका पालन होना चाहिये और नोट प्रकाशन की कौन-कौन सी रीतियाँ अपनाई गई हैं, अब हम इन सब समस्याओं का क्रमवार अध्ययन करेगे ।

सरकार अथवा बैंक—नोट प्रकाशन कौन करे ? नोट प्रकाशन के सम्बन्ध में सबसे बडी समस्या यह उत्पन्न होती है कि नोट प्रकाशन का अधिकार किसके पास हो—सरकार या बैंक के पास ? कागजी मुद्रा के आरम्भ से ही यह एक वाद-विवाद का विषय रहा है । अर्थशास्त्रियो का इस सम्बन्ध में हमें कोई एक मत नही मिलता । कुछ लोग बडे ज़ोर से सरकार के पक्ष में बोलते है और दूसरे लोग इस अधिकार को बैंक को सौंपना चाहते हैं। यह ही नही बल्कि इस सम्बन्ध में भी बड़ा मतभेद है कि यह अधिकार एक बैंक को दिया जाय, या अनेक बैंको को एक साथ दिया जाय ? इतना समय बीत गया परन्तु इस वाद-विवाद का कोई अन्त नही हो पाया है ।

जो व्यक्ति इस पक्ष में है कि नोट प्रकाशन का अधिकार सरकार के पास ही सुरक्षित रहे, उन लोगों के तर्क निम्न प्रकार हैं .

(१) कागज के नोट केवल मुद्रा अधिकारी के साख और विकास पर ही स्वीकार होते हैं । जनता का सरकार के प्रति पूर्ण विश्वास रहता है, परन्तु एक बैंक के प्रति इतना विश्वास बना रहना असम्भव है । इसीलिये बैंक-नोटो के प्रति जनता को इतना विश्वास नही होता जितना कि सरकार द्वारा प्रकाशित नोटो के प्रति विश्वास होता है, यह जानते हुए कि इन नोटो के पीछे कोई आड नही है । इसका मुख्य कारण यह भी होता है कि जनता इस बात से भलीभाति परिचित होती है कि सरकार राष्ट्रीय सम्पत्ति की मालिक है और यह ज्ञान ही कागजी नोटो के पीछे एक आड़ का कार्य करता है ।

(२) इसके अतिरिक्त नोट छापने में बहुत लाभ होता है। यदि यह अधिकार बैंक के हाथ में रहेगा तो लाभ केवल कुछ ही व्यक्तियो में बँट जाएगा। परन्तु यदि नोट प्रकाशन सरकार के हाथ में है, तो यह लाभ सारी जनता के हित के लिये उपयोग में आ सकता है। सरकार ऐसे कार्य करेगी जिससे निर्धन लोगों को धन के अभाव में कोई विशेष सेवाओं का अभाव न मालूम पडे और इस प्रकार जबकि बैंक धन के असमान वितरण में वृद्धि करेगी, सरकार इसी वितरण को समान करने का प्रयत्न करेगी । इसलिये यह अधिकार सरकार को ही मिलना चाहिये।

(३) सरकार का कार्य एक बहुत बडे सगठन द्वारा चलता है । इस सगठन के मुख्य अग हर विषय के विशेषज्ञ होते हैं। सरकार इन विशेषज्ञो द्वारा समाज की सारी स्थिति का पता रखती है । वह इस सम्बन्ध में नियम भी बना सकती है और जितना देश की राजनैतिक अवस्था पर नियन्त्रण रख सकती है उतना ही आर्थिक अवस्था पर

भी इस प्रकार वह आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा को घटा भी सकती है और बढा भी सकती है। सरकार इसीलिये नोट प्रकाशन पर पूर्ण नियन्त्रण रख सकती है, जबकि बैंक के पास इसके लिये इतनी सुविधायें नही होती।

(४) नोट छापते समय बडी सतर्कता से काम लेना पडता है। जरा सी असावधानी से भयंकर परिणाम हो सकते हैं। इसलिये नोट प्रकाशन का कार्य, एक ऐसी सस्था को ही सौंपा जा सकता है, जो केवल व्यक्तिगत लाभ के लिये कार्य न करके सबके लाभ के लिए कार्य करे। इसका सम्बन्ध पूरे राष्ट्र से तो है ही, बल्कि विदेशी व्यापार के क्षेत्र पर भी इसके प्रभाव पडते हैं। इसलियें नोट छापने का कार्य केवल सरकार के हाथ में ही रहना चाहिये, ताकि राष्ट्रीय हित की उन्नति हो सके।

(५) जिन देशो में नोट छापने का अधिकार बैंको को मिला हुआ है, वहाँ पर भी नोट प्रकाशन सम्बन्धी सारी नीति का निर्माण सरकार ही करती है। फिर स्वयं सरकार ही क्यो न इस काम को करे।

(६) पत्र-मुद्रा के इतिहास पर एक दृष्टि डालें तो ज्ञात होगा कि जब से पत्र-मुद्रा का आरम्भ हुआ है उस दिन से लेकर आज तक इसके प्रकाशन का अधिकार निरन्तर सरकार के ही पास रहा है। तब बैंक को यह अधिकार मिलने का प्रश्न ही नही उठता।

जो व्यक्ति बैंको को नोट प्रकाशन का अधिकार देना चाहते हैं, उनके निम्नलिखित तर्क हैं—

(१) बैंको का व्यापार और उद्योग से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दो में बैंकिंग का आधार ही यह है। व्यापार और उद्योगो की उन्नति पर ही बैंकिंग व्यवस्था की दृढता और उन्नति होती रहती है। इसलिये वे व्यापार के उतार-चढाव से हर समय परिचित रहते हैं। इसके विपरीत सरकारी कर्मचारियो का व्यापार, व्यवसाय और उद्योग से क्या सम्बन्ध? वे आर्थिक प्रगति के भी सम्पर्क में नही रहते। इसीलिये इनके द्वारा स्थापित मुद्रा प्रणाली लोचपूर्ण नही होती। यह लोच केवल बैंको द्वारा अपनाई गई प्रणाली के अन्तर्गत ही रह सकती है। इसलिये नोट प्रकाशन का कार्य बैंको को ही मिलना चाहिये।

(२) पत्र-मुद्रा का इतिहास बताता है कि सरकार द्वारा इस नीति का बडा दुरुपयोग हुआ है। बजट की हानि को पूरा करने के लिये, सरकार ने अक्सर नोटों का प्रकाशन अधिक मात्रा में कर दिया, जिसके कारण जनता को काफी कष्ट सहन करने पड़े, और नोटों की परिवर्तनशीलता भी समाप्त हो गई।

(३) नोट प्रकाशन के सम्बन्ध में सरकार जो नीति अपनाती है उस पर राजनैतिक और वित्तसम्बन्धी विचारों का बहुत प्रभाव पडता है। आज के प्रजातन्त्र राज्य में जहाँ कि सरकार किसी एक राजनतिक दल की होती है, वहाँ पर वह हमेशा अपने दल के मत से ही प्रभावित होती है। इसके अतिरिक्त सरकार को कर-आरोपण के स्थान पर नोट-प्रकाशन अधिक सरल प्रतीत होता है। क्योकि ऐसी नीति से जनता और करदाता दोनों ही खुश रहते हैं और सरकार के विरुद्ध आवाज नही उठाते।

(४) अनुभव यह बताता है कि संकट काल में सरकार के कामो में स्फूर्ति की अपेक्षा सुस्ती आ जाती है। सरकारी कर्मचारी बहुत ज्यादा सावधानी से काम लेते है और उनका काम काफी धीमा पड़ जाता है। सरकार सरलता से नोट छापने के लिये तैयार नही होती, और इसीलिये सकट काल में मुद्रा-प्रणाली लोचपूर्ण नही हो पाती।

(५) राजनीति और बेंकिंग के क्षेत्र एक दूसरे से बिल्कुल पृथक है। एक अच्छा बैंकर अच्छा राजनीतिज्ञ नही होता, तो फिर एक अच्छे राजनीतिज्ञ का एक अच्छा बैंकर होना कैसे सम्भव हो सकता है। अनुभव भी इसका समर्थन करता है।

इस प्रकार दोनो पक्षो के मत का अध्ययन करने के पश्चात यह ही प्रतीत होता है कि बैंक ही सरकार की अपेक्षा अच्छा नोटो का प्रकाशन कर सकती है। वास्तव में बैंक द्वारा नोट प्रकाशित किये जायें और सरकार उनके लिये नियम बनाकर उनकी परिवर्तनशीलता की गारन्टी ले लें तो फिर इससे अधिक आदर्श प्रणाली और क्या हो सकती है। अब यह समस्या उत्पन्न हो जाती है कि नोट प्रकाशन का कार्य केवल एक ही बैंक के हाथ में रहे या कई बैंको को एक साथ यह अधिकार दिया जाय।

एक अथवा अनेक बैंकों द्वारा नोट प्रकाशन
(Single Versus Multiple Note Issue)

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि नोट प्रकाशन का अधिकार बैंक को मिलना चाहिये। परन्तु अब यह प्रश्न उत्पन्न हो जाता है कि यह अधिकार केवल एक ही बैंक को दिया जाय या देश के सारे बैंको को एक साथ मिलकर नोट प्रकाशित करने का अधिकार दिया जाय। इस सम्बन्ध में भी काफी वाद-विवाद रहा है, परन्तु व्यवहार में कुछ देशो में अनेको बैंकों ने नोट प्रकाशन का कार्य किया है और कुछ देशो में यह कार्य केवल एक ही बैंक द्वारा सम्पन्न किया गया है। जब नोट प्रकाशन का कार्य केवल एक बैंक द्वारा किया जाता है, तो उस पद्धति को एकाकी-नोट-प्रकाशन-प्रणाली (Single Note-Issue System) कहते हैं, और जब नोट प्रकाशन का कार्य बहुत सी बैंक एक साथ करती है तो उसे अनेक-नोट-प्रकाशन प्रणाली (Multiple Note-Issue System) कहते हैं।

भूतकाल में अधिकतर देशों में अनेक-नोट प्रकाशन प्रणाली ही प्रचलित थी। परन्तु आजकल सारे ससार के देशो ने एकाकी-नोट-प्रकाशन-प्रणाली को ग्रहण किया है। एकाकी-नोट-प्रकाशन-प्रणाली के स्थापित होने के भी कई कारण है, जैसे—राष्ट्रीय *धातु कोष अनेक बैंको के पास न होकर केवल एक ही बैंक के पास जमा रहता है,* जिसके कारण उसका दुरुपयोग नही होता। सकट व अन्य असाधारण परिस्थितियो में इन कोषो का उपयोग बडी सुगमता से और मितव्ययिता से होता है। दूसरे, जब नोट प्रकाशन का कार्य केवल एक ही बैंक द्वारा सम्पन्न होगा तब सरकार के लिये नियन्त्रण करना अधिक सुविधाजनक होगा। यदि कई बैंक यह कार्य करेगी, तो सरकार भी नोट प्रकाशन पर उतनी सुगमता और मितव्ययिता से नियन्त्रण नही कर सकती जितना कि एकाकी प्रणाली में। तीसरे, एकाकी-प्रणाली में बैंको की आपसी प्रतियोगिता समाप्त

हो जाती है। चौथे, अनेक प्रणाली में क्योंकि नोट प्रकाशन का कार्य अलग-अलग बैंकों द्वारा किया जाता है इसलिये नोटों में भी भिन्नता रहती है, परन्तु एकाकी प्रणाली में क्योकि एक ही बेंक नोट छापती है, इसलिये सब नोट एक से ही होते हैं अर्थात् उसमें समानता रहती है और जनता को भी नोटो की पहचान करने में सुविधा रहती है और इस प्रकार जनता में उन नोटो के प्रति बहुत अधिक विश्वास रहता है।

उपरोक्त कारणों का अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि नोट प्रकाशन का कार्य एक ही बंक द्वारा सम्पन्न होना चाहिए और यह कार्य केवल केन्द्रीय बैंक को ही करना चाहिये। ससार के अधिकाश देशो में इसलिये यह कार्य देश की केन्द्रीय बैंक ही कर रही हैं।

नोट प्रकाशन सम्बन्धी सिद्धान्त (Principles of Note-Issue)

नोट प्रकाशन के सम्बन्ध में दो सिद्धान्तो का उल्लेख किया जाता है। एक तो चलन-सिद्धान्त (Currency Principle) और दूसरा बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle)। दोनो सिद्धान्त एक दूसरे से बिल्कुल अलग-अलग है। इसलिए दोनो की विवेचना अलग-अलग करना आवश्यक हो जाता है।

चलन सिद्धान्त (Currency Principle)

एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली में दो गुण अवश्य होने चाहियें। एक तो जनता का विश्वास होना चाहिये और दूसरे प्रणाली लोचपूर्ण होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त और भी कई गुण और है, जिनका उल्लेख आगे चलकर किया जायगा। चलन-सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा अधिकारियो को जनता में प्रणाली के प्रति विश्वास उत्पन्न करना चाहिये। यह विश्वास उसी समय उत्पन्न हो सकता है जबकि नोट परिवर्तनीय हों और साथ ही साथ उनकी परिवर्तनशीलता भी सुरक्षित हो। इसलिए नोटों की मात्रा के बराबर ही सोने और चादी का कोष होना चाहिये। इस सिद्धान्त के मानने वालो का मत है कि देश में नोटो की मात्रा धातुकोषो के परिवर्तनो के साथ-साथ घटती-बढ़ती रहनी चाहिये। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि बहुमूल्य धातुओं का ह्रास कम से कम हो और मुद्रा का प्रयोग करना भी जनता के लिए सुविधाजनक हो।

सच तो यह है कि इस सिद्धान्त ने मुद्रा-प्रणाली को बिल्कुल सुरक्षित बना दिया है अर्थात् न तो मुद्रा-प्रसार का ही भय रहता है और न मुद्रा-संकुचन का, और जनता का विश्वास भी बना रहता है। परन्तु इसने प्रणाली की लोच समाप्त कर दी क्योंकि सुरक्षित कोषो की पर्याप्त मात्रा के अभाव में आवश्यकता होते हुये भी नोटों की मात्रा नही बढ़ाई जा सकती है, और बिना लोचपूर्ण मुद्रा प्रणाली के व्यापार और उद्योगों को भी प्रोत्साहन नहीं मिल सका। इसलिये इस सिद्धान्त में साख के महत्व और उसकी उपयोगिता पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। यही नही, सोने और चांदी की बचत होने की अपेक्षा बहुत सा सोना और चांदी सुरक्षित कोषो में बन्द पड़ा रहता है जिसका कुछ भी उपयोग नही।

बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle)

बैंकिंग सिद्धान्त के समर्थकों का विचार है कि मुद्रा-प्रणाली में लोच का होना एक परम आवश्यक गुण है। लोच केवल उसी समय आ सकती है जबकि मुद्रा अधिकारियों को नोट प्रकाशन के सम्बन्ध में कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो अर्थात् उनको आवश्यकतानुसार नोटों की मात्रा को बढाने और घटाने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो। इसीलिए बैंकिंग सिद्धान्त वाले चलन-सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहते हैं कि मुद्रा-प्रणाली को लोचपूर्ण बनाने के लिए, प्रचलित नोटो के केवल एक निश्चित भाग का ही मूल्य सोने और चांदी के रूप में सुरक्षित कोपो में रहना चाहिये। उनके अनुसार १००% बहुमूल्य धातुओ की निधि रखने से कोई लाभ नही। यदि नोटों का प्रकाशन अधिक हो गया है तो फालतू नोट बैंक में परिवर्तन होने के लिए लौट आयेंगे और यदि आवश्यकतानुसार छपे हो तो कोई आपत्ति ही न होगी बल्कि देश के व्यापार और व्यवसाय को विकसित होने का पूर्ण अवकाश प्राप्त हो जायगा। वास्तव में बैंकिंग सिद्धान्त वालो ने अपने अनुभव से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार जितने नोट छपते हैं उनमें से सब नोट एक समय में नक्दी में बदलने के लिये नही आते, उनका केवल एक भाग ही आता है। इस प्रकार सोने और चादी की निधि केवल इसी निश्चित भाग के लिये होनी चाहिये, न कि प्रचलित नोटो की कुल मात्रा के लिये। इसलिये बहुमूल्य धातुओ का १०० प्रतिशत कोष का रखने का विचार ही भ्रमपूर्ण है।

इसमें कोई सन्देह नही कि बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर बनी हुई मुद्रा-प्रणाली में लोच होती है, व्यापार तथा उद्योगों को उससे प्रोत्साहन मिलता है और सोने-चाँदी का प्रयोग कम होने से इनकी बचत भी हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक बड़ी मात्रा में सोना और चाँदी बेकार बन्द भी नही पडा रहता। परन्तु इस प्रणाली में सबसे बडा दोप यह होगा कि इसमें सुरक्षा का अभाव रहेगा। जनता का विश्वास छिन्न-भिन्न होने की सम्भावना बहुत अधिक रहती है। इसके अतिरिक्त यह भी भय रहता है कि नोट आवश्यकता से अधिक प्रकाशित न हो जाय।

आधुनिक युग में, जबकि बहुमूल्य धातुओ के कोपो की इतनी कमी है, चलन-सिद्धान्त के आधार पर मुद्रा प्रणाली का स्थापित करना असम्भव है। इस कारण केवल बैंकिंग-सिद्धान्त के अनुसार ही मुद्रा प्रणाली स्थापित की जाती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि एक अच्छी मुद्रा प्रणाली में लोच तथा जनता का विश्वास, दोनो ही होना चाहिये। इसके अतिरिक्त प्रणाली व्यवहार में लाई जा सके, यह भी एक आवश्यक बात है। *बैंकिंग-सिद्धान्त के आधार पर बनी मुद्रा प्रणाली में यह सारे गुण होते हैं।* इसी कारण संसार के अधिकांश देशो में ऐसी ही प्रणालियाँ स्थापित की गई हैं।

नोट-प्रकाशन की प्रणालियाँ (Systems of Note-Issue)

संसार में बैंकिंग-सिद्धान्त पर आधारित अनेकों प्रणालियो का निर्माण हुआ है। व्यवहार में इनमें से किस प्रणाली को सफलता अधिक प्राप्त हुई है और किसको कम, इसका निर्णय उनके अध्ययन के पश्चात ही किया जा सकता है। मुख्य प्रणालियाँ

इस प्रकार है—

(१) अधिकतम अरक्षित नोट प्रकाशन प्रणाली (Maximum Fiduciary System)

(२) निश्चित अरक्षित नोट प्रकाशन प्रणाली (Fixed Fiduciary System)

(३) अनुपातिक सुरक्षित कोष प्रणाली (The Proportional Reserve System)

इनके अतिरिक्त कुछ लेखकों ने निम्न लिखित चार प्रणालियों का वर्णन और किया है—

(४) साधारण निधि प्रणाली (Simple Deposit System)

(५) न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System)

(६) आंशिक अनुपात कोष प्रणाली (The Percentage Deposit System)

(७) कोषागार विपत्र निधि प्रणाली (The Bonus Deposit System)

(१) अधिकतम अरक्षित नोट प्रकाशन प्रणाली (Maximum Fiduciary System)—इस प्रणाली में सरकार अरक्षित नोटो की एक बडी से बडी सीमा निश्चित कर देती है, जिसके प्रकाशन के लिये किसी प्रकार के भी धातु कोष की आड़ रखना आवश्यक नही। यह अधिकतम मात्रा ऐसी होती है जो बिना किसी निधि के ही प्रकाशित की जा सकती है। यह सीमा बडी सावधानी से निश्चित की जाती है। एक वर्ष में जितनी औसत मुद्रा की आवश्यकता जनता को अपना काम चलाने के लिये होती है, उस औसत से ज्यादा ही यह सीमा रक्खी जाती है, ताकि देश की व्यापार एव वाणिज्य सम्बन्धी आवश्यकताओं के पूर्ण होने में किसी प्रकार की अड़चन न आये। परन्तु इस सीमा में भी आवश्यकता पडने पर परिवर्तन हो सकते हैं। यदि देश के व्यापार में और उद्योगों में वृद्धि हो रही है, और मुद्रा की आवश्यकता बढ रही है, तब यह सीमा भी बढाई जा सकती है। इस प्रणाली में सबसे बडा गुण यह है कि इसमें सोने व अन्य बहुमूल्य धातुओं को बेकार बन्द करके नही रक्खा जाता और सुरक्षित निधि का प्रश्न बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया जाता है। इसके अतिरिक्त एक दूसरा गुण यह है कि यह प्रणाली लोचपूर्ण है और एक सीमा निश्चित हो जाने से अधिक नोट-प्रकाशन का भय नही रहता। यह प्रणाली केवल तब ही सफलता प्राप्त कर सकती है जब सरकार स्वयं ईमानदारी से काम करे। यदि सरकार स्वय ही लालच में पड़ जाय और केवल लाभ या आय प्राप्त करने के लिये ही निश्चित सीमा को बढा दे (बिना व्यापारिक या अन्य आवश्यकता के) तो नोट चलन के आवश्यकता से अधिक होने पर देश में मुद्रा-प्रसार के सारे दुष्परिणाम जनता को भुगतने पडेंगे।

सन् १९२८ से पहले फ्रास में यही प्रणाली स्थापित थी और इंगलैंड में भी इसी की स्थापना के लिये मेकमिलन समिति ने सिफारिश की थी।

(२) निश्चित सुरक्षित नोट प्रणाली (Fixed Fiduciary System)—इस प्रणाली के अन्तर्गत मुद्रा अधिकारी को पूर्ण स्वतन्त्रता होती है कि वह एक निश्चित सीमा तक अरक्षित नोट बिना किसी धातु की निधि के ही छाप लें। इन अरक्षित

नोटों के पीछे केवल सरकारी प्रतिभूतियों (Securities) की आड होती है। परन्तु इस सीमा के बाद जितने भी नोट प्रकाशित किये जायेंगे, उनके पीछे १०० प्रतिशत धातु निधि का होना अनिवार्य हो जाता है। इस प्रणाली का मुख्य उद्देश्य नोटों की सुरक्षा है, और साथ ही साथ यह प्रणाली बहुमूल्य धातुओं के प्रयोग में मितव्ययिता भी लाती है।

इस प्रणाली के कुछ लाभ और कुछ हानियाँ भी हैं। इसके मुख्य लाभ यह हैं—नोटो के सोने में परिवर्तनीय रहने से जनता का इसके प्रति विश्वास बना रहता है। स्वर्ण के उपयोग में मितव्ययिता आ जाती है, और अधिक नोट प्रकाशन का डर भी नही रहता। इस प्रणाली का मुख्य दोष यह है कि—यह प्रणाली लोचपूर्ण नही है। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में अधिक मितव्ययता का भी अभाव है, क्योंकि इसमें धातु बेकार बन्द पडा रहता है। इस प्रणाली का चलन इसलिये केवल उन्ही देशो में हो सकता है जहाँ पर बहुमूल्य धातु काफी मात्रा में हो।

इस प्रणाली का सबसे अच्छा उदाहरण इगलैंड की चलन प्रणाली से लिया जा सकता है। सन् १८४४ के बैंक चार्टर ऐक्ट (Bank Charter Act of 1844) के अनुसार इंगलैंड में १४० लाख पौंड तक के अरक्षित नोट प्रकाशित किये जा सकते थे। परन्तु आवश्यकता पडने पर सन् १६२८ में इसकी मात्रा बढाकर २६ करोड, सन् १६३६ में ३० करोड और सन् १६४६ में १४५ करोड पौंड कर दी गई थी और यह मात्रा सन् १६५० में घटकर १३० करोड़ पौड रह गई थी। सन् १८६१ से सन् १६२० तक भारतवर्ष में भी यह प्रणाली प्रचलित थी।

(३) अनुपातिक सुरक्षित कोष प्रणाली (The Propotional Reserve System)—इस प्रणाली के अन्तर्गत, मुद्रा अधिकारी को कुल प्रकाशित नोटो की मात्रा के मूल्य का एक निश्चित प्रतिशत बहुमूल्य धातुओ के रूप में सुरक्षित कोष में रखना पडता है। भिन्न-भिन्न देशो में यह प्रतिशत भिन्न-भिन्न रहा है, किसी देश में २५%, किसी में ३०%, किसी में ४०%। यह धातु की आड सब कागजी मुद्रा के पीछे ही होनी है, केवल धातुओं के उपयोग में मितव्यियता प्राप्त करने के लिये ही एक निश्चित प्रतिशत रक्खा जाता है और बाकी के लिये सरकारी प्रतिभूतियो की आड रहती है। इस प्रणाली का बैंकिंग सिद्धान्त के आधार पर निर्माण किया गया है।

यह प्रणाली अति लोचपूर्ण है। धातु भी बेकार सुरक्षित कोष में बन्द नही पडी रहती है। आवश्यकता पडने पर धातुनिधि का प्रतिशत घटाकर नोटो की मात्रा बढाई जा सकती है। जनता में नोटो की परिवर्तनशीलता के कारण उनमें विश्वास रहता है। परन्तु इतने गुण होते हूए भी यह प्रणाली दोष रहित नही है। यह तो सच है कि सुरक्षित कोष के एक सिक्के के बदले तीन नोट निकाले जा सकते हैं यदि अनुपात एक और तीन का है—इसलिये मुद्रा विस्तार करना तो आसान है परन्तु मुद्रा-सकुचन में भयंकर कठिनाईयाँ होती हैं, क्योकि यदि एक नोट बदलने के लिये लाया जाता है तो सुरक्षित कोष में से एक प्रामाणिक सिक्का उसके बदले दे दिया जायगा। परन्तु उस एक सिक्के के बदले तीन नोट चलन में थे, इसलिये दो और नोट निकाले जाने चाहियें। यदि यह

दो नोट नही निकाले जायेंगे तो विधान द्वारा निर्धारित अनुपात टूट जायेगा और अगर इन दो नोटों को चलन से बाहर निकाल दिया जायेगा तो धीरे-धीरे नोटों की मात्रा आवश्यकता से कम हो जायगी, जिससे व्यापार और देश की आर्थिक उन्नति को बडा धक्का लगेगा। इस प्रणाली की अपेक्षा अन्य प्रणालियो में केवल एक ही नोट एक सिक्के के बदले में चलन से बाहर निकलता है। इस प्रणाली में एक दोष यह भी है कि सुरक्षित कोषो में काफी मात्रा सोने की धातु फँसी पडी रहती है।

यह प्रणाली फ्रांस और अमेरिका में अपनाई गई थी। भारतवर्ष में भी इस प्रणाली को सन् १९३४ के रिजर्व बैंक ऐक्ट (Reserve Bank Act of 1934) में स्थान दिया गया था।

उपरोक्त तीनो प्रणालियाँ अधिकाश देशो द्वारा व्यवहार में अपनाई गई है। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ प्रणालियाँ और भी हैं, जिनको कि कुछ देशों ने अपनाया है। यह प्रणालियाँ निम्न प्रकार है :—

(४) *साधारण निधि प्रणाली (Simple Deposit System)*—इस प्रणाली के अन्तर्गत चलन में नोटो की कुल मात्रा के मूल्य के बराबर बहुमूल्य धातु सुरक्षित कोष में रक्खी जाती है। नोटो की कुल मात्रा के पीछे १०० प्रतिशत धातु की आड होना आवश्यक होता है। इसलिये यह कहा जा सकता है कि कागजी मुद्रा का चलन केवल धातु मुद्रा के प्रतिनिधि के रूप में ही होता है। *अर्थात इस प्रणाली में केवल प्रतिनिधि-पत्र-मुद्रा* (Representative Paper Money) ही चलन में रहती है। इस प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि यह प्रणाली जनता का विश्वास बनाए रखने में बहुत सहायक होती है। इस दृष्टिकोण से यह प्रणाली अन्य प्रणालियों की अपेक्षा सबसे अच्छी है। *इसके अतिरिक्त यह नोटो की परिवर्तनशीलता भी बनाए रहती है।* परन्तु गुणो के साथ-साथ इस प्रणाली में कुछ दोष भी विराजमान है। इसका सर्वप्रथम दोष यह है कि इस प्रणाली की स्थापना के लिये धातुओ के एक लम्बे चौडे कोष की आवश्कता पड़ती है। दूसरे यह प्रणाली मितव्ययी भी नही है, क्योकि एक बहुत बडी मात्रा बहुमूल्य धातुओं की सुरक्षित कोषों में बन्द पड़ी रहती है। अन्त में, यह प्रणाली लोचपूर्ण भी नही है।

(५) न्यूनतम कोष प्रणाली (Minimum Reserve System)—इस प्रणाली के अन्तर्गत धातु निधि की एक न्यूनतम सीमा निश्चित होती है। यह सीमा विधान द्वारा *निर्धारित की जाती है।* मुद्रा अधिकारी को यह निश्चित धातुनिधि अपने पास बनाए रखना अनिवार्य होता है। मुद्रा अधिकारी पर नोट प्रकाशन के सम्बन्ध में कोई नियन्त्रण नही होता। वह किसी भी मात्रा में कम से कम सुरक्षित कोष रखकर नोट छाप सकता है। इस प्रणाली के महत्वपूर्ण गुण परिवर्तनशीलता, लोचकता तथा मितव्ययिता हैं। *परन्तु यह प्रणाली केवल समृद्धि के काल में ही सफलता प्राप्त कर सकती है।* वास्तव में नोटो को सोने में परिवर्तित करने के कारण जब धातु कोष घटकर न्यूनतम सीमा पर आ जाते हैं तब मुद्रा अधिकारी को नोटों की परिवर्तनशीलता स्थगित कर देनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा अधिकारी न्यूनतम सीमा से अधिक मूल्य की धातु अपने

पास रखता है क्योंकि उसको न्यूनतम सीमा बढ़ जाने का भय हर समय रहता है।

(६) आंशिक-अनुपात-कोष-प्रणाली (The Percentage Reserve System)—यह प्रणाली अनुपातिक-सुरक्षित-कोष-प्रणाली (The proportional Reserve System) का ही एक संशोधित रूप है। इसमें कुल प्रकाशित नोटों का एक निश्चित भाग बहुमूल्य धातुओं के रूप में तो रक्खा जाता ही है, परन्तु धातु-निधि के अतिरिक्त विदेशी विनिमय बिलों (Foreign Bill of Exchange) या अल्पकालीन विनियोगों (Short Term Investments) तथा विदेशी मुद्रा की भी आड रह सकती है। भारतीय चलन प्रणाली (Currency System) का भी यही रूप है। भारतीय रिजर्व बैंक को नोट प्रकाशित करते समय ४०%निधि के रूप में रखना आवश्यक होता है। इतनी स्वतन्त्रता अवश्य है कि वह उपरोक्त निधि का ६०% विदेशी विनिमय या अल्पकालीन विदेशी विनियोगों के रूप में रख सकती है। इस प्रणाली के समर्थक इसकी बहुत प्रशंसा करते हैं क्योंकि बहुमूल्य धातुओं की बचत होने से यह प्रणाली मितव्ययी हो जाती है और दूसरे यह प्रणाली लोचपूर्ण भी है। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि विदेशी विनियोगों का अधिक होना भी तो लाभप्रद नहीं है।

(७) कोषागार-विपत्र-निधि-प्रणाली (The Bonus Deposit System)—इस प्रणाली में नोट प्रकाशन के लिये सुरक्षित कोष का धातु के रूप में होना आवश्यक नहीं है, केवल कोषागार विपत्रों (Treasury Bills) की आड़ ही काफी है। देश की केन्द्रीय बैंक सरकार द्वारा दिये गए विपत्रों को प्रतिभूति (Security) मान लेती है और उनके आधार पर उन्हीं के मूल्य के बराबर नोट प्रकाशित कर देती है। इस प्रणाली में प्रचलित नोटों की मात्रा सरकारी कोषागार विपत्रों की मात्रा के ऊपर निर्भर रहती है। सरकारी प्रतिभूतियों और विपत्रों के खरीदे बिना नोटों की मात्रा बढाना असम्भव हो जायेगा। यदि बैंक इनको ज्यादा खरीदना आरम्भ कर देगी तो उनके मूल्य में वृद्धि हो जायेगी—और जिससे बैंक को काफी हानि होगी। इसके अतिरिक्त यह प्रणाली लोचपूर्ण भी नहीं है।

नोट प्रकाशन का उपयुक्त सिद्धान्त (Right Principle of Note Issue)

नोट प्रकाशन की विभिन्न प्रणालियों के अध्ययन के पश्चात् इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि नोट प्रकाशन का सही सिद्धान्त क्या है? क्योंकि उपरोक्त सभी प्रणालियों में गुण व दोष दोनों ही सम्मिलित रूप से विराजमान हैं। इसके *अतिरिक्त यदि केवल चलन-सिद्धान्त (Currency System) के आधार पर मुद्रा* प्रणाली का निर्माण किया जाय तो आधुनिक परिस्थितियों में बहुमूल्य धातुओं के अभाव के कारण वह मुद्रा प्रणाली सफलता पूर्वक कार्य नहीं कर सकती। इसी प्रकार यदि बैंकिंग सिद्धान्त (Banking Principle) के आधार पर मुद्रा प्रणाली का निर्माण किया जाय तो भी अनेकों दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इसलिये इस निर्णय पर पहुँचने के लिये कि नोट प्रकाशन के किस सिद्धान्त का पालन किया जाय हमको तनिक विस्तार में जाना पड़ेगा। इस समस्या के अध्ययन को हम दो भागों में विभाजित

कर सकते हैं। प्रथम यह है कि क्या नोट प्रकाशन के लिए उसका सम्बन्ध धातु निधि से होना आवश्यक है ? और द्वितीय यह कि यदि धातु-निधि और कागज़ी मुद्रा के बीच सम्बन्ध होना आवश्यक मान भी लिया जाय तो यह प्रश्न उठता है कि बहुमूल्य धातुओं अर्थात् सोने और चांदी का कितना कोष हो कि नोट प्रकाशित हो सकें।

पहली समस्या का अध्ययन करने के सम्बन्ध में यह आवश्यक हो जाता है कि हम कागज़ी मुद्रा के पीछे बहुमूल्य धातुओं की आड रखने का उद्देश्य समझ लें। धातु-निधि केवल इसीलिये रक्खी जाती है कि नोटों की परिवर्तनशीलता बनी रहे, जिसके कारण जनता का मुद्रा प्रणाली के प्रति विश्वास भी बना रहता है। इसके अतिरिक्त जो धातुओं की बचत होती है उसका उपयोग हम विदेशी भुगतानों में कर सकते हैं। जब देश में कागजी मुद्रा का प्रचलन होता है तब सोने या अन्य बहुमूल्य धातुओं की बचत होती है उसका उपयोग हम विदेशी भुगतानो में कर सकते हैं। जब देश में कागज़ी मुद्रा का प्रचलन होता है तब सोने या अन्य बहुमूल्य धातुओं की आवश्यकता केवल विदेशी भुगतानो के लिये ही होती है। इसलिये कागजी-मुद्रा को व्यापारी वर्ग सोने और चांदी में बदल लेंगे और विदेशो में भुगतान कर देंगे। अतएव केन्द्रीय बैंक के नोट प्रकाशन के अधिकार पर किसी प्रकार का भी बन्धन लगाना उपयुक्त न होगा, अर्थात् विधान द्वारा सुरक्षित कोष का नोटो की मात्रा से सम्बन्ध स्थापित करना कदापि उचित न होगा, क्योकि जब साख के निर्माण और उसके नियन्त्रण का पूरा उत्तरदायित्व केन्द्रीय बैंक के ऊपर रहता है तब उसको नोट प्रकाशन के क्षेत्र मे पूर्ण स्वतन्त्रता क्यो न दी जाय। यह केन्द्रीय बैंक की इच्छा पर छोड़ दिया जाय कि वह आवश्यकतानुसार सुरक्षित कोषो का स्वय ही प्रबन्ध करे।

हमें केन्द्रीय बैंक पर पूर्ण विश्वास रखना चाहिये इसलिये देश के प्रचलित नोटो की मात्रा का सुरक्षित कोषो से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये। हाँ, इतना अवश्य है कि केन्द्रीय बैंक अपने पथ से विचलित हो सकती है जिससे देश में कागजी नोटों का चलन अधिक हो जाय। इस भय से बचने के लिये सबसे उत्तम उपाय तो यह है कि सरकार एक अधिकतम सीमा निर्धारित करदे, जिसके ऊपर नोट प्रकाशन किसी भी परिस्थिति में न किया जाय। यह सीमा देश में उपयोग में आने वाले नोटो की औसत मात्रा से काफी ऊँची होनी चाहिये और उसमे लोच भी हो, ताकि उसे समय-समय पर बदल दिया जाय। इसके अतिरिक्त यदि सरकार जनता का विश्वास मुद्रा-प्रणाली में बनाए रखना चाहती है, तो विधान द्वारा बैंक को एक निश्चित न्यूनतम मात्रा में सोना रखने पर बाध्य कर सकती है। इस प्रकार देश में प्रचलित नोटों की संख्या सरकार द्वारा निर्धारित सुरक्षित कोष की न्यूनतम मात्रा और नोट प्रकाशन की अधिकतम सीमा के बीच घटती बढती रहेगी। केवल यही दो शर्तें केन्द्रीय बैंक के नोट प्रकाशन अधिकार पर लगानी चाहिये, अन्यथा केन्द्रीय बैंक को नोट प्रकाशन के क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये।

समस्या के दूसरे भाग का अध्ययन करने के लिये यह जान लेना आवश्यक है कि पहले सुरक्षित कोष केवल नोटो की परिवर्तनशीलता बनाये रखने के लिये रक्खे

जाते थे, परन्तु अब ऐसे कोषों की आवश्यकता प्रतीत नही होती, क्योंकि अब सोने के सिक्के तो चलन में है ही नही। यदि देश स्वर्णमान पर है तो विदेशी भुगतानो में सोने का उपयोग सरलतापूर्वक हो सकता है। यदि देश पत्र-मान पर है, तो भी सोने की आवश्यकता केवल विदेशी भुगतानो के सम्बन्ध में होगी। इसलिये सुरक्षित कोषो की निर्भरता नोटो की मात्रा पर न होकर विदेशी भुगतानो पर होनी चाहिये। केन्द्रीय बैंक के पास इतना सोना हर समय होना चाहिये कि उसको अल्पकालीन भुगतानो के चुकाने में देरी न हो। इस दृष्टि से सुरक्षित कोष की मात्रा हर देश में अलग-अलग होगी। जो देश अन्तर्राष्ट्रीय बैंकिंग के केन्द्र है या जिन देशो का आयात बहुत बढा हुआ है या जो देश ऋणी है उन देशो में अन्य देशो की अपेक्षा सुरक्षित कोष एक बड़ी मात्रा में होना आवश्यक होता है।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि सुरक्षित कोषो का नोटों की मात्रा से कोई सम्बन्ध नही होना चाहिये और केन्द्रीय बैंक को नोट प्रकाशन के सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये। यह अवश्य है कि एक अच्छी मुद्रा प्रणाली होने के लिए परिवर्तनशीलता, मितव्ययिता, लोचकता तथा अत्यधिक नोट प्रकाशन के विरुद्ध सुरक्षा का होना अनिवार्य है। फिर भी नोट प्रकाशन का कार्य पूर्णतया केन्द्रीय बैंक को ही दे देना चाहिये। यदि सरकार अधिक सतर्कता और सावधानी प्रयोग करना चाहती है तो वह, जैसा कि ऊपर कहा गया है, न्यूनतम सुरक्षित कोष की मात्रा नियत करदे और नोट प्रकाशन की अधिकतम सीमा निश्चित करदे, ताकि नोटो की संख्या इन्ही दोनों सीमाओ के बीच में रहे। यह अवश्य है कि समय-समय के अनुसार इन सीमाओ में परिवर्तन करने होगे।

अच्छी मुद्रा प्रणाली के गुण

धातु-मुद्रा एवं कागजी मुद्रा के अध्ययन के पश्चात् अब हम सरलतापूर्वक अच्छी मुद्राप्रणाली के गुणो की गणना कर सकते हैं। यद्यपि मुद्रा के विशेषज्ञो में इस विषय पर भी काफ़ी मत भेद रहा है, फिर भी सामान्य रीति से एक अच्छी मुद्रा प्रणाली में निम्न गुणों का होना आवश्यक है।

(१) परिवर्तनशीलता (Convertibility)—कागजी मुद्रा प्रणाली में कागजी मुद्रा का बहुमूल्य धातुओ में परिवर्तनीय होना दो कारणों से आवश्यक होता है। एक तो उसके कारण जनता का विश्वास बना रहता है और दूसरे विदेशी भुगतानो में सरलता आ जाती है। जहाँ तक पहले कारण का सम्बन्ध है आजकल मुद्रा का चलन केवल सरकार की साख पर निर्भर रहता है। रही विदेशी भुगतानो की बात, तो साधारणतः सोने का आवागमन इतना सुगम नही होता परन्तु व्यापाराधिक्य की अल्पकालीन प्रतिकूलता को सुधारने के लिये स्वर्ण कोष का होना आवश्यक है। यह समस्या भी अब अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष की स्थापना के पश्चात् काफी सुलझ गई है।

(२) मितव्ययिता (Economy)—एक अच्छी मुद्रा-प्रणाली में मितव्ययिता

का गुण होना परम आवश्यक है। मितव्ययिता के दो अभिप्राय होते हैं, प्रथम, प्रणाली का संचालन व्ययपूर्ण नही होना चाहिये। ऐसी प्रणाली देश के सिर पर बोझ बन जाती है। दूसरे, बहुमूल्य धातुओं के उपयोग में बचत होनी चाहिये।

(३) लोचकता (Elasticty)—एक अच्छी मुद्रा प्रणाली में लोचकता का गुण होना भी अनिवार्य है। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रणाली में सरलतापूर्वक आवश्यकतानुसार मुद्रा की मात्रा मे परिवर्तन किये जा सकें वही उसकी लोचकता का गुण है। लोच के अभाव में असाधारण परिस्थितियों में ऐसी प्रणाली का टूट जाना स्वाभाविक ही होता है। यही नही बल्कि लोचपूर्ण न होने से ऐसी प्रणाली के अन्तर्गत व्यापार तथा उद्योग का पूर्ण विकास नही हो पाता। इसलिये मुद्रा प्रणाली उत्तम होने के लिये उसमें यह गुण होना चाहिये कि उसमें समयानुसार परिवर्तन किये जा सकें अर्थात् समृद्धिकाल में मुद्रा की मात्रा घटाई जा सके और संकटकाल में बढाई जा सके।

(४) सरलता (Simplicity)—अच्छी मुद्रा प्रणाली इतनी सरल होनी चाहिये कि साधारण से साधारण व्यक्ति भी उसे समझ सकें। जटिलता का अवगुण प्रणाली को व्ययपूर्ण और अकुशल बना देता है। एक सरल प्रणाली को समझने में में किसी भी वर्ग के लोगों को (उद्योगपति, व्यापारी, कृषक और आर्थिक विशेषज्ञ) कोई कठिनता न होगी। प्रणाली को उनका विश्वास प्राप्त होगा और मुद्रा अधिकारियों को इन लोगो से सहयोग मिलेगा।

(५) स्थिरता (Stability)—स्थिरता से हमारा अभिप्राय यह है कि देश के भीतर वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य में और देश के बाहर विदेशी विनिमय की दरो में परिवर्तन न हों। इसलिये एक अच्छी मुद्रा प्रणाली में मूल्यो एवं विदेशी विनिमय की दरों को स्थिर रखने का गुण होना चाहिये। इस गुण से देशी और विदेशी व्यापार के विकास के लिये पूर्ण अवकाश मिल जाता है। स्थिरता लाने के लिये प्रणाली में सरकारी नियन्त्रण आवश्यक हो जाता है ताकि नोट प्रकाशन आवश्यकता से अधिक न हो सके ?

आठवाँ अध्याय

ग्रेपम का नियम

नियम की परिभाषा

महारानी ऐलिजाबेथ (Elizabeth) इंगलैण्ड की प्रसिद्ध रानी थी। उनका राज्यकाल इंगलैण्ड के इतिहास में स्वर्णकाल के नाम से प्रसिद्ध है। महारानी ने अपने शासन काल में राजनैतिक एवं धार्मिक झगड़ों का बड़ी सुगमता से अन्त किया था। सामाजिक उपद्रवों को शान्त करने के लिए वह जीवन भर कुमारी ही रही। सच तो यह है कि उसने स्वयं को देश और जनता के लिए बलिदान कर दिया था। अपने शासन काल में उसे कई आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी कठिनाई मुद्रा-चलन सम्बन्धी थी। बात यह थी कि उसके पूर्वजों ने जो सिक्के चलाये थे, वे मिलावटी थे और अब घिस-पिटकर पुराने एवं मूल्यहीन भी हो चुके थे। ऐलिजाबेथ इसमें भी सुधार करना चाहती थी। उसने यह समझा कि यदि नये सिक्के चलन में लाये जावें तो जनता पुराने सिक्के जमा कर देगी और नये सिक्कों का प्रयोग होना प्रारम्भ हो जावेगा। उसने नये पूर्णकाय-सिक्कों (Full-bodied coins) को चलन में भेजना आरम्भ कर दिया, परन्तु इस सम्बन्ध में उसे बड़ा कटु अनुभव हुआ। आशा के विपरीत पुराने सिक्के तो ज्यों-के-त्यों चलते रहे और नये सिक्कों का बाजार में आना बन्द हो गया। कई बार उसने यह किया, पर हर बार उसे ऐसा ही अनुभव हुआ। अन्त में हताश होकर उसने सर टामस ग्रेपम से सलाह ली। सर टामस ग्रेपम व्यापारी भी था और रानी का सलाहकार भी था। व्यावहारिक अर्थशास्त्री होने के नाते वह इसका कारण भली भाँति समझ गया। उसने बताया कि "अन्य बातें समान रहते हुए जब किसी देश में दो (या अधिक) प्रकार की मुद्रा एक ही समय में चलती है तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है।"[१] इस प्रकार प्रो० मार्शल के अनुसार "ग्रेपम के इस नियम पर विचार साधारणतया धात्विक मुद्राओं के सम्बन्ध में ही किया गया है। यह अच्छे सिक्कों के चलन से बाहर निकाले जाने की प्रवृत्ति का वर्णन करता है।"[२] वह इस नियम की परिभाषा इस प्रकार करते हैं "ग्रेपम का नियम

---

१. "Other things being equal, when in a conutry two (or more) kinds of money circulate at the same time, bad money drives good money out of circulation."

२. "Gresham's law has been considered generally in relation to metallic currencies, it represents a tendency to take good coins out of the currency."

यह है कि एक नीची मुद्रा यदि परिमाण में सीमित नही है तो वह ऊँची मुद्रा को बाहर निकाल देगी।"[1]

प्राय. यह देखा गया है कि एक देश में जब कई प्रकार की मुद्राओं का चलन होता है तो यह प्रवृत्ति दृष्टिगोचर अवश्य होती है। सोने और चाँदी के साथ-साथ तुच्छ धातुओं के साकेतिक-सिक्को तथा कागज के नोटो का भी चलन रहता है। इन सबके मूल्यो में अन्तर रहता ही है। कुछ प्रामाणिक सिक्के होते हैं, कुछ साकेतिक, और कुछ कागजी-मुद्रा भी परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय, प्रतिनिधि और आज्ञा-प्राप्त होती हैं। धातु के सिक्को में भी कुछ नये और कुछ चलते-चलते घिसकर पुराने हो जाते हैं, इसीलिए इन सब मुद्राओं की ग्राह्यता में कमी आ जाती है, लोग उन्हे बाजार मे ठेलते रहते हैं और जो सर्व-ग्राह्य बने रहते हैं उन्हे लोग अपने पास जमा करते जाते हैं। दूसरे शब्दों में जिस मुद्रा का मूल्य घिसने आदि के कारण कम हो जाता है लोग उसे लेने से बचते हैं; और उसे खराब समझकर दूसरो को चलाते रहते हैं और जिस मुद्रा का मूल्य पूर्ण रहता है उसे प्राप्त करते ही अपने पास जमा कर लेते हैं। यह प्रवृत्ति विश्वव्यापी है। यही ग्रेषम महोदय का नियम है। यह नियम हर समय और हर देश में लागू हो सकता है परन्तु कुछ सीमाओं के साथ। मार्शल ने अपनी परिभाषा में "यदि परिमाण में सीमित नही है तो" शब्दों का प्रयोग किया है जो नियम की सीमा की ओर संकेत करते हैं।

अब चूंकि इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण ग्रेषम द्वारा किया गया था, इसीलिए इसे ग्रेषम का नियम कहते हैं, यद्यपि यह प्रवृत्ति पहले से ही ज्ञात थी। प्राचीन यूनानियो के समय में भी लोगो को इन प्रवृत्तियो का ज्ञान था।[2]

इससे पूर्व कि हम यह समझें कि अच्छी मुद्रा बुरी मुद्रा द्वारा क्यों बाहर निकाल दी जाती है यह समझना आवश्यक हो जाता है कि अच्छी और बुरी मुद्रा से अभिप्राय क्या है? बुरे सिक्को से हमारा अभिप्राय जाली या खोटे सिक्को से नहीं है बल्कि उन सिक्को से है जिनका वास्तविक-मूल्य अन्य प्रचलित सिक्को की तुलना में

---

१. "Gresham's law is that an inferior currency, if not limited in amount, will drive out the superior carrency."

२. The following lines which Aristophanes a Greek comic-dramatist wrote in the "Frogs" are worth quoting : "for your old and standard Diecco valued and approved and tried. Here among the Grecian Nations and in all the world besides recognized in every realm. For trusty stamp and pure assay, are rejected and abandoned for the trade of yesterday. For a vile adulterate issue drosy counterfeit and base, which the traffic of the city passes current in their place."

कम हो गया है और जिनमें पुराने हो जाने या घिस जाने के कारण धातु की मात्रा कम हो गई है। अत बुरे सिक्के कई प्रकार के होते हैं:—

(१) एक धातुमान में पुराने सिक्कों में नये की अपेक्षा धातु कम हो जाती है इसलिए मूल्य में भी ह्रास हो जाता है। इस दृष्टि से पुराने सिक्के बुरे हो जाते हैं।

(२) जब धात्विक सिक्को के साथ-साथ कागजी-मुद्रा भी चलती है, तो धात्विक सिक्कों की अपेक्षा कागजी मुद्रा का वास्तविक-मूल्य कुछ भी नही होता। इसलिए कागजी-मुद्रा बुरी हो जाती है।

(३) पत्र-मुद्रा-मान में नये नोटो की अपेक्षा पुराने नोट बुरे होते हैं। इसके अतिरिक्त यदि परिवर्त्तनीय-कागजी-मुद्रा के साथ-साथ अपरिवर्तनीय-कागजी-मुद्रा का चलन होता है तो पहली अच्छी और दूसरी बुरी हो जाती है।

(४) द्विधातु-चलन में किसी भी धातु के बाजार-मूल्य में अन्तर हो जाने से वास्तविक-मूल्य में भी अन्तर हो जाता है, इसलिए अधिक मूल्य वाली धातु का सिक्का तो अच्छा और कम मूल्य वाली धातु का सिक्का बुरा होता है।

यह स्मरण रहे कि ग्रेशम ने 'अच्छी' और 'बुरी' मुद्रा का तुलनात्मक-रूप में प्रयोग किया है। अब प्रश्न यह उठता है कि बुरे सिक्के अच्छे सिक्कों को चलन से बाहर कैसे निकाल देते हैं? यह तीन प्रकार से होता है।

(क) अधिकतर मनुष्यों में मुद्रा जमा करने की प्रवृत्ति होती है। वे या तो उसे गाड़कर रखते हैं या तिजोरी में बन्द कर देते हैं। इस कार्य्य के लिए मनुष्य सबसे अच्छी अर्थात् नये चमकदार सिक्कों की या अच्छे या साफ कागजी-नोटो की खोज में रहते हैं। उन्हे इस प्रकार की जितनी भी मुद्रा मिलती है उसे जमा (hoard) कर लेते हैं और पुराने सिक्को या पुराने गदे कागजी-नोटों को चलाते रहते हैं। इस प्रकार बाजार से नये सिक्के गायब हो जाते हैं। इसी प्रकार बुरी-मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है।

(ख) जो व्यक्ति बहुमूल्य-धातुओं का व्यापार करते हैं, जैसे सुनार, जौहरी आदि, वे सिक्को को गलाकर साधारण धातु के रूप में बदल देते हैं और बेच देते हैं या, गहने बना लेते हैं। वे इस कार्य्य के लिए केवल पूरे वजन के सिक्के ही चुनते हैं क्योकि नये सिक्को में ही धातु की पूरी मात्रा होती है। पुराने सिक्कों से धातु की मात्रा कम हो जाती है क्योंकि वे चलते-चलते घिस जाते हैं। इसलिए ऐसे सिक्को को गलाने में लाभ की अपेक्षा हानि ही होती। इस प्रकार नये व अच्छे सिक्के गलाने के काम में आने के कारण बाहर निकल जाते हैं और पुराने सिक्के चलते रहते हैं।

(ग) भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न मुद्रा प्रणालियाँ होती है, भाँति-भाँति के सिक्के चलते हैं। इसलिए विदेशी भुगतानों में कभी भी देशी-मुद्रा का प्रयोग नहीं होता, केवल बहुमूल्य-धातुएं जैसे सोना और चाँदी ही इस काम में लाई जाती हे। यदि सिक्को का प्रयोग होता भी है तो उनके धात्विक-मात्रा के अनुसार। इसलिए विदेशी भुगतानो के लिए सबसे अच्छी मुद्रा चुन ली जाती हैं जो विदेशों को भेज दी जाती है, और बुरी मुद्रा देश में चलती रहती है। विदेशी भुगतान के कारण भी बुरी

मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है ।

ग्रेषम ने जो नियम की परिभाषा दी है उससे ज्ञात होता है कि यह नियम केवल एक-धातुमान में ही लागू होता है। पर अनुभव यह बताता है कि इस नियम का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यह नियम निम्न परिस्थितियों मे लागू होता है—

(क) एक धातुमान में,
(ख) द्वि-धातुमान में,
(ग) धात्विक और कागजी-मुद्रा के एक साथ चलन में और
(घ) कागजी-मुद्रा में ।

(क) **एक धातुमान-प्रणाली में**—दो अवस्थाएँ हो सकती हैं। एक तो वह अवस्था जबकि केवल प्रामाणिक-सिक्के ही प्रचलित हो, और दूसरी वह अवस्था जब प्रामाणिक-सिक्को के साथ-ही-साथ साकेतिक-सिक्के भी चलन में हो। दोनों ही दशाओं में ग्रेषम का नियम लागू होता है। पहली दशा में जो सिक्के पुराने चल रहे होगे उनके घिस जाने के कारण धातु में ह्रास होगया होगा और जो सिक्के नए चलाए जायेंगे उनमें धातु की मात्रा पूरी होगी, अर्थात् पुराने सिक्को की अपेक्षा नये सिक्कों में धातु की मात्रा कम होगी इसलिए मनुष्य नये सिक्को की जगह पुराने सिक्के चलाने का प्रयत्न करेंगे, जिसके कारण बाजार में केवल पुराने सिक्को का ही चलन रहेगा और नये सिक्के लोगो के पास जमा हो जावेंगे। दूसरी दशा में अर्थात् जब प्रामाणिक और साकेतिक दोनों ही प्रकार के सिक्के साथ-साथ चल रहे हो तो साकेतिक-सिक्कों का धात्विक-मूल्य प्रामाणिक-सिक्को की अपेक्षा बहुत कम होगा। इसलिए सभी लोग प्रामाणिक-सिक्कों को ही व्यक्तिगत कामों में लावेंगे और साकेतिक सिक्को को बाजार में चलाते रहेंगे। इस प्रकार एक-धातुमान में बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है। इसके अतिरिक्त कुछ लोग नये सिक्को को उनकी चमक के कारण भी रख लेते हैं।

भारत में भी रजतमान मे इस नियम का उदाहरण मिलता है। जिस समय विक्टोरिया और जार्ज षष्टम (George VI) के रुपये साथ-साथ चल रहे थे उस समय लोगो ने विक्टोरिया के रुपयो को चाँदी की मात्रा अधिक होने के कारण जमा करना तथा गलाना आरम्भ कर दिया था।

(ख) **द्विधातुमान में**—दो धातुओ के प्रामाणिक सिक्के एक साथ चलते हैं। अधिकतर सोने और चाँदी का ही इसमें प्रयोग होता है। इन दोनो सिक्को की पारस्परिक-विनिमय-दर विधान द्वारा निश्चित कर दी जाती है और दोनो सिक्कों को कानूनी-ग्राह्य घोषित कर दिया जाता है। परन्तु किसी भी धातु के अधिक आयात व निर्यात होने पर या देश में जनता की माँग बढने से यदि मूल्य में अन्तर हो जावे तो दोनो सिक्को की बाजार की विनिमय-दर और टकसाली विनिमय-दर में अन्तर हो जावेगा। दूसरे शब्दो में एक धातु का मूल्य दूसरी की अपेक्षा अधिक हो जावेगा। जिस धातु का मूल्य अधिक हो जावेगा, उसी के सिक्के गला-गलाकर धातु के रूप में बाजार में बिक जावेंगे और सिक्कों के रूप में चलन से बाहर निकल जायेंगे। इसके

विपरीत कम मूल्य वाली धातु के सिक्के चलते रहेंगे। इसका सबसे अच्छा उदाहरण फ्रांस और अमेरिका के धातु-चलन-इतिहास से मिलता है जब कि दोनों द्विधातुमान पर थे।

(ग) धात्विक और कागजी मुद्रा के एक साथ चलन में—जब धात्विक मुद्रा के साथ-साथ कागजी-मुद्रा भी चलन में होती है, तब कागजी-मुद्रा में धात्विक-मुद्रा की अपेक्षा कुछ भी मूल्य न होने के कारण कागजी-मुद्रा चलन में रहती है और धात्विक-मुद्रा चलन के बाहर निकल जाती है। इसका उदाहरण प्रथम महायुद्ध के काल में यूरोप के देशों के चलन-इतिहास में मिल सकता है जबकि कागजी-नोटों ने इंगलैंड में सोवेरेन (Sovereign) को और जर्मनी में मार्क्स (Marks) को चलन से बाहर निकाल दिया था।

(घ) कागजी-मुद्रा में—यदि देश में केवल कागजी-मुद्रा का ही चलन है तब भी ग्रेषम के नियम के लागू होने की प्रवृत्ति होगी। यदि एक ही प्रकार के नोट चल रहे हैं तो पुराने फटे हुए नोट बुरी मुद्रा और नये साफ नोट अच्छी मुद्रा गिने जावेंगे। जनता नये नोटों को जमा करेगी और पुराने नोटों को चलन में रक्खेंगी। इसके अतिरिक्त, प्रतिनिधि-मुद्रा अच्छी-मुद्रा के कारण चलन से बाहर निकल जावेगी। यदि परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय मुद्राएं एक साथ चल रही हैं तो ऐसी दशा में अपरिवर्तनीय-मुद्रा बुरी होने के कारण चलन से परिवर्तनीय-मुद्रा को बाहर निकाल देगी और अन्त में यदि अपरिवर्तनीय कागजी-मुद्रा के साथ कुछ आज्ञा-प्राप्त कागजी-मुद्रा भी चल रही हो, तो आज्ञा-प्राप्त-मुद्रा विश्वास के अभाव में बुरी मुद्रा होगी जो कि साधारण अपरिवर्तनीय-मुद्रा को चलन से बाहर निकाल सकती है।

नियम की सीमाएँ (Limitation to the Law)

कुछ लोगों का विचार है कि ग्रेषम का नियम वास्तव में अधिक सामान्य-प्रवृत्ति का एक सीमित वर्णन है। उस समाज में जहाँ प्रतियोगिता करना एक अधिकार है हर व्यक्ति प्रत्येक आर्थिक-सेवा के लिए ऐसे साधन का प्रयोग करने का निरंतर प्रयत्न करता है जिससे उसे अधिकतम लाभ प्राप्त होता हो। मुद्रा के सम्बन्ध में यह बिलकुल ही सत्य है किन्तु कैनन इसे केवल अल्पकालीन प्रवृत्ति ही बताता है। उसका कहना है कि यह नियम दीर्घकाल में लागू नहीं होता। एक बार उसने कहा था कि "मै विश्वास करता हूँ कि मैने कुछ समय पूर्व कुछ व्यक्तियों को यह कहकर ठेस पहुँचाई थी कि यह झूठ है कि दीर्घ काल में बुरी मुद्रा अच्छी-मुद्रा को बाहर निकाल देती है। किन्तु मै बिलकुल ठीक था। अच्छी-मुद्रा अन्त में बुरी मुद्रा को पराजित कर देती है, चाहे बुरी मुद्रा पद्मों की संख्या में ही क्यों न हो।[१]"

---

१. "I believe I shocked some people a little time ago by saying that it was false in the long run that bad money drives out good-money, but it was perfectly right. Good money does in the

इस नियम की भी अन्य आर्थिक-नियमों की भांति कुछ सीमाएँ हैं। इसीलिए मार्शल ने नियम की परिभाषा देते समय 'यदि परिमाण में सीमित नहीं है तो' शब्दों का प्रयोग किया है। मार्शल का विश्वास है कि यह नियम लागू अवश्य होता है परन्तु यह कुछ सीमाओं के अन्दर ही लागू होता है। इन्हीं सीमाओं के कारण कुछ लेखकों ने इसे एक प्रवृत्ति कहा है। इस नियम की सीमाएँ निम्नप्रकार हैं :—

(१) यह नियम हर मुद्रा में लागू नहीं होता जैसे एक धातुमान में यह केवल प्रामाणिक-सिक्कों पर ही लागू होता है। परन्तु सांकेतिक सिक्के इसके क्षेत्र से बिलकुल बाहर होते हैं।

(२) यदि देश में मुद्रा की मात्रा (अच्छी और बुरी दोनो मुद्राओं को मिलाकर) देश की व्यापारिक, व्यावसायिक एव वाणिज्य-सम्बन्धी-आवश्यकताओं से अधिक नहीं है तो यह नियम लागू नहीं होगा। वास्तव में मुद्रा की आवश्यकता एक विनिमय के माध्यम के लिए ही होती है। इसलिए हर देश में आर्थिक उन्नति की दृष्टि से विनिमय की सुविधा के लिए मुद्रा की एक न्यूनतम-मात्रा अवश्य होनी चाहिए। यदि मुद्रा की मात्रा कम है तो कोई भी व्यक्ति अपने व्यापार आदि की आवश्यकताओं का परित्याग करके मुद्रा जमा करना नहीं चाहेगा और अच्छी और बुरी दोनों मुद्राएँ चलती रहेंगी। किंतु यदि मुद्रा का परिमाण चलन आवश्यकताओं से अधिक हो जाता है तो लोगों को अच्छी मुद्रा दबाने का प्रलोभन मिल जावेगा और इस प्रकार अच्छी मुद्रा चलन से बन्द होने लगेगी।

(३) यदि जनता बुरी-मुद्रा को ग्रहण करना बन्द कर दे तो बुरी मुद्रा अच्छी मुद्रा को चलन से बाहर नहीं निकाल सकती। इसका सबसे अच्छा उदाहरण अमेरिका के 'ग्रीनबक्स' (Green backs) का है। सन् १८६१–६५ ई० में इन अपरिवर्तनशील-नोटों को कैलीफोर्निया की जनता ने लेने से इनकार कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि जबकि अन्य अमेरिकन राज्यों में कागज के नोट चालू रहे, पर कैलिफोर्निया में सोने के सिक्के ही चलते रहे।

(४) यदि बुरी-मुद्रा इतनी बुरी हो चुकी है कि लोग उसे स्वीकार ही नहीं करते हैं तो स्वयं ही उस मुद्रा का चलन बन्द हो जावेगा। खराब नोट एवं बहुत अधिक घिसे सिक्के खजाने से अच्छे सिक्कों में बदल लिए जावेंगे और ग्रेषम का नियम लागू नहीं होगा।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय-धातुमान में भी यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि क्षति-पूरक-क्रिया (Complimentary Action) के कारण उसके बाजार के अनुपात और टकसाली अनुपात में समानता रहती है।

(६) सांकेतिक-सिक्कों के सम्बन्ध में उनकी मात्रा सीमित होने के कारण यह नियम लागू नहीं होता, क्योंकि एक तो सांकेतिक-मुद्रा की निकासी पर सरकार का

---

end Overcome bad, even when the bad is numbered by trillions" Cannan an Economist's protest 1927 Page 391

नियंत्रण होता है और दूसरे देश के सारे भुगतान बुरी-मुद्रा में ही नही होगे, बल्कि कुछ अच्छी-मुद्रा में भी होगे। इसलिए अच्छी-मुद्रा चलन से बाहर नही निकलेगी।

(७) जनता मुद्रा का संचय जब घर पर करती है तब बुरी मुद्रा बड़ी आसानी से अच्छी-मुद्रा को चलन से बाहर निकाल देती है क्योकि वह चुन-चुनकर अच्छे सिक्के रखेगी। परन्तु जब बैंको में धन जमा कराने की सुविधा मिलती है या विनियोग के अन्य साधन प्राप्त होते हैं तब अच्छी और बुरी दोनो मुद्रा बैंक में जमा होगी या प्रतिभूतियाँ (Securities) खरीदने में जायेंगी, क्योंकि बैंक मुद्रा को अंकित-मूल्य पर ग्रहण करते हैं। इस प्रकार बैंक-निक्षेप के विषय में यह नियम लागू नही होगा।

आधुनिक काल में इस नियम की सत्यता के ज्ञान के बाद ही सरकारो ने पुराने-सिक्को को बन्द करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया। भारतवर्ष में ही देखिए कि द्वितीय महायुद्ध में सरकार ने ग्रेशम के नियम को लागू होने से रोकने के लिये ही विक्टोरिया व एडवर्ड सप्तम के प्रमाणिक-चादी के रुपयो को १ अप्रैल १९४१ ई० को और अठन्नी को ३१ मई सन् १९४२ को बन्द कर दिया। इसके पश्चात सचय करने की प्रवृत्ति को रोकने लिए जार्ज पञ्चम और षष्ठ के रुपयो और अठन्नी को १ मई सन् १९४३ ई० को बन्द करके अन्त में सन् १९४६ ई० में चादी के रुपयों की इकाई ही बन्द कर दी, और सन् १९४७ ई० में गिलट का रुपया, अठन्नी और चवन्नी निकालना आरम्भ कर दी।

मार्शल ने तो केवल ग्रेशम[1] की स्वयं दी हुई परिभाषा में सशोधन किए और इस नियम के क्षेत्र को विस्तृत करने का प्रयत्न किया, परन्तु किनले (Kinley[2]) ने इन सीमाओ को ध्यान में रखकर एक बिलकुल अलग परिभाषा दी। परन्तु यह परिभाषा बहुत बड़ी है। साधारणतया ग्रेशम का नियम भी अन्य आर्थिक-नियमो की भाँति केवल एक प्रवृत्ति को ही दिखाता है और इसीलिए इसकी भी सीमाएँ हैं। यह मनुष्य की उस प्रवृत्ति पर आधारित है कि जब कभी मनुष्य कोई चीज स्वय लेना चाहता है तो वह हमेशा सबसे अच्छी चीज लेता है और जब दूसरे को देना चाहता है तो सबसे खराब चीज देता है।

---

१. In the Royal proclamation the law was stated thus :
"If coins of the same metal but varying weight and quantity circulate together at the same nominal value the worse coins will drive the better from circulation but the better will never drive out the worse."

२. In view of these limitations, Kinley states the law in a more comprehensive form as "If more than one form of money is legally usable in a country and if one of these is more valuable for some other use than it is for making exchange then the inferior portion of currency will supplement the superior to the extent that the two portions together exceed the need for currency in the country provided that public-opinion or any other economic-force does not interfere with the operation of self interest of dealers in money."

नवाँ अध्याय

भारत में मुद्रा-प्रणाली

भारतीय मुद्रा प्रणाली के अध्ययन को अधिक सुविधाजनक बनाने के लिये उसके ऐतिहासिक विकास को हम निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं :—

(१) प्रथम महायुद्ध के पूर्व	१८३५ से १९१४ तक
(२) प्रथम महायुद्ध में	१९१४ से १९१९ तक
(३) प्रथम महायुद्ध के पश्चात्	१९१९ से १९२६ तक
(४) द्वितीय महायुद्ध के पूर्व	१९२७ से १९३९ तक
(५) द्वितीय महायुद्ध में	१९३९ से १९४५ तक
(६) द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्	१९४५ से १९५५ तक

प्रथम महायुद्ध के पूर्व (सन् १८३५ से सन् १९१४ तक)

भारतवर्ष मे मुद्रा का उपयोग कब से प्रारम्भ हुआ, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता, परन्तु प्राचीन इतिहास में बहुत से ऐसे प्रमाण मिलते हैं जिनसे यह निश्चित हो जाता है कि मुद्रा का प्रयोग वैदिक काल में भी होता था। वेदो, मनुस्मृति और शिलालेखों में मुद्रा के उपयोग का वर्णन मिलता है । वैदिक काल में अधिकतर वस्तु-विनिमय प्रचलित था, यद्यपि कुछ लोगो ने सिक्के ढालना भी शुरू कर दिया था। मुसलमान बादशाहों ने तो अपने समय में अनेकों प्रकार के सिक्के चलाये। मुहम्मद तुगलक ने तो साकेतिक सिक्को और कागजी नोटो का भी प्रयोग किया था। जिन भागो में ईस्ट इंडिया कम्पनी का शासन था, उनमें कम्पनी ने अपने सिक्कों को चलाया था, परन्तु इस काल मे सिक्कों में अनुरूपता का अभाव था; सिक्को की मात्रा और शुद्धता में भी अन्तर था। इसके अतिरिक्त अनेकों धातुओं के सिक्के चलन में होने के कारण बहुत भिन्नता थी। सन् १८३५ तक द्विधातुमान (Bimetallism) स्थापित था और सोने चादी के सिक्को का प्रचलन था, परन्तु उनको तोलने और परखने में जनता को बड़ी कठिनाई होती थी।

सबसे पहली बार सिक्को में अनुरूपता लाने का प्रयत्न ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा किया गया और चांदी के सिक्के (रुपये) को प्रमाणित सिक्का घोषित कर दिया। इस रुपये में १६५ ग्रेन चांदी थी परन्तु इसका वजन १८० ग्रेन था। सोने के सिक्के कानूनी ग्राह्य नही थे। इस प्रकार पूर्णतया रजतमान स्थापित हो गया था। रुपये की स्वतन्त्र ढलाई थी और चादी का मूल्य सोने में घोषित कर दिया गया था, परन्तु सोने और चांदी के बीच कोई निश्चित अनुपात नही था। यह अनुपात सोने और चादी के मूल्यो में परिवर्तनो के साथ बदलता रहता था। सन् १८६६ में मैंसफील्ड कमीशन (Mansfield Commission) ने सोने को भी कानूनी

ग्राह्य बनाने की सलाह दी। इन सिफारिशो के अनुसार भारतवर्ष में स्वर्णमान स्थापित करने का प्रयत्न किया गया परन्तु ससार में चादी की पूर्ति बढ जाने और सन् १८७३ में लैटिन संघ[1] (Latin Union) के स्वर्णमान स्थापित करने से चांदी का सोने में मूल्य गिरने के कारण भारत में स्वर्णमान स्थापित करने का प्रयत्न सफल नही हो सका। सन् १८७३ से लगभग १८९३ तक चादी के मूल्य ४०% गिर गये। जिसके कारण १८९३ में रुपये की विनिमय दर गिरकर एक शिलिंग ३ पेंस रह गई थी। उसके परिणाम बड़े भयंकर हुए। लोगों ने सस्ती चादी खरीद कर उसके सिक्के ढलवा शुरू कर दिया। चलन में सिक्को की मात्रा बढने से कीमतें भी ऊँची हो गई। सन् १८७३ से सन् १८९३ तक कीमतो में लगभग २९% वृद्धि हुई। इसके बहुत बुरे परिणाम हुए। वेतनजीवी लोगो को हानि हुई। विदेशी व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव पडा। विदेशी पूंजी की आयात घटने से देश के आर्थिक विकास को बहुत धक्का पहुँचा। घरेलू खर्चो (Home Charges) के भुगतान में भारतीय मुद्रा अधिक मात्रा में बाहर जाने लगी। सरकार ने करो में वृद्धि कर दी और बजटो को संतुलित करने का प्रयास किया परन्तु सारे प्रयत्न निष्फल रहे। अन्त में चिन्तित होकर भारत सरकार ने सन् १८९२ में हरशैल कमेटी (Herschell Committee) की नियुक्ति की और सारी स्थिति को उसके सामने रखा।

हरशैल कमेटी के सुझाव

भारत सरकार ने 'हरशैल कमेटी' को मुख्यत. तीन समस्याओं पर विचार करने के लिये नियुक्त किया था। सर्व प्रथम प्रश्न था कि क्या स्वर्णमान स्थापित करने के लिये भारतवर्ष में चांदी के रुपयो की स्वतन्त्र सिक्का ढलाई बन्द कर दी जाय? दूसरा, क्या भारत में सोने के सिक्को को चलन में लाना ठीक रहेगा? और तीसरा, क्या रुपये की स्टर्लिंग विनिमय दर घटाकर १ शिलिंग ६ पेंस कर दी जाय?

उपरोक्त समस्याओं पर विचार करके कमेटी ने सन् १८९३ में अपने प्रस्ताव सिक्का ढलाई नियम (Coinage Act) के रूप में रक्खे। इसके अनुसार :—

(१) चादी की स्वतन्त्र मुद्रा ढलाई बन्द कर दी गई। भारत सरकार अपने खर्चे से सिक्के ढलवा सकती थी। इस व्यवस्था के लिये तीन आदेश दिये गये थे—

(क) टकसालों पर प्रस्तुत किये गये सोने के बदले में १६ पेंस फी रुपये की दर से रुपये दिये जा सकते थे।

(ख) उपरोक्त दर पर ही सरकार करो का भुगतान और सरकारी भुगतानो के बदले सावरेन (Sovereign) स्वीकार कर सकती थी। और

(ग) उपरोक्त दर पर सोने के सिक्को की जगह नोट छापे जा सकते थे।

उपरोक्त आदेशो के कई उद्देश्य थे। पहला, रुपये के गिरते हुए विनिमय मूल्य को रोकना था। दूसरा, विदेशी पूँजी के आयात को प्रोत्साहन देना था। तीसरा, सावरेन के प्रयोग से जनता को परिचित कराना था और चौथा, चादी के आयात

१—लैटिन संघ में फ्रास, बेल्जियम, स्विटजरलैण्ड और इटली थे।

को रोकना था और इस प्रकार देश में बिना सोने के सिक्के चालू किये स्वर्णमान स्थापित करना था। १६ पैंस की दर चुनने के भी कई उद्देश्य थे—इस दर से सावरेन पूर्णरूप से १५ रुपये के बराबर हो जाता था और दूसरे, यही दर १८३५ में भी थी। एक अन्य कारण यह भी था कि एक रुपये में १६ आने होने के नाते एक आना बड़ी सुगमता पूर्वक एक पैंस के बराबर हो जाता था।

फाउलर कमेटी

सन् १८९३ के सिक्का ढलाई कानून के प्रभाव से धीरे-धीरे रुपये की विनिमय दर जनवरी सन् १८९८ में फिर १ शिलिंग ४ पैंस के लगभग हो गई। सन् १८९३ से सन् १८९८ तक भारतीय मुद्रा प्रणाली में जो उतार चढ़ाव हुए उनके अध्ययन के हेतु और सन् १८९३ के कानून के अनुसार विनिमय में स्थिरता प्राप्त करने के लिये भारतीय सरकार ने अप्रैल सन् १८९८ में एक समिति सर हैनरी फाउलर (Sir Henry Fowler) की अध्यक्षता में नियुक्त की। इस समिति ने निम्नलिखित सुझाव दिये—

(१) रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर १ शिलिंग ४ पैंस पर स्थिर रहनी चाहिये।

(२) भारत में ब्रिटिश सावरेन चलन में होना चाहिये और उसको असीमित कानूनी ग्राह्य कर देना चाहिये। सावरेन का चलन और ढलाई भारत और इंगलैण्ड दोनों ही देशों में होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त सोने की ढलाई भी स्वतन्त्र होनी चाहिये।

(३) समिति का यह भी प्रस्ताव था कि यद्यपि रुपये को सांकेतिक सिक्का (Token Coin) रखा जाय तथापि उसको असीमित कानूनी ग्राह्य ही रहना चाहिये। रुपये की ढलाई बन्द कर देनी चाहिये, उस समय तक के लिये जब तक सोना एक निश्चित सीमा से ऊपर वास्तविक चलन में न आ जाय।

(४) विनिमय दरों में स्थिरता लाने के लिये भारत में एक सोने का संचित कोष होना चाहिये।

(५) रुपये की ढलाई से जो लाभ प्राप्त हो उसे एक विशेष सुरक्षित कोष के रूप में अलग रखना चाहिये और इस कोष का अन्य कागजी मुद्रा कोष तथा साधारण कोषागार रोकों (Treasury Balances) से कोई सम्बन्ध नहीं होना चाहिये।

(६) शाही टकसाल (Royal Mint) की तीन शाखें जिन नियमों पर आस्ट्रेलिया में खुली हैं उन्हीं नियमों पर भारतवर्ष में भी सोने की स्वतन्त्र ढलाई के लिये टकसालें खुल जानी चाहिये।

'फाउलर कमेटी' के द्वारा दिये गये सुझावों को भारतीय सरकार ने मान लिया। सावरेन को कानूनी ग्राह्य घोषित कर के स्वर्णमान कोष स्थापित कर दिया गया और सोने के सिक्कों की ढलाई का भी उचित प्रबन्ध कर दिया गया। फाउलर कमेटी की सिफारिशों को पूर्णतया स्वीकार करते हुए भारतीय सरकार ने स्वर्ण मुद्रा-

मान स्थापित करने का पूर्ण प्रयत्न किया परन्तु सफल न हो सकी। सन् १६०० में फिर से रुपये की ढलाई आरम्भ की गई और कागजी मुद्रा कोष का एक भाग सन् १६०२ में स्थाई रूप से रुपये की ढलाई के लिये लन्दन भेज दिया गया। इसके अतिरिक्त सरकार ने यह भी घोषणा की कि रुपया केवल विदेशी कार्यों के लिये ही सावरेनों में बदला जायगा। देश के आन्तरिक कार्यों के लिये मुद्रा को सोने में बदलने की सुविधा नही प्रदान की गई थी। इस प्रकार देश में स्वर्ण विनिमय मान या कुछ व्यक्तियों के अनुसार स्टर्लिंग विनिमय मान स्थापित हो गया था।

इस सम्बन्ध में स्वर्ण विनिमय मान की कार्य प्रणाली जान लेना बहुत आवश्यक है। जब व्यापार का संतुलन भारत के पक्ष मे होता था अर्थात् जब अंग्रेजी आयात-कर्त्ता (Importer) भारतीय निर्यात-कर्त्ता (Exporter) को भारत में भुगतान करना चाहता था तब भारत मंत्री (Secretary of State for India) १ शिलिंग ४$\frac{1}{8}$ पैस (भारतीय स्वर्ण आयात बिन्दु Indian Gold Import Point) की दर पर उस भुगतान को स्वयं स्वीकार करके भारत सरकार के नाम काउन्सिल बिल (Council Bill) भेज दिया करता था। काउन्सिल बिल वह आज्ञा पत्र होते थे जो भारतीय मंत्री भारत सरकार के नाम में लिखता था और जिसमें लिखित रकम के भुगतान करने की आज्ञा दी जाती थी। यह रकम उधर इगलैण्ड में कागजी मुद्रा कोष में जमा कर दी जाती थी और भारत में उसी के अनुसार मुद्रा चलन में वृद्धि हो जाती थी इसके विपरीत यदि व्यापार संतुलन (Balance of Trade) भारत के विपक्ष में होता था। तो भारतीय सरकार एक शिलिंग ३$\frac{29}{32}$ पैस (भारतीय स्वर्ण निर्यात बिन्दु Indian Gold Export Point) की दर से स्वयं इस भुगतान को स्वीकार कर लेती थी और भारत मत्री पर रिवर्स काउन्सिल बिल (Reverse Council Bill) भेज देती थी। यह वह आज्ञापत्र होते थे जिसमें भारतीय सरकार भारतीय मंत्री को स्टर्लिंग देने की आज्ञा देती थी। इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान की भारत में प्रस्थापना हुई। इस मान की चार मुख्य विशेषतायें थी:—

(१) देश के अन्दर सोने के सिक्को का प्रचलन न होकर केवल कागजी नोट और चादी के रुपये प्रचलित थे। इसके अतिरिक्त सावरेन भी एक सीमित मात्रा में प्रचलन में था। इनके साथ-साथ छोटे-छोटे साकेतिक सिक्के भी चलन में थे।

(२) एक शिलिंग ४ पैस की दर पर रुपया केवल विदेशी कार्यों के लिये ही सोने में परिवर्तनशील था।

(३) भारतीय सरकार ने एक निश्चित विनिमय दर पर विदेशी विप्रेषण (Remittances) को देशी मुद्रा के बदले सोने में भेजने की भी व्यवस्था की गई थी।

(४) इस मान में भी दो कोष रक्खे गये थे जिनमें रुपयों का कोष तो भारत में था और स्टर्लिंग का इगलैण्ड में।

इस प्रकार स्वर्ण विनिमय मान स्थापित तो हो गया परन्तु इसकी बड़ी कड़ी आलोचना हुई, जिसके कारण सन् १६१३ में चैम्बरलेन कमीशन (Chamberlain Commission) भारतीय सरकार द्वारा नियुक्त किया गया। इस समिति ने भार-

तीय मुद्रा और विनिमय की जाच की और भारतीय सरकार के उन प्रयत्नो की सराहना की जो उसने रुपये के विनिमय मूल्य को स्थिर करने के सम्बन्ध में किये थे, और अपने सुझाव निम्न प्रकार दिये:—

(१) समिति के विचार में भारत के लिये सबसे उपयुक्त मान स्वर्ण विनिमय मान ही था।

(२) यद्यपि भारत में सोने के सिक्को की ढलाई के लिये किसी टकसाल की आवश्यकता न थी फिर भी समिति का विचार था कि यदि सरकार सिक्का ढलाई का खर्चा उठाने को तैयार हो तो देश में सावरेन और अर्द्ध-सावरेन की ढलाई के लिये एक टकसाल स्थापित की जा सकती है।

(३) स्वर्णकोष की सीमा में वृद्धि की जा सकती है और यह कोष लन्दन में रखा जाना चाहिये।

(४) समिति की राय में स्वर्ण कोष की चादी वाली शाखा बंद कर देनी चाहिये।

(५) भारतीय विनिमय दरो के गिरने की दशा में भारत सरकार को इस बात का पूर्ण आश्वासन देना चाहिये कि वह रिजर्व कांउसिल बिलों (Reserve Council Bills) को १ शिलिंग ३$\frac{29}{32}$ पैंस की दर पर बेच देगी।

(६) कागजी मुद्रा प्रणाली को अधिक लोचपूर्ण बनाने के लिये समिति ने नोटो के अरक्षित भाग (Fiduciary Issue) की सीमा को १४ करोड़ रुपये की सीमा से बढाकर २० करोड रुपये कर देने का सुझाव दिया।

महायुद्ध में

इस प्रकार देश मे स्वर्ण विनिमय मान ही का सुझाव चैंबरलेन कमीशन द्वारा दिया गया था परन्तु समिति की सिफारिशो को कार्यान्वित करने का अवसर भी न मिल पाया था कि प्रथम महायुद्ध का श्रीगणेश हो गया। इस महायुद्ध ने व्यापार और व्यवसाय को नष्ट करके और भविष्य को अनिश्चित बनाकर अन्य देशों की भांति भारत मे भी भय की स्थिति उत्पन्न कर दी थी। लोगो ने कागजी नोटो को सोने में बदलने की मांग करनी और बंको में जमा धन भी वापस लेना आरम्भ कर दिया था। इन मांगो को पूरा करने मे सरकार ने सफलता प्राप्त कर ली, जिसके कारण लगभग ९० लाख पौंड के विपरीत काउन्सिल बिल (Reverse Council Bill) सरकार को बेचने पड़े और लगभग ८ लाख पौंड की कीमत का सोना भी देना पड़ा। यह सब केवल युद्ध आरम्भ होने के एक वर्ष के अन्दर ही हुआ। परन्तु युद्ध के पश्चात् इसके प्रभाव और भी अधिक दीखने लगे। व्यापार सतुलन भारत के पक्ष में हो गया क्योंकि एक तो इंगलैंड के युद्ध सामग्री उत्पन्न करने में लग जाने के कारण भारतीय आयात बहुत कम हो गया था और दूसरे, भारत से खाद्यान्न और कच्चा माल मित्र देशो को भेजा जाने लगा। इन सब का प्रभाव यह हुआ कि भारतीय मुद्रा की मांग बहुत बढ गई जिसको पूरा करने के लिये भारतीय सरकार ने कागजी मुद्रा का प्रच-

लन किया। अभी सरकार मुद्रा सम्बन्धी कठिनाइयों से मुक्त भी न हो पाई था कि चांदी की कीमतें बढने लगी। विनिमय दर बराबर बढती गई और सन् १९१७ में १ शि० ५ पैंस से सन् १९१९ में २ शि० ४ पैं० हो गई। चादी की सिक्का ढलाई बिल्कुल बन्द कर दी गई। इधर सोने के मूल्यो पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। इंगलैंड को भी स्वर्णमान स्थगित करना पडा। सोने और चांदी के अभाव में भारतीय सरकार को लाचार होकर अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा बहुत अधिक मात्रा में छापना पडा और इस प्रकार युद्ध से पूर्व का स्वर्ण विनिमय मान युद्धकाल में टूट गया।

युद्ध समाप्त हुआ, परन्तु कठिनाइयां ज्यों की त्यों रही। भारत का व्यापाराधिक्य (Balance of Trade) अब भी पक्ष मे ही था। यद्यपि निर्यात में कुछ कमी अवश्य हो गई थी फिर भी भारतीय चीजो की अब काफी माँग थी जिसके कारण चांदी की कीमतें अब भी बराबर बढती चली जा रही थी। सरकार कागजी मुद्रा को चांदी से बदलने मे असमर्थ थी। मुद्रा स्थिति की पूर्ण जांच करने की आवश्यकता का अनुभव करके एक समिति की नियुक्ति और की। यह समिति मई, सन् १९१९ मे बैंबिगटन स्मिथ की अध्यक्षता में नियुक्त की गई थी।

यद्यपि समिति स्वर्णमान के पक्ष में थी परन्तु सोने की कमी देखकर उसने स्वर्ण विनिमय मान स्थापित करने का सुझाव दिया। इसके अतिरिक्त उसकी राय यह भी थी कि यदि जनता सोने के सिक्कों के पक्ष में हो तो वे तुरन्त चालू कर दिये जाय और दस रुपया फी सावरेन की दर पर भारत में सावरेन को भी कानूनी ग्राह्य बना दिया जाय। समिति ने इतनी ऊँची दर कई कारणों से निश्चित की थी—समिति का यह विश्वास था कि चादी का मूल्य नही गिरेगा इस लिये इस दर पर रुपया फिर एक बार सांकेतिक सिक्का बन जायगा और सरकार फिर सरलता से प्रचलित मुद्रा पर नियंत्रण कर सकेगी। समिति का यह भी अनुमान था कि इस अनुपात में जो कीमतों में वृद्धि होगी उससे निर्धन वर्ग के लोगो की कठिनाई कम हो जायगी। इसके अतिरिक्त भारतीय उत्पादकों को भी विशेष लाभ होने की सम्भावना थी क्योकि बाजार से मगाया गया माल सस्ती कीमतो पर आयगा और साथ ही साथ मजदूरी की दर भी गिर जायगी। यद्यपि मूल्य बढने से निर्यात व्यापार के घटने की सम्भावना थी तथापि समिति ने सोचा कि कच्चा माल और खाद्य पदार्थों का संसार में अभाव है। इसलिये भारतीय वस्तुओं की मांग विदेशो में कम नही होनी चाहिये। इस अनुपात से सरकार को भी लाभ था क्योकि घरेलू खर्चों (Home Charges) के भुगतान में १२ करोड़ रुपये की बचत होती थी।

इसमें से अधिकतर सुझाव सरकार ने स्वीकार कर लिये परन्तु दुर्भाग्यवश देश का वातावरण ही बिल्कुल बदल गया था। सोने के मूल्य एकदम चढ गये थे और सरकारी कोषों में भी स्वर्ण आना बिल्कुल बन्द हो गया था। आन्तरिक मूल्य स्थाई रूप से ऊंचे थे और व्यापारिक सन्तुलन भी विपक्ष में होने के कारण विदेशी विनिमय बहुत दुर्बल हो गया था। इस गिरती हुई स्थिति को सरकार ने विपरीत काउंसिल बिलो (Reverse Council Bills) बेचकर सुधारना चाहा परन्तु स्थिति उलझती

हो गई। जो ब्रिटिश पूंजी भारत में लगी हुई थी, उसको निकाल कर ऊँची विनिमय दर से लाभ प्राप्त करने के लिये इंगलैण्ड भेज दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि २ शिलिंग की दर न रह सकी और एक शिलिंग से नीचे गिर गई। यद्यपि सन् १९२२ और सन १९२५ के बीच में कोई कानूनी मुद्रा-मान नहीं था तथापि सरकार ने रुपये के स्टर्लिंग मूल्य को फिर १ शिलिंग ६ पेंस पर ही बनाये रखने का प्रयत्न किया।

हिल्टन यंग कमीशन

प्रथम महायुद्ध के पश्चात संसार भर की अर्थव्यवस्था में काफी परिवर्तन हुए और इसमें घोर अनिश्चितता और अस्थिरता आ गई। इसको दूर करने के लिये भारत सरकार ने २ शिलिंग की विनिमय दर को स्थगित करके रुपये को अपनी सही विनिमय दर ढूढने के लिये स्वतन्त्र छोड़ दिया। सन १९२५ के अन्त तक इंगलैण्ड के स्वर्णमान स्थापित कर लेने के कारण संसार की आर्थिक व्यवस्था स्थिर हो चली थी और रुपये की दर १ शिलिंग ६ पैंस के बराबर हो गई थी। ऐसी दशा में भारत सरकार ने फिर से रुपये का भविष्य निर्धारित करने के लिये अगस्त सन् १९२५ में हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission) की नियुक्त की।

हिल्टन यंग कमीशन ने भारत की मुद्रा प्रणाली की विस्तार से जाँच की और युद्ध के पूर्व के स्वर्ण विनिमय मान में दोष बताने के पश्चात् अपने सुझाव रखे।

स्वर्ण विनिमय मान के दोष

(१) समिति के अनुसार यह प्रणाली बहुत ही जटिल थी। साधारण व्यक्ति तो उसे समझ भी नही सकता था। क्योंकि इसका सम्पूर्ण कार्य काउंसिल बिलों और विपरीत काउंसिल बिलों के क्रय-विक्रय पर आधारित था।

(२) इसमें सोने का स्वतन्त्र आयात निर्यात नहीं हो सकता था, जैसा कि स्वर्णमान में होता था और इस प्रकार विनिमय दर भी स्वयमेव ठीक होने की प्रवृत्ति इसमें नहीं थी।

(३) क्योंकि इस प्रणाली का आधार काउंसिल बिलों के क्रय-विक्रय पर निर्भर था, इसीलिये स्वयमेव न तो मुद्रा के प्रसार ही हो सकता था और न संकुचन ही। मुद्रा संकुचन का एक मात्र उपाय विपरीत काउंसिल बिलों का विक्रय था जो केवल व्यापारिक असंतुलन के समय में ही बेचे जाते थे।

(४) चांदी की कीमतों के बढने से उसकी कीमतों की स्थिरता पर भारी प्रभाव पड़ने की आशंका रहती थी। जैसा कि महायुद्ध काल में हुआ कि रुपया सांकेतिक सिक्कों से प्रामाणिक सिक्कों के रूप में बदल गया और गलने के कारण बाजार से गायब हो गया।

(५) सुरक्षित कोषों में भारी और अनुचित परिवर्तन होने से सरकार के ऊपर मुद्रा नियंत्रण का उत्तरदायित्व बढ गया, क्योंकि हमारे यहाँ केन्द्रीय बैंक का अभाव था और दूसरे देशों में यह कार्य केन्द्रीय बैंक के हाथ में था।

हिल्टन यंग कमीशन ने बहुत से सुझाव दिये, जो निम्न प्रकार हैं:—

(१) स्वर्ण विनिमय मान का अन्त होना चाहिये और मुद्रा प्रणाली के प्रति जनता में विश्वास उत्पन्न करके उसका सोने से ऐसे सम्बन्ध स्थापित करना चाहिये जिसमें सोने के सिक्कों का चलन न होते हुए भी अदृश्य रूप से सोने से सम्बन्ध बना रहे। इस प्रकार इस प्रणाली में सोने के सिक्को के चलन की तो आवश्यकता नहीं होती है किन्तु मुद्रा अधिकारी के ऊपर असीमित मात्रा में सोने को एक निश्चित रूप में खरीदने और बेचने का उत्तरदायित्व होता है। सरकार को कागजी मुद्रा को सोने में परिवर्तित करने का पूरा आश्वासन देना चाहिये।

(२) रुपये और स्टर्लिंग की विनिमय दर १ शिलिंग ६ पेंस फी रुपया कर देनी चाहिये।

(३) मुद्रा प्रणाली के नियन्त्रण तथा प्रबन्ध के लिये एक केन्द्रीय बैंक का निर्माण होना चाहिये। यह बैंक साख और चलन पर नियंत्रण रखते हुए विदेशी विनिमय दर का भी प्रबन्ध करेगी। इस बैंक को आरम्भ में २५ वर्ष के लिये नोट छापने का अधिकार होगा और यह नोट असीमित-कानूनी-ग्राह्य होंगे जिन पर भारत सरकार की गारन्टी होगी। जनता कानूनी तौर पर कागज के नोटो के बदले एक रुपये के सिक्के प्राप्त नही कर सकेगी। परन्तु केन्द्रीय बैंक इनको एक रुपये के नोटो में बदल सकती है। यदि सम्भव हो तो रुपये के सिक्के भी दे सकती है।

(४) समिति ने इस बात की भी सिफारिश की कि अब से सोने तथा कागजी मुद्रा के कोषों को मिलाकर एक कर देना चाहिये।

(५) एक रुपये के नोट जो पहले भारत सरकार द्वारा प्रकाशित किये जाते थे, उनका प्रकाशन फिर से होना चाहिये और यह प्रकाशन रिजर्व बैंक द्वारा होना चाहिये।

इस प्रकार समिति ने स्वर्ण चलन मान के विरुद्ध भी अपनी आपत्तियां व्यक्त की, क्योंकि एक तो पर्याप्त मात्रा में सोना मिलना कठिन था और दूसरे उसको यह भी आशंका थी कि भविष्य में सोने का मूल्य बढ जायगा जो संसार में गिरती हुई कीमतो को रोक कर जनता को भारी हानि पहुंचायेगा। समिति का विश्वास था कि बिना सोने के सिक्के चलाये हुए भी वास्तविक रूप से स्वर्ण मान स्थापित किया जा सकता है। उसका विचार था कि "भारत में सामान्य प्रचलित माध्यम तो वर्तमान समय के अनुसार कागज का नोट तथा चादी का रुपया ही रहना चाहिए और सोने के रूप में चल-अर्घ की स्थिरता बनाये रखने के लिये चल-अर्घ को प्रत्यक्ष रूप से सभी कार्यों के लिये प्रचलित स्वर्ण में परिवर्तन होने योग्य बना दिया जाय किन्तु सोना मुद्रा की भांति नहीं होना चाहिये।" जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है समिति के मतानुसार रुपये और कानूनी नोट एक दूसरे से नही बदले जा सकते थे और केन्द्रीय बैंक पर इस बात का उत्तरदायित्व था कि वह ४०० औंस या उससे अधिक मात्रा में सोना १ शि० ६ पेंस फी रुपये की दर से खरीदे या बेचेगी। इस प्रकार सोना अब मूल्य का वास्तविक आधार बन गया था और अब वह स्टर्लिंग और प्रचलित मुद्राओं से सर्वथा स्वतन्त्र था। इस प्रणाली के अन्तर्गत सोना केवल निर्यात के लिये ही प्राप्त नही किया

जा सकता था वरन् हर काम के लिये मिल सकता था ?

सर पुरुषोत्तम दास ठाकुरदास जो इस समिति के एक सदस्य थे समिति द्वारा प्रस्तुत की गयी बहुत-सी सिफारिशों से सहमत नहीं थे। उन्होंने इन सिफारिशों की आलोचना की। उनके विचार में स्वर्ण पट मान (Gold Bullion Standard) स्थापित न करके पूर्ण स्वर्ण मान (Gold Standard Proper) स्थापित किया जाना चाहिये और चलन में सोने के सिक्कों का प्रयोग होना चाहिये। उनका यह भी मत था कि भारत जैसे कृषि प्रधान देश में १ शि० ६ पैस रुपये की दर बहुत ऊँची थी। उसके स्थान पर १ शि० ४ पैस ही रहनी चाहिये क्योंकि जिस वर्ष भी फसलें अच्छी नहीं होंगी उसी वर्ष मूल्य में वृद्धि हो जाने के कारण विदेशी व्यापार में बहुत हानि होगी। उन्होंने इस दर का इसलिये विरोध किया क्योंकि वे जानते थे कि भारत एक निर्धन देश है, इतनी ऊँची दर रहने से देश के उद्योग-धन्धे बन्द होने की, बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न होने की तथा देश का आयात बढ़ने की पूर्ण सम्भावना थी।

समिति के इन सुझावों को कार्यान्वित करने के लिये समिति ने सन् १९२७ में करेन्सी बिल (Currency Bill) पास कर दिया। आरम्भ में भारत सरकार ने समिति के केवल उन्हीं सुझावों को माना जो विनिमय दर एवम् स्वर्ण-पट-मान के सम्बन्ध में थे। परन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना का प्रश्न कुछ दिनों के लिये स्थगित कर दिया गया।

विनिमय दर सम्बन्धी वाद-विवाद (The Ratio Controversy)

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है सन १९०९ में रुपये की विनिमय दर २ शिलिंग निर्धारित करने के हेतु जो प्रयत्न सन १९२२ तक चले बिलकुल असफल रहे। उसके पश्चात् प्रतिकूल व्यापारिक संतुलन और ऊँची कीमतों के कारण यह एक शि० से भी नीची आ गई थी और १९२५ में व्यापार संतुलन अनुकूल हो जाने से यह दर १ शिलिंग ६ पैस हो गई थी। विनिमिय दर के निर्धारित करने के सम्बन्ध में काफी वाद-विवाद को भारतीय चलन के इतिहास में अनुपात का युद्ध (Battle of Ratios) कह कर पुकारा है। वाद-विवाद मुख्यतः इस सम्बन्ध में है कि भारत के लिये रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पैस ठीक रहेगी या १ शि० ४ पैस।

हिल्टन यंग कमीशन ने रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पैस पर निर्धारित की थी। सरकारी दृष्टिकोण भारतीय वित्तसदस्य सर बैसिल ब्लैकिट (Sir Basil Blackett) द्वारा व्यक्त किया गया है। उन्होंने १ शि० ६ पैस की दर के सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क रखे थे।

(१) उनका विचार था कि पिछले दो वर्षों से रुपये की यह दर स्थिर थी जो इस बात की द्योतक थी कि यही दर प्राकृतिक दर थी।

(२) बहुत पहले से ही केन्द्रीय और प्रान्तीय बजट इसी दर पर बनाये जाने के कारण किसी भी प्रकार का परिवर्तन बजट के संतुलन को बिगाड़ देगा और अधिक कर लगाने की आवश्यकता उत्पन्न कर देगा।

(३) रुपये की दर एक शि० ४ पैंस पर निर्धारित करने से भारत में कीमतें अन्य देशों की अपेक्षा नीची हो जायगी, जिन्हें ऊंचा करने के लिये मुद्रा प्रसार आवश्यक हो जायगा।

(४) एक कारण यह भी था कि देश की अर्थ व्यवस्था का इस दर से समायोजन हो चुका था अर्थात् कीमतें, मजदूरी तथा व्याज की दर सब इसी दर के अनुसार निश्चित हो चुकी थी। इसीलिये किसी भी प्रकार का परिवर्तन इस संतुलन को भंग कर देगा।

(५) एक शिलिंग ४ पेंस की दर केवल मुद्रा प्रसार द्वारा ही बनाई रक्खी जा सकती थी जिससे मजदूरी की दर घटने और देश में अशान्ति फैलने की पूर्ण संभावना थी।

उपरोक्त तर्क के आधार पर कमीशन ने १ शि० ६ पेंस की दर निर्धारित करने का निश्चय किया था। परन्तु इस दर के विरुद्ध बहुत से तर्क रक्खे गये हैं जो निम्न प्रकार हैं—

(१) इतनी ऊंची दर होने का सबसे बड़ा भय यह था कि इस दर को स्थिर रखने के लिये सोने का निर्यात करना पड़ेगा, जिससे देश के सोने के कोप बहुत कम हो जायगे।

(२) इस दर को स्थिर बनाये रखना यू भी कठिन था कि सोने की कीमतों के नीचे गिरने की बहुत सम्भावना थी।

(३) इतनी ऊंची विनिमय दर इसलिये भी ठीक नही थी क्योंकि यह एक प्रकार का "अदृश्य मुद्रा प्रसार तथा कर-आरोपण" होगा।

(४) यह दर पिछली चार फसलों के आधार पर जो काफी अच्छी हुई थी, की गई थी अतएव अर्थव्यवस्था का इससे समायोजन नही हो पाया था।

(५) इस दर के अपनाने से भारतीय व्यापार एवम् व्यापारिक उन्नति पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ेगा और विदेशी उद्योगो को विशेष प्रोत्साहन मिलेगा। अत एव सरकार ने जो नीति अपनाई है उसका देश को कुछ भी लाभ नही पहुंच पायेगा और विदेशी प्रतियोगिता देश के उद्योगो का गला घोट देगी।

(६) क्योंकि व्यापाराधिक्य भारत के अनुकूल था, जो कि ऊंची दर रखने से प्रतिकूल हो जायगा। इसीलिये ऊची दर से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक होने की संभावना है।

(७) इतनी ऊंची दर को स्थिर बनाये रखने के लिये देश में मुद्रा की मात्रा कम करनी पड़ेगी जिससे देश की स्थिति को काफी ठेस पहुंचेगी।

(८) इसके अतिरिक्त पिछले तीस वर्षों से भी तो १ शि० ४ पैं० की दर रहती आई है तो फिर अब इस दर को बनाये रखने में क्या आपत्ति हो सकती है।

(९) एक तर्क यह भी था कि सन् १९१४ और १९२६ के मूल्य स्तर में कोई अन्तर नही था इसलिये जबकि १९१४ में १ शि० ४ पैंस की दर थी तो अब भी वही दर रहनी चाहिये।

कितने आश्चर्य की बात थी कि सरकारी एवम् गैर सरकारी दृष्टिकोण वालों

ने अपने मत के समर्थन के लिये एक ही आकड़ों का प्रयोग किया था जो इस बात का द्योतक था कि इस प्रकार की समस्याओं के लिये आंकड़ों का प्रयोग किसी निष्कर्ष पर नही पहुंचाता। दोनो ओर से बहुत कुछ कहा जा सकता था परन्तु वास्तविकता यह थी कि १ शि० ६ पैं० की दर नियुक्त करके समिति ने बहुत अच्छा किया था परन्तु इस सत्य को भी हम दूर नही कर सकते कि १ शि० ४ पैं० की दर अन्य ऊंची दरो की अपेक्षा समाज के एक बड़े भाग को समृद्धिशाली बनाने में ज्यादा सहायता कर सकती है। इसके अतिरिक्त भारतीय सिक्को का ब्रिटिश सिक्को से सम्बन्ध भी बिलकुल ठीक अनुपात में स्थापित हो जाता था।

यद्यपि समिति ने स्वर्ण-पट-मान (Gold Bullion Standard) को स्थापित करने की सिफारिश की थी परन्तु व्यवहार मे ऐसा नही हुआ। रुपये का सम्बन्ध सोने से प्रत्यक्ष रूप से स्थापित न करके परोक्ष रूप से स्थापित किया गया था। सन् १६२६ की मदी ने सारे ससार पर बुरा प्रभाव डाला परन्तु सबसे बुरा प्रभाव कृषि-प्रधान देशो पर पड़ा। भारतीय निर्यात घटने के कारण व्यापार सतुलन अधिक समय तक भारत के अनुकूल नही रह सका। विनिमय दरो का सतुलन भी बिगडने लगा। विदेशियों ने अपना रुपया निकालना शुरू कर दिया। इस प्रकार एक ओर तो भारत में विदेशी मुद्राओं की माग बढ रही थी और दूसरी ओर विदेशो में रुपये की माग गिर रही थी। सन् १६३१ में इगलैण्ड द्वारा स्वर्णमान स्थापित किये जाने पर भारत को भी स्टर्लिंग से अपना सम्बन्ध तोड़ना पड़ा और इस प्रकार भारत का मुद्रामान न तो स्वर्ण-पट-मान ही रह सका और न ही स्वर्ण विनिमय मान। इतना अवश्य हुआ कि रुपया स्टर्लिंग में परिवर्तनीय होने के कारण स्टर्लिंग-विनिमय-मान स्थापित हो गया। जनता ने इसकी बड़ी आलोचना की, जिसके कई कारण थे—एक तो भारतीय मूल्यों को अंग्रेजी मूल्यो पर निर्धारित कर दिया गया जबकि इगलैण्ड में स्वर्णमान स्थापित कर दिया गया था और मूल्यों के स्थिर रहने की संभावना बहुत कम थी। इसका दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह था कि अब भारतवर्ष स्वर्णमान वाले देशो से व्यापार करके बड़ी हानि में रहेगा क्योकि उसने भी इगलैण्ड के साथ-साथ स्वर्ण विनिमय मान को स्थगित कर दिया था। अन्त में, इसके कारण विपरीत काउन्सिल बिलों को बेचना आवश्यक हो गया था जिनके कारण इगलैड में भारतीय निधिया लुप्त होने लगी थी। वास्तव में इस मान का सबसे बुरा प्रभाव यह ही था, अर्थात् भारत से सोने का निर्यात होना था। सोने का निर्यात कोई असाधारण बात नही थी क्योकि प्रत्येक देश विदेशो से माल मंगवाता और भेजता है। जब व्यापाराधिक्य अनुकूल है तो सोने का आयात होता है और जब प्रतिकूल होता है तो सोने का निर्यात होता है। पिछले कुछ वर्षो से भारत का व्यापाराधिक्य भारत के पक्ष में ही रहता आया था, परन्तु सन् १६२६ की मन्दी के पश्चात् कुछ सोना बाहर भेजा जा चुका था। जो सोना आर्थिक संकट के कारण बाहर भेजा गया था, उसे 'संकट का सोना' कहते है। इसके अतिरिक्त कुछ सोना लाभ कमाने की आशा से सन् १६३१ के बाद भी भेजा गया था। जनता ने इस नीति का बड़ा विरोध किया और इसको बंद करने का आग्रह किया, परन्तु

सरकार ने लाभ की आशा से इसको बन्द नही किया।

स्वर्णमान के टूटने के बाद जब स्टर्लिंग के साथ-साथ रुपये का स्वर्ण मूल्य भी गिरने लगा तब सरकार ने मूल्य को अधिक गिरने से बचाने के लिये विनिमय पर नियंत्रण लगा दिये। अर्थात् किसी भी प्रकार का विदेशी विनिमय व्यवसाय भारत सरकार की बिना आज्ञा के नही हो सकता था। यद्यपि इन नियंत्रणो का मुख्य उद्देश्य विनिमय दरों की सट्टेबाजी को रोकना था तथापि यह निष्फल रहा और सन् १६३२ मे इनको तोड देना पडा। सच तो यह है कि १६३१ के पश्चात विनिमय दरो में पहले की अपेक्षा अधिक स्थिरता रही। इसका मुख्य कारण यही था कि भारत बराबर भारी मात्राओं में सोना बाहर भेज रहा था। सितम्बर सन् १६३१ से सन् १६३२ तक लगभग ५० करोड रुपये के मूल्य का सोना बाहर भेजा गया था, जबकि सन् १६३१ के मध्य में २१ रु० १३ आ० ३ पा० प्रति तोला के भाव सोना था। वर्ष के अन्त में यह २६ रु० २ आने हो गया था और १६३५ में ३५ रु० तोला हो गया था। सोने का निर्यात होता रहा और सन् १६३१ तक लगभग ३५० करोड़ रुपये का सोना बाहर भेजा जा चुका था। जबकि ससार के सारे देश सोना संचित करने में व्यस्त थे, भारत बराबर सोना बाहर भेज कर लाभ कमा रहा था। भारतीय सरकार ने जनता को सोने के निर्यात को बन्द करने की पुकार को ठुकरा दिया। इसके दो कारण थे एक तो भारत के लोगों के पास सोना बहुत बडी मात्रा में था और दूसरे उसका अच्छा मूल्य मिल रहा था। सरकार के दृष्टिकोण को हम इस प्रकार रख सकते है।

(१) सोने का निर्यात कोई असाधारण बात नही क्योंकि वह वर्तमान व्यापार का प्रमुख अंग है। (२) सोने के निर्यात ने भारतीय सरकार की साख में उन्नति करने में बड़ी सहायता पहुँचाई है और इस प्रकार सरकार सस्ती कीमतो पर स्टर्लिंग खरीद कर विनिमय दरो की स्थिरता बनाये रखने में सफल हुई है। यही नही वरन भारत सरकार ने इस निर्यात से अपने अस्थाई ऋण को भी कम कर दिया है। (३) सोने के निर्यात ने कृषको को अपनी पुरानी बचत से इस सौदे से लाभ उठाने में बडी सहायता की है। (४) सोने के निर्यात ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गति को तीव्र कर दिया था। उसने भारतीयों को भी आवश्यक चीजें उपलब्ध कराने में सहायता की थी और विदेशो की क्रय शक्ति में काफी वृद्धि की थी।

इसके विपरीत कुछ लेखको ने इसकी आलोचना भी की है। प्रो० ब्रिजनारायण का विचार है कि सरकार के द्वारा सोने के निर्यात पर रोक न लगाने का कारण है कि "सोने के निर्यात ने ब्रिटेन की अपने फ्रान्स और अमेरिका के ऋणो का एक भाग चुकाने में सहायता पहुँचाई है।" परन्तु सारी समस्या को एक राजनैतिक रूप देने का अभिप्राय केवल सोने के निर्यात से हुई कठिनाइयो को बढा-चढा कर प्रस्तुत करना है। सच तो यह है कि भारत के कुल सोने का एक भाग ही बाहर गया था और बेचने वालो को उससे लाभ भी हुआ था। यह भी ठीक ही है कि भारत सरकार सोने के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाकर और बाजार भाव पर सोना खरीद कर सोने के निर्यात को रोक भी सकती थी। इसके साथ-साथ भविष्य में व्यापाराधिक्य अनुकूल होने पर

हम खोया हुआ सोना फिर से वापस ले सकते थे । जब इस बात का भी पूर्ण विश्वास था, तो क्यों सरकार की इस नीति की निन्दा की जाय ।

सोने के निर्यात के कारणों में भी एकमत नही पाया जाता । कुछ लोगो का कहना है कि सोने का निर्यात केवल सन् १९१९ की मन्दी के कारण ही हुआ । पिछले वर्षो में जो धन जनता ने कमा कर जमा किया था, वह ही बचत अब इस मन्दी की हानि को पूरा करने के काम में लायी गई थी। कुछ ऐसे भी लोग हैं जिनका विचार है कि स्टर्लिंग का मूल्य सोने में बराबर गिर रहा था और चूकि रुपये का मूल्य स्टर्लिंग के मूल्य पर आधारित था इसीलिये रुपये के स्वर्ण मूल्य को गिराने से रोकने के कारण सोने का निर्यात किया गया और यदि ऐसा नही किया जाता तो जब तक सोने के विदेशी और भारतीय मूल्यो में अन्तर रहता सोने का निर्यात अवश्य होता, क्योकि सोने का आयात-निर्यात स्वतन्त्र था ।

भारतीय सरकार ने सोने का निर्यात ही नही किया वरन सन् १९३१ और १९३९ के बीच चादी का निर्यात भी काफी मात्रा मे हुआ । वास्तव में चादी का भी देश से विदेशों में खिसकना स्वाभाविक ही था । विदेशो में भारत की अपेक्षा चादी का मूल्य काफी ऊंचा पहुच गया था इसीलिये चादी बाहर जाने लगी । इसके अतिरिक्त हिल्टन यंग कमीशन की सिफारिशों के अनुसार नोटो की रुपयो में परिवर्तनशीलता समाप्त हो जाने से अब चादी के कोषो को रखना अनावश्यक था । इसीलिये भारतीय सरकार ने ऊचे मूल्यो से लाभ कमाने के कारण चादी के निर्यात पर कोई प्रतिबन्ध नही लगाये । यह चादी एक अन्तर्राष्ट्रीय रजत समझौते के अधीन जो सन् १९३३ में हुआ था आस्ट्रेलिया, अमेरिका, कनाडा, मैक्सिको और पैरू द्वारा खरीदी जा चुकी थी । केवल तीन वर्षो में ही अर्थात् सन् १९३१ से सन् १९३४ तक लगभग दो करोड़ औंस चांदी बाहर जा चुकी थी । सन् १९३५ में अमेरिका द्वारा एक बड़ी मात्रा में चादी खरीदे जाने के कारण चादी की कीमतें और चढती चली जा रही थी, जिसके फलस्वरूप चीन को रजतमान स्थगित करना पड़ा । चीन के रजतमान स्थगित करने के बाद ही अमेरिका ने भी चादी खरीदने की नीति स्थगित कर दी और चादी की कीमतें फिर गिरने लगी । परन्तु फिर भी भारत से चादी का निर्यात होता ही रहा, और सन् १९३९ तक चला । इन निर्यातो के भयकर परिणाम भारत सरकार के सम्मुख दूसरे महायुद्ध के आरम्भ होते ही प्रचण्ड रूप से नृत्य करने लगे ।

इसी बीच अप्रैल, सन् १९३५ को भारतीय केन्द्रीय बैंक-रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India) की स्थापना हुई जिससे भारतीय चलन प्रणाली बिल्कुल ही बदल गई । अब से नोटो के प्रकाशन का एकाधिकार रिजर्व बैंक के हाथ में आ गया था और भारत के आर्थिक इतिहास में पहली बार भारतीय चलन प्रणाली, साख नियत्रण और मुद्रा सम्बन्धी व्यवस्था का कार्य एक ही संस्था के हाथ में दिया गया था । स्वर्णकोष, कागजी मुद्रा कोष तथा बैंकिंग कोषो को एक ही स्थान पर केन्द्रित किया गया था ।

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय चलन प्रणाली का पूर्णतया विकास हिल्टन यंग कमीशन के सुझावों के अनुसार नही हुआ था । यद्यपि

भारत सरकार ने चलन प्रणाली की व्यवस्था के सम्बन्ध में काफी सुझाव स्वीकार कर लिये थे और उनके अनुसार कार्य करने का भी पूरा प्रयत्न किया था परन्तु फिर भी समिति का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ था। समिति ने स्वर्णमान स्थापित करने की सिफारिश की थी, परन्तु भारत सरकार ने स्टर्लिंग विनिमय मान ही स्थापित किया था। रुपये का सम्बन्ध सोने से प्रत्यक्ष रूप से न होकर स्टर्लिंग द्वारा स्थापित किया गया था। सरकार ने समिति की यह भी सिफारिश मान ली थी कि रुपये की दर १ शि० ६ पेंस पर रहनी चाहिये और इस दर को बनाये रखने के पीछे सोने और चांदी का निर्यात तक कर दिया। इसके अतिरिक्त रिजर्व बैंक की स्थापना से साख चलन और विदेशी विनिमय की व्यवस्था सुगम हो गई थी। यह सब सिफारिशें मानकर भी स्वर्णमान स्थापित नहीं किया गया, और १ शि० ६ पैं० की दर को बिना आवश्यकता बनाये रखने में जो सोने और चादी का निर्यात हुआ उससे भविष्य अन्धकारमय हो गया था।

दसवाँ अध्याय

भारत में मुद्रा-प्रणाली—(क्रमशः)

३ सितम्बर सन् १६३६ ई० को द्वितीय महायुद्ध का प्रारम्भ हुआ। उस समय देश से सोना और चाँदी का निर्यात बराबर हो रहा था। आश्चर्य की बात तो यह है कि युद्ध आरम्भ होने के बाद तो यह निर्यात और भी बढ गए। सन् १६३८–३६ ई० में १३.७६ करोड रुपये का सोना बाहर गया था। सन् १६३६–४० में ४२०२ करोड रुपये का सोना बाहर भेजा गया, और भारत-सरकार को उसके बदले में केवल स्टलिंग के स्थान पर कागजी–नोट मिले, जबकि व्यापार-सतुलन भारत के पक्ष में था और भारत को ७८.०३ करोड़ रुपये का सोना मिलना चाहिए था। सरकार की यह नीति देश के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हुई। अत इस नीति को सुधारने के लिए सरकार के सामने निम्न सुझाव रक्खे गए।

(क) सोने का निर्यात बन्द कर देना चाहिए।

(ख) रिजर्व-बैंक के विदेशी भागों के लिए भारतवर्ष में सोना न लिया जाय।

(ग) अमेरिका के साथ हमारे पक्ष में होने वाले व्यापाराधिक्य से प्राप्त डालर का वहीं पर सोना खरीद लिया जाय।

(घ) रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्राप्त होना चाहिए कि वह बाजार-दर पर अपने सोने का मूल्य आंक सके और भारत और अमेरिका में रक्खी जाने वाली रकम व कोषों के लिए उसे खरीद सके।

इस समय देश में स्टर्लिंग-विनिमय-मान (Sterling Exchange Standard) स्थापित था। रुपये की दर १ शि० ६ पैं० पर ठहर गई थी। रुपया साकेतिक-प्रामाणिक-सिक्का था। यह विदेशी कार्यों के लिए स्टर्लिंग में बदला जा सकता था। रुपये के सिक्कों और नोटों के अतिरिक्त इकन्नी और दुअन्नी निकल की और पैसे तावे के थे। रुपया और अठन्नी असीमित कानूनी ग्राह्य थे। इस समय भारतीय-मुद्रा-प्रणाली की अजीब दशा थी[1]। इसके अतिरिक्त इस प्रणाली में लोच भी नहीं थी। रुपया जहां जाता था जमा हो जाता था। वह केवल आभूषणों का साधन-मात्र बनकर रह गया था।

---

[1]. Mr. W. R Sarkar in 1933 in a speech before the Currency League of India at Bombay remarked that "It is neither fish nor fowl nor bright red herring. For sheer inexplicability, manipulativefacility and complicate mechanism, nothing approaching it has ever been invented."

युद्ध आरम्भ हुआ। भारतवर्ष को भी युद्ध में भाग लेना पड़ा, क्योंकि वह भी तो ब्रिटिश साम्राज्य का एक अग ही था। भारतीय सरकार को युद्ध के आघातों को सहन करना पड़ा और समय-समय पर युद्ध-कालीन स्थिति के अनुसार अर्थव्यवस्था में परिवर्तन करने पडे। युद्ध के कारण देश में मुद्रा-प्रसार हुआ, व्यापार और उत्पादन की मात्रा में वृद्धि हुई। वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य तेजी से बढने लगे और किसानो के आर्थिक कष्ट दूर होगए। ऐसा प्रतीत होने लगा जैसे कि भारतीय-अर्थ-व्यवस्था का युद्ध के अनुसार समायोजन हो गया था परन्तु इसके परिणाम बाद में ज्ञात हुए। यद्यपि रुपये की विनिमय-दर १ शि०६पें० पर हो रही थी, परन्तु डालर में रुपये का मूल्य गिर गया। व्यापार तथा उत्पादन के साथ-साथ मुद्रा का भी विस्तार हुआ। नोटो और सिक्को की मात्रा बढा दी गई। युद्ध के विशेष प्रभाव मुद्रा-प्रणाली पर पडे जिसके कारण विनिमय-दरो को स्थिर रखने के लिए काफी नियत्रणो का प्रयोग करना पड़ा।

युद्ध आरम्भ होते ही जनता में खलबली मच गई, सरकारी प्रतिभूतियाँ बेची जाने लगी। डाकखाने के कैश-सार्टिफिकेट बदले जाने लगे, बैंको से रुपया निकलने लगा जिसके लिए सरकार को बजट में गुन्जाइश करनी पडी। इसके अतिरिक्त नोटों के रुपये में बदलने की मांग बढने लगी जिसका रिजर्व बैंक के रुपये के साधनो पर बड़ा बुरा प्रभाव पडा। व्यापारिक एवं व्यावसायिक उन्नति होने के कारण भी रुपये की माग बढ़ने लगी थी। रिजर्व बैंक जनता में विश्वास जमाए रखने के विचार से बराबर बढती हुई माग को पूरा करती गई, परन्तु इसका कोई विशेष लाभ न हुआ। जब सरकार ने रुपये की मांग मे किसी प्रकार की कमी होते न देखी तो मजबूर होकर राशन-प्रणाली को अपनाना पडा अर्थात् रुपये के सिक्के केवल सीमित-मात्रा में ही प्राप्त किए जा सकते थे। ये नियंत्रण चादी के अभाव के कारण नही लगाए गए थे, बल्कि टकसालो को सिक्के ढालने की सीमित-शक्ति होने के कारण यह नीति अपनाई गई थी। रुपये के सिक्को के अभाव में जनता को बडी कठिनाइयां सहनी पड़ी। उस समय सबसे छोटा नोट ५) का था जिससे बडी असुविधा थी। अतएव सरकार ने काफी विचार के बाद एक रुपये का नोट छापने का निर्णय कर लिया और २४ जून सन् १६४० ई० को यह घोषणा की गई कि भविष्य मे एक रुपये का नोट एक रुपये के सिक्के के बराबर होगा। अत. रुपये का नोट भी हर कार्य के लिए प्रामाणिक सिक्का हो गया था।

चवन्नियो और अठन्नियो की माग भी बढ रही थी। भारत सरकार ने ₹½ शुद्धता की चाँदी की अठन्नियो को बनाने में चाँदी की बरबादी देखी। इसलिए यह निश्चय किया गया कि चवन्नी और अठन्नी दोनो एक ही प्रकार की चाँदी की बनाई जावें और इसके हेतु एक आदेश द्वारा भारतीय सिक्का-ढलाई कानून में आवश्यक सशोधन कर दिए गए। इसके अतिरिक्त एक सरकारी घोषणा के अनुसार ३१ मार्च सन् १६४१ ई० से महारानी विक्टोरिया के रुपये और अठन्नियां गैरकानूनी घोषित कर दिए गए और २२ दिसम्बर १६४० ई० से सरकार ने यह अधिकार प्राप्त कर लिया

कि वह आधी चाँदी और आधे खोट के रुपये ढाल सकेगी। क्योकि जनता एक शताब्दी से पूर्व पहले से चाँदी के रुपयों का प्रयोग कर रही थी, उसका सन्देह यह रुपया देखकर और भी बढ गया जिससे ग्रेशम के नियम के लागू होने की बहुत सम्भावना बढ़ गई थी। सरकार के इतने प्रयत्नों के बाद भी छोटे-छोटे सिक्कों की बड़ी कमी अनुभव हो रही थी। यह कमी कुछ तो व्यापार के विस्तार और कुछ जमा करने के कारण उत्पन्न हो गई थी। १७ अप्रैल १९४३ ई० से आवश्यकता से अधिक रेजगारी पास रखने को एक अपराध घोषित कर दिया गया और साथ ही साथ एक भारी परिमाण में छोटी रेजगारी ढालकर बाजार मे भेजी गई। परन्तु यह रेजगारी भार तथा खरेपन में पहले से बिलकुल भिन्न थी। सन् १९४३ ई० में जनता के सामने एक नया पैसा जिसके बीच मे छेद था और जिसका वजन ३० ग्रेन था लाया गया। एक नई अठन्नी जो निकिल तथा पीतल को मिलाकर बनाई गई थी, चलाई गई थी। यद्यपि नया पैसा इतनी मात्रा में चलन में लाया गया था परन्तु वह भी बाजार से गायब हो गया था क्योकि जनता ने उसको वाशर (Washer) के स्थान पर अधिक उपयोगी समझा। इसके अतिरिक्त अधन्ने, इकन्नी और दुअन्नी का भार भी कम कर दिया गया था।

युद्धकाल में मुद्रा की माग बढ जाने के कारण बम्बई और कलकत्ते की टकसालो पर बहुत बोझ पड़ने लगा था इसीलिए सरकार ने कलकत्ते में ६५ लाख रुपये लगाकर एक और टकसाल बनाने का निश्चय किया। यह अनुमान लगाया गया था कि वर्तमान उत्पादन की अपेक्षा, सिक्कों का उत्पादन इससे दुगुना हो जावेगा। दूसरे, महायुद्ध काल के आर्थिक इतिहास के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि उपरोक्त चलन और साख-मुद्रा के विस्तार से कीमतो में एकदम वृद्धि हो गई थी। इन दिनो में सरकार का एकमात्र ध्येय युद्ध के खर्चे को चलाना था इसीलिए वह दिन-प्रतिदिन कागजी नोटों की मात्रा बढ़ाती जा रही थी। इसी काल में नोटो की सख्या १८० करोड से १०३४ करोड़ बढ गई थी। इन सबका परिणाम यह हुआ कि मूल्याक ४०० से भी ऊपर पहुँच गया था। रिजर्व बैंक ने इस बढती हुई मुद्रा-नीति को रोकने का कोई उपाय नही किया तथापि रिजर्व बैंक ने यह स्वीकार कर लिया था कि मुद्रा-स्फीति बढ रही थी। इसी काल में हमारा व्यापाराधिक्य भी बराबर हमारे पक्ष में ही रहा। परन्तु न तो उसके बदले में सोना ही मिला और न वस्तुएं और सेवाएं ही प्राप्त हुईं। इगलैण्ड से हमें इसका भुगतान केवल स्टर्लिंग-प्रतिभूतियो (Sterling Securities) के रूप में किया जिसके आधार पर रिजर्व बैंक ने और अधिक नोट छाप दिये। इसके अतिरिक्त सोने का भी निर्यात हुआ और उसके बदले में भी हमको स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ ही मिली और फिर नोटो का प्रकाशन हुआ। भारतीय सरकार ने कोषागार-विपत्रों (Treasury Bills) के आधार पर ही नोट छापे थे।

विनिमय-नियंत्रण (Exchange Control)

इगलैण्ड की देखा-देखी भारतीय सरकार ने भी विनिमय पर प्रतिबन्ध लगाने का निश्चय किया। भारतीय-रक्षा-विधान (Defence of India Ordinance) के

अन्तर्गत सरकार ने निम्न बातों पर प्रतिबन्ध लगाने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया। (१) विदेशी विनिमय के क्रय पर (२) विदेशी विनिमय प्राप्त करने पर (३) प्रतिभूतियों बेचने व उनके निर्यात पर, तथा (४) प्रतिभूतियों को प्राप्त करने पर। रिजर्व-बैंक को इन सबके शासन का अधिकार सौंप दिया। देश के अन्दर कडे विनिमय सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा दिए गए। विदेशी विनिमय-सम्बन्धी कार्य केवल वे ही व्यक्ति एवं संस्थाएं कर सकती थी, जिन्होंने स्वीकृति प्राप्त कर ली थी और इस सम्बन्ध में कुछ बैंकों को लाइसेन्स भी दे दिए गए थे। इस नीति के अन्तर्गत सामान्य रूप से ब्रिटिश साम्राज्य वाले देशों पर कोई नियन्त्रण नही लगाए गए थे परन्तु अन्य देशों के सम्बन्ध में विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय केवल वास्तविक व्यापार सम्बन्धी आवश्यकताओं के अनुसार ही सीमित रक्खा जाता था। बिना रिजर्व बैंक की आज्ञा के प्रतिभूतियों का न तो आयात ही हो सकता था और न निर्यात, जिससे किसी प्रकार भी विनिमय-दर सम्बन्धी सट्टा न हो सके। विनिमय-नियन्त्रण की सुविधा के लिए सारे ब्रिटिश साम्राज्य और उपनिवेश (Commonwealth) के देशों को स्टर्लिंग-क्षेत्र मान लिया गया था और इन देशों पर किसी प्रकार का भी नियन्त्रण नही था।

आयात-नियंत्रण

विनिमय-नियंत्रण का प्रत्यक्ष प्रभाव देश के आयात और निर्यात व्यापार पर विशेष रूप से पड़ा। युद्ध के प्रारम्भिक काल में बैंको पर विदेशी विनिमय-सम्बन्धी किसी प्रकार का नियन्त्रण नही था परन्तु युद्ध बढने के बाद उनकी स्वतन्त्रता कम होती गई। एक ऐसी स्थिति आ गई थी कि बैंक अब केवल लाइसेन्स लिए हुए व्यक्तियों एव सस्थाओं का ही भुगतान कर सकती थी। अन्य व्यक्तियों और संस्थाओं के लिए उनको रिजर्व बैंक से आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती थी। इसीलिए स्टर्लिंग क्षेत्रों के बाहर के देशों से बिना लाइसेन्स लिए कोई भी आयात नहीं होता था। इस प्रकार दुर्लभ मुद्रा वाले देशों से आयात करने पर कड़े नियन्त्रण लगा दिए गए थे। कदाचित दो कारणों से ये प्रतिबन्ध लगाए गए थे। (१) व्यापार को असतुलन होने से रोकने के लिए और (२) केवल युद्ध सम्बन्धी और उपभोक्ताओं सम्बन्धी वस्तुओं का ही आयात करना।

आयातों ही को नियन्त्रित नही किया गया था प्रत्युत निर्यातों पर भी प्रतिबन्ध लगाए गए। भारतीय सरकार ने स्टर्लिंग क्षेत्र से बाहर जाने वाली वस्तुओं के मूल्यों पर नियंत्रण रखना आवश्यक समझकर एक निर्यात योजना बनाई। यह योजना भी मुख्यतः दो उद्देश्यों से बनाई गई थी; एक तो भारत के माल की कीमत का भुगतान तुरत ही कर दिया जावे और दूसरे इन निर्यातों के मूल्य का भुगतान इस प्रकार हो कि उनका ज्यादा-से-ज्यादा मूल्य प्राप्त हो सके। परन्तु आश्चर्य की बात यह थी कि साम्राज्य के बाहर के देशों से जो भी भुगतान मिलता था वह सब ब्रिटिश-सरकार को दे दिया जाता था जो कि साम्राज्य-डालर-कोष में जमा कर दिया जाता था और उसका व्यय युद्ध-सम्बन्धी कार्यों के सचालन में होता था। इस प्रकार भारत का व्यापाराधिक्य उसके पक्ष में होने के कारण इगलैंड में भारी मात्रा में पौंड-पावना (Sterling Balances)

जमा हो गए थे। इसके अतिरिक्त युद्ध ने विभिन्न देशों के तुलनात्मक महत्व को भी बदल दिया था। ब्रिटिश साम्राज्य के निर्यातों का प्रतिशत बढ गया था और उसका आयात दूसरे देशो की अपेक्षा अधिक गिर गया था। साम्राज्य के बाहर के देश में हमारे मुख्य ग्राहक चीन और अमेरिका थे।

साम्राज्य-डालर-कोष (The Empire Dollar Pool)

युद्ध आरम्भ होते ही ब्रिटिश सरकार ने स्टर्लिंग क्षेत्र के व्यक्तिगत देशों की विनिमय-सम्बन्धी-निधि पर नियन्त्रण कर दिया था। ब्रिटिश सरकार स्टर्लिंग क्षेत्र के प्रत्येक देश के व्यापाराधिक्य के पक्ष में होने पर भुगतान स्टर्लिंग में ही किया करती थी। इसके अतिरिक्त यदि बाहर के देशो से व्यापाराधिक्य पक्ष में होता था तो उसका भुगतान भी इसी प्रकार हुआ करता था। इसी प्रकार डालर वाले देशो ने जो भुगतान करके डालर दिये वे एक जगह जमा होगए, जिसको ब्रिटिश-साम्राज्य-डालर-कोष कहा गया था और डालर प्राप्ति पर प्रत्येक देश को उनके बदले में स्टर्लिंग दे दिए जाते थे। इस प्रकार सारे स्टर्लिंग-क्षेत्र में एक मुद्रा-इकाई हो गई थी और विनिमय-नियंत्रण के नियम सारे देशो मे एक साथ लागू होगए थे। यदि किसी देश का व्यापाराधिक्य विपक्ष में होता था और वह डालर-क्षेत्र के किसी देश के भी पक्ष में होता था तो उसका भुगतान करने के लिए इगलैंड से डालर मिल जाया करते थे। इधर ब्रिटिश सरकार ने एक योजना बनाई जो केवल दुर्लभ मुद्रा वाले देशो (Hard Currency Countries) जैसे अमेरिका, स्विटजरलैंड, हालैंड, बेलजियम इत्यादि से सम्बन्धित थी। इस योजना का मुख्य उद्देश्य दुर्लभ-मुद्राओं की प्राप्त मात्राओं पर नियन्त्रण रखना था, जिससे वह युद्ध के अतिरिक्त और किसी भी कार्य में प्रयोग में न लाई जा सकें। इसके अतिरिक्त भारत सरकार की इस योजना के अन्तर्गत एक उद्देश्य दुर्लभ मुद्राओं की निश्चित दरों पर क्रय-विक्रय करना भी था। इस प्रकार भारतवर्ष डालर-कोष का प्रमुख कोष था। विदेशी विनिमय को सुगम बनाने के लिए युद्ध से पूर्व स्टर्लिंग क्षेत्र के देशो के बीच एक प्रथा-सी चली आ रही थी कि वे विदेशी विनिमय के सारे कोष लन्दन में स्टर्लिंग के रूप में जमा रखते थे ताकि आवश्यकता पड़ने पर सभी मुद्रा प्राप्त की जा सके क्योंकि स्टर्लिंग उस समय स्वतन्त्र रूप से हर मुद्रा से बदला जा सकता था।

युद्ध के आरम्भ होते ही स्टर्लिंग की परिवर्त्तनशीलता कठिन हो जाने से स्टर्लिंग-क्षेत्र के कुछ देशो ने अपने-अपने विदेशी-विनिमय-कोषो पर स्वयं ही नियन्त्रण करना शुरू कर दिया था। परन्तु युद्धकाल में जो डालर-कोष बना उसमें से स्टर्लिंग-क्षेत्र के देशो के व्यय के लिए कोई निश्चित भाग (Quota) नही था बल्कि सारे देशो ने यह स्वीकार कर लिया था कि विदेशी-विनिमय का किसी प्रकार भी अनावश्यक व्यय न होगा। कोष की सहायता से युद्ध का संचालन सफलतापूर्वक चलता रहा और स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशों की नागरिक अर्थव्यवस्था को युद्धकाल के आधार पर बनाए रखने में भी कोष ने काफी सहायता की थी।

युद्धकाल में भारत का व्यापाराधिक्य डालर वाले देशों के साथ भारतवर्ष के पक्ष में था। यह अनुमान लगाया गया है कि इस काल में लगभग ४०५ करोड रु० की कीमत का डालर प्राप्त किया गया था। यद्यपि यह कुल मात्रा कोष में जमा कर दी गई थी परन्तु इसी काल में भारतवर्ष ने २४० करोड रुपये की कीमत के डालर का खर्च कर लिया था और ५१ करोड़ रुपये की कीमत की अन्य दुर्लभ-मुद्राएँ भी प्रयोग में लाई गई थी जिसके कारण लगभग ११४ करोड की कीमत का डालर भारत की ओर से कोष को अधिक दिया गया था। सन् १९४० ई० के मई के माह में भारतीय सरकार ने विदेशी विनिमय के उपयोग मे बचत करने के लिए आयात सम्बन्धी एक नई योजना बनाई जिसके अन्तर्गत विदेशी आयातों पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए। कनाडा से आयात होने वाली वस्तुओं में से कुछ ऐसी थी जिन पर यह प्रतिबन्ध नही थे। इस नीति को अपनाने से हमारे आयातों में कमी हो जाने के कारण एक बहुत बडी मात्रा में विदेशी विनिमय के व्यय को कम कर लिया गया था। युद्ध-कालीन स्थितियो में सुधार होने के साथ-साथ भारतीय सरकार ने आयात-सम्बन्धी नियंत्रणो को ढीला करना प्रारम्भ कर दिया। देश में मुद्रा-स्थिति को रोकने तथा खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिए भारत-सरकार ने एक बडी मात्रा में खाद्यान्न तथा अन्य उपभोग-सम्बन्धी वस्तुओं को अमेरिका से मगाया। हमारा व्यापाराधिक्य अमेरिका से प्रतिकूल होने लगा। यह देखकर भारत सरकार ने डालर-क्षेत्र के आयातो पर फिर से कड़े नियन्त्रण लगा दिए और साथ ही साथ स्टर्लिंग-क्षेत्र के देशो के सम्बन्ध में लगे हुए प्रतिबन्धों को ढीला कर दिया। साम्राज्य-डालर-कोष की नीति भी युद्ध के अन्त हो जाने पर काफी उदार हो गई थी। युद्धोत्तर काल में भारत में जो विकास-योजनाएँ बनाई गईं उनके सचालन के लिए देश के अन्दर पूँजी पर्याप्त मात्रा में नही थी। भारतवासियों का यह मत था कि अब डालर कोष में डालर जमा करने की अपेक्षा उनका प्रयोग विकास-सम्बन्धी योजनाओं पर किया जावे। इस सम्बन्ध में भारतवर्ष को सन् १९४४ और १९४५ ई० में दो करोड डालर प्रति वर्ष मिले थे परन्तु भारत को इससे कुछ भी लाभ न हुआ। सन् १९४७ ई० में राजनैतिक स्वतत्रता के साथ भारतवर्ष को अपनी डालर आय के प्रयोग की स्वतंत्रता भी मिल गई।

पौंड-पावने (Sterling Balances)

हमारा व्यापारिक-संतुलन हमारे पक्ष में होने के कारण हमारा देश जो युद्ध में पूर्व ऋणी था, युद्ध के पश्चात् ऋणदाता बन गया था। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व भारत ग्रेट ब्रिटेन का ऋणी था। यह ऋण सन् १९३९ ई० में ४६९ करोड़ रुपये था। परन्तु हमारा व्यापारिक सतुलन निरतर अनुकूल रहने के कारण युद्धकाल में यह ऋण चुक गया और इसके अतिरिक्त इगलैंड स्वय हमारा ऋणी हो गया। युद्धकाल में भारत ने इंगलैंड को युद्ध-संचालन मे बहुत सहायता पहुँचाई थी। हमारे निर्यातों का मूल्य स्टर्लिंग के रूप में इंगलैंड में जमा होता गया। इंगलैंड में इस ऋण की माप स्टर्लिंग में ही की जाती थी इसीलिए इसका नाम पौंड-पावना पड़ा। इस ऋण के जमा होने के कई कारण थे।

(१) युद्धकाल में ब्रिटेन ने भारत से बहुत-सा माल खरीदा परन्तु भारत ने ब्रिटेन से बहुत कम माल मंगाया। व्यापाराधिक्य भारत के पक्ष में होता गया। इंगलैंड में इस ऋण की माप स्टर्लिंग में की जाती थी। ब्रिटेन का प्राचीन ऋण चुकने के पश्चात् भारत का ऋण ब्रिटेन पर हो गया।

(२) सन् १९३९ ई० के आर्थिक समझौते के अनुसार भारत सरकार ने युद्ध-सम्बन्धी सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सरकार की ओर से जो व्यय किया था वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

(३) भारत ने केवल ब्रिटेन को ही माल नही भेजा प्रत्युत् उसके अन्य मित्र-राष्ट्रों को भी बहुत-सा माल भेजा।

(४) युद्धकाल में ब्रिटिश भारत में रहने वाले व्यक्तियों की दुर्लभ मुद्राओं के कोष को लेकर "डालर पूल" में जमा कर दिया था।

(५) भारतवर्ष को अमेरिका के लिए भेजे गये माल के बदले में और अमेरिका की सेना पर जो व्यय हुआ था उसके बदले में जो डालर प्राप्त हुए थे, वे भी "डालर-पूल" में जमा कर दिए गए थे।

उपरोक्त सभी रकमों के बदले में उस समय भारत को केवल स्टर्लिंग-प्रतिभूतियां (Sterling Securities) या प्रतिज्ञापत्र (Promissory Notes) लिखकर दे दिए गए थे। भारत सरकार ने उन्ही के आधार पर कागजी मुद्रा छाप दी थी। इस प्रकार युद्ध शुरू होने से ३१ मार्च सन् १९४६ ई० तक भारत ने कुल २०७१ करोड़ रुपये के स्टर्लिंग प्राप्त किए थे। भारतवर्ष ने अपने ऋण को चुकाकर कुल १७२४ करोड़ रुपये के स्टर्लिंग ३१ मार्च सन् १९४६ ई० तक प्राप्त किए। यह ऋण भारत का इंगलैंड के ऊपर था। इसके भुगतान के लिए भारत सरकार ने युद्धकाल से ही ब्रिटेन की सरकार से बातचीत शुरू कर दी थी, परन्तु समय टलता रहा। इस ऋण के सम्बन्ध में बड़ा वाद-विवाद रहा। लोगों ने बड़े-बड़े तर्क रखे और ब्रिटेन की ओर से यह भी प्रयत्न हुआ कि उसे किसी भी प्रकार से ऋण न चुकाना पड़े और यदि भुगतान करना भी पड़े तो उसमें भारी कमी कर दी जाय। इस सम्बन्ध में ब्रिटेन ने निम्न तर्क रखे।

(१) भारत ने ब्रिटेन को युद्ध के सफल संचालन और शत्रु को पराजित करने में जो सहायता दी थी वह भारत के लिए भी उतनी ही आवश्यक थी जितनी कि इंगलैंड के लिए थी। इंगलैंड ने जो व्यय किया था उससे भारत की रक्षा का भी सम्बन्ध था, इसलिए इस ऋण के भुगतान की कोई आवश्यकता ही नहीं थी।

(२) कुछ लोगों का यह भी विचार था कि इंगलैंड की भुगतान करने की शक्ति इतनी नहीं थी कि वह इतना बड़ा भुगतान कर सके, इसलिए इसमें कमी करना आवश्यक था।

भारत की ओर से भी तर्क रखे गये। पहली बात तो यह थी कि यह ऋण भारत ने जबर्दस्ती इंगलैंड को नहीं दिया था बल्कि यह ऋण उससे जबर्दस्ती लिया गया था। वास्तव में भारत की उस समय इतनी शक्ति नहीं थी कि इतना बड़ा ऋण दे सकता, परन्तु क्योंकि वह ब्रिटिश सरकार के अधीन था इसलिए उसे ऋण देने

के लिए बाध्य होना पड़ा। दूसरी बात यह थी कि भारत या भारतवासियों को इस ऋण के देने से कोई वास्तविक लाभ प्राप्त नही हुआ। जो माल भारत ने इंगलैंड को और उसकी सेना के लिए भेजा उसके अभाव में भारतवासियों को घोर कष्टों का सामना करना पड़ा। यह ऋण भारतवासियो के महान् त्याग का, जो उन्होंने युद्धकाल में कष्ट सहन करके किया था, प्रतीक था और इसलिए इसमें किसी प्रकार की कटौती का प्रश्न ही नही उठता।

यह वाद-विवाद बड़े लम्बे काल तक चलता रहा। भारत सरकार ने यह प्रश्न अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-परिषद् के सामने भी रखा परन्तु उसने भी इस ओर कोई ध्यान नही दिया, यद्यपि इंगलैंड के प्रतिनिधि लार्ड कीन्स (Lord Keynes) ने भुगतान के लिए पूर्ण आश्वासन दिया और बाद में सरकार ने भी इसे स्वीकार कर लिया। ब्रिटिश सरकार ने इसका भुगतान वस्तुओं और सेवाओं के रूप में करने का निश्चय किया था।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात (सन् १९४६-१९५५ तक)

युद्ध समाप्त हुआ परन्तु भारत में युद्धकालीन प्रवृत्तियां वैसी ही बनी रही। युद्ध के बाद भारतीय इतिहास बहुत-सी घटनाओं से पूर्ण है। भारतीय मुद्रा-प्रणाली में बड़े-बडे परिवर्तन हुए। नीति में भी राजनैतिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाने से काफी स्वतन्त्रता की झलक मिलती है। युद्ध के पश्चात् भारतीय मुद्रा-प्रणाली पर कई बातों का प्रभाव पड़ा। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष का निर्माण और उसकी सदस्यता का भारत द्वारा ग्रहण किए जाना, भारत सरकार की मुद्रा-प्रसार विरोधी नीति, रुपये का अवमूल्यन, पौंड-पावने का भुगतान और भारत में प्रथम पञ्च-वर्षीय-योजना का संचालन। निम्न पृष्ठों में इन आर्थिक घटनाओं का अध्ययन किया जायगा।

अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा-कोष[1]

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मुद्रा सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने के लिए संसार के सारे देशों के सहयोग की आवश्यकता थी। युद्ध के कारण विदेशी विनिमय दरों में घोर परिवर्तन हो गए थे। उनमें स्थिरता लाने के लिए युद्धकाल में विशेष परिवर्तन किए गए। जुलाई सन् १९४४ ई० में ब्रैटन वुड्स (Bretton woods) में संयुक्त-राष्ट्र-मौद्रिक-एवं आर्थिक सभा (United Nations Monetary and financial conference) की बैठक में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष (Inrernational Monetary fund) तथा पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for Reconstrution and Development) का निर्माण हुआ। इस सभा में ४४ राष्ट्रों ने भाग लिया था, भारत भी उसका सदस्य था। भारतीय सरकार ने उसकी मुद्रा-कोष की सदस्यता अपनी इच्छा से स्वीकार की थी। युद्ध के पश्चात् भारत के भुगतान-संतुलन (Balance of Payments) में काफी असमानता रही और कोष ने इसमें समानता लाने का भरसक प्रयत्न किया। अगस्त सन् १९४७ को भारत को स्टर्लिंग से अपना सम्बन्ध स्थगित

१. इसका विस्तार पूर्वक अध्ययन आगे दिया गया है।

करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई थी। भारत सरकार ने रुपये की विनिमय-दर १ शि० ६ पेंस ही रक्खी जो आजतक चली आ रही है। ६ सितम्बर सन् १६४६ ई० को 'स्टर्लिंग अवमूल्यन' (Devaluation) के साथ-साथ सरकार ने भी रुपये का अवमूल्यन उसी अनुपात में कर दिया। भारतवर्ष को कोष की सदस्यता से बड़ा लाभ हुआ। अब भी भारत कोष का ६८ करोड़ डालर का ऋणी है। इस सम्बन्ध में यह भी बताना आवश्यक हो जाता है कि बिना कोष की सदस्यता के अन्तर्राष्ट्रीय-बैंक की सदस्यता सम्भव नहीं थी और क्योंकि भारतीय सरकार को देश की अर्थ-व्यवस्था का पूर्ण निर्माण तथा विकास करने के लिए विदेशी ऋणों की आवश्यकता थी जो कि उसे केवल अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से मिल सकता था। इसीलिए उसने कोष की सदस्यता को स्वीकार किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक का मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे साख का निर्माण करना है तथा साख-सम्बन्धी कार्यों में सहयोग देना है। भारत को भी आर्थिक विकास के लिए बैंक ने तीन ऋण दिए। पहला ऋण ३ करोड़ ४ लाख डॉलर का था जो ४ प्रतिशत ब्याज पर प्राप्त हुआ। यह ऋण रेल के ऐंजिन खरीदने के लिए दिया गया था। दूसरा ऋण ३½ प्रतिशत ब्याज की दर पर १ करोड़ डौलर का ट्रैक्टर खरीदने के लिए दिया गया था और तीसरा ऋण १ करोड़ ८५ लाख रुपये का ५ प्रतिशत की दर पर 'बुकारो थरमल प्रणाली' (Bokaro Thermal System) के लिये दिया गया है। इस प्रकार भारत को बैंक की सदस्यता से विशेष लाभ प्राप्त हुए हैं।

युद्धोत्तरकाल की दूसरी समस्या मुद्रा-प्रसार की थी। वैसे तो १६४३ ई० से ही मुद्रा-प्रसार का जोर होने लगा था परन्तु युद्धकाल से इसका जोर और भी बढ़ गया। मुद्रा-प्रसार से उत्पादन को काफी प्रोत्साहन मिला परन्तु मजदूर और मध्यम-वर्ग के लोगों को अनेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ी और इनका रहन-सहन का दर दिन-प्रति-दिन गिरता चला गया। इसके अतिरिक्त अधिक लाभ पाने के लिए वस्तु-संचय और चोर-बाजारी को विशेष प्रोत्साहन मिला। यद्यपि भारत सरकार ने सन् १६४३ ई० में अनेकों प्रयत्न किये जैसे क्रय-शक्ति को कम करने के लिए कर लगाए व ऋण प्राप्त करने के लिए प्रमाण-पत्रों आदि का प्रकाशन किया, और बचत करने की नई योजनाएँ बनाई, मूल्य-नियंत्रण तथा सट्टेबाजी को बन्द करने के लिए उपाय किए। आरम्भ मे तो सरकार को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई परन्तु बाद में इन उपायों के काफी अच्छे परिणाम रहे। मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति युद्ध समाप्त होने के पश्चात् भी बराबर जारी रही। सन् १६४८ ई० में यह इतनी विषम समस्या बन गई कि इसको सुलझाने के लिए भिन्न-भिन्न विधानों की सहायता लेनी पड़ी और विशेष संस्थाओं से सुझाव मांगने पड़े। सरकार ने सामाजिक तथा शिक्षा-सम्बन्धी व शासन-सम्बन्धी कार्य में मितव्ययता के प्रयत्न किए। इसके अतिरिक्त सरकार ने आयकर की दर में वृद्धि की। कृषि आय पर भी कर लगाया और भूमि के लगान पर भी एक निश्चित सीमा के पश्चात् सरचार्ज (Surcharge) लगाया। सरकार ने लोगों के पास से रुपया निकालने के अधिक ब्याज दर वाले बाँड व प्रमाण-पत्र भी निकाले।

सरकार ने रिजर्व-बैंक द्वारा प्रकाशित नोटों की संख्या को कम करने का उपाय किया और बैंकों की उधार देने की शक्ति पर भी नियन्त्रण लगाए इसके अतिरिक्त आयात और निर्यात पर भी नियंत्रण लगाए। सरकार ने कृषि अथवा औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाई। औद्योगिक पूंजी की कमी को दूर करने के लिए एक औद्योगिक-अर्थ-कारपोरेशन (International-finance-Corporation) और विदेशी पूंजी के विनियोग के लिए अनेकों सुविधाएँ प्रदान की। सन् १६५० ई० में इसी विचार से कुछ वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण लगाए और उनके मूल्यों को स्थिर रखने का प्रयत्न किया। मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति को सरकार ने बैंक-दर को ३ से ३½ प्रतिशत बढ़ा दिया जिससे साख-बाजार पर बहुत प्रभाव पड़ा और वस्तुओं के मूल्य एकदम गिर गए।

रुपये का अवमूल्यन (Devaluation of the Rupee)

मुद्रा के दो मूल्य होते हैं—एक तो आन्तरिक मूल्य और दूसरा बाह्य मूल्य। मुद्रा का आन्तरिक-मूल्य वस्तुओं और सेवाओं में आंका जाता है और बाह्य-मूल्य विदेशी मुद्रा की उस मात्रा से नापा जाता है जो एक मुद्रा के बदले प्राप्त होती है। किसी देश की मुद्रा का आन्तरिक मूल्य देश के आन्तरिक स्तर द्वारा सूचित किया जाता है और बाह्य मूल्य विदेशी विनिमय की दर से सूचित की जाती है। मुद्रा-अवमूल्यन से हमारा अभिप्राय मुद्रा के बाह्य मूल्य के कम करने से है।

मुद्रा-अवमूल्यन कई उद्देश्यों से किया जाता है। जब मुद्रा का बाह्य मूल्य अधिक हो जाता है अर्थात् विदेशी विनिमय की दर ऊंची हो जाती है तो निर्यात् में कमी हो जाती है और देश को हानि होती है। इस स्थिति को सुधारने के लिए देश की मुद्रा को अवमूल्यित कर दिया जाता है और शोधनाधिक्य सतुलित हो जाता है। यदि किसी देश को व्यापार में बराबर घाटा हो रहा है तब विदेशी विनिमय की दर को अवमूल्यन द्वारा कम करके घाटे को पूरा किया जा सकता है। अवमूल्यन से देशी वस्तुओं का मूल्य विदेशों में सस्ता हो जाता है और देश में विदेशी-वस्तुएँ महगी हो जाती हैं, जिससे देश में निर्यातों को प्रोत्साहन मिलता है और शोधनाधिक्य में सतुलन आ जाता है। कभी-कभी देश के उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए और उनके सरक्षण के लिए अवमूल्यन की रीति को अपनाया जाता है।

१८ सितम्बर सन् १६४६ ई० की रात्रि को ब्रिटिश सरकार ने अकस्मात् ही स्टर्लिंग का अवमूल्यन करने की घोषणा कर दी। ब्रिटेन ने इसके लिये "मुद्रा-कोष" की सम्मति ग्रहण कर ली थी और उसी के अनुसार पौंड-स्टर्लिंग के मूल्य में ३०.५% की कमी करदी। इस प्रकार पौंड का मूल्य डालर में ४.०३ डालर से घटकर २.८० डालर रह गया था। वास्तव में ब्रिटेन को डालर वाले देशों से व्यापार में बड़ा घाटा हो रहा था। इसी घाटे को पूरा करने के लिए उसने पौंड के अवमूल्यन का निश्चय किया परन्तु यह निश्चय इतना शीघ्र और आकस्मिक था कि कामनवेल्थ के देशों को इसका आभास भी नहीं था। इस स्थिति ने भारत के लिए भी जटिल-समस्या

उत्पन्न कर दी थी क्योंकि दोनों देशो के चलन का सम्बन्ध इतना पुराना हो चुका था और इसको तोड देना इतना सरल भी न था। वास्तव में भारतीय सरकार को स्टर्लिंग के अनुपात में रुपये का अवमूल्यन न करने में कई भय थे। सबसे प्रथम भय तो यह था कि उसको पौड-पावने का भुगतान ब्रिटिश सरकार से लेना था। यदि वह रुपये का अवमूल्यन न करेगी तो पौड-पावने के मूल्य में भारी कमी आ जावेगी। इसके अतिरिक्त भारत-सरकार ने यह भी सोचा कि अन्तर्राष्ट्रीय-बाजार में रुपये का स्वतन्त्र स्थान न था, इसलिये रुपये का अवमूल्यन न करने से भारत को विदेशी व्यापार मे काफी हानि उठानी पड़ेगी। अवमूल्यन की नीति अपनाने के विपक्ष में कुछ लोगो ने यह भी तर्क रक्खा कि भारतवर्ष को इस भीषण-मुद्रा-प्रसार की दशा में यह नीति ग्रहण नही करनी चाहिये क्योकि एक तो वस्तुओ के मूल्य वैसे ही ऊँचे थे और अब विदेशी बाजारो में भारतीय-वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य कम हो जाने के कारण भारतीय-निर्यातो को प्रोत्साहन मिलेगा और देश में वस्तुओ की कमी होने से उनके मूल्य और भी बढ जावेंगे।

इस समय भारत के सम्मुख तीन मुख्य मार्ग थे —

(१) भारत यह निर्णय कर ले कि रुपये का मूल्य पूर्ववत् ही रहे।

(२) रुपये का अवमूल्यन ठीक स्टर्लिंग के अनुपात मे किया जावे या उससे कम या अधिक मात्रा में।

(३) रुपये का सम्बन्ध डौलर से पूर्ववत् ही रहे और उसका मूल्य स्टर्लिंग मे बढ जावे।

प्रथम मार्ग अपनाने में भारत को विशेष कठिनाई का अनुभव इसलिए हो रहा था कि भारतीय रुपये को अन्तर्राष्ट्रीय-क्षेत्र मे कोई स्वतन्त्र स्थान प्राप्त नही था। जहाँ तक तृतीय मार्ग की बात है वहाँ भारत को इस मार्ग को अपनाने में निर्यात की अपेक्षा आयात बढने का भय था। वैसे ही भारत का 'भुगतान-सतुलन' पक्ष में नही था और इस नीति को अपनाने से और भी कठिनाई बढ जाती। परन्तु इससे एक लाभ यह था कि देश का आन्तरिक-मूल्य-स्तर गिर जाता और उपभोग सम्बन्धी वस्तुएँ सस्ती हो जाती।

द्वितीय मार्ग अपनाने में ही सरकार को विशेष लाभ था। परिस्थितियो की यही मांग थी कि रुपये का अवमूल्यन किया जावे। भारत का ७५% प्रतिशत व्यापार कौमनवेल्थ देशो से था जिन्होने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया था। इस प्रकार के अवमूल्यन से न केवल निर्यात ही बढता वल्कि 'भुकतान' संतुलन भी पक्ष में हो जाता। अत. भारत ने रुपये का स्टर्लिग के अनुपात में अवमूल्यन करने की घोषणा की। रुपये का मूल्य १ शि० ६ पेन्स ही रहा, पर डौलर मे उसका मूल्य ३२ सेन्ट से घटकर २१ सेन्ट रह गया।

रुपये का अवमूल्यन करते समय भारतीय सरकार के सम्मुख मुख्यतः निम्नलिखित उद्देश्य थे.—

(१) साख के उत्पादन में वृद्धि करना। स्टर्लिग देशों की वस्तुओं से प्रति-

योगिता करनी और भारतीय वस्तुओं का बाजार डौलर-क्षेत्र में उत्पादन करना।

(२) भारत सरकार अवमूल्यन द्वारा भारतीय वस्तुओं का मूल्य कम करके उनके निर्यात को डालर देशों में प्रोत्साहन देना चाहती थी। इसके साथ-साथ आयात भी कम करना चाहती थी ताकि उसको अधिक-से-अधिक डौलर प्राप्त हो सकें।

(३) क्योंकि स्टर्लिंग-क्षेत्र के बाजारों में भारतीय-वस्तुओं की प्रतियोगियों का अभाव नहीं था इसलिए भारत अवमूल्यन द्वारा इन प्रतियोगियों के होते हुए भी अपने व्यापार की स्थति को ठीक रखना चाहता था। यदि वह इस नीति को नहीं अपनाता तो भारत के प्रतिद्वन्द्वी और भी अधिक शक्तिशाली हो जाते और स्टर्लिंग-क्षेत्र से भारत के निर्यात व्यापार के समान होने की सम्भावना हो सकती थी।

(४) भारत के सम्मुख एक यह भी उद्देश्य था कि वह अपने स्टर्लिंग भुगतान को सतुलित रखना चाहता था ताकि पौंड-पावने की समाप्ति के पश्चात् भी भुगतान संतुलित बना रहे।

(५) अन्त में भारत प्रसिद्ध-प्रसिद्ध देशों के साथ विनिमय-दर को स्थिर रखना चाहता था। रुपये के अवमूल्यन से भारतीय-सरकार के सम्मुख बहुत सी नई कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं, परन्तु भारतीय-सरकार ने बडे ही सोच-विचार से काम लिया। भारतीय वित्त-मन्त्री ने इन समस्याओं को सुलझाने के लिए एक योजना बनाई। इस योजना के अन्तर्गत निम्न बातों का समावेश था:—

(१) अवमूल्यन के पश्चात भारत को अपनी व्यापार-नीति इस प्रकार बनानी चाहिए कि विदेशी-विनिमय का कम-से-कम व्यय हो सके।

(२) भारत के आन्तरिक-मूल्य-स्तर में जो वृद्धि हो रही है उसको या तो साख का नियन्त्रण करके या विधान द्वारा रोकने का प्रयत्न करना चाहिए।

(३) अधिक डौलर तथा अन्य दुर्लभ-मुद्राओं को प्राप्त करने के लिए उन देशों में जाने वाले भारतीय-निर्यात पर कर लगा देने चाहिएं।

(४) भारत को कम-से-कम मूल्य पर अन्य देशों से औद्योगिक माल मंगाना चाहिए।

(५) भारतीय-उत्पादन को बढाने का प्रयत्न करना चाहिए।

(६) वर्तमान वर्ष में भारत सरकार को कम-से-कम ४० करोड़ रुपये की बचत करनी चाहिए और इसके अगले वर्ष में कम-से-कम इससे दुगनी बचत करनी चाहिए।

(७) वह व्यक्ति जिनके नाम कर-अनुसंधान समिति (Tax Investigation Commiittee) को प्रस्तुत न किये गये हों, उनको आय-करों के भुगतान करने के लिये सुविधा देनी चाहिये।

(८) प्रान्तीय सरकारों का सहयोग प्राप्त करके आवश्यक वस्तुओं के मूल्य में कम से कम १० प्रतिशत कमी हो जानी चाहिये।

भारतीय सरकार ने इस योजना को कार्यान्वित करने का पूर्ण प्रयत्न किया।

इसके अतिरिक्त अवमूल्यन भी भारतवर्ष के हित में ही रहा क्योंकि इसके पश्चात जो आर्थिक घटनायें घटी उन सबसे यह ही सिद्ध होता है कि भारतवर्ष का उस समय का निर्णय ठीक ही था। वित मन्त्री, श्री देशमुख के अनुसार सन् १९४९ के पश्चात व्यापाराधिक्य सम्बन्धी जितने भी सुधार हुए वे सब अवमूल्यन ही के प्रभाव से थे। सन् १९४९ और सन् १९५० के बीच में हमारा घाटा लगभग ७१ करोड़ रुपये कम हुआ था और अगले वर्ष तो घटकर ४ करोड़ ही रह गया था। हो सकता है यह कमी पूर्णरूप से अवमूल्यन के कारण हुई हो, परन्तु सच यह है कि यह घाटा आयातो पर नियंत्रण करने के कारण भी कम हुआ था। अगले वर्षो में इस घाटे मे फिर वृद्धि हुई। सन् १९५२–५३ में यह घाटा बढकर २३२.६२ करोड़ रुपए हो गया था लेकिन इसका मुख्य कारण व्यावसायिक मन्दी थी जो कि कोरिया की लडाई समाप्त होने के पश्चात् ही आरम्भ हो गई थी। हमारे कच्चे माल के मूल्य काफी गिर चुके थे और हमारा निर्यात व्यापार बहुत कम हो गया था। वैसे स्टर्लिंग क्षेत्र के सभी देशो को अवमूल्यन से लाभ हुआ था। जहा तक भारतवर्ष के व्यापाराधिक्य का डौलर देशो से सम्बन्ध है, यह बताना अनुचित न होगा कि सन् १९४९ में जो घाटा ५३ करोड़ रुपये था वह सब चुक कर सन् १९५० मे २९ करोड रुपए की और बचत हुई थी। इस प्रकार भारत की जो डालर समस्या थी वह सुलझ गई।

परन्तु इस बात को स्वीकार करने में किसी को भी आपत्ति न होगी कि हमे अपनी अर्थ-व्यवस्था को सुधारने में केवल आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई थी। 'भुगतान संतुलन' हमारे पक्ष में होने के कारण देश में मुद्रा की पूर्ति बढ गई जिसका परिणाम यह हुआ कि देश का मूल्य स्तर बढने लगा। सन् १९४९ में मूल्य सूचक अक ३९० था जो सन् १९५१ में ४५८ हो गया था। ऐसी स्थिति में भारत सरकार को विशेष उपाय अपनाने पड़े। कुछ वस्तुओ के मूल्य पर नियंत्रण करना पडा और १५ जून सन् १९५० के मूल्यो के आधार पर अधिकतम मूल्य निश्चित कर देने पडे। अप्रैल सन् १९५३ से तो मूल्यो के गिरने की ही प्रवृत्ति रही है।

अवमूल्यन का भारत और पाकिस्तान के व्यापारिक सम्बन्धो पर भी विशेष प्रभाव पडा। पाकिस्तान ही समस्त कामनवैल्थ (Commonwealth) देशो में एक ऐसा देश था जिसने अपने रुपए का अवमूल्यन नही किया था। पाकिस्तान के इस निश्चय से भारतीय अर्थ व्यवस्था को गहरा धक्का पहुँचा था, क्योंकि पाकिस्तानी रुपये का मूल्य २ शि० १·६ पैंस था अर्थात् पाकिस्तान का रुपया भारतवर्ष के १·४४ रुपयो के बराबर था। भारतीय सरकार द्वारा इस नई दर के अस्वीकार किये जाने के कारण हमारा व्यापार पाकिस्तान से कुछ समय के लिये स्थगित हो गया था। परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary fund) द्वारा इस दर के स्वीकार होने के पश्चात् भारत ने भी सन् १९५१ में पाकिस्तान से एक व्यापार समझौता किया, जिससे व्यापारिक क्षेत्र के अतिरिक्त देश के उत्पादन पर भी प्रभाव पड़ा। हमारे देश मे कच्चे जूट और कपास की कमी हो जाने के कारण भारत सरकार को इन चीजो के आयात में ४४ प्रतिशत मूल्य अधिक देना पडता था। पाकिस्तान के ऋण के भुगतान करने में भी भारत को

८० से ६० करोड़ रुपयों तक का घाटा हुआ। अतएव पाकिस्तान से जो माल भारतवर्ष में आता था उसका मूल्य भारतवर्ष में ४४ प्रतिशत महगा पडता था और भारतवर्ष से जो माल पाकिस्तान को निर्यात होता था उसका मूल्य पाकिस्तान में ४४ प्रतिशत सस्ता होता था। पाकिस्तान ने केवल भावावेश में आकर राजनैतिक परिस्थितियो का अध्ययन करके ही यह नीति अपनाई थी और इसी नीति के कारण वह अपनी अर्थ-व्यवस्था को, विनिमय दर स्थिर रखकर, दृढ बना सका। कोरिया की लड़ाई ने भी काफी सहायता की। इसके अतिरिक्त विश्व स्थिति कुछ ऐसी बनती रही कि पाकिस्तान को लाभ ही होता रहा। इस सम्बन्ध में डा० बी० के० आर० बी० राव का कथन है कि, "जिस देश में पर्याप्त निधि न हो, व्यापार सतुलन अनिश्चित हो, अर्थ-व्यवस्था अविकसित हो और विदेशी पूँजी की कमी हो, उस देश के लिये अपनी मुद्रा को बढाना एक प्रकार का जुआ है।"

पौंड-पावनो के भुगतान में हमको अवमूल्यन के कारण कोई हानि नही उठानी पडी। इसके अतिरिक्त विदेशी ऋण मिलने में काफी सहायता मिली। हमारे देश में विदेशी पूंजी और मुख्यतया अमेरिकन डालर का विनियोग बढता ही गया, परन्तु एक बुरा प्रभाव यह पडा कि डालर व अन्य दुर्लभ मुद्रा (Hard Currency) वाले देशो से जो आयात किया जाता था उसके लिये अब हमें पहले से अधिक खर्च करना पड़ता था, जिससे हमारी बहुत सी आर्थिक योजनायें अधूरी रह गईं।

पुनर्मूल्यन (Revaluation)

पिछले कुछ समय से भारतीय अर्थशास्त्रियो ने रुपये के पुनर्मूल्यन के पक्ष मे बहुत कुछ कहना आरम्भ किया है। जौन मैथाई (John Mathai) जैसे महान् अर्थ-शास्त्री ने भी इसका समर्थन किया। जो व्यक्ति इसके पक्षपाती है उन्होंने निम्न तर्क रक्खे है —

(१) भारतीय आयातो का मूल्य सस्ता हो जायगा।

(२) भारतीय निर्यातो को पहले की अपेक्षा अधिक मूल्य मिलेगा। मूल्य वृद्धि से हमारे निर्यात पर विशेष प्रभाव नही पड़ेगा, क्योकि हमारे निर्यातो की माग अधिकतर बेलोच है।

(३) देश में बढते हुए मूल्य-स्तर को नीचे लाने का एक मात्र उपाय यही है, क्योकि लोगो में बचत करने की भावना का अभाव है। सार्वजनिक व्यय बढता ही जा रहा है क्योकि भारतीय मुद्रा बाजारों में साख का नियत्रण सम्भव नही है। सट्टे की प्रवृत्ति भी पहले से कम नहीं हुई है। विकास योजना के सचालन से हमारा व्यय दिन-प्रतिदिन बढता जा रहा है। मूल्य-नियत्रण की नीति हमारे हित मे नही है क्योकि भारतीय कर भुगतान की शक्ति (Indian Tax paying Capacity) एक न्यूनतम सीमा पर पहुँच चुकी है, इसलिये रुपये का पुनर्मूल्यन आवश्यक हो गया है।

(४) कुछ लोगो का तर्क है कि आरम्भ में अवमूल्यन केवल शोधनाधिक्य (Balance of Payment) को सतुलित करने के लिये किया गया था। अब क्योकि

स्थिति बिल्कुल बदल गई है और मूल्य-स्तर तथा जीवन-स्तर काफी बढ गया है इस लिये पुनर्मूल्यन आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को सुधारने के लिये एक मात्र उपाय है।

(५) कुछ लोगों का मत यह भी है कि क्योंकि हमारे देश में उपभोग की वस्तुओं का बहुत अभाव है, इसलिये पुनर्मूल्यन से इन वस्तुओं के आयात को प्रोत्साहन मिलेगा।

पुनर्मूल्यन के विपक्ष में (Against Revaluation)

पुनर्मूल्यन के विरोधियो ने इसके विपक्ष मे निम्न तर्क रक्खे हैं :—

(१) यदि भारत की देखादेखी कौमनवैल्थ के सारे देश पुनर्मूल्यन की नीति को अपनाये तो स्थिति बिलकुल भी सुधर नही पायेगी। इसीलिये यह कैसे विश्वास किया जाय कि भारत की पुनर्मूल्यन की नीति अपनाने से अन्य देश इस नीति को नही अपनायेंगे।

(२) पुनर्मूल्यन से हमारे देश में विदेशी वस्तुओं का मूल्य सस्ता हो जाएगा। देशवासी विदेशी वस्तुओं को अपनाना आरम्भ कर देंगे, जिससे विदेशी उद्योगो को प्रोत्साहन मिलेगा और देशी उद्योगो को बहुत हानि पहुँचेगी।

(३) यदि भारत अकेला ही इस नीति को अपनायेगा तो वह दुर्लभ मुद्रावाले देशो में होने वाले निर्यातो में स्टर्लिंग क्षेत्र के अन्य देशो से प्रतियोगिता नही कर पायेगा।

(४) श्री चिन्तामणि देशमुख का कहना है कि रुपये का मूल्य बढाने से भारत का व्यापारिक सतुलन (Balance of Trade) उसके विपक्ष में हो जायगा। उन्होंने अनुमान लगाया था कि रुपये के मूल्य में १५ प्रतिशत वृद्धि करने से देश के व्यापारिक सन्तुलन को ५० करोड़ और ३० प्रतिशत वृद्धि करने से १३५ करोड रुपयो का घाटा हो सकता है।

(५) यह कहना अनुचित न होगा कि पुनर्मूल्यन के पक्षपातियों का यह तर्क कि हमारे अधिकतर निर्यातो की माँग बेलोच है, केवल एक भ्रम है। यद्यपि मैंगनीज़ और अबरक जैसी वस्तुओं में एकाधिकार अवश्य है परन्तु अन्य सभी वस्तुओं में काफी प्रतियोगिता का सामना करना पडता है, जैसा कि जूट और चाय में।

(६) कुछ लोगो का यह भी विचार है कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में देश की प्रतिष्ठा को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि जो भी नीति अपनाई जाय वह दीर्घकालीन हो। केवल अल्पकालीन लाभ कमाने लिये विनिमय दर में हर बार परिवर्तन करना ठीक नही रहता।

(७) स्टर्लिंग क्षेत्र के विभिन्न देशो को जो निर्यात हो रहा है, उसमें पुनर्मूल्यन द्वारा वस्तुओं का मूल्य बढ जाने से काफी हानि होगी।

(८) पुनर्मूल्यन के पक्षपातियो का यह कहना कि अब क्योंकि व्यापार सन्तुलन अनुकूल हो गया है, पुनर्मूल्यन करने में कोई हानि नही होगी, एक भूल है। वे यह नही जानते कि भारत ने व्यापार को सतुलित रखने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष से १०० मिलियन डालर का ऋण लिया था, जो अभी तक नही चुका पाया है, इसलिये

वह कोष कभी भी भारत को अब पुनर्मूल्यन की नीति नहीं अपनाने देगा।

उपरोक्त बातों से यह ही सिद्ध होता है कि रुपये का पुनर्मूल्यन भारत के लिये लाभप्रद नहीं रहेगा। जहाँ तक पाकिस्तान से व्यापाराधिक्य के घाटे का प्रश्न है वह भी अब सुलझ गया है। पाकिस्तान ने अप्रैल सन् १९५५ से रुपये का अवमूल्यन कर दिया है, इसलिये इस सम्बन्ध में भारत के लिये कोई विशेष समस्या नहीं रह जाती। उधर मूल्य-स्तर भी गिर रहा है। हमारा लक्ष्य केवल व्यापाराधिक्य के सन्तुलन प्राप्त करना ही नहीं है, बल्कि हमको आयातों के घाटे को पूरा करने के लिये कुछ अधिक विदेशी विनिमय प्राप्त करना भी है, इसलिये हमको अपने निर्यात भी बढ़ाने हैं। अब पुनर्मूल्यन का महत्व बहुत कम रह गया है। हाँ, यदि परिस्थितियों में परिवर्तन होता है तो पुनर्मूल्यन का महत्व बढ़ सकता है, जैसा कि श्री देशमुख ने कहा था कि, "अभी हम पुनर्मूल्यन न करने का निश्चय कर चुके हैं, क्योंकि देश का हित इसी में है, परन्तु इस निर्णय को अन्तिम या स्थायी नहीं कहा जा सकता। यदि परिस्थितियों में अनुकूल परिवर्तन होते हैं तो सम्भव है कि भविष्य में हमें इसपर विचार करना पड़े।"

रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण[1] (Nationalisation of the Reserve Bank)

पिछले कुछ वर्षों से केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न ने एक अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है। वैसे तो इसकी माँग काफी लम्बे समय से हो रही थी। भारतीय रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण की माँग भी बहुत पुराने समय से चलती आ रही है। इसको स्थापित करते समय ही कुछ व्यक्तियों का मत था कि इसकी स्थापना एक सरकारी बैंक के रूप में होनी चाहिये, परन्तु सन् १९३४ में इसको एक प्राइवेट बैंक के रूप में स्थापित करने का निर्णय किया गया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रीयकरण की माँग ने फिर जोर पकड़ा और अन्त में सन् १९४७-४८ के बजट में इसके राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था करके सन् १९४९ में १ जनवरी से इसको राष्ट्रीय बैंक बना लिया गया।

राज्य बैंक की स्थापना[1] (Establishment of the State Bank of India)

पुरानी इम्पीरियल बैंक को अप्रैल सन् १९५५ से सरकार ने अपने अधिकार में ले लिया था और १ जुलाई सन् १९५५ से इसका नाम राज्य बैंक रख दिया है।

मुद्रा प्रसार विरोधी नीति

सन् १९४८ तक भारतीय व्यापाराधिक्य में कोई विशेष संतुलन नहीं रहा था, यद्यपि युद्ध समाप्त होने तक यह भारत के पक्ष में ही रहा। लड़ाई के बाद देश के मूल्य-स्तर बढ़ने के कारण और देश में खाद्यान्न की कमी को दूर करने के लिये सरकार ने

१—इसका पूर्ण विवरण आगे दिया गया है।

आयात-नियन्त्रणों को कुछ ढीला कर दिया था। भारत ने अपनी आर्थिक विकास योजनाओं को सफल बनाने के लिये अमेरिका, इंगलैंड इत्यादि देशो से काफी संख्या में मशीनें तथा अन्य वस्तुएँ मंगवाईं। लडाई के बाद हमारे आयातो में आशा के विरुद्ध वृद्धि हुई और परिणामस्वरूप हमारा व्यापाराधिक्य हमारे विपक्ष में हो गया। भारतीय रुपये के अवमूल्यन के पश्चात् स्थिति में कुछ सुधार हुआ था, परन्तु आजकल हमारा व्यापाराधिक्य हमारे विपक्ष में चल रहा है।

भारत के मूल्य-स्तर में, हाल ही के कुछ वर्षों से, घटने की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हुई है। सन् १९५१ में रिजर्व बैंक द्वारा बैंक दर ३ से ३½% कर दी जाने के कारण सोने और चादी के मूल्यों में बडे परिवर्तन हुए थे। सोने का मूल्य ११४ रुपये से गिरकर ७० रुपये हो गया था और उसी वर्ष चांदी १९८ रु० फी सैकडा तोलो से गिरकर १३९ रु० तक आ गई थी। अब रिजर्व बैंक, राष्ट्रीयकरण के पश्चात् कीमतो के नियन्त्रण का कार्य अधिक सफलता से कर रहा है।

पौंड पावने का भुगतान

युद्ध के पश्चात् भारतीय सरकार के सामने पौंड पावने के भुगतान की भी एक समस्या थी। जनवरी सन् १९४७ में भारत और इंगलैंड के बीच एक समझौता हुआ, परन्तु इंगलैण्ड और अमेरिका के बीच एक नया समझौता होने से स्थिति काफी बदल गई जिससे इंगलैंड और भारत के बीच का समझौता बिल्कुल बेकार हो गया।

४ अगस्त, सन् १९४७ का समझौता—४ अगस्त १९४७ को भारत और इंगलैंड के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार पौंड पावने की रकम ११४७ करोड़ रुपये (1160 Millions sterling) निश्चित की गई। इस समझौते के अधीन पौंड-पावने-सम्बन्धी दो खाते खोले गये। पहले खाते में ६ ५ करोड़ पौंड जमा कर दिये गये थे, जिस राशि से भारत किसी भी देश से माल मगा सकता था और ११६ करोड़ पौंड दूसरे खाते मे रखे गये, जिस राशि से भारत केवल पूंजीगत माल ही खरीद सकता था। रिजर्व बैंक ने दूसरे खाते की रकम में से ४० करोड़ रुपये चालू अन्तर के लिये रखे और ४७ करोड रुपये विदेशी विनिमय प्राप्त करने के लिये।

जनवरी, सन् १९४८ का समझौता—जनवरी सन् १९४७ के समझौते के बाद एक और समझौता जनवरी सन् १९४८ में हुआ, जिसके अनुसार भारत को २४ करोड रुपये और अधिक व्यय करने के लिये मिल गये थे। इस प्रकार भारत को अबतक ८३ मिलियन पौंड उपयोग करने का अधिकार मिल चुका था परन्तु कोई निश्चित आयात योजना न होने के कारण भारत कुल २ मिलियन पौंड ही खर्च कर सका।

जुलाई, सन् १९४८ का समझौता—जनवरी सन् १९४८ के समझौते के समाप्त होने पर दोनो सरकारो के बीच एक नया समझौता जुलाई सन् १९४८ में हुआ। इस समझौते के अन्तर्गत निम्नलिखित मुख्य बातें तय हुईं :—

(१) सन् १९४७ में इंगलैंड द्वारा छोड़ा गया सारा फौजी माल भारत सरकार ने अपने कब्जे में कर लिया, जिसका मूल्य १३३·३ करोड रुपये तय किया गया।

यह रकम हमारे पौंड पावने की रकम में से घटा दी गई थी।

(२) भारत सरकार को पुराने अंग्रेज अफसरों के स्वतन्त्रता के बाद के वेतनों के रूप में जो राशि इगलैंड को देनी थी, उसके भुगतान के लिये भारतीय सरकार ने इग्लैंड की सरकार से एक वार्षिकी (Annuity) खरीद ली, जिसका मूल्य १६७ करोड़ रुपये तय हुआ। इसका भुगतान भी हमारे पौंड पावने में से किया गया। कुछ अंग्रेज अफसरों को प्रान्तीय सरकारें भी कम कर रही थीं, उनके वेतनों की वार्षिकी २७ करोड़ रुपये निश्चित हुई थी और यह भी हमारे पौंड पावने में से कम कर दी गई थी।

(३) पौंड पावने की जितनी राशि का प्रयोग करने के लिये जो अधिकार भारतीय सरकार को मिला था उसकी पूरी मात्रा का उपयोग वह नहीं कर पाई थी, इसलिये इस समझौते में पिछली पौंड पावने की राशि को उपयोग में लाने का अधिकार भारत सरकार को फिर से मिल गया था। इसके अतिरिक्त अगले तीन वर्षों में अर्थात् ३० जून, सन् १९५१ तक भारत को उतनी ही राशि के पौंड पावने उपयोग करने का अधिकार और प्राप्त हुआ था। इस प्रकार हमारे पौंड पावने की स्थिति यों थी:—

इस समझौते से पूर्व पौंड पावने की कुल राशि—१५५० करोड़ रुपया।

कुल व्यय —

(क) फौजी सामान के क्रय में—	१३३ करोड़ रुपया
(ख) अंग्रेजी अफसरों की वार्षिकी—	२२४ करोड़ रुपया
(ग) पाकिस्तान का हिस्सा—	१२६ करोड़ रुपया
कुल व्यय—	४८३ करोड़ रुपया
शेष	१०६७ करोड़ रुपया

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अब कुल पौंड पावने १०६७ करोड़ रुपये के रह गये थे, जिसमें से २१४ करोड़ रुपये अगले तीन वर्षों में निकालने का अधिकार मिल गया था। इसके अतिरिक्त इसी समझौते के अन्तर्गत यह भी तय हुआ कि भारतवर्ष २० करोड़ रुपये से अधिक की दुर्लभ मुद्रा एक साल में नहीं खरीद सकता।

जुलाई सन् १९४९ का समझौता—इगलैंड को डालर की विशेष कमी अनुभव होने के कारण एक नये समझौते की आवश्यकता मालूम पड़ी। यद्यपि पिछला समझौता सन् १९५१ तक के लिये हुआ था, परन्तु वह सफलतापूर्वक नहीं चल सका। इस समझौते के अन्तर्गत विभिन्न रकमों का उपयोग निम्न प्रकार हुआ :—

वर्ष	भुगतान की रकम (करोड़ पौंड में)
१९४८–४९	८·१०
१९४९–५०	५ ००
१९५१–५२	५·००

इसके अतिरिक्त भारत को यह भी सुविधा प्रदान की गई थी कि वह अपने केंद्रीय कोष (Cental Reserve) में से १४ या १५ करोड़ डालर तक ले सकता है और विश्व बैंक से भी डालर ऋण लेकर माल खरीद सकता है। यह केवल डालर की कमी को

दूर करने के लिये किया गया था। भारत सरकार को यह भी वचन देना पडा था कि वह अपने डालर आयातो को २५ प्रतिशत कम कर देगी।

फरवरी, सन् १९५२ का समझौता—भारत और इगलैड की सरकारों मे पौंड पावने के भुगतान के सम्बन्ध में एक और समझौता ८ फरवरी सन् १९५२ को हुआ। इस समय तक हम पौंड पावने का अधिकाश भाग समाप्त कर चुके थे और हमारे पास कुल ७६१ करोड़ रुपये के पौंड पावने शेष रह गये थे। नये समझौते के अनुसार यह तय हुआ कि ३० जून सन् १९५७ तक ब्रिटिश सरकार हर साल ३·५ करोड पौंड चुकायेगी। एक ऐसी भी व्यवस्था की गई जिसके द्वारा ३१ करोड़ पौंड की रकम खाता नं० १ में रक्खी जायगी, जिसका उपयोग भारत केवल सकटकाल में ही, ब्रिटिश सरकार की स्वीकृति प्राप्त कर के ही कर सकेगा। इस व्यवस्था के अनुसार उक्त समझौते की अवधि के ३० जून १९५७ को समाप्त हो जाने के बाद जितने पौड पावने शेष रह जायेंगे उनके लिये नया समझौता किया जावेगा। भारत सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में (१९५१–५६) विविध विकास कार्यो पर अपने पौंड पावने में से २९० करोड रुपये की राशि व्यय करने का निश्चय किया था। परन्तु वास्तव में इस काल में बहुत कम राशि निकाली जा सकी थी और जून १९५४ में ७४४ करोड रु० के पौंड पावने शेष बचे थे। इस समय सरकार लोहा व इस्पात के कारखानो तथा अन्य बडे उद्योगो की भारी मशीनो का आयात कर रही है, जिसमें हमारी स्टर्लिग पूँजी का भारी भाग व्यय हो चुका है। जनवरी १९५६ में पौड पावने ७४२ करोड़ रु० से घटकर नवम्बर १९५६ में केवल ५३६ करोड रु० के रह गये थे और मई १९५७ में तो केवल ५०० करोड़ रु० के पौड पावने शेष रह गये हैं। सन् १९६०-६१ तक अर्थात् द्वितीय योजना के अन्त तक यह अनुमान लगाया जाता है कि हमारी समस्त स्टर्लिंग पूजी समाप्त हो जायेगी।

ग्यारहवाँ अध्याय

भारत में कागज़ी मुद्रा-प्रणाली

भारतवर्ष में कागजी मुद्रा का इतिहास उन्नीसवी शताब्दी से आरम्भ होता है। सर्वप्रथम जबकि बंगाल प्रेसीडेन्सी बैंक (Bengal Presidency Bank) की १८०६ में स्थापना हुई थी, तभी से कागजी मुद्रा का प्रकाशन भारतवर्ष में प्रारम्भ हुआ। सन् १८४० में बम्बई प्रेसीडेन्सी बैंक और १८४२ में मद्रास प्रेसीडेन्सी बैंक खोले गये। इन तीनो बैंको को सरकार द्वारा नोट प्रकाशन का अधिकार प्राप्त था, परन्तु उनके नोट प्रकाशन के अधिकार की एक अधिकतम सीमा निश्चित कर दी गई थी, और उनको ३३ प्रतिशत नकद रुपये के रूप में सुरक्षित कोषो में रखना पडता था। इन नोटो का चलन केवल कलकत्ता, बम्बई और मद्रास जैसे नगरो में ही होता था। कहने को यह बैंक व्यक्तिगत सस्थाएँ थी, परन्तु इनमें अधिकाश हिस्से सरकार के ही थे, इसीलिये इनके प्रबन्ध में सरकार का अधिक हाथ रहता था। यह प्रथा सन् १८६१ से पूर्व थी, परन्तु १८६१ में बैंको से नोट प्रकाशन का अधिकार लेकर सरकार ने उसे अपने हाथ में ले लिया। एक कागजी मुद्रा विभाग की स्थापना की गई जिसको नोट-प्रकाशन का कार्य सौंपा गया। भारतवर्ष को नोट-प्रकाशन की दृष्टि से ही तीन क्षेत्रो में बाँटा गया। ये क्षेत्र कलकत्ता, बम्बई और मद्रास थे। और इनमें से एक क्षेत्र द्वारा प्रकाशित नोट दूसरे क्षेत्र में कानूनी ग्राह्य (Legal Tender) नही थे। नोट-प्रकाशन के सम्बन्ध में उस समय मुद्रा-सिद्धान्त अपनाया गया था, "नोटो के बदले में करेन्सी अफसर को उतनी परिमाण की मुद्रा या सोने चाँदी की सिल्लियाँ सुरक्षित कोष में रखनी पडती थी।" अतएव नोट-प्रकाशन से सरकार को कोई लाभ नही पहुँचा और रुपयो की अपेक्षा नोटो से अधिक बचत भी नही होती थी। टकसाले बन्द कर दी गई और १८९३ मे इन नियत्रणो को ढीला किया गया जबकि रुपया एक साकेतिक मुद्रा (Token Coin) बन गया और सुरक्षित कोषो में पहले की अपेक्षा कम चाँदी रखने की आवश्यकता अनुभव हुई। सन् १८९८ में सुरक्षित कोष का एक भाग इंगलैंड चाँदी खरीदने के लिये भेज दिया गया। सुरक्षित कोष का यह भाग पहले ही से इगलैंड में सोने के रूप में रक्खा हुआ था। इस भाग को और भी अधिक प्रबल बनाने के लिये और नोटो का प्रचार करने के लिये भी सरकार ने छोटी राशि के नोटो को चलाने का प्रयत्न किया।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि सरकार द्वारा प्रकाशित यह कागजी नोट केवल अपने-अपने २ क्षेत्र मे ही कानूनी ग्राह्य थे, और रुपयों में परिवर्तनशीलता भी केवल प्रधान कार्यालय पर ही आधारित थी। परन्तु बाद में धीरे-धीरे सन् १९११ तक सरकार ने सौ रुपये तक के नोटो को सभी क्षेत्रो के लिये कानूनी ग्राह्य बना दिया था।

सन् १८६१ के कागज़ी मुद्रा कानून के अनुसार भारत में एक निश्चित असुरक्षित-नोट-प्रकाशन प्रणाली (Fixed Fiduciary System) थी। इन असुरक्षित नोटो की मात्रा आरम्भ में ४ करोड़ रुपये थी और १९१९ में यह २० करोड रुपये हो गई। यह सच है कि इस प्रणाली में सुरक्षा और परिवर्तनशीलता थी और साथ ही साथ नोटों के अधिक प्रकाशन पर भी उचित नियंत्रण थे। किंतु इस प्रणाली में काफी दोष थे। जैसे, इस प्रणाली में स्वयं-सचालकता अभाव था और असुरक्षित नोटो की मात्रा बढ़ाने के लिये हर समय नये नये कानूनो की आवश्यक्ता होती थी। इसके अतिरिक्त काफी मात्रा में सोना सुरक्षित कोपो में बन्द पडा रहता था। तीसरे केन्द्रीय बैंक के अभाव में सरकार कोष की निधि कोषागारो में बन्द रखती थी जिसका समृद्धिकाल में व्यावसायिक उन्नति के लिये कोई उपयोग नही था। अन्त में यह प्रणाली लोचपूर्ण भी नही थी क्योकि नोटो की मात्रा में परिवर्तन करना असम्भव हो जाता था। सन् १९१३ में इस सम्बन्ध में 'चैम्बरलेन कमीशन' ने अपने सुझाव रक्खे थे। उन्होंने सिफारिश की, कि सुरक्षित कोष के असुरक्षित भाग को ३४ करोड रुपये से २० करोड रुपये कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त अन्य कई सुझाव भी रक्खे गये परन्तु इन सुझावो के द्वारा कोई भी सुधार न हो सका क्योंकि जैसे ही सरकार ने सिफारिशो पर विचार करना आरम्भ किया था कि प्रथम महायुद्ध छिड़ गया।

युद्ध के आरम्भ में भारतीय कागज़ी मुद्रा-प्रणाली पर बहुत दबाव पड़ा। लोगो ने बहुत बडी संख्या में नोटो के बदले में सोना माँगना आरम्भ कर दिया। यह अनुमान लगाया गया था कि युद्ध के पहले आठ महीनो में ही १० करोड रुपये के नोट वदले जा चुके थे। आरम्भ मे तो सरकार जनता में विश्वास उत्पन्न करने के लिये नोटों को बदलती रही, परन्तु बाद में सरकार को इनकार करना पडा। सरकार ने मूल्यवान धातुओ की कमी का अनुभव किया और इसीलिये प्रतिभूतियों की आड रखकर असुरक्षित भाग को २० करोड़ रुपये से बढ़ाकर १२० करोड रुपये तक कर दिया।

भारत के बढते हुए व्यापार के कारण धन की माग दिन-प्रति-दिन बढ रही थी जिसको पूरा करने के लिये सुरक्षा कोष में प्रतिभूतियो (Securities) की सख्या बढानी पड़ी। ब्याज की दर में वृद्धि हो जाने कारण इनका बाजारू मूल्य बहुत काफी गिर गया था। इसीलिये यह तय किया गया कि इन प्रतिभूतियो की जगह ज्यादा अच्छी प्रतिभूतियाँ लगाई जायें। इस दृष्टिकोण से कागज़ी मुद्रा विनियोगो के सूद से एक नई निधि स्थापित की जाय, जो "कागजी मुद्रा सुरक्षित-कोष-ह्रास-निधि" (Paper Currency Reserve Depreciation Fund) के रूप में स्थापित किया जाय।

युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भारतीय मुद्रा प्रणाली पर विचार करने के लिये 'बैबिंगटन स्मिथ कमेटी' नियुक्त की गई। कमेटी मुद्रा प्रणाली में अधिक लोच उत्पन्न करना चाहती थी और सुरक्षित कोषो में धातु की पर्याप्त मात्रा रखना चाहती थी। इसलिये उसने दो सुझाव रक्खे :—

(१) कमेटी का पहला सुझाव यह था कि अरक्षित भाग के प्रकाशन से अधिक ५ करोड़ रुपये के नोटों की और व्यवस्था की जानी चाहिये और यह रकम प्रान्तीय

बैंको के निर्यात बिलो की आड पर ऋणो के रूप में प्राप्त की जानी चाहिये ।

(२) इसके अतिरिक्त कमेटी ने यह भी सुझाव रक्खा कि सुरक्षित कोष का धातु भाग कुल कागजी मुद्रा की सख्या का कम से कम ४० प्रतिशत रहना चाहिये ।

सरकार ने यह सुझाव स्वीकार किये, और नोटो की परिवर्तनशीलता पर से सारे प्रतिबन्ध हटा लिये । पत्र-मुद्रा प्रणाली में लोच उत्पन्न करने के लिये 'बैबिंगटन स्मिथ कमेटी' के सुझाव इतने साहसपूर्ण थे कि सरकार को उनको पूर्णतया कार्यान्वित करना कठिन था । यह ध्यान में रख कर कि भारतीय जनता अशिक्षित थी और कागज़ी मुद्रा की अपेक्षा धातु मुद्रा का प्रयोग अधिक पसद करती थी, धात्विक भाग की सीमा ४० प्रतिशत बहुत अधिक थी । इसके अतिरिक्त कमेटी ने सुरक्षित कोष में रखने वाली प्रतिभूतियो की जो सीमा निश्चित की थी वह भी उचित नही थी । इसीलिये सरकार ने सुझावो के बल को अनुभव करते हुए उनमें कुछ सशोधन किये, जिन्हे सन् १९२० के कागज़ी मुद्रा नियम (Paper Currency Act) तथा सन् १९२३ के कानून में सम्मिलित कर लिया । इस नियम के आधीन निम्न परिवर्तन किये गये थे :—

(१) कुल निधि का कम से कम ५० प्रतिशत भाग धातु मे होना चाहिये ।

(२) निधि के शेष भाग को दो भागो में विभाजित कर दिया गया था—पहले भाग में २० करोड रुपये की प्रतिभूतियाँ भारत में रखी जा सकती थी और दूसरे भाग में २० करोड रुपये के ऊपर जितने भी नोट प्रकाशित किये जाएँ उनके लिये निधि में अल्पकालीन प्रतिभूतियाँ लदन में रखना अनिवार्य था, परन्तु इन प्रतिभूतियो की अवधि १२ महीनो से अधिक नही होनी चाहिये ।

(३) ऐसे बिलो की आड पर जिनकी समय अवधि ९० दिन से नही है, सरकार ५ करोड रुपये तक के नोट छाप सकती थी ।

(४) लंदन में भारत सरकार का मत्री ५० लाख पौड से अधिक कीमत का सोना रख सकता था ।

उपरोक्त परिवर्तनो में केवल एक परिवर्तन ही महत्वपूर्ण था और वह यह कि कुल निधि के धात्विक भाग के न्यूनतम प्रतिशत को ४० प्रतिशत से बढाकर ५० प्रतिशत कर दिया गया था ।

हिल्टन यंग कमीशन (Hilton Young Commission)

सन् १९२३ के कानून द्वारा कागजी मुद्रा प्रणाली के अन्दर जो परिवर्तन हुए उनकी जाँच करने के लिये सन् १९२६ में हिल्टन यग कमीशन की नियुक्ति हुई, जिसने कई प्रस्ताव रक्खे थे । कमीशन ने देश में एक केन्द्रीय बैंक (Central Bank) स्थापित करने का प्रस्ताव रक्खा और यह भी कहा कि नोट-प्रकाशन का एक मात्र अधिकार केन्द्रीय बैंक को सौप देना चाहिये । यह कागजी नोट पूर्णतया कानूनी ग्राह्य हो और सरकार को उनकी गारन्टी देनी चाहिये । कमीशन का दूसरा सुझाव यह था कि सरकार नोटो को चादी के रुपयो में बदलने की जिम्मेवारी वापिस ले ले और कानूनी ग्राह्य मुद्रा के विभिन्न रूपो को आपस में बदलने की सुविधा प्रदान कर दी

जाय। अन्त में कमीशन ने उनको निश्चित मूल्य पर कम से कम ४० औंस सोने की छड़ों में बदलने की अनुमति दी थी। कमीशन का तीसरा प्रस्ताव यह था कि कागजी मुद्रा निधि और स्वर्णमान निधि को मिला दिया जाय और इस मिश्रित निधि के अनुपात तथा मिश्रण को कानून द्वारा निश्चित किया जाय। अन्त में कमीशन ने यह प्रस्ताव रक्खा कि नई प्रणाली आनुपातिक-निधि सिद्धान्त (Proportional Reserve Principle) के आधार पर स्थापित की जाय। सन् १९२७ के कानून में सरकार ने अधिकाश प्रस्तावो को सम्मिलित कर लिया था केवल रिजर्व बैंक की स्थापना को कुछ समय के लिये स्थगित कर दिया था। इधर सन् १९३१ में इगलैण्ड ने स्वर्णमान का परित्याग कर दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत का भी स्वर्णमान से सम्बन्ध टूट गया और भारतीय रुपया स्टर्लिंग से अपने आप ही बध गया।

सन् १९३४ में भारतीय केन्द्रीय बैंक अर्थात् रिजर्व बैंक कानून (Reserve Bank of India Act) बना, जिसके द्वारा रिजर्व बैंक की स्थापना हुई और सन् १९३५ में उसे नोट-प्रकाशन का अधिकार प्राप्त हो गया। परन्तु इस कानून में सन् १९४८ में कुछ परिवर्तन कर दिये गये। रिजर्व बैंक द्वारा प्रकाशित नोट असीमित कानूनी ग्राह्य (Unlimited legal tender) थे और इन पर सरकार की गारन्टी रहती है। केवल १ रुपये और २ रुपये के नोटों को छोड़कर जो कि भारतीय वित्त विभाग (Finance Department of India), द्वारा प्रकाशित किये जाते हैं, के ऊपर की मूल्य के सब नोटों का प्रकाशन रिजर्व बैंक द्वारा होता है। रिजर्व बैंक इस बात की भी गारन्टी देता है कि वह दो रुपये के सब नोटो को रुपये के सिक्के अथवा नोटों में बदल देगी। बैंक का सचालन दो विभागों द्वारा होता है, एक तो निकास विभाग (Issue Department) और दूसरा बैंकिंग विभाग (Banking Department)। पहले विभाग का सम्बन्ध केवल नोटों के प्रकाशन से है। इस विभाग के लिये यह आवश्यक है कि कुल प्रकाशित नोटो की ४० प्रतिशत निधि सोना, सोने के सिक्के, विदेशी प्रतिभूतियों या विदेशी मुद्राओ के रूप में रक्खें। कुल निधि मे कम से कम ४० करोड़ रुपये का सोना अवश्य ही होना चाहिये। शेष ६० प्रतिशत भाग के लिये रुपये के सिक्को, सरकारी प्रतिभूतियों, प्रतिज्ञा पत्र तथा विनिमय बिल (Bill of Exchange) आदि की आड रक्खी जा सकती है। यद्यपि विधान द्वारा यह निश्चित किया गया है कि ५० करोड रुपये से अधिक कीमत की प्रतिभूतियाँ नही रक्खी जा सकती, परन्तु असाधारण परिस्थितियो में भारतीय राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त करके १०० करोड रुपये की प्रतिभूतियाँ रक्खी जा सकती हैं। प्रतिज्ञा पत्रो तथा विनिमय बिलो के सम्बन्ध में यह निश्चित किया गया है कि रिजर्व बैंक द्वारा केवल वही बिल स्वीकार किये जायँ जिन पर किसी अनुसूचित बैंक (Scheduled Bank) की गारन्टी हो और एक आदरणीय बैंक के हस्ताक्षर हो। इस प्रकार की व्यवस्था इसलिये की गई है कि प्रकाशन-सम्बन्धी नियमो में आवश्यकतानुसार परिवर्तन किये जा सकें। परन्तु यह केवल निम्न परिस्थितियों में ही सम्भव हो सकता है :—

(१) बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के कोई परिवर्तन नही किया जा सकता।

(२) यदि साधारण रूप से नियमों का केवल ३० दिन के लिये पालन न किया जाय तो कोई बुराई नहीं, परन्तु समय की इस सीमा में केवल १५ दिन की वृद्धि और की जा सकती है यदि राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति दे दें तो।

(३) नोट प्रकाशन की निश्चित सीमा के ऊपर जितने भी नोट अधिक छापे जायेंगे उन पर एक विशेष कर (Tax) देना पड़ता है। इस कर की दर में नोटों की मात्रा में वृद्धि होने के साथ-साथ वृद्धि होती जाती है।

लाभ

भारत की वर्तमान कागजी मुद्रा प्रणाली के निम्नलिखित लाभ हैं —

(१) यह प्रणाली लोचपूर्ण है—विदेशी प्रतिभूतियों का निधि के रूप में प्रयोग होने से इस प्रणाली में काफी लोच उत्पन्न हो गई है जिसने विनिमय-नियंत्रण के कार्य को और भी सुगम बना दिया है। इसका ऐकमात्र लाभ है कि निकासी विभाग की सम्पत्ति को बढ़ाकर कागज़ी नोटों की संख्या बढ़ाई जा सकती है और किसी भी सम्पत्ति को घटा करके नोटों की संख्या को घटाया जा सकता है।

(२) वर्तमान प्रणाली की एक विशेषता यह भी है कि इसमें इस प्रकार की व्यवस्था की गई है कि विशेष आवश्यकता पड़ने पर प्रकाशन सम्बन्धी नियमों को ढीला किया जा सकता है जिसके कारण संकट के समय में मुद्रा प्रसार होने की व्यवस्था हो जाती है। परन्तु साथ ही साथ अधिक नोटों की बढ़ती हुई मात्रा पर बढ़ती हुई दरों में कर लगाने की व्यवस्था (Progressive System of taxation) के कारण रिजर्व बैंक निश्चित सीमा के पश्चात् नोट छापने में भी हिचकिचायेगा, क्योंकि यह नोट प्रकाशन उसके लिये महँगा पड़ेगा।

(३) देश की मुद्रा-निधि को एक ही जगह रखने से काफी असुविधायें दूर कर दी गई हैं।

(४) ४०% सोने, सोने के सिक्के या विदेशी प्रतिभूतियों के रूप में निधि के होने से सोने की काफी बचत हो गई है। साथ ही साथ यह जनता में विश्वास उत्पन्न करने के लिये ठीक भी है।

(५) कागजी नोटों की कुल मात्रा के ६० प्रतिशत के लिये स्वीकृत विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञापत्रों की आड़ रखने से प्रणाली और भी अधिक लोचपूर्ण हो गई है।

दोष

उपरोक्त लाभों से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि यह प्रणाली दोष रहित है। इसके सम्बन्ध में मुख्य-मुख्य कठिनाइयां निम्नलिखित हैं :—

(१) इस प्रणाली में कोई निश्चित मूल्य मान नहीं है। कागज़ी नोट असीमित कानूनी ग्राह्य होते अवश्य हैं परन्तु उनके बदले में बहुमूल्य धातु नहीं प्राप्त की जा सकती। इसके अतिरिक्त एक कठिनाई यह भी है कि क्योंकि रुपये का स्थायी सम्बन्ध

स्टर्लिंग से है इसलिये स्टर्लिंग के मूल्य का हर परिवर्तन रुपये के मूल्य पर भी प्रभाव डालता है।

(२) इस प्रणाली द्वारा हम आन्तरिक मूल्य स्तर के परिवर्तन को नही रोक पाये हैं केवल विदेशी विनिमय दरों को ही स्थिर बनाये रखने में सफल हुए हैं।

(३) इस प्रणाली की सबसे बडी कठिनाई यह है कि इसमें आवश्यकतानुसार नोटो की सख्या को घटाया व बढाया नही जा सकता और बिना सरकारी हस्तक्षेप के इसका सचालन कठिन है।

(४) यह प्रणाली पूर्णतया लोचपूर्ण नही है क्योंकि पहली बात तो यह है कि इस प्रणाली का देशी तथा विदेशी व्यापार की मुद्रा सम्बन्धी आवश्यकताओं से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही है। जैसा कि कहा गया है कि, "कागज़ी मुद्रा तब तक अपना काम नही कर सकती जबतक कि रिजर्व आजकल की तरह इतने कठोर न हो। अर्थात उनमें स्टर्लिंग साख पत्र भी शामिल हो और जबतक इसका देश की अर्थ-व्यवस्था विशेषतया घरेलू और विदेशी व्यापार से नजदीकी सम्बन्ध न हो।"

(५) इस प्रणाली में एक बड़ा दोष यह भी है कि "इसमें देश की समस्त प्रचलित मुद्रा तथा देश की आर्थिक आवश्यकता, उत्पादन शक्ति और वितरण सम्बन्धी आवश्यकताओं के बीच किसी प्रकार का समन्वय नही रहता। इस दृष्टिकोण से आर्थिक विकास के हेतु यह प्रणाली बहुत उपयुक्त नही हो सकती है।"

उपरोक्त गुणों और दोषो के विस्तारपूर्वक अध्ययन के पश्चात यह भली प्रकार विदित हो जाता है कि भारत की वर्तमान कागज़ी मुद्रा प्रणाली की स्थापना अमेरिका के सघ निधि-बैंक कानून (Federal Reserve Bank Act) के आधार पर की गई है इसलिये उसके सारे गुण और दोष इसमें भी विद्यमान हैं।

बारहवाँ अध्याय

भारतीय मुद्रा का दशमलवीकरण

(Decimal coinage in India)

भारत में स्वतन्त्रता के बाद अनेक छोटी और बडी समस्याएँ उत्पन्न हुई जिन्हे सरकार ने बडी सावधानी से सुलझाया है। परन्तु इस काल में छोटी-छोटी समस्याओ की ओर विशेष ध्यान न दिया जा सका क्योंकि अनेक सामाजिक और आर्थिक समस्यायें इतनी जटिल थी कि उनके सुलझाने में ही राष्ट्र के सारे साधन व्यस्त रहे थे। भारतीय मुद्रा के दशमलवीकरण का प्रश्न भी ऊपर से तो बडा साधारण सा मालूम होता है परन्तु देश के आर्थिक और सामाजिक जीवन में इसका भी बड़ा भारी महत्व है। अप्रैल १९५७ से पूर्व भारत की मुद्रा प्रणाली में रुपया, आना और पाई का चलन था। १ रुपये में १६ आने या ६४ पैसे या १९२ पाईयां होती हैं। इस प्रणाली से हिसाब-किताब में कितनी कठिनाई होती है और कितना श्रम और समय व्यर्थ में लगाना पडता है, यह सभी जानते हैं। इन कठिनाइयो को मुद्रा का दाशमलवीकरण करके बडी सरलता से दूर किया जा सकता है। रूढिवादी विचारधारा के अनुसार दाशमिक मुद्रा वह प्रणाली है जिसमें सारे सिक्के एक प्रामाणिक (Standard) सिक्के के दस, सौ, या हजार गुने (अर्थात दस या दस का गुणक) या दसवा, सौवां या हजारवा (अर्थात दस या दस के गुणक से विभाजित) आदि भाग हो। दूसरे शब्दो में यदि प्रामाणिक सिक्का एक है तो उससे बडे सिक्के १०, १००, १००० आदि और छोटे सिक्के १, ·०१, ·००१ आदि होगे। दशमलव के सिद्धान्त पर आधारित मुद्रा प्रणाली में बीच के सिक्के नही होते, पर विभिन्न देशो की दाशमिक मुद्राप्रणालियो मे इस सिद्धान्त का कठोरता से पालन नही किया जाता। उदाहरणतया फ्रास का प्रामाणिक सिक्का फ्रैंक है। इसमे बड़े वहा १० और १०० फ्रैंक के सिक्के हैं और छोटा सिक्का १० सेंटिम्स का है। इनके अतिरिक्त ५० और २० सैंटिम्स के तथा दूसरे मूल्यो के सिक्के भी है। अत दाशमिक प्रणाली में एक मुद्रा की इकाई को १० से गुणा करके या १० से भाग देकर दूसरी इकाई सरलता से निकाली जा सकता है।

वास्तव में आजकल विश्व में लगभग १४० देशो की अपनी मुद्रा है और इनमे से १०५ देशो ने दाशमिक प्रणाली को अपना लिया है। सर्व प्रथम अमेरिका ने अठारहवी शताब्दी के अन्त मे (सन् १७८६–१७९२ मे) दाशमिक प्रणाली को अपनाया था और डालर को इकाई माना था। तत्पश्चात सन् १७९९–१८०३ मे फ्रास ने भी इस प्रणाली को अपना लिया था और फ्रांस की प्रणाली को लैटिन संघ के देशो ने अपना लिया। इसी काल मे जर्मनी ने सन् १८७३ में डेनमार्क, नार्वे, स्वीडन और आइसलैण्ड ने १८७५ में, आस्ट्रिया व हगरी ने १८७० मे और रूस ने १८९७ में और लैटिन अमेरिका के देशो व जापान के अनेक देशो ने सन् १८७१ में इस प्रणाली को

अपनाया था। भारत के सम्बन्ध में बड़ा आश्चर्य है कि वह गणित शास्त्र में शून्य के विचार का जन्मदाता होते हुए भी इस प्रणाली को न अपना सका। परन्तु राजनैतिक परिस्थितियों के बदलने के कारण और इस प्रणाली की बढती हुई आवश्यकता को समझकर भारत भी इसको अपनाने के लिये प्रेरित हो गया है।

केवल ब्रिटेन ही अभी तक एकमात्र ऐसा महान देश है जिसमे दाशमिक मुद्रा प्रणाली को नही अपनाया गया है। वहाँ पर यद्यपि इस प्रणाली के लाभ सर्वत्र स्वीकार किये जाते हैं पर उसे अपनाने मे कई व्यावहारिक कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि अंग्रेज लोग स्वभावत संकीर्ण दृष्टिकोण के होते है जिससे अपनी रुचि को बदलने के लिये शीघ्र तैयार नही होते। दूसरी कठिनाई यह है कि वहाँ हिसाब-किताब करने मे स्वचालित मशीनो का व्यापक प्रयोग होता है और यह सारी मशीने पुरानी मुद्रा प्रणाली पर आधारित हैं। अब नई प्रणाली अपनाने से सब पुरानी मशीने बेकार हो जायेंगी। इसीलिये वहाँ दाशमिक प्रणाली नही अपनाई जा सकी है।

भारत में दाशमिक प्रणाली का इतिहास

भारतीय मुद्रा का दशमलवीकरण करने के प्रयत्न लगभग १०० वर्ष पुराने हैं। इस दिशा में सर्वप्रथम महत्वपूर्ण कदम सन् १८६७ में उठाया गया था। उस समय भारत सरकार ने यह निश्चय किया था कि देश में धीरे-धीरे दाशमिक सिक्को का चलन आरम्भ कर देना चाहिये। इस विषय में सन् १८७० में दाशमिक अधिनियम (Metric Act of 1870) भी बना जिसमें बाद में भारत सचिव के आदेशानुसार कुछ सशोधन भी कर दिये गये थे। परन्तु विविध कारणो से उस अधिनियम को लागू न किया जा सका। इसके बाद लगभग ७० वर्ष तक देश में इस दिशा मे कुछ भी महत्वपूर्ण कार्य नही हुआ।

द्वितीय महायुद्ध काल में सन् १९४० में एक भारतीय दाशमिक सभा (Indian Decimal Society) की स्थापना हुई जो बराबर देश में दाशमिक मुद्रा प्रणाली के अपनाने के लिये सिफारिश करती रही है।

इसके बाद द्वितीय युद्ध के समाप्त होने पर भारत सरकार ने फरवरी सन् १९४६ में केन्द्रीय विधान सभा में मुद्रा का दशमलवीकरण करने के सम्बन्ध में एक विधेयक प्रस्तुत किया जिसमें दाशमिक मुद्रा प्रणाली को चालू करने की व्यवस्था थी और रुपये को प्रामाणिक सिक्का मान कर उसे १०० सेंट में विभाजित करने का प्रस्ताव किया गया था। जनता के सभी वर्गों ने इस विधेयक का स्वागत किया। पर सन् १९४७ में स्वतन्त्रता प्राप्त होने से देश में राजनैतिक परिवर्तनो के कारण इस विधेयक पर कोई विचार नही किया जा सका और इसी बीच विधेयक पास करने का समय भी समाप्त हो गया।

सन् १९४८ में भारत सरकार ने तोल और नाप के बारे में एक विशेष समिति (Indian Standards Institution Special Committee) नियुक्ति की थी, जिसने अपनी रिपोर्ट सन् १९४९ में प्रस्तुत की थी। इस समिति ने भी भारत में दाश-

मिक मुद्रा को लागू करने की सलाह देते हुए निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे:—

"समिति यह अनुभव करती है कि नाप-तौल की दाशमिक प्रणाली अपनाने से पहिले दाशमिक मुद्रा चालू करना अधिक लाभदायक होगा। इसीलिये समिति यह सिफारिश करती है कि भारत की अन्तःकालीन सरकार के दाशमिक मुद्रा अपनाने के निर्णय को शीघ्र से शीघ्र कार्यान्वित किया जाये। समिति यह भी सुझाव देती है कि नये सिक्कों के आकार और वजन में तथा नाप और तोल की दाशमिक प्रणाली में आपस में सम्बन्ध हो ताकि जनता को इन नये सिक्को तथा नाप और तोल के पैमानो से परिचित होने में सुविधा हो।"[1]

भारतीय सिक्का (संशोधन) अधिनियम १९५५

इस प्रकार भारत में जनमत गत १० वर्षो से दाशमिक सिक्के अपनाने के ही पक्ष में होता गया। इसीलिये भारत सरकार ने इस सम्बन्ध में सन् १९५५ में ससद के समक्ष एक विधेयक (Bill) प्रस्तुत किया जिसमें देश में दाशमिक मुद्रा प्रणाली चालू करने का प्रस्ताव किया गया था। योजना आयोग, राज्य सरकारो तथा रिजर्व बैंक आफ इडिया से सलाह करके तथा उच्च शिक्षण एव सास्कृतिक संस्थाओ तथा वाणिज्य-मंडलों की सम्मतियो को ध्यान में रखकर भारत सरकार ने इस विधेयक को सन् १९५६ में पास करके अधिनियम बना दिया। इसके अनुसार सरकार को देश में दाशमिक मुद्रा चलाने का अधिकार प्राप्त हो गया। इस अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं —

(१) इस अधिनियम को भारतीय सिक्का (सशोधन) अधिनियम १९५५ (Indian Currency (Amendment) Act 1955) के नाम से पुकारा जायेगा।

(२) नई प्रणाली के अन्तर्गत भारत की मुख्य मुद्रा इकाई रुपया ही रहेगी। रुपये का मूल्य और नाम वही रहेगा। रुपये को १०० समान इकाइयो में बाँटा जायगा और प्रत्येक इकाई का नाम 'पैसा' होगा, परन्तु इसे कुछ समय तक (तीन या चार वर्ष तक) जब तक नये और पुराने दोनो सिक्के चलेंगे, इस नई इकाई को 'नया पैसा' कहा जायेगा। उक्त अवधि के बाद 'नया' विशेषण हटा लिया जायेगा।

३—रुपये और नये पैसे के अलावा ५० और २५ पैसे के दो सिक्के और होगे जो क्रमश वर्तमान अठन्नी और चवन्नी के बराबर होंगे। इनके अतिरिक्त १०,५ और २ नये पैसे के सिक्के भी बनेंगे जो वर्तमान दुअन्नी, इकन्नी और अधन्ने के स्थान पर बनेंगे पर उनका मूल्य इनसे कम होगा।

४—१००, ५० और २५ नये पैसे के सिक्के शुद्ध गिलट के होगे जबकि १०, ५ और नये पैसे के सिक्के तांबे और गिलट के मिश्रण के होंगे, जिसमें ७५% ताबा और २५% गिलट होगा। १ नया पैसा कासे का होगा।

---

१. 'हमारे नये सिक्के' पृ० सं० ६ पब्लिकेशन डिवीजन, सूचना एवं प्रसार मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली।

५—इस अधिनियम के अन्तर्गत सभी मूल्यो के आने, पैसे और पाइयों के सिक्के भुगतान और हिसाब-किताब के कानूनी सिक्के रहेगे। उनकी दर १६ आने या ६४ पैसे या १६२ पाइयाँ, १०० नये पैसे के बराबर होगी। कारोबार में यह सिक्के अपने निकटतम नये सिक्के के बराबर होगे। यदि ये नये सिक्के दो नये सिक्कों से समान दूरी पर हो तो वे छोटे नये सिक्के के बराबर होगें।

६—यह अधिनियम १ अप्रैल सन् १६५७ से देश भर में लागू कर दिया जायेगा।

नई मुद्रा-प्रणाली का चलन

१ अप्रैल सन् १६५७ से भारतीय सिक्का सशोधन अधिनियम १६५५ के अनुसार भारत में दाशमिक मुद्राप्रणाली का प्रयोग आरम्भ हो गया है। कम से कम ३–४ वर्ष तक नये सिक्को के साथ-साथ पुराने सिक्के भी चलते रहेगे जिससे भारत की अधिकांश अनपढ जनता को नये सिक्को का अभ्यस्त बनने में सुविधा मिल सके तथा इसी बीच में टकसाले भी नये सिक्को की चालू माँग को पूरा करने के योग्य पर्याप्त सिक्के बना सकेंगी। इसी काल मे धीरे-धीरे दुअन्नी और उससे छोटे सिक्के बाजार में से खीचे जायेंगे क्योकि २ आना और उससे कम मूल्य के सिक्को का नये पैसों में पूरा पूरा प्रतिमान नही होता है और इसीलिये उनके लेन-देन मे दोनो पक्षो मे से किसी को थोडा सा लाभ और किसी को थोड़ा सा घाटा होता है। आरम्भ में केवल १ २, ५ और १० 'नये पैसे' के सिक्के ही प्रचुर मात्रा में चलाये गये है। कुछ समय बाद २५ और ५० नये पैसे और नया रुपया भी चलाया जायगा।

जो भी नये सिक्के चले है या चलेंगे, उनके सीधी तरफ अशोक स्तम्भ के सिंह शीर्ष का चित्र बना है और हिन्दी मे 'भारत' एव अंग्रेजी में (India) लिखा हुआ है। इसी प्रकार सिक्को के उल्टी तरफ सिक्का जारी होने का वर्ष तथा अन्तर्राष्ट्रीय अकों में उनका मूल्य लिखा रहता है। उदाहरणतया १० नये पैसे के सिक्के के उल्टी तरफ ऊपर की ओर अर्ध गोलाकार रूप में 'रुपये का दसवा भाग' लिखा है, बीच में बड़े अक्षरो में सख्या अर्थात् १० लिखा है और इसके नीचे नये पैसे और सबसे नीचे १६५७ लिखा है।

१ अप्रैल, १६५७ से सब सरकारी हिसाब किताब रुपया, आना, पाई के स्थान पर रुपये और नये पैसों में होने लगा है। सरकारी खजानो, बैंको आदि में सब रुपया नये सिक्को में ही जमा किया जाता है और नये सिक्को में ही निकाला जाता है। रकम की मात्रा लिखने में, २५ रु० ५ पैसे, २५ ५ के बजाय २५·०५ के आंकड़ो मे लिखी जाती है। इसी प्रकार २५ रु० ५० पैसे, २५·५० की सख्या में लिखे जाते है। नये पैसे का सक्षिप्त रूप एन० पी० (NP.) में लिखा जाता है।

पुराने सिक्के जैसे पैसा, अधन्ना इकन्नी, दुअन्नी, चवन्नी और अठन्नी भी नये सिक्को के साथ चल रहे हैं। नये और पुराने दोनो ही सिक्के भुगतान अथवा हिसाब किताब करते समय कानूनी रूप से मान्य हैं। इन सिक्को को लेने में कोई भी

व्यक्ति आपत्ति नही कर सकता। हर व्यक्ति दोनो ही प्रकार के सिक्कों में लेनदेन कर सकता है। एक ही भुगतान में दी जाने वाली राशि के आने पाइयों का नये पैसों में समान मूल्य निम्नलिखित परिवर्तन तालिका में दिखाये गये है जिनके आधार पर लेन देन की सभी कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं —

परिवर्तन तालिका

पुराने सिक्के		नये सिक्के	पुराने सिक्के		नये सिक्के	पुराने सिक्के		नये सिक्के
आने	पाई	नये पैसे	आ०	पा०	नये पैसे	आ०	पा०	नये पैसे
०	३	२	५	३	३३	१०	३	६४
०	६	३	५	६	३४	१०	६	६६
०	९	५	५	९	३६	१०	९	६७
१	०	६	६ आने		३७	११ आने		६९
१	३	८	६	३	३९	११	३	७०
१	६	९	६	६	४१	११	६	७२
१	९	११	६	९	४२	११	९	७३
२ आने		१२	७ आने		४४	१२ आने		७५
२	३	१४	७	३	४५	१२	३	७७
२	६	१६	७	६	४७	१२	६	७८
२	९	१७	७	९	४८	१२	९	८०
३ आने		१९	८ आने		५०	१३ आने		८१
३	३	२०	८	३	५२	१३	३	८३
३	६	२२	८	६	५३	१३	६	८४
३	९	२३	८	९	५५	१३	९	८६
४ आने		२५	९ आने		५६	१४ आने		८७
४	३	२७	९	३	५८	१४	३	८९
४	६	२८	९	६	५९	१४	६	९१
४	९	३०	९	९	६१	१४	९	९२
५ आने		३१	१० आने		६२	१५ आने		९४
						१५	३	९५
						१५	६	९७
						१५	९	९८
						१६ आने		१००

(कुल राशि के मूल्य का ठीक सही नया पैसा निकालते समय ½ नया पैसा या उससे कम को छोड देते है और ½ नये पैसे से अधिक को १ नया पैसा मान लेते है।)

नई मुद्रा-प्रणाली की मुख्य विशेषताएँ

(१) प्राचीन काल से भारत में पैसा ताबे का ही रहा है, पर अब कासे का बनता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत अब कोई भी सिक्का शुद्ध ताबे का नही है।

(२) सैद्धान्तिक रूप से दाशमिक मुद्रा प्रणाली में सिक्कों के मूल्य दसगुने अथवा उसके दशम भाग के आधार पर ही रखे जाने चाहियें। परन्तु भारत ने फ्रास, जर्मनी,

अमेरिका आदि देशों की भाँति इस रुढिवादी सिद्धान्त का कठोरता से पालन नहीं किया है। भारत की नई मुद्रा प्रणाली में नया पैसा ही आधार भूत इकाई है और कुछ सिक्के इसमें १० गुने और १०० गुने हैं। परन्तु साथ ही कुछ सिक्के दो गुने, पच गुने, पच्चीस गुने और पचास गुने भी हैं।

नई प्रणाली का प्रचार

मुद्राप्रणाली में परिवर्तन करने से लगभग प्रत्येक व्यक्ति पर असर पड़ता है। अत मुद्राप्रणाली के सुधार की योजना को सफल बनाने के लिये यह आवश्यक होता है कि प्रत्येक व्यक्ति उसको समझे और परिवर्तन को सुगम और सरल बनाने के लिये हर प्रकार से सहयोग दे। भारत मे भी जब नई मुद्रा प्रणाली को आरम्भ किया गया था तो इस बात का भय था कि कही जनता मे अनावश्यक घबराहट न फैले। इसीलिये भारत सरकार ने प्रणाली को समझाने के लिये इसके प्रचार पर बहुत अधिक बल दिया। जनवरी सन् १९५७ मे ही नई मुद्राप्रणाली का बहुत अधिक प्रचार होने लगा था। शिक्षा मत्रालय के एक कार्यक्रम के अनुसार दाशमिक मुद्राप्रणाली का पाठ्य पुस्तको में समावेश किया गया है और इस विषय में विद्यालयो मे भी शिक्षा दी जा रही है। इसके अतिरिक्त समस्त बुनियादी साहित्य, जैसे समाचार पत्र, पत्रिकाएँ, पोस्टर, फोल्डर, फिल्में, रेडियो आदि में सभी प्रमुख भाषाओ और बोलियो मे इस प्रणाली का खूब प्रचार किया गया जिससे जनता के सभी वर्ग नये सिक्को से परिचित हो सकें। परन्तु भारत में साक्षरता कम होने के कारण देहातो मे जनता को सीधे भी समझाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

दाशमिक मुद्रा-प्रणाली के लाभ :—

१—यद्यपि भारत में बहुत दिनों से रु० आ० पा० के सिक्के चलते थे और १ रु० में १६ आने और १ सेर में १६ छटांक होने से लोगों ने हिसाब किताब के अनेक सरल ढग बना लिये थे और उनके अभ्यस्त भी हो गये थे, परन्तु फिर भी अनेक लोगों को विशेषतया पढे लिखे लोगो को इस ढग से हिसाब लगाने में बडी कठिनाई होती थी। परन्तु दाशमिक प्रणाली को ससार भर मे सिक्को की सरलतम प्रणाली के रूप में स्वीकार किया गया है। इस प्रणाली से हिसाब किताब शीघ्र और सरलता से हो सकता है।

२—आधुनिक व्यापार और वाणिज्य की जटिल प्रणाली में सिक्को की सरलता से अदला-बदली बहुत आवश्यक है। दाशमिक मुद्रा प्रणाली दस के गुणक पर आधारित होने के कारण विनिमय या अदला-बदली को बहुत सरल बना देती है।

३—मूल्यो के छोटे-छोटे परिवर्तनो का सही-सही नाप भी इस प्रणाली के आधार पर आसानी से हो सकता है जिससे कि सिक्को का व्यय अधिक उपयुक्त रीति से किया जा सकता है।

४—विद्यार्थियो के लिये इस नई प्रणाली के कारण अकगणित सीखना बहुत

आसान हो जायेगा तथा विद्यालयों में इस प्रणाली के कारण समय व श्रम की काफी बचत होगी।

५—अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सुविधा व सरलता की वृद्धि व हिसाब-किताब रखने में आसानी इसी प्रणाली से हो सकेगी क्योंकि संसार के अधिकांश देशों ने दाशमिक मुद्राप्रणाली को स्वीकार किया है।

दाशमिक मुद्रा प्रणाली की कठिनाइयाँ

१—देहाती लोग नये युग की जाग्रति से परिचित होते हुए भी इस नई मुद्रा प्रणाली को सरलता से नहीं समझेंगे और समझने में बहुत समय लेंगे। इस बीच में मुद्रा प्रणाली को ठीक से न समझने के कारण बहुत सी कठिनाइयाँ होंगी और बेइमान लोग खूब मनमाने रूप से बेचारे देहातियों को ठगेंगे। इस प्रकार की व नये सिक्कों के ऊपर मारपीट की घटनाए कई स्थानों पर हो चुकी है। इस प्रकार की गड़बड़ चवन्नी के नीचे के सिक्कों में ही होती है। परन्तु किसी भी नये परिवर्तन के लिये यह कठिनाई कोई महत्वपूर्ण नहीं है।

२—भारत में बहुत दिनों से ए० आ० पा० की मुद्रा चली आ रही है और लोग इसके अभ्यस्त हो गये है। अब इस नई प्रणाली को लागू करने से लोग भावुकता में आकर इसका बड़ा विरोध करेंगे और साथ ही इस प्रणाली को अरुचिकर तथा कठिन अनुभव करेंगे। जिससे देश में अशांति और गड़बड़ी की आशंका बनी रहेगी। परन्तु इस प्रकार की बातें तो सभी परिवर्तनों के साथ आवश्यक है। अतः इस नई मुद्रा-प्रणाली के साथ यह कोई अनहोनी बात नहीं होगी। इसीलिये भारत सरकार ने भी इसी कठिनाई को दूर करने के लिये रुपया, अठन्नी और चवन्नी के सिक्कों में अभी कोई परिवर्तन नहीं किया है।

३—नई मुद्रा प्रणाली के चालू करने से वर्तमान दशा के सभी मूल्यों और दरों का आधार ही बदल जायेगा, जिससे बड़ी असुविधा होगी। परन्तु यह असुविधा अस्थाई ही होगी। रेलवे और डाकखाने की नई दरें भिन्न हो जायेंगी। परन्तु कुछ दिन बाद तो नई मुद्रा ही स्थाई रूप से चलन में आ जायेगी। कठिनाई केवल तीन या चार वर्षों तक ही रहेगी जब तक नये और पुराने दोनों ही सिक्के चालू रहेंगे।

अतः उक्त सभी कठिनाइयाँ अधिक महत्वपूर्ण नहीं है और जब भी किसी प्रकार का परिवर्तन होता है तब ऐसी कठिनाइयों का होना अनिवार्य है। इसलिये इनका सामना तो करना ही होगा। परन्तु यदि सब केन्द्रीय मंत्रालयों, राज्य सरकारों तथा गैर सरकारी संस्थाओं ने इन सिक्कों का अपने-अपने क्षेत्र में खूब प्रचार किया और यदि जनता ने नये और पुराने सिक्कों के सम्बन्ध को समझने का प्रयत्न किया तो न केवल परिवर्तन काल ही कम होगा बल्कि किसी प्रकार की कठिनाई भी उत्पन्न न होगी। साराश यह है कि नई दाशमिक मुद्रा प्रणाली पुरानी रु० आ० पा० की प्रणाली से बहुत अच्छी है और इसे पूर्ण रूप से समझने पर कोई कठिनाई न रहेगी और सारे हिसाब किताब बहुत ही सरल हो जायेंगे और सभी वर्ग के लोग तब इसे पसन्द करने लगेंगे।

तेरहवाँ अध्याय

मुद्रा का मूल्य

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त

(Quantity Theory of Money)

मुद्रा के मूल्य का अर्थ

पिछले पृष्ठों में मुद्रा के सम्बन्ध मे प्रारम्भिक वातो की विवेचना की गई थी। इस अध्याय में हम मुद्रा के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी सिद्धान्तो की व्याख्या करेंगे । इस स्थान पर 'मुद्रा का मूल्य' शब्द का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है।

यद्यपि 'मुद्रा के मूल्य' के अनेको अर्थ लगाये गए है, परन्तु जो अर्थ साधारणत हम किसी वस्तु के मूल्य से लेते है वही अर्थ मुद्रा के मूल्य का होता है। दूसरे शब्दो मे हम यह कह सकते है कि जिस प्रकार वस्तुओ और सेवाओ का स्वय अपना एक मूल्य होता है उसी प्रकार मुद्रा का भी एक मूल्य होता है। वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य तो हम मुद्रा में आकते है, परन्तु मुद्रा का मूल्य हम मुद्रा ही में कैसे आक सकते है ? हम वस्तुओ को मुद्रा के बदले में दे देते हैं और मुद्रा प्राप्त कर लेते हैं, इस प्रकार हम वस्तुओं का मूल्य मुद्रा में सूचित कर देते है। जो लोग मुद्रा देकर वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त कर रहे है वह मुद्रा का मूल्य वस्तुओ और सेवाओ में व्यक्त करेंगे। इस प्रकार मुद्रा के बदले में जो वस्तुएँ और सेवाएँ प्राप्त होती है वे ही उस समय मुद्रा का मूल्य कहलायेंगी, अर्थात् मुद्रा के मूल्य से हमारा अभिप्राय मुद्रा की विनिमय शक्ति या उसकी क्रय शक्ति से है। यदि किसी समय में देश की मुद्रा इकाई अपने बदले में वस्तुओ और सेवाओ की कम मात्रा प्राप्त करती है, या वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य ऊँचे है तो हम मुद्रा के मूल्य को कम कहते हैं, और यदि मुद्रा इकाई, वस्तुओ और सेवाओं की अधिक मात्रा प्राप्त करती है, अर्थात् वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य की अधिक मात्रा प्राप्त करती है, अर्थात वस्तुओ और सेवाओं के मूल्य नीचे है, तो मुद्रा के मूल्य को अधिक कहेंगे। इस प्रकार मुद्रा देश के सामान्य मूल्य स्तर का सूचक होती है। सामान्य मूल्य स्तर से हमारा अभिप्राय वस्तुओ, सेवाओ, उत्पादन के साधनों आदि के औसत मूल्य से है। वास्तव में होता यह है कि वस्तुओ और सेवाओ का मूल्य नापने के लिये हम मुद्रा की इकाई का उपयोग करते हैं, परन्तु मुद्रा का मूल्य नापने के लिये हमारे पास वस्तुओ और सेवाओ की कोई निश्चित इकाई तो होती नही, इसलिये हम मुद्रा की इकाई का मूल्य सामान्य मूल्य स्तर से नापते हैं। जब सामान्य मूल्य-स्तर बढता है तब मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और जब सामान्य मूल्य-स्तर गिरता है तब मुद्रा का मूल्य बढ जाता है, अतः मुद्रा का मूल्य और सामान्य मूल्य-स्तर विपरीत दिशाओं में घटते बढते रहते है और इस प्रकार दोनो मे एक पारस्परिक सम्बन्ध

स्थापित हो जाता है। प्रो० सैलिगमैन (Seligman) के शब्दों में "मुद्रा का मूल्य मुद्रा की क्रय-शक्ति होती है और इसे वस्तुओं के सामान्य कीमत स्तर से जाना जा सकता है। जब तक मुद्रा के मूल्य में कोई परिवर्तन नही होता है तब तक वस्तुओं के सामान्य कीमत-स्तर में भी कोई फेर बदल नही हो सकती है।"[1] इस प्रकार मुद्रा के मूल्य का पहला अर्थ किसी देश के सामान्य मूल्य स्तर से लिया जाता है और यही अर्थ सर्वमान्य भी है।

कुछ अर्थशास्त्री मुद्रा के मूल्य का माप मुद्रा ही में करते हैं। उनका कहना है कि जिस प्रकार किसी वस्तु का क्रय-विक्रय बाजार में होता है, उसी प्रकार मुद्रा का भी बाज़ार होता है जहाँ पर कि वह बेची खरीदी जाती है। वस्तुएँ तो मुद्रा में बेची जाती हैं, परन्तु मुद्रा केवल एक प्रतिज्ञा के बदले में बेची जाती है, अर्थात् मुद्रा देने वाला मुद्रा लेने वाले को इस प्रतिज्ञा पर मुद्रा देता है कि वह उसको भविष्य में लौटा देगा, और मुद्रा देने वाला, मुद्रा लेने वाले से कुछ व्याज ले लेता है, जो कि बेची हुई मुद्रा का मूल्य होता है। इस प्रकार ब्याज की दर ही मुद्रा का मूल्य होता है, परन्तु इस अर्थ का प्रयोग केवल मुद्रा बाज़ार की क्रियाओं के सम्बन्ध में ही होता है।

अनेक अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के मूल्य का अभिप्राय मुद्रा के बाहरी मूल्य (External Value) से लगाया है, अर्थात् मुद्रा का मूल्य उसकी विदेशी विनिमय खरीदने की शक्ति है। सभी इस बात को जानते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भुगतान करते समय एक देश की मुद्रा का क्रय-विक्रय, दूसरे देश की मुद्रा में एक निश्चित अनुपात में होता है। जिस दर पर एक देश की मुद्रा की निश्चित इकाईयाँ दूसरे देश की मुद्रा की जितनी इकाईयो मे बदली जाती हैं उनको मुद्रा का मूल्य कहते हैं। साधारणत इसे विदेशी विनिमय दर के नाम से पुकारते हैं, और इस अर्थ का प्रयोग केवल विदेशी विनिमय बाजार के अन्तर्गत ही होता है।

कुछ अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं, जिन्होंने मुद्रा के मूल्य का अर्थ उसकी सोने और चाँदी खरीदने की शक्ति से लिया है। इस प्रकार मुद्रा की इकाई का मूल्य सोने और चादी की वह मात्रा है जो कि उसके बदले मे प्राप्त की जाती है।

उपरोक्त विवेचन से अर्थशास्त्र में मुद्रा के मूल्य के जितने भी अर्थ लगाये जाते हैं वह सब स्पष्ट हो जाते हैं, परन्तु सामान्य रूप से उसका अर्थ वस्तुओं और सेवाओं के सामान्य मूल्य-स्तर से ही लिया जाता है।

मुद्रा की माँग और पूर्ति

मुद्रा के मूल्य का अर्थ स्पष्ट हो जाने के पश्चात यह प्रश्न उठता है कि मुद्रा का मूल्य कैसे निर्धारित होता है? यदि हम मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Value) को लागू करें तो ज्ञात होगा कि मुद्रा का मूल्य भी अन्य वस्तुओं की भाँति उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। किसी भी वस्तु का

---

१. 'मुद्रा, चलन, एवं अधिकोषण', द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १३३—सिंह और शुक्ल।

मूल्य माग और पूर्ति के सतुलन द्वारा तय होता है, अर्थात जिस बिन्दु पर वस्तु की माग और पूर्ति एक दूसरे के समान होती है, वही पर उसका मूल्य निश्चित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार मुद्रा का मूल्य भी उसकी माग और पूर्ति के सतुलन द्वारा निर्धारित होना चाहिए, परन्तु इस सम्बन्ध में मुद्रा और वस्तुओ में अन्तर होता है। प्रथम अन्तर तो यह है कि वस्तुओ,का मूल्य उनकी उपयोगिता का माप है। वस्तु मनुष्य की आवश्यकता को प्रत्यक्ष रूप से संतुष्ट करती है, इसलिये उसमें उपयोगिता होती है, और क्योंकि उसमें उपयोगिता होती है, इसलिये उसकी माग की जाती है परन्तु मुद्रा की माग, वस्तुओ की माग से बिलकुल भिन्न होती है। इसका यह अभिप्राय नही कि मुद्रा मे उपयोगिता नही होती, उपयोगिता तो मुद्रा में भी होती है, परन्तु वस्तुओ की उपयोगिता और मुद्रा की उपयोगिता समान नही होती। जबकि वस्तुएँ मनुष्य की आवश्यताओ को प्रत्यक्ष रूप से सतुष्ट करती है, मुद्रा परोक्ष रूप से करती है। पहले मुद्रा के बदले में वस्तुएं और सेवाये खरीदी जाएगी, और फिर उनके उपभोग के पश्चात् आवश्यकताए सतुष्ट होगी, इस प्रकार मुद्रा की माग, वस्तुओ और सेवाओ से उत्पादित मांग (Derived Demand) हुई। प्रत्येक देश मे मुद्रा की माग कुल वस्तुओ और सेवाओ के उत्पादन की उस मात्रा पर निर्भर रहती है, जो बाजार में बिकने के लिये आती है। इस प्रकार वस्तुओ की मात्रा में परिवर्तन होने के साथ-साथ मुद्रा की माग में भी परिवर्तन होते रहते हैं। मुद्रा और अन्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में दूसरा अन्तर उनकी पूर्ति के सम्बन्ध में पाया जाता है—साधारणत बिक्री में आई हुई वस्तुओ के खरीदने में जितनी मुद्रा आती है वह ही मुद्रा की पूर्ति कहलाती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मुद्रा की वह मात्रा जिसका सचय कर लिया जाता है, अर्थात् जो वस्तुओ के खरीदने के उपयोग में नही आती वह मुद्रा की पूर्ति में सम्मिलित नही होती। मुद्रा की पूर्ति में विनिमय के सारे प्रचलित माध्यम सम्मिलित होते हैं, अर्थात् धात्विक मुद्रा, पत्र मुद्रा, बैंक मुद्रा तथा साख पत्र जिनका चलन देश में होता है, वे सब मुद्रा की पूर्ति के अन्तर्गत आते हैं। इस प्रकार मुद्रा की पूर्ति से अभिप्राय उसके परिमाण से होता है। केवल यह ही नहीं, मुद्रा की पूर्ति उसके चलन वेग (Velocity of Circulation) पर भी निर्भर करती है। चलनवेग उस दर को कहते है, जिस पर मुद्रा की एक इकाई विभिन्न हाथों से गुजरती है, अर्थात्, जितने व्यक्तियो द्वारा उसका प्रयोग होता है। जब एक सिक्का वस्तुओ के क्रय-विक्रय में पाँच व्यक्तियो द्वारा प्रयोग में लाया जाता है तब वह अकेला सिक्का पाँच सिक्को के समान उपयोगिता देता है, और इस प्रकार इस सिक्के का चलनवेग ५ हुआ। मुद्रा के परिमाण को उसके चलन वेग से गुणा करने पर मुद्रा की कुल पूर्ति का अनुमान लगाया जा सकता है। मुद्रा का चलनवेग जितना अधिक होता है उतनी ही उसकी पूर्ति अधिक हो जाती है और वेग के कम होने से पूर्ति कम हो जाती है। परन्तु यह स्मरण रहे कि मुद्रा का चलनवेग समाज की आर्थिक, व्यापारिक एव व्यवसायिक उन्नति और जनता की मुद्रा प्रयोग करने की आदत पर निर्भर करता है। अतएव जबकि वस्तुओ की पूर्ति बिना उनके उत्पादन के नही बढाई जा सकती, मुद्रा की पूर्ति केवल चलनवेग के बढ जाने से ही बढ़ जाती

है । यही मुद्रा और अन्य वस्तुओ की पूर्ति में दूसरा अन्तर है। परन्तु फिर भी मूल्य निर्धारण का सामान्य सिद्धान्त मुद्रा के ऊपर भी लागू होता है । अर्थात् मुद्रा का मूल्य बाजार में बिक्री के लिये आई हुई वस्तुओं की सख्या जो कि मुद्रा की माग व्यक्त करती है और मुद्रा का परिमाण जो कि मुद्रा की पूर्ति का सूचक है—दोनो के सतुलन से निर्धारित होता है । इस प्रकारः—

मुद्रा की मांग—विक्रेताओ द्वारा उत्पन्न होती है केवल वस्तुओ की उसी मात्रा से मुद्रा की माग सूचित होती है, जो बाज़ार में बिकने के लिये आती है ।

मुद्रा की पूर्ति—क्रेताओं द्वारा उत्पन्न होती है—जितने लोग बाज़ार में आई हुई वस्तुओ को खरीदने के लिये जितनी मुद्रा देने को तैयार है । अर्थात् मुद्रा की पूर्ति = मुद्रा का परिमाण × चलनवेग ।

इस सम्बन्ध में मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या नितान्त आवश्यक हो जाती है ।

मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त (Quantity Theory of Money)

तीसरी शताब्दी के आरम्भ में रोम के एक कानूनी विशेषज्ञ जूलियस पोलस (Julius Paulus) ने इस विचार का उल्लेख किया था, कि मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण पर निर्भर रहता है । उस समय से लेकर आजतक इस विचार पर निरन्तर संशोधन होते आये हैं, और आज उस नन्हे से विचार ने एक सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया है और अर्थशास्त्र में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है । कुछ लोगो का विचार है कि यदि इसे एक प्रवृत्ति मान लिया जाय, तो यह हमें बहुत सी आर्थिक घटनाओ को स्पष्ट करने में सहायता देगा । अमेरिका में इस सिद्धान्त का बहुत लम्बे काल तक महत्व रहा है और जिन लोगो ने इस सिद्धान्त का विस्तृत रूप में वर्णन किया है उनमें विश्वविख्यात अर्थशास्त्री फिशर (Fisher) और केमरर (Kemerer) भी है । फिशर का भाग इस सिद्धान्त की विवेचना करने में इतना महत्वपूर्ण है कि इसे 'फिशर का परिमाण सिद्धान्त' भी कहते है । यद्यपि आधुनिक काल में फिशर के इस सिद्धान्त का विशेष महत्व नहीं है, फिर भी इसका प्रयोग किया जाता है, क्योंकि यह सामान्य मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालनेवाली सारी शक्तियो को एक स्थान पर केन्द्रित कर देता है । सक्षेप में मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है कि "अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा की क्रय शक्ति मुद्रा के परिमाण के साथ उल्टी दिशा में चलती है ।"

प्रोफेसर टाजिग (Taussig) ने इस सिद्धान्त को एक बहुत ही सरल ढग में प्रस्तुत किया है । वह कहते हैं कि "यदि मुद्रा का परिमाण दुगुना हो जाय और यदि अन्य बातें समान रहे तो वस्तुओ के मूल्य पहले से दुगुने हो जाएगे और मुद्रा का मूल्य आधा रह जायगा । यदि मुद्रा का परिमाण आधा कर दिया जाए और अन्य बातें समान रहें तो मूल्य पहले से आधे रह जायेंगे और मुद्रा का मूल्य दुगुना हो जायेगा ।"[1]

1. Double the quantity of money and other things being

इस सिद्धान्त को इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि मुद्रा के परिमाण में वृद्धि होने से उसका मूल्य उसी अनुपात में गिर जाता है, और इसके विपरीत अन्य बातें समान रहने पर मुद्रा के परिमाण घटने पर मुद्रा का मूल्य भी उसी अनुपात में बढ जाता है। प्रो० मिल ने अपनी पुस्तक 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त' में इस सिद्धान्त का उल्लेख इस प्रकार किया है कि "अन्य बातें समान रहने पर, मुद्रा का मूल्य अपने परिमाण से उल्टी दिशा में बदलता है, परिमाण की हर वृद्धि मूल्य को कम कर देती है और हर कमी ठीक उसी अनुपात में उसे बढा देती है।"

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त का विस्तार में उल्लेख करने से पहले एक बात और जान लेना आवश्यक है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि मुद्रा का मूल्य भी अन्य वस्तुओ की भाति माग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियो द्वारा निर्धारित होता है। हम यह भी बता आये हैं कि मुद्रा और अन्य वस्तुओं के मूल्य निर्धारण में कुछ भिन्नतायें हैं। उसी प्रकार की एक और भिन्नता का उल्लेख हम इस स्थान पर करेंगे। यह भिन्नता वास्तव में भिन्नता तो नही है, केवल एक मान्यता है जो कि मुद्रा के सम्बन्ध में प्राचीन अर्थशास्त्रियो द्वारा स्वीकार कर ली गई थी। उन अर्थशास्त्रियों के अनुसार मुद्रा की माग एक निश्चित समय में समान रहती है, अर्थात् उसमें किसी प्रकार के भी परिवर्तन नही होते। मूल्यो के परिवर्तनो पर भी मुद्रा की मांग नही बदलती। उनका विचार था कि एक निश्चित समय में जितनी वस्तुएँ बाज़ार में विकने आयेंगी, उनकी मात्रा उत्पादन की कुल मात्रा पर निर्भर होती है जो स्वय उत्पादन के साधनो की क्षमता और व्यवस्था पर निर्भर रहती है, न कि मुद्रा के मूल्य पर, इसलिये जब मुद्रा की पूर्ति बढ़ती है तो यह आवश्यक नही कि उत्पादन में भी वृद्धि हो जाए और बिक्री के लिये आने वाली वस्तुओ की सख्या भी बढ जाय, अर्थात् मुद्रा की माग स्थिर रहेगी। इसीलिये चलन में मुद्रा की मात्रा बढने पर मूल्य-स्तर भी बढ जाता है और मुद्रा का मूल्य गिर जाता है।

उपरोक्त वृतान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा की माग उसके मूल्य निर्धारण में कोई प्रभाव नही डालती अर्थात् वह बिल्कुल निष्क्रय (Passive) है। इसके विपरीत मुद्रा के परिमाण का उसके मूल्य निर्धारण में पूरा हाथ होता है। उसके परिमाण की हर कमी और हर वृद्धि मुद्रा के मूल्य पर प्रभाव डालती है और इसलिये वह सक्रय (Active) है। इस प्रकार प्राचीन अर्थशास्त्रियों का विचार यह था कि मुद्रा के मूल्य निर्धारण में मुद्रा की माग का कोई महत्व नही बल्कि मुद्रा का परिमाण ही मूल्य नियत करता है, इसी कारण इस सिद्धान्त को परिमाण सिद्धान्त कहते हैं।

---

equal, prices will be twice as high as before and the value of money one-half. Halve the quantity of money and other things being equal, prices will be one-half of what they were before and the value of money double"—Taussig—Principles of Economics Vol. I.

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के समीकरण—(The Equations of the Quantity Theory of Money)

आरम्भ ही से अर्थशास्त्रियों ने परिमाण सिद्धान्त को सरल बनाने के लिए गणित विधि (Mathematical Formula) का प्रयोग किया है। यह प्रथा आज तक प्रचलित है। इस समीकरण (Equation) के कई रूप हैं। समीकरण का प्रारम्भिक रूप बहुत ही सरल और सीधा था, परन्तु बाद के आने वाले अर्थशास्त्रियों ने अपने-अपने मत और समय के परिवर्तनों के अनुसार संशोधन किये और आज इसका एक बड़ा ही विस्तृत रूप हो गया है। प्रारम्भिक समीकरण के सरल होने का मुख्य कारण यह था कि प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने अपने दृष्टिकोण को संकुचित रख-कर इस समीकरण को बनाया था। वे लोग मुद्रा परिमाण का अर्थ केवल देश के चलन की कुल मात्रा से ही लगाते थे, और क्योंकि पहले धात्विक मुद्रा का ही अधिक उपयोग होता था, इसलिये उन लोगों ने साख मुद्रा को सम्मिलित न करके केवल धात्विक मुद्रा को ही सम्मिलित किया था। सच तो यह है कि उस समय बैंकिंग व साख प्रणाली का विकास नहीं हो पाया था और इसीलिये साख मुद्रा का अधिक प्रचार नहीं था। उन लोगों के अनुसार मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त को गणित में एक समीकरण के रूप में इस प्रकार रख सकते हैं—

$$\text{क} = \frac{\text{म}}{\text{व}} \qquad \text{या} \qquad P = \frac{M}{T}$$

जबकि—म (M) देश में मुद्रा के चलन की कुल मात्रा को सूचित करता है,
व (T) बाजार में बिक्री के लिये लाई हुई वस्तुओं की कुल मात्रा को सूचित करता है, और
क (P) सामान्य मूल्य-स्तर को बताता है।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस समीकरण में 'व' तो स्थिर रहता है, अर्थात् यह मान लिया गया है कि इसमें किसी प्रकार भी कोई परिवर्तन नहीं होता। इसलिये मुद्रा के परिमाण (म) के हर परिवर्तन का प्रभाव सामान्य मूल्य-स्तर (क) पर पड़ेगा और यह परिवर्तन बिल्कुल साथ ही साथ होंगे। एक उदाहरण से इसे समझाया जा सकता है—

मान लिया, वस्तुओं की कुल मात्रा (व) ५ है, जो कि स्थिर रहती है, और मुद्रा की मात्रा (म) १० है तो उपरोक्त समीकरण में:—

$$\text{क} = \frac{१०}{५} \qquad \text{या} \qquad \text{क} = २$$

यदि 'म' दुगुना हो जाय तो—

$$\text{क} = \frac{२०}{५} \qquad \text{या} \qquad \text{क} = ४$$

इस प्रकार 'म' दुगुना हो जाने पर 'क' दुगुना हो गया है। अब यदि 'म' आधा

रह जाय तोः—

$$क = \frac{५}{५} \quad या \quad क = १$$

इस प्रकार 'क' पहले की अपेक्षा आधा रह जायगा ।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि 'व' के स्थिर रहने पर 'म' और 'क' एक ही दिशा में चलते हैं और 'म' के परिवर्तनो का प्रभाव 'क' पर एक निश्चित अनुपात मे पड़ता है ।

बाद के अर्थशास्त्रियों ने उपरोक्त समीकरण में एक कमी अनुभव की । इन लोगो का मत था कि मुद्रा का परिमाण केवल मुद्रा के चलन की मात्रा पर ही निर्भर नही करता, बल्कि उसके चलनवेग (Velocity of Circulation) पर भी निर्भर रहता है । इस विचार के अनुसार अब मुद्रा का परिमाण 'मच' (MV) से सूचित होता है, जबकि 'च' मुद्रा के चलनवेग का प्रतीक है—अब समीकरण निम्न रूप में होगा—

$$क = \frac{मच}{व} \quad या \quad P = \frac{MV}{T}$$

उपरोक्त समीकरण में यदि च (V) १० है तो उपरोक्त उदाहरण के अनुसार—

$$क = \frac{१० \times १०}{५}$$

$$या \quad क = \frac{१००}{५} = २०$$

यदि मुद्रा की मात्रा आधी रह जाय और यदि चलनवेग दुगुना हो जाय तो भी मूल्य-स्तर समान रहेगा, जैसे, उपरोक्त उदाहरण मे 'म' १० से ५ रह जाय और 'च' १० से २० हो जाय तो:—

$$क = \frac{५ \times २०}{५} \quad या \quad क = २०$$

मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हुये विना, यदि चलनवेग में वृद्धि हो जाय तो भी मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है, जैसे यदि मुद्रा की मात्रा १० ही रहे और चलनवेग सबसे पहले उदाहरण की अपेक्षा १० से २० हो जाय तो :—

$$क = \frac{१० \times २०}{५} \quad या \quad क = \frac{२००}{५}$$

$$या \quad क = ४०$$

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि साधारणतया मुद्रा का चलनवेग स्वय मुद्रा की मात्रा पर निर्भर रहता है और मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनो का प्रभाव चलन वेग पर पड़ता है । मुद्रा की मात्रा बढने से लोगों की व्यय करने की शक्ति बढ जाती है, जिससे व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और वस्तुओ का विनिमय अधिक तीव्र होने लगता है, परन्तु वास्तव में मुद्रा की मात्रा और उसका चलनवेग दोनो ही के द्वारा मुद्रा का

परिमाण निश्चित होता है ।

साख के विकास के साथ-साथ लोगो में साख पत्रों का प्रयोग करने की आदत पड़ने लगी । सरकार ने भी साख मुद्रा का प्रयोग करना शुरू कर दिया । इस प्रकार अब न केवल धात्विक मुद्रा ही बल्कि अब साख मुद्रा और साख पत्र भी, विनिमय माध्यम के रूप में उपयोग में आने लगे, और अब मुद्रा की चलन की मात्रा में उनको भी सम्मिलित करना अनिवार्य सा हो गया । फिशर (Fisher) ने पहले समीकरण में स्थिति के अनुसार परिवर्तन किये । यह ही नही, बल्कि फिशर ने साख मुद्रा के चलन-वेग को भी ध्यान में रक्खा था, क्योंकि साख पत्र भी भुगतान के लिये बैंक में आने से पहले कई हाथो से गुजर चुकते है, और इस प्रकार एक साख पत्र कई बार विनिमय के माध्यम का कार्य करता है । इसलिये अब मुद्रा के चलन की कुल मात्रा केवल धात्विक मुद्रा और उसके चलनवेग का गुणनफल से ही सूचित नही होती बल्कि अब उसमें साख मुद्रा और उसके चलन वेग का गुणनफल भी जुड जाता है । फिशर ने प्राचीन समीकरण में सशोधन करके नया समीकरण इस प्रकार प्रस्तुत किया :—

$$\text{क} = \frac{\text{म च} + \text{मा चा}}{\text{व}} \quad \text{या} \quad P = \frac{MV + M'V'}{T}$$

जिसमें —

'म' धात्विक मुद्रा की चलन की मात्रा को बताता है,

'च' धात्विक मुद्रा के चलन वेग का द्योतक है,

'मा' साख मुद्रा की कुल मात्रा का प्रतीक है,

'चा' साख मुद्रा का चलनवेग दिखाता है, और

'व' वस्तुओं की कुल मात्रा को सूचित करता है ।

इसलिये उपरोक्त समीकरण के अनुसार म च + मा चा, मुद्रा के परिणाम को सूचित करते हैं और इनके परिवर्तनो के अनुसार 'क' में भी परिवर्तन होंगे ।

यह मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त के सम्बन्ध में उपयोग किये गये समीकरण का अन्तिम रूप है । प्रो० फिशर ने इसको स्पष्ट करने के लिए एक विनिमय समीकरण (Equation of Exchange) का उपयोग किया है, जिसको आधार मानकर इस सिद्धान्त को निम्न प्रकार से स्पष्ट कर सकते हैं ।

मान लिया कि, 'व'–एक जाति द्वारा वस्तुओं पर किये गये कुल वार्षिक व्यय का सूचक है और 'म'–चलन की मात्रा की औसत मात्रा को दिखाती है ।

यह एक असम्भवसी बात है कि चलन की मुद्रा की औसत मात्रा और कुल वार्षिक व्यय बराबर हो, अर्थात् 'म' और 'व' का एक दूसरे के बराबर होना असम्भव है । कुल वार्षिक व्यय (व) में ऐसा भी हो सकता है कि मुद्रा की एक इकाई-विशेष जो उपयोग में कई बार आ चुकी हो, वह भी शामिल हो, अर्थात् मुद्रा की इकाई का चलनवेग भी शामिल हो, यदि हम 'व' को 'म' से भाग दे दें तो मुद्रा का चलनवेग मालूम कर सकते हैं अर्थात्

$$च = \frac{व}{म} \quad या \quad व = म\ च$$

इस प्रकार व्यय की गई मुद्रा के अर्थों में मुद्रा की चलन की कुल मात्रा, चलन की मुद्रा और उसके चलन वेग के गुणनफल के बराबर हो जाती है।

उपरोक्त समीकरण के दो पक्ष हैं—एक तो मुद्रा पक्ष जो कि म च से सूचित होता है और व्यय पक्ष अर्थात् वस्तु पक्ष जो व से दिखाया गया है। वस्तु पक्ष का स्पष्टीकरण करना यहाँ पर और आवश्यक हो जाता है।

मान लिया कि किसी वस्तु विशेष, जैसे चीनी की औसत कीमत, एक समय विशेष में 'क' द्वारा प्रकट की जाय, और उसी काल में वस्तु विशेष की खरीदी हुई कुल सख्या 'स' द्वारा सूचित की जाय, तो उस वस्तु पर किया गया कुल खर्चा क स के बराबर होगा। यह मानकर कि चीनी ही केवल एक वस्तु है जिस पर मुद्रा खर्च की गई है तो समीकरण इस प्रकार होगा।

$$क\ च = म\ च$$

किन्तु व्यवहारिक जीवन में अनेको वस्तुओ का विनिमय भिन्न-भिन्न सख्या मे भिन्न-भिन्न मूल्यो पर होता है। मान लिया कि हर वस्तु की औसत कीमत $क_1$, $क_2$, $क_3$, $क_4$ आदि द्वारा सूचित की जाती है और वस्तुओं की खरीदी गई कुल सख्या $स_1$, $स_2$, $स_3$, $स_4$ आदि से प्रकट होती है तो कुल वस्तुओ पर किया गया कुल व्यय बराबर होगा $क_1स_1 + क_2स_2 + क_3स_3 + क_4स_4$ इसी प्रकार कितनी ही वस्तुएँ लेलें। यदि Σ को कुल योग का सूचक मानलें, तो कुल व्यय बराबर होगा Σ क स के। अब क्योंकि मुद्रा पक्ष और वस्तु पक्ष बराबर होते हैं, इसलिये समीकरण का रूप इस तरह होगा—

$$\Sigma\ क\ स = म\ च$$

यदि सरलता के लिये सारे क ओ को केवल क से और सारे स ओ को केवल 'स' से सूचित करें तो

$$क\ स = म\ च$$

क्योंकि बेची और खरीदी हुई कुल वस्तुओ की कुल सख्या 'स' के स्थान पर 'व' से भी प्रकट की जा सकती है, तब,

$$क\ व = म\ च$$

$$या \quad क = \frac{म\ च}{व}$$

उपरोक्त समीकरण ठीक वही हो जाता है, जिसका अध्ययन हम पहले कर आये हैं। इस समीकरण में यदि हम साख मुद्रा (मा) और उसके चलनवेग (चा) के गुणनफल को जोड़ दें तो इसका पहले जैसा रूप हो जायगा, अर्थात्

$$क = \frac{मच + माचा}{व}$$

फिशर के अनुसार अल्पकाल में च, चा और व अपरिवर्तनीय रहते हैं और म

और मा में एक निश्चित अनुपात रहता है, जिसके कारण म के परिवर्तनों से क में भी परिवर्तन होते रहते हैं, अर्थात् मूल्य-स्तर में मुद्रा की चलन की मात्रा के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। फिशर का कथन है कि, "अल्पकाल में व्यवसाय अथवा मुद्रा द्वारा किया हुआ कार्य यथास्थिर रहता है, क्योंकि इस काल में जनसंख्या में परिवर्तन नहीं होते हैं, प्रति व्यक्ति उत्पादन नहीं बदलता है, और उत्पत्ति का जो प्रतिशत उत्पादकों द्वारा उपयोग किया जाता है वह भी यथास्थिर रहता है। वस्तु विनिमय तथा मुद्रा विनिमय का अनुपात भी नहीं बदलता है और वस्तुओं के प्रचलन वेग में भी परिवर्तन नहीं होते हैं। इस सम्बन्ध में उत्पादन की रीतियाँ तथा लोगों की उपभोग सम्बन्धी आदतें भी लगभग निश्चित होती हैं। इस प्रकार मुद्रा की मांग स्थिर रहती है।"

मुद्रा के परिमाण सिद्धान्त की परिभाषायें जो पहले दी जा चुकी हैं, उनमें 'अन्य बातें समान रहने पर' के वाक्य का विशेष रूप से उपयोग किया गया है। इस वाक्य का, अन्य आर्थिक नियमों की भांति इस सिद्धान्त में भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। समान रहनेवाली अन्य बातें निम्न प्रकार हैं:—

(१) **मुद्रा की मांग स्थिर रहनी चाहिये**—मुद्रा की माग स्थिर रहने का अभिप्राय यह है कि मुद्रा द्वारा किये गये कार्यों अथवा सौदों आदि में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये। मुद्रा की माग बिक्री के लिये आई हुई वस्तुओं की सख्या पर निर्भर रहती है। यदि वस्तुओं की सख्या स्थिर रहती है, तो मुद्रा की माग भी स्थिर रहेगी। यदि वस्तुओं की मात्रा में वृद्धि हो जाय और मुद्रा की मात्रा चलन में पहले ही जैसी रहे तो मुद्रा की हर इकाई पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुएँ खरीदने लगेगी। यदि वस्तुओं की मात्रा में पहले की अपेक्षा कमी हो जाय तो मुद्रा की हर इकाई पहले की अपेक्षा कम वस्तुएँ खरीदेगी। परन्तु वस्तुओं की मात्रा (व) को फिशर अपने सिद्धान्त में स्थिर मानता है।

(२) **अदल-बदल द्वारा किये गये सौदों में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिये**—हर समाज में कुछ सौदे अदल-बदल द्वारा किये जाते हैं, जिनमें मुद्रा का प्रयोग बिल्कुल भी नहीं होता। जिन वस्तुओं का विनिमय अदल-बदल की प्रथा के अनुसार होता है उन वस्तुओं को परिमाण सिद्धान्त के अन्तर्गत कुल वस्तुओं की मात्रा में सम्मिलित नहीं करना चाहिये। यदि इन सौदों में कोई परिवर्तन होता है तो उससे बिक्री के लिये आई हुई कुल वस्तुओं की मात्रा (व) में परिवर्तन हो जाता है। यदि इन सौदों को सम्मिलित किया जाता है तो या तो मुद्रा के परिमाण में वृद्धि समझनी चाहिये, और यदि इन सौदों को अलग कर देते हैं तो सौदों की कुल मात्रा को कम कर देना चाहिये। ठीक तो यह ही होगा कि इन सौदों को अलग ही रक्खा जाय। इसीलिये फिशर ने अदल-बदल द्वारा किये गये सौदों को स्थिर माना है।

(३) **साखपत्रों और मुद्रा के चलन का अनुपात सदैव निश्चित रहना चाहिये**—साखपत्रों का प्रयोग भी विनिमय के माध्यम के रूप में होता है और उनकी मात्रा में भी चलन की मुद्रा की भांति परिवर्तन होते हैं, परन्तु साख पत्रों की मात्रा सदैव चलन

की मुद्रा पर रहती है। लोगों की बचत करने की शक्ति चलन में मुद्रा की संख्या पर निर्भर रहती है। जितनी बचत होती है वह सब बैंकों में जमा कर दी जाती है और बैंक उन नकद कोषों के आधार पर साख पत्रों का निर्माण करते हैं। इस प्रकार, जितनी अधिक चलन में मुद्रा की मात्रा होती है उतनी ही अधिक बचत होती है, जिससे बैंकों में नकद कोषों की मात्रा बढ जाती है जो अंत में साखपत्रों की मात्रा में भी वृद्धि कर देती है। यह सब ही जानते हैं कि साख पर दी गई मुद्रा और नकद कोषों मे एक निश्चित अनुपात रहता है जो कि बैंकों की स्वेच्छा पर निर्भर रहता है, परन्तु कभी-कभी सरकार भी इस अनुपात को विधान द्वारा निश्चित कर देती है। जब साख पत्रों और नकद कोषों का यह अनुपात बैंको की स्वेच्छा पर निर्भर रहता है, तब ऐसी परिस्थिति में इस अनुपात को कम कर देने से साख मुद्रा की मात्रा अधिक हो जाती है और अधिक कर देने से साख मुद्रा की मात्रा कम हो जाती है और साख मुद्रा की मात्रा में परिवर्तन होने पर चलन की मुद्रा की पूर्ति में भी परिवर्तन हो जाते हैं, जिनका पूरा प्रभाव मूल्य-स्तर पर पड़ता है। इसीलिये फिशर ने अपने सिद्धान्त को इस मान्यता पर आधारित किया है कि मनुष्य अपनी आय का एक निश्चित प्रतिशत ही बैंकों में जमा करते हैं और साख मुद्रा और नकद कोषों का अनुपात स्थिर रहना चाहिये तभी परिमाण सिद्धान्त सही रहेगा।

(४) **मुद्रा का चलन-वेग स्थिर रहना चाहिए**—यह पहले ही कहा जा चुका है कि मुद्रा के चलन-वेग के घटने और बढने से मुद्रा की मात्रा क्रमश. घटती और बढती रहती है और मुद्रा की मात्रा का हर परिवर्तन मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालता है, इसीलिए चलन की मुद्रा और साख मुद्रा दोनों ही का चलन-वेग स्थिर रहना आवश्यक हो जाता है। समय विशेष में मुद्रा के चलन-वेग की स्थिरता कई बातों से भंग हो सकती है, जैसे जनसंख्या में वृद्धि होना, जनता की उपभोग सम्बन्धी आदतों में परिवर्तन होना, प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि होना इत्यादि। इसलिये चलन वेग की स्थिरता उसी समय बनी रह सकती है जबकि उसको भंग करने वाली उपरोक्त सभी बातें स्थिर रहें। फिशर ने अपने सिद्धान्त में च और चा (V and V') को स्थिर माना है। यह ही परिमाण सिद्धान्त की अन्तिम मान्यता है।

परिमाण सिद्धान्त की आलोचना

अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा परिमाण सिद्धान्त की बड़े कटु शब्दों में आलोचना की है। वैसे तो यह एक साधारण सिद्धान्त है, जैसा कि मूल्य का सामान्य सिद्धान्त, परन्तु इसमें कुछ ऐसी मान्यताएँ मान ली गई हैं जिनके कारण यह सिद्धान्त दोषपूर्ण हो गया है। जैसा कि कुछ अर्थशास्त्रियों ने कहा है कि कुछ बातों को स्थिर मान लेने से यह सिद्धान्त अवास्तविक हो गया है। कुछ अर्थशास्त्री ऐसे भी हैं जिन्होंने कि इस सिद्धान्त के आधार को ही दोषपूर्ण बताया है। मुख्य आलोचनायें निम्न प्रकार हैं —

(१) कुछ अर्थशास्त्रियों का मत है कि परिमाण सिद्धान्त सामान्य मूल्य के सिद्धान्त के ऊपर आधारित होते हुए भी उसका पालन नहीं करता। जबकि मूल्य

सिद्धान्त हमें बताता है कि वस्तुओं का मूल्य उनकी माँग और पूर्ति की सापेक्षिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है, और यह भी कि वस्तुओं की माँग और पूर्ति दोनों शक्तियों में से किसी एक में भी अन्तर आ जाने से वस्तु के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है, परिमाण सिद्धान्त हमें यह बताता है कि मुद्रा का मूल्य उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर तो करता है परन्तु मुद्रा के मूल्य पर केवल मुद्रा की पूर्ति या परिमाण का ही प्रभाव पड़ता है, अर्थात मुद्रा का मूल्य उसकी पूर्ति या परिमाण के घटने के साथ-साथ बढ़ता है और बढ़ने के साथ-साथ घटता है। इससे सिद्ध होता है कि इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वालो ने इसके आधार में ही दोष उत्पन्न कर दिये थे।

इस आलोचना के विपक्ष में और अपनी सफाई देते हुए फिशर ने कहा है कि मूल्य का सामान्य सिद्धान्त केवल एक वस्तु विशेष का मूल्य निश्चित करने में ही सहायक होता है। वह सामान्य माँग एवं सामान्य पूर्ति का पता न लगने के कारण सामान्य कीमतों का पता लगाने में सहायक नही होता। यह सच भी है कि किसी एक वस्तु की माँग और पूर्ति का पता लगाना तो सम्भव हो सकता है, परन्तु सारी वस्तुओं की माँग और पूर्ति का पता लगाना कठिन ही नही वरन् असम्भव है। इस प्रकार मूल्य का सामान्य सिद्धान्त सामान्य मूल्य-स्तर को निश्चित नहीं कर सकता। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की कीमतें सामान्य मूल्य-स्तर की द्योतक नहीं होती, परन्तु सामान्य मूल्य-स्तर व्यक्तिगत वस्तुओं की कीमतों का ज्ञान कराने में अवश्य सहायक होता है और सामान्य मूल्य-स्तर का ज्ञान मुद्रा के परिमाण द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

✓(२) परिमाण सिद्धान्त में यह मान लिया गया है कि सामान्य मूल्य-स्तर में जो परिवर्तन होते हैं वे मुद्रा के परिमाण के घटने और बढ़ने के कारण होते हैं, परन्तु यह मान्यता ठीक नहीं है, क्योंकि वास्तविक जीवन में ठीक इसके विपरीत होता है अर्थात् मूल्य-स्तर के घटने और बढ़ने से मुद्रा का परिमाण घटता और बढ़ता है।

इसके विरुद्ध भी प्रो० फिशर ने अपनी सफाई दी है। वह कहते हैं कि "मूल्य स्तर को मुद्रा के परिमाण के घटने और बढ़ने का कारण समझ लेना एक बड़ी भारी त्रुटि होगी। इसमें सन्देह नहीं कि एक स्थान का मूल्य-स्तर दूसरे स्थान के मूल्य-स्तर पर अपना प्रभाव अवश्य डालता है।" वास्तव में फिशर का कहना सही भी है, क्योंकि वास्तविक जीवन में ऐसा ही होता है कि पहले मुद्रा का परिमाण बढ़ता है और फिर उसके प्रभाव से सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि होती है। फिशर का यह कहना भी बिल्कुल ठीक है कि एक स्थान का मूल्य-स्तर दूसरे स्थान के मूल्य-स्तर पर प्रभाव डालता है, क्योंकि जिस स्थान पर कीमतें ऊँची होने लगती हैं मुद्रा उस स्थान से हट कर ऐसे स्थान को जाने लगती है, जहाँ कीमतें नीची होने लगती हैं। इस प्रकार जिस स्थान पर पहले कीमतें ऊँची थी वहाँ मुद्रा का परिमाण घटने से कीमतें नीचे हो जाती हैं और जिस स्थान पर कीमतें नीची थी वहाँ मुद्रा का परिमाण बढ़ने से कीमतें ऊँची हो जाती हैं, और अन्त में मुद्रा की स्वतन्त्र गतिशीलता के कारण दोनो स्थानों का मूल्य साम्य पर आ जाता है और इस प्रकार सामान्य मूल्य-स्तर पर मुद्रा के परिमाण के घटने और बढ़ने का प्रभाव पड़ता है।

(३) कुछ आलोचकों ने विशेषकर निकलसन (Nicholson) ने यह भी कहा है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त एक साधारण सत्य है, जिसकी व्याख्या करने से किसी महत्वपूर्ण बात का पता नही चलता। हम सब ही जानते है कि मुद्रा का परिमाण बढने से कीमतें बढ जाती हैं। यह तो केवल एक प्रवृत्ति है, इसको सिद्धान्त का नाम देने की क्या आवश्यकता ?

इस आलोचना के विरुद्ध प्रो० फिशर का कहना है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त, उतना सरल नही है, जितना कि निकलसन समझते है, और यदि है भी तो उसका वैज्ञानिक उल्लेख किसी प्रकार से हानिकारक नही है जिसके विरुद्ध कुछ भी कहा जा सके।

इस प्रकार जितने भी आक्षेप इस सिद्धान्त के विरुद्ध लगाये गये हैं, वे सत्य नही हैं। सच तो यह है कि आलोचकों ने इसको पूर्णतया समझने का प्रयत्न ही नहीं किया। जहाँ तक इसके आधार का सम्बन्ध है उसमे कोई त्रुटि नजर नही आती, परन्तु जिस प्रकार फिशर ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, उसके विरुद्ध आलोचकों का कहना बहुत कुछ सही प्रतीत होता है। मुख्य आलोचनायें फिशर के सिद्धान्त के विरुद्ध निम्न प्रकार हैं :—

(१) यह सिद्धान्त जिन मान्यताओं पर आधारित हैं वे सब काल्पनिक हैं और अवास्तविक भी। इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी मान्यता यह है कि 'मुद्रा की मांगें' यथास्थिर रहती है। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नही होता। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि मुद्रा की माँग मे दो कारणों से परिवर्तन होते हैं। एक तो देश में उत्पादन की मात्रा से, और दूसरे, लोगों के खर्चा करने के स्वभाव में परिवर्तन होने से। परन्तु यह दोनों ही बातें कभी भी स्थिर नही रहती। हर व्यक्ति इस बात को जानता है कि उत्पादन की कुल मात्रा में हर वर्ष परिवर्तन होते रहते हैं। देश की जनसंख्या बढने से, या पिछडे हुए देशों में आर्थिक विकास की योजनाओं के सफल होने से लोगों की कार्यक्षमता बढ जाने से या उत्पादन की रीतियों में वैज्ञानिक सुधार हो जाने से, या उत्पादन के नये साधनों की खोज लग जाने से, किसी भी कारण उत्पादन की मात्रा किसी भी समय बढ सकती हैं। इसके अतिरिक्त सामान्य मूल्य-स्तर के बढने मे भी उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। बढती हुई कीमतों से लाभ उठाने के लिये उत्पादक वर्ग उत्पादन में वृद्धि कर सकता है, जिससे मुद्रा की माँग का स्थिर रहना असम्भव हो जाता है और प्रो० फिशर के समीकरण में 'व' की मात्रा बढ जाती है। ठीक इसके विपरीत मन्दी के समय में होता है, जबकि उत्पादन बढाने से नही बढता और संसार की कोई शक्ति गिरते हुए उत्पादन को नहीं रोक सकती और इस प्रकार मन्दी के समय 'व' की मात्रा घटने लगती है।

इसके विरुद्ध कुछ लोगों ने कहा है, कि पूर्ण रोजगार बिन्दु (Full Employment Point) पर मुद्रा की मांग स्थिर रहती है और इस प्रकार प्रो० फिशर के सिद्धान्त की मान्यता बिल्कुल सही है। इससे पहले कि इसके विपक्ष में कुछ कहा

जाय यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि पूर्ण रोजगार बिन्दु कब और कैसे प्राप्त होता है। होता यह है कि यदि कोई देश एक लम्बे काल तक मुद्रा प्रसार की नीति अपनाये रहे और मुद्रा के परिमाण को धीरे-धीरे बढाता रहे, तो वस्तुओं की कीमतें भी धीरे-धीरे बढती जाती है और उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता जाता है। उत्पादन बढाने के लिये उत्पादकों को, विभिन्न साधनों की एक बडी मात्रा में आवश्यकता होती है, और इस प्रकार उत्पादन की मात्रा बढाये जाने से देश में बेकार पडे सभी साधनों की खपत हो जाती है। यदि उत्पादन के बढने का क्रम यों ही चलता रहे तो एक बिन्दु ऐसा आ जाता है जबकि देश में उत्पत्ति का हर साधन उत्पादन में लग जाता है और बेकार नही रहता। यही पूर्ण रोजगार का बिन्दु (Full Employment Point) होता है। यदि इस बिन्दु के पश्चात् हम मुद्रा की मात्रा में वृद्धि करके उत्पादन की मात्रा को बढाना भी चाहे तो नही बढा सकते। इस प्रकार इस बिन्दु पर मुद्रा की माँग स्थिर रहती है। यह सब कहना सही अवश्य है, परन्तु उत्पादन में स्थिरता और उसके कारण मुद्रा की माँग में स्थिरता इस बिन्दु पर भी थोडे ही समय के लिए होती है। कुछ समय के बाद यह मान्यता गलत हो जाती है।

ऐसी ही और भी मान्यताएँ इस सिद्धान्त में मान ली गई हैं, जो कि सही नही है। जैसे चलन तथा साख मुद्रा के अनुपात को स्थिर मान लेना, वस्तुओं तथा मुद्रा के चलन-वेग को स्थिर मान लेना, इत्यादि। यह सब ही जानते हैं कि बढते हुए मूल्यों से लाभ उठाने के लिये सौदे जल्दी-जल्दी तय होते हैं और मुद्रा की इकाईयाँ एक हाथ से दूसरे हाथ में जल्दी से जाने लगती हैं, जो इस बात का सूचक है कि मुद्रा का चलन-वेग कीमतों के बढने से बढ जाता है। इसके अतिरिक्त बाजार में सट्टे की प्रवृत्ति बढने से भी चलन-वेग बढता है, और इसका ठीक उल्टा विपरीत दशाओं में होता है। इस प्रकार यह मान्यता भी गलत है। इसके अतिरिक्त अन्य मान्यतायें भी इसी प्रकार गलत हैं।

(२) कुछ लेखकों को चलन-वेग के विचार पर भी आपत्ति होती है। प्रो० फिशर ने अपने समीकरण में 'च' तथा 'चा' का जो प्रयोग किया है, वास्तव में उनका कोई निश्चित माप नही हो सकता। वैसे हवा के दबाव और तापक्रम जैसी अमूर्त (Abstract) चीजों को नापने के लिए भौतिक शास्त्र में बैरोमीटर (Barometer) और थरमामिटर (Thermometer) जैसे माप मौजूद हैं, परन्तु चलन-वेग नापने के लिये न तो अर्थशास्त्र में ही और न अक्शास्त्र में किसी प्रकार की ऐसी विधि है, जिसके द्वारा उसका सही-सही पता लगा लिया जाय। मुद्रा का चलन-वेग पूर्ण रूप से, उसका उपयोग करने वाले लोगों के स्वभाव, मनोवृत्ति एव चेतनाओं पर निर्भर रहता है, जिनका स्वय कोई माप नही है, तो फिर चलन-वेग का माप कैसे हो सकता है। इसीलियें कीन्स (Keynes) ने चलन-वेग के घटने और बढने के स्थान पर मुद्रा की माँग के घटने और बढने की बात की है। वैसे तो फिशर ने अल्प काल मे चलन-वेग को स्थिर मानकर उसको नापने का झगडा ही समाप्त कर दिया है, परन्तु दीर्घ काल मे भी तो उसने चलन-वेग को नापने की कोई विधि नही बताई है, जिसके कारण इस

सिद्धान्त का व्यवहारिक महत्व समाप्त हो जाता है। केवल यह ही नहीं, फिशर ने चलन-वेग को निश्चित करने वाले साधनो को बताने का भी प्रयत्न नही किया है, जैसा कि प्रो० मार्शल ने इस सम्बन्ध में आपत्ति की है। वह कहते हैं कि "परिमाण सिद्धान्त उन कारणो की व्याख्या नही करता है जो कि उसे निश्चित करते हैं।"[1] इसके अतिरिक्त फिशर ने केवल मुद्रा के चलन-वेग की ही बात की है। उसने वस्तुओ के चलन-वेग को सम मान लिया है जबकि वस्तुओं का भी चलन-वेग होता है और वह भी घटता बढता रहता है और जिसके कम और अधिक होने से वस्तुओ के परिमाण पर गहरे प्रभाव पडते हैं।

(३) परिमाण सिद्धान्त इस बात को भी स्पष्ट करने में असमर्थ है कि मुद्रा के परिमाण में अन्तर होने से उसके मूल्य में परिवर्तन किस प्रकार होते हैं, अर्थात् इस सिद्धान्त में समय-विलम्ब (Time-lag) को कोई महत्व नही दिया गया है। वास्तव में मुद्रा के परिमाण के घटने और बढने का प्रभाव उसके मूल्य पर एकदम नही पड़ता, इसमें कुछ समय लगता है। इस समय के बीच यदि अन्य बाते समान न रहे तो मूल्यो और मुद्रा परिमाण के परिवर्तनो का आपसी सम्बन्ध जिस प्रकार फिशर के समीकरण में निश्चित किया गया है, उस प्रकार न होगा। अत यह सिद्धान्त समस्याओ का शक्ति-युक्त (Dynamically) अध्ययन नही करता है। कीन्स ने इसका कड़े शब्दो में विरोध किया है। वह कहते हैं कि "द्रव्य सम्बन्धी सिद्धान्त की प्रधान समस्या केवल समानता (Identities) या सांख्यिक समीकरण (Statistical Equation) स्थापित करना ही नही है, उदाहरणार्थ, मौद्रिक साधनो (Monetary Instruments) और उनके बदले व्यापार की जाने वाली वस्तुओ में (समानता स्थापित करना)। ऐसे सिद्धान्त का वास्तविक कार्य समस्या का शक्तियुक्त अध्ययन करना है, विभिन्न तत्वो का जो कि उसके अन्तर्गत आते हैं इस प्रकार विश्लेषण करना है कि कारण बताने वाली विधि जिससे मूल्य-स्तर निश्चित किया जाता है और उस रीति का जिसके द्वारा सतुलन की स्थिति एक स्थान से दूसरे स्थान को अग्रसर होती है स्पष्टीकरण हो जाए।"[2]

---

1 "The Quantity Theory does not explain the causes which govern rapidity of circulation" —Fisher

2. The fundamental problem of monetary theory is not merely to establish identities or Statistical equations relating, e g the turn-over of monetary instruments to the turnover of things traded for money The real task of such a theory is to treat the problem dynamically, analysing the different element involved in such a manner as to exhibit the causal process by which the price level is determined and the method of transition from one position of equilibrium to another." —Keynes

(४) परिमाण सिद्धान्त मे यह भी नही बताया गया है कि, मूल्य-स्तर पर मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनो का प्रभाव किस प्रकार पड़ता है। इस सम्बन्ध में विहटेकर (Whittaker) का कथन है कि "मुद्रा सिद्धान्त, मूल्य-स्तर की कार्य विधि की व्याख्या के रूप में प्रशंसनीय है, किन्तु कारणो की व्याख्या के सम्बन्ध में इसमें भयकर बुराईया है।"[1] वास्तव में मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनो का प्रभाव प्रत्यक्ष रूप में न होकर परोक्ष रूप में होता है। इन परिवर्तनों का प्रभाव सबसे पहले ब्याज की दरो पर पडता है जो उत्पादन में पूंजी के विनियोग (Investment) को प्रभावित करती है और अन्त में *उनका प्रभाव मूल्य-स्तर पर पड़ता है। यह ही विचार क्राउथर* (Crowther), हॉटरे (Hawtrey), और हेयक (Hayek) का है।

(५) फिशर का समीकरण केवल एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति का ही द्योतक है, क्योकि फिशर ने अल्पकाल में च, चा और व को अस्थिर माना है। उसका विचार था कि यह बातें दीर्घकाल में स्थिर रहती हैं, इसीलिये उसने मुद्रा के मूल्य का दीर्घकाल में अध्ययन किया था। फिशर कदापि यह भूल गया था कि अल्पकाल ही में मुद्रा के परिवर्तनो के परिणाम बडे भयकर हो सकते हैं। इसीलिये मुद्रा सम्बन्धी अल्पकालीन प्रवृत्तियो का अध्ययन करना विशेष आवश्यक हो जाता है, और फिर जैसा कि कीन्स ने कहा है कि दीर्घकाल में तो हम सब ही मर जाते हैं, दीर्घकाल के अध्ययन से क्या लाभ है ?

(६) कीन्स का कथन है कि मुद्रा की सारी मात्रा मूल्य-स्तर पर प्रभाव नहीं डालती। चलन और साख मुद्रा की कुल मात्रा, किसी प्रकार से भी, वस्तुओ और सेवाओ को खरीदने में खर्च नही होती और उसका एक भाग असचित कोषों में चला जाता है, जिसका प्रभाव मूल्य-स्तर पर बिल्कुल नही पडता। कुल चलन मुद्रा की एक निश्चित मात्रा व्यापारियो द्वारा हमेशा तरल मुद्रा के रूप में सचित की जाती है और इसी मात्रा का उपयोग वस्तुओ और सेवाओ के खरीदने में होता है। फिशर का सिद्धान्त इस बात को ध्यान में नही रखता और इसीलिये वह सतोषजनक नही है।

(७) यह सिद्धान्त, मूल्य-स्तर में व्यापार चक्रो (Trade Cycles) द्वारा होने वाले परिवर्तनो का उल्लेख करने में असमर्थ रहता है। इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा परिमाण के परिवर्तनो के कारण ही मूल्य-स्तर में परिवर्तन होते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मुद्रा प्रसार को मुद्रा की मात्रा घटाकर और मुद्रा सकुचन को मुद्रा की मात्रा बढाकर रोका जा सकता है। परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा नही होता। सन् १९२९ के भयकर अवसाद के प्रभाव ससार के हर देश में दृष्टिगोचर हुये थे और हर देश की सरकार ने मुद्रा विस्तार करके मन्दी को दूर करने का प्रयत्न किया परन्तु वे सब ही असफल रहे।

---

1. "The Quantity is admirable as an elucidation of the mechanism involved in the pr ice level, but as an explanation or causation it has serious short comings." —Whittaker

(८) मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा का सम्बन्ध सब प्रकार की वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य से स्थापित करता है, और इस प्रकार इस सिद्धान्त के द्वारा सामान्य मूल्य-स्तर का ज्ञान हो जाता है, परन्तु यह सिद्धान्त मुद्रा की क्रय-शक्ति का ज्ञान नही कराता। यह स्पष्ट नही होता कि मुद्रा का मूल्य घटने और बढ़ने से प्राप्त होने वाली उपभोग की वस्तुओं की मात्राओं में कितनी घट बढ़ हुई है। इसके अतिरिक्त यह सिद्धान्त यह बताता है कि उत्पादित वस्तुओं की सारी मात्रा बाजार मे बिकने नही आती, कुछ वस्तुएं उत्पादकों द्वारा उत्पादन और व्यापार में उपयोग में आ जाती है और उनका उपभोग नही होता। अतः इस सिद्धान्त से उपभोक्ता की स्थिति मुद्रा के मूल्य के सम्बन्ध में स्पष्ट नही होती। कीन्स ने इस सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि परिमाण सिद्धान्त मुद्रा को केवल नकद सौदों का माप ही बताता है, क्रय शक्ति का नही।

(९) कुछ लोगों ने कहा है और ठीक ही कहा है कि यह सिद्धान्त सामान्य मूल्य सिद्धान्त का ही एक रूप है, परन्तु इसमें अनुचित रूप से मुद्रा की पूर्ति को महत्व दिया गया है। प्रो० हेयक (Hayek) ने इसीलिये कहा है कि परिमाण सिद्धान्त ने बिना किसी उचित कारणों के ही मुद्रा सिद्धान्तों मे एक केन्द्रित स्थान पा लिया है और इस दृष्टिकोण से वह अर्थशास्त्र की प्रगति में एक बाधा है। उनके विचार में "इस सिद्धान्त विशेष का एक बहुत ही हानिकारक प्रभाव यह है कि इसने मुद्रा के सिद्धान्त को सामान्य आर्थिक सिद्धान्तों से अलग कर दिया है।"

उपरोक्त आलोचनाओं से सिद्ध होता है कि मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त अवास्तविक और असंतोषजनक है। हेयक जैसे अर्थशास्त्री तो इसे सिद्धान्त मानते ही नहीं हैं और अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में इसे कोई महत्व नही देते। कीन्स ने इसको अधूरा माना है। उनका कथन है कि इस सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा द्वारा किये गये केवल नकद सौदों का पता लगाया जा सकता है, मुद्रा की सामान्य क्रय-शक्ति (General Purchasing Power) का अनुमान नहीं होता और फिर मुद्रा द्वारा जितने भी सौदे होते है उनमें से अधिकांश का सम्बन्ध व्यापार, उद्योग तथा वित्त से होता है, जिन पर इस सिद्धान्त में कोई भी ध्यान नहीं दिया गया है। इस प्रकार इस सिद्धान्त में काफी दोष है। इतने दोष होते हुये भी आलोचक इसके महत्व को बिल्कुल नष्ट नहीं कर पाये हैं। हममें से हर व्यक्ति इस बात को जानता है कि मूल्य-स्तर के परिवर्तन जिन जिन कारणों के परिणाम हैं, वे अनेकों हैं। परन्तु इसमें भी किसी को आपत्ति नहीं हो सकती कि मूल्य-स्तर के परिवर्तनों का मुख्य कारण मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन ही हैं। सरकार द्वारा निर्माण की गई व्यवहारिक नीतियों में इस सिद्धान्त का बहुत महत्व है। बहुत बार यह देखने में आता है कि सरकार ने मूल्य-स्तर के नियन्त्रण के हेतु चलन की मात्रा को बढाया घटाया है और इस सिद्धान्त का काफी प्रयोग किया है। इसलिये राबर्टसन (Robertson) का विचार सही है कि "मुद्रा का परिमाण सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य समझने के लिये एक विचित्र सत्य है। यह एक ऐसा सत्य है कि जिसका समझना वास्तविक जीवन में मुद्रा परिमाण और वस्तुओं के मूल्य में सम्बन्ध स्थापित करने के लिये आवश्यक है।"

कैम्ब्रिज-परिमाण-समीकरण (The Cambridge Quantity Equation)

एडम स्मिथ (Adam Smith), पैटी (Petty), लौक (Locke) और कैन्टीलीयन (Cantillion) द्वारा प्रदर्शित मार्ग को अपना कर मार्शल (Marshall), पीगू (Pigou), हॉटरे (Hawtrey), कैनन (Cannan) और राबर्टसन (Robertson) जैसे महान् अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा के प्राचीन परिमाण सिद्धान्त में संशोधन किये और अपने विचारों को एक समीकरण के रूप मे रखा है जो कि कैम्ब्रिज-समीकरण के नाम से प्रसिद्ध है। इस समीकरण का स्पष्टीकरण निम्नरूप से किया जा सकता है —

यदि 'आ' (R) को समाज की वार्षिक आय का सूचक मान लिया जाय और 'अ' (K) को 'आ' (R) का वह अनुपात मान लिया जाय जो कि मुद्रा के रूप में रक्खा गया है और 'म' (M) मुद्रा की इकाइयों की मात्रा का सूचक हो तो —

म = अ आ या (M = KR)

या मुद्रा का मूल्य $= \frac{\text{अ आ}}{\text{म}}$ या (Value of money per unit $= \frac{KR}{M}$)

अब क्योंकि मुद्रा का मूल्य सामान्य-मूल्यों के उल्टे अनुपात में चलता है और यदि 'स' (P) को सामान्य मूल्य-स्तर का सूचक मान ले तो—

स $= \frac{\text{म}}{\text{अ आ}}$ या $(P = \frac{M}{KR})$

इस समीकरण को गणित की सहायता से समझा जा सकता है।

मान लिया 'आ' (R) = १००० मन चीनी

और 'अ' (K) = $\frac{१}{४}$

और 'म' (M) = २५०० रु०

तब एक रुपये की क्रय-शक्ति $= \frac{१००० \times \frac{१}{४}}{२५००} = \frac{१}{१०}$ मन चीनी

या 'स' (P) $= \frac{२५००}{१००० \times \frac{१}{४}} =$ १० मन चीनी

इस समीकरण के आधार पर हम कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों की विचारधारा को भलीभाँति समझ सकते हैं। इन लोगों के अनुसार, हर समाज के लोग अपनी आय के कुछ भाग को तरल मुद्रा के रूप में जमा करके रखते हैं, जिससे व्यापार को बड़ी सहायता मिलती है, परन्तु साथ ही साथ आय का यह भाग बन्द पड़ा रहता है और कोई आर्थिक लाभ नहीं देता। एक समझदार व्यक्ति इस भाग की हानियों और लाभों का अध्ययन करने के पश्चात् ही निश्चित करता है कि अपनी आमदनी के कितने प्रतिशत को वह इस रूप में जमा करे क्योंकि जितना भाग कुल आमदनी का जमा किया जायगा उसी के बराबर देश के चलन की क्रय-शक्ति भी होगी। उपरोक्त समीकरण यही बात स्पष्ट करता है।

इस विचार धारा के अनुसार यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा केवल क्रय-शक्ति

ही नहीं है बल्कि संचय शक्ति भी है और मुद्रा की माग केवल व्यापारिक सौदों द्वारा ही उत्पन्न नही होती, जैसा कि प्रो० फिशर ने कहा है बल्कि जनता की सचय करने की इच्छा पर निर्भर होती है। साधारणतया बाजार की मन्दी के कारण अर्थात् मूल्य गिर जाने के कारण लोग पूँजी का विनियोग बन्द कर देते हैं और मुद्रा का संचय करना आरम्भ हो जाता है। सचय करने के लिये मुद्रा की माँग बढती है और कीमते गिरती चली जाती हैं और मुद्रा का मूल्य बढ जाता है। इसके विपरीत जब चीजो की कीमते तेज हो जाती हैं तब जनता अपनी आय को नये-नये व्यवसायों में लगाना चाहती है और इस प्रकार माँग की अपेक्षा मुद्रा की पूर्ति अधिक हो जाती है, मूल्य-स्तर ऊँचा हो जाता है और मुद्रा का मूल्य गिरने लगता है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा की माँग जनता की मुद्रा सचय करने की इच्छा द्वारा निर्धारित होती है।

कुछ अर्थशास्त्रियो ने फिशर द्वारा प्रस्तुत किये गये समीकरण की तुलना कैम्ब्रिज समीकरण से की है। इसे स्पष्ट करने के लिये दोनो समीकरणों को साथ-साथ रखना आवश्यक हो जाता है।

फिशर का समीकरण	कैम्ब्रिज समीकरण
म च = क व	$\frac{\text{म}}{\text{अ}}$ = स आ
$(MV = PT)$	$\left(\frac{M}{K} = PR\right)$

फिशर के समीकरण में 'क' और कैम्ब्रिज समीकरण में 'स' एक ही चीज नही है। जबकि 'क' उन सब सौदों का सूचक है जो मुद्रा द्वारा तय होते हैं तब 'स' उन सब वस्तुओ की कीमतो का सूचक है, जो समाज की वास्तविक आय के अन्तर्गत आती हैं। इसी प्रकार फिशर के समीकरण में 'व' और कैम्ब्रिज समीकरण मे 'आ' समान नही है। 'व' के अन्तर्गत सभी प्रकार के व्यापारिक, व्यवसायिक एव आर्थिक सौदे आ जाते हैं, परन्तु 'आ' के अन्तर्गत केवल वह ही वस्तुएँ आती हैं जिनको कि जनता उपभोग में लाने के लिये खरीदती है।

इस प्रकार दोनो समीकरणो में निम्न अन्तर पाये जाते हैं :—

(१) प्रथम यह कि फिशर के सिद्धान्त में चलन की सारी मुद्रा जो व्यापार के लिये आवश्यक होती है एक आधार स्तम्भ है, परन्तु कैम्ब्रिज समीकरण का आधार केवल वह ही नकदी है जो भविष्य में उपयोग में लाने के लिये जमा की जाती है।

(२) द्वितीय जबकि फिशर का सिद्धान्त एक दीर्घकालीन प्रवृत्ति का अध्ययन है, कैम्ब्रिज समीकरण अल्पकालीन परिवर्तनों का उल्लेख करता है।

कैम्ब्रिज सिद्धान्त की आलोचनाएँ

उपरोक्त दोनो अन्तर किसी प्रकार भी यह स्पष्ट नही करते कि दोनो सिद्धान्त

एक दूसरे के विरुद्ध हैं। हाँ इतना अवश्य है कि यह एक ही समस्या के दो रूप हैं। कैम्ब्रिज सिद्धान्त की भी आलोचना की गई है। आलोचकों का कहना है कि कैम्ब्रिज वालो का यह कहना कि 'आर्थिक परिवर्तन द्रव्य की मात्रा का परिणाम हैं' सही नही है।

कुछ अर्थशास्त्रियों का कहना है कि यह सोचना कि 'मूल्यों के परिवर्तन आर्थिक प्रणाली में सबसे महत्वपूर्ण हैं' अवास्तविक है। क्राउथर (Crowther) ने ठीक ही कहा है कि "वह व्यापार ही बुरा है जिसमें कीमतें नीची हो जाती हैं नीची कीमतो से व्यापार-स्तर नीचे नही आता··· वास्तव में यह कहना सच होगा कि नीचा व्यापार और नीची कीमतें दोनों ही किसी सामान्य कारण के परिणाम हैं।"

कैम्ब्रिज समीकरण में कुछ संशोधन कर दिये गये हैं। क्योंकि इस समीकरण में साख मुद्रा को सम्मिलित नही किया गया है इसलिये साख मुद्रा को सम्मलित करते हुये दो और समीकरणों का निर्माण हुआ है--एक तो कीन्स द्वारा और दूसरा पीगू द्वारा। कीन्स द्वारा प्रस्तुत किया गया समीकरण निम्न प्रकार है—

न = क (अ + र आ) या $n = p\,(k + r\,k')$

इस समीकरण में 'न' (n) चलन की कुल मात्रा का सूचक है, 'क' (p) सामान्य कीमत का और 'अ' (r) उपयोग की उन इकाईयों का जो चलन के रूप में जमा की जाती है, र (r) बैंकों के नकद कोषों और निक्षेपों का अनुपात है और 'आ' (k) उपभोग की इकाईयों की वह मात्रा है जिसके लिये साख मुद्रा में क्रय-शक्ति का संचय होता है।

साधारणतया कीन्स और कैम्ब्रिज समीकरण में कोई प्रधान अन्तर नही है। केवल एक यह ही विशेषता है कि कीन्स ने साख मुद्रा के महत्व को उचित स्थान दे दिया है। पीगू ने अपना समीकरण इस प्रकार दिया है:—

$$\text{क} = \frac{\text{अ र}}{\text{म}} \left\{ \text{स} + \text{ह}(१ - \text{स}) \right\} \quad \text{या} \quad P = \frac{KR}{M} \left\{ C + H(1 - C) \right\}$$

उपरोक्त समीकरण में 'क' 'अ' और 'र' के वह ही अर्थ हैं जो कैम्ब्रिज समीकरण में थे। 'स' (c) नकदी के उस भाग का सूचक है, जो जनता कानूनी मुद्रा के रूप में जमा करती है। और 'ह' (h) बैंकों द्वारा जमा किये गये निक्षेपों का कानूनी ग्राह्य भाग है।

इन समीकरणों का सैद्धान्तिक महत्व तो अवश्य है परन्तु यह वास्तविकता से बिल्कुल दूर हैं क्योंकि पीगू के समीकरण में 'स' और 'ह' (c and h) और कीन्स के समीकरण में 'अ', 'आ' (k and k') का किसी प्रकार से भी निश्चित रूप से माप नही हो सकता है।

आय सिद्धान्त (The Income Theory) या बचत और विनियोग सिद्धान्त (Savings and Investment Theory)

परिमाण सिद्धान्त और कैम्ब्रिज सिद्धान्त के अतिरिक्त मुद्रा के मूल्य निर्धारण

से सम्बन्धित एक और सिद्धान्त भी है जिसको आय सिद्धान्त कहते हैं। कुछ लेखकों ने इसे बचत और विनियोग का सिद्धान्त भी कहा है क्योंकि यह सिद्धान्त मुद्रा का मूल्य निर्धारण करने में बचत और विनियोग दोनों ही आय के पहलुओं पर दृष्टि डालता है। कुछ अर्थशास्त्रियों का विचार है कि परिमाण सिद्धान्त और कैम्ब्रिज सिद्धान्त में मुद्रा का मूल्य निर्धारित करने की रीति का एक विस्तृत अध्ययन नहीं किया गया है। इन सिद्धान्तों में केवल मुद्रा के मूल्य, उसकी माग और पूर्ति और उसके सामान्य मूल्य-स्तर में एक गहरा सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। यह सिद्धान्त यह बताने में कि किस समय में मूल्य-स्तर में परिवर्तन होगा बडी सहायता देता है, परन्तु जहाँ तक उन रीतियों का सम्बन्ध है जिनके द्वारा मूल्य-स्तर में उतार-चढाव होते हैं, उनको बताने में असमर्थ रहता है।

आय सिद्धान्त भी साधारणतया कीन्स के नाम से सम्बन्धित किया जाता है, परन्तु इसमें क्राउथर (Crowther), हैबरलर (Heberler) जैसे अर्थशास्त्रियों ने भी अपनी अपनी सहायता दी है। कीन्स ने कैम्ब्रिज समीकरण में सशोधन करते हुए अपना जो समीकरण दिया था, बाद में अपने आय सिद्धान्त के अनुसार उसमें सशोधन कर दिये। कीन्स के अनुसार मुद्रा का मूल्य उसके परिमाण पर निर्भर नहीं करता बल्कि बचत और विनियोगों के अनुपात पर निर्भर करता है, जो जनता की आय और उसके बचाने की शक्ति पर निर्भर रहता है। उनका विश्वास है कि इस सिद्धान्त द्वारा उन लोगों के सम्पर्क में आ सकते हैं जिनका सम्बन्ध वस्तुओं के उत्पादन, आय और व्यय, लाभ-प्रतिक्षा, बचत, विनियोग, मुद्रा का सचय व उसके निर्माण से है।

आय सिद्धान्त के मुख्य तत्व

इस प्रकार इस सिद्धान्त के मुख्य तत्व यह हैं:—

(१) मुद्रा का मूल्य किसी समय विशेष में दो बातों पर निर्भर रहता है—

(क) समाज की मौद्रिक आय और उसके व्यय पर; और

(ख) वस्तुओं की बिक्री के लिये आई हुई कुल मात्रा और मौद्रिक आय के सम्बन्ध पर।

(२) मौद्रिक आय की मात्रा समाज में प्रचलित मुद्रा की मात्रा तथा उससे प्राप्त होने वाली आय और उसके चलन वेग पर निर्भर होती है।

(३) किसी भी समाज में प्रचलित मुद्रा की मात्रा अनेकों कारणों पर निर्भर होती है, अर्थात् चलन की मुद्रा का परिमाण निर्धारित करने में बहुत से तत्वों का हाथ होता है जैसे देश में प्रचलित मुद्रा-मान, सुरक्षित कोष सम्बन्धी नियम, देश की बैंकिंग प्रणाली इत्यादि।

(४) किसी भी समाज में लोगों की आय या विनिमय करने की शक्ति अर्थात् विनिमय-वेग भी कई साधनों द्वारा निर्धारित होता है। विनिमय-वेग लोगों की अपनी आय के उपयोगों के सम्बन्ध में समय-समय पर बदलते हुये उद्देश्यों पर निर्भर होता है, अर्थात् लोगों का अपनी आय के उपयोग करने का उद्देश्य समय-समय पर बदलता

रहता है। जब लोग अपनी आय का उपयोग करना नहीं चाहते और जमा ही करना चाहते हैं तब विनिमय वेग शिथिल पड़ जाता है और जब लोग विनियोग करना चाहते हैं तब विनिमय-वेग बढ़ जाता है। कभी-कभी लोग अपनी आय का विनियोग लाभ प्राप्त करने की आशा से भी करते हैं। विनिमय वेग उत्पादन में होने वाले व्यय, समय और उससे प्राप्त होने वाली आय के अनुसार भी घटता बढ़ता है।

(५) वस्तुओं की बाजार में बिकने वाली मात्रा भी कई बातों पर निर्भर होती है, जैसे पूंजी की मात्रा, प्राप्त होने वाले लाभ की आशा आदि।

(६) किसी समय विशेष में देश की मौद्रिक आय, उत्पादित वस्तुओं की मौद्रिक कीमत से न तो कम और न अधिक हो सकती है, अर्थात देश में उत्पादित वस्तुओं का मूल्य देश की मौद्रिक आय के बराबर रहता है।

(७) परन्तु किसी समय विशेष में नई उत्पादित वस्तुओं के खरीदने के लिये जो मुद्रा दी जाती है वह मौद्रिक आय से कम या अधिक हो सकती है, क्योंकि या तो मुद्रा के जमा कर लिये जाने या नष्ट हो जाने के कारण कम हो सकती है, या लोगों की संचय करने की आदत को छोड़ देने या नई मुद्रा के निर्माण होने से अधिक हो सकती है।

(८) बचत, आय का वह भाग होता है जो उपभोग की वस्तुओं पर व्यय होने के बाद बच रहता है। मौद्रिक आय के इस भाग को अर्थात बचत को, या तो विनियोग कर दिया जाता है या उसको जमा कर लिया जाता है और उसका ह्रास होता रहता है, अर्थात् किसी भी समय विशेष में कुल मौद्रिक आय उपभोग और विनियोग पर किये जाने वाले व्यय से अधिक नहीं हो सकती।

(९) इस प्रकार किसी भी समय में बचत और विनियोगों का बराबर होना कठिन हो जाता है। ब्याज की वास्तविक दरें उनको असंतुलित कर देती हैं। जब देश में मुद्रा का संचय व विनाश होता है तब बचत विनियोग से अधिक हो सकती है और जब किसी भी समय में नई मुद्रा का निर्माण हो जाता है या जमा की हुई मुद्रा बाहर आने लगती है तब विनियोग से बचत कम होने लगती है।

(१०) अन्त में जिस समय विनियोग से बचत अधिक हो जाती है, मूल्य-स्तर गिरने लगता है और जिस समय बचत से विनियोग अधिक हो जाता है मूल्य-स्तर ऊँचा होने लगता है। सतुलन केवल उसी समय स्थापित होता है जबकि बचत और विनियोग एक दूसरे के बराबर होते हैं।

मौद्रिक आय एवं वास्तविक आय (Money Income and Real Income)

आय सिद्धान्तों के तत्वों का उल्लेख करते समय 'मौद्रिक-आय' और वास्तविक-आय' शब्दों का प्रयोग किया गया है जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है। राष्ट्रीय आय आर्थिक शब्दों में वह आय है जो उत्पादनों के साधनों द्वारा मुद्रा के रूप में प्राप्त की जाती है। इसे ही मौद्रिक आय कहते हैं। जब राष्ट्रीय आय को उपभोग और पूंजी की वस्तुओं के रूप में बताया जाता है तब वह वास्तविक आय हो जाती है। इस प्रकार मौद्रिक आय भूमिपति, मजदूर, पूंजीपति और उद्योगपति को लगान,

मजदूरी, ब्याज व लाभ के रूप में प्राप्त होती है और वास्तविक आय में केवल उपभोग तथा पूंजी की वस्तुएं सम्मिलित हैं। उपभोग की वस्तुओं के अन्तर्गत भोजन, वस्त्र व इसी प्रकार की अन्य वस्तुएँ सम्मिलित हैं और वे वस्तुएँ जो उत्पादन को बढाने में सहायता देती हैं, पूँजी की वस्तुएं कहलाती हैं जैसे मशीने, कारखानो की इमारत, कच्ची सामग्री इत्यादि। किसी भी समय में जनता द्वारा प्राप्त मौद्रिक आय ही खेतो, दूकानों व कारखानो में होकर उपभोग व पूंजी की वस्तुयो पर व्यय होने के लिए आ जाती है। इस प्रकार मौद्रिक आय तथा वास्तविक आय में घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, *जिसका स्पष्टीकरण आय सिद्धान्त में किया गया है। आय सिद्धान्त के अनुसार मुद्रा* का मूल्य अर्थात् वास्तविक आय का मुद्रा में मूल्य केवल आय प्राप्तकर्ताओं के अपनी मुद्रा के बदले वस्तुएं ग्रहण करलेने के निश्चय द्वारा तय होता है। अर्थात् जब आय प्राप्त कर्ता वस्तुओ के बदले मुद्रा की मात्रा कम देना चाहते हैं तब मूल्य-स्तर गिर जाता है और जब वे वस्तुओ के बदले मुद्रा की मात्रा अधिक देने को तैयार हो जाते हैं तब मूल्य-स्तर बढ जाता है।

विनिमय गति (Exchange velocity) **या आय गति** (Income velocity)

किसी समय विशेष मे मौद्रिक आय उस समय में प्रचलित मुद्रा की औसत मात्रा पर ही निर्भर नही होती बल्कि आय गति या मुद्रा की विनिमय गति पर भी निर्भर होती है। एक समय में मुद्रा की औसत मात्रा जितनी बार उत्पादन के साधनों द्वारा मौद्रिक आय के रूप में प्राप्त की जाती है आय-गति या मुद्रा की विनिमय गति कहलाती है। इस प्रकार—मौद्रिक आय = प्रचलित मुद्रा की औसत मात्रा × आय गति।

वर्तमान आर्थिक प्रणाली के अध्ययन से आय गति का विचार पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है। जो धन उत्पादन के साधनो द्वारा प्राप्त किया जाता है, उसका अधिकाश भाग उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओ पर खर्च कर दिया जाता है। उत्पादक या उद्योगपति जितना धन वस्तुओ को बेचने के पश्चात् प्राप्त करते हैं, उसका अधिकाश भाग और वस्तुओ के उत्पादन में खर्च हो जाता है, जो शेष बच रहता है वह ही साहसी का इनाम होता है, अर्थात् वह मौद्रिक आय का भाग है। उत्पादन में लगी हुई राशि का कुछ हिस्सा मौद्रिक आय के रूप में मजदूरो भूमिपतियो और पूँजीपतियो को मिल जाता है। इस प्रकार मौद्रिक आय का बहाव चलता रहता है। यहाँ पर आय-गति को प्रभावित करने वाले विभिन्न तत्वो का वर्णन करना भी आवश्यक है।

आय-गति पर उद्योगपतियो के उत्पादन सम्बन्धी निश्चय का बहुत प्रभाव पडता है। उनका निश्चय अधिकतर लाभ प्राप्ति पर निर्भर करता है। और यह लाभ वस्तुओ की मांग और पूर्ति पर निर्भर करता है जो मांग करने वालो और पूर्ति करने वालो के स्वभाव पर निर्भर रहता है। एक ओर तो उत्पादक उत्पादन सम्बन्धी व्यय का ध्यान रखता है और दूसरी ओर उपभोक्ता अपनी आय व आय से उपभोग और पूंजी सम्बन्धी वस्तुएं प्राप्त करने की इच्छा को ध्यान में रखता है। इस प्रकार उत्पादक अपने उत्पादन को उपभोग के अनुसार करना चाहते हैं और उपभोक्ता अपने उपभोग को उत्पादन के अनुसार बनाना चाहते हैं। इन दोनो का यह निर्णय उत्पादन की मात्रा को

निश्चित करता है, जिसका प्रभाव अत में आय-गति पर पड़ता है।

आय-गति पर प्रभाव डालने वाला दूसरा आवश्यक तत्व उत्पादन सम्बन्धी समय है। यदि वस्तु के उत्पादन और उसके उपभोक्ता तक पहुँचने मे अधिक समय लगता है तो मुद्रा की आय-गति कम हो जायगी और यदि समय कम लगता है तो मुद्रा की आय-गति बढ जायगी।

आय-गति को प्रभावित करने वाला तीसरा तत्व लोगो का मुद्रा खर्च करने का निश्चय है। यदि लोग अपनी आय को वस्तुओ में बदलने के लिये तैयार नही हैं तो आय-गति शिथिल हो जायगी अन्यथा नही।

उपभोग और बचत (Consumption and Saving)

मौद्रिक आय या तो उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति पर खर्च की जा सकती है या उसको विनियोग किया जा सकता है। मौद्रिक आय का अधिकतर भाग उपभोग की वस्तुओ पर ही खर्च होता है। जबकि एक निर्धन देश, जैसे भारत में मौद्रिक आय का अधिकाश भाग उपभोग पर खर्च किया जाता है, एक धनी देश में विनियोग सम्बन्धी कार्यों में लगाया जाता है। इस प्रकार उपभोग और बचत में एक घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

बचत और विनियोग (Savings and Investment)

साधारणतया विनियोग का अर्थ किसी भी प्रकार की आय बढाने की रीति से समझा जाता है, अर्थात् सामान्य दृष्टिकोण से सम्मिलित पूँजी कम्पनियो (Joint Stock Companies) के हिस्से स्टॉक एक्सचेंज (Stock Exchange) से खरीदना या ऋण पत्रो को खरीदना विनियोग के उदाहरण हैं। इन क्रियाओ द्वारा विनियोग तो हो सकता है परन्तु वास्तव में इन क्रियाओं द्वारा प्राप्त धन को किस प्रकार उपयोग में लाया जाता है, उसके ऊपर विनियोग का होना या न होना निर्भर करता है। इसी बात की खोज लगाने का प्रयत्न आय सिद्धान्त में किया गया है। इस सिद्धान्त के अनुसार जब कोई व्यक्ति ऋण पत्र बेचकर या स्टाक बेचकर जो रुपया प्राप्त करता है यदि उसको किसी उत्पादन कार्य में लगा देता है तब विनियोग होता है और यदि उनसे दूसरे ऋण पत्र खरीद लिये जायँ तब विनियोग नही होगा या यदि पूर्व स्थापित किसी मिल या फैक्ट्री की मशीन खरीद ली जाय तो भी विनियोग नही हुआ क्योकि इस कार्य से राष्ट्रीय पूँजी में अश मात्र भी वृद्धि नहीं हुई। अतएव विनियोग केवल नई पूँजी की वृद्धि के लिये मुद्रा का व्यय करना है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है मनुष्य की बचत विनियोगो में लगाकर ही होती है। इसी क्रम से मौद्रिक आय का बहाव चलता रहता है अर्थात् प्राप्त मौद्रिक आय का एक भाग उपभोग की इकाईयो पर खर्च किया जाता है जो लौटकर फिर उत्पादको के पास पहुँच जाती है और जो फिर से उत्पादन के साधनो में लगान, मजदूरी आदि के रूप में बाँट दी जाती है। मौद्रिक आय का दूसरा भाग बचत के रूप में विनियोगों में लगा दिया जाता है जो भी उत्पादन के विभिन्न साधनो में बाँटा जाता है—यो ही क्रम चलता रहता है।

किन्तु विनियोगों का होना भी दो मुख्य तत्वों पर निर्भर करता है। प्रथम, पूंजी की सीमांत उत्पादकता और द्वितीय बाजार में प्रचलित व्याज की दर। व्याज की दर मुद्रा की मात्रा और मुद्रा के प्रथमाधिकार (Liquidity preference) पर निर्भर करती है। मुद्रा की मात्रा, पूंजी की सीमांत उत्पादकता और मुद्रा के प्रथमाधिकार—तीनों मिलकर विनियोगो की मात्रा को निश्चित करते हैं। पूंजी की सीमांत उत्पादकता स्वयं कई बातों पर निर्भर करती है, जैसे माग की स्थिति पर, देश के आर्थिक विकास पर, जनसंख्या की वृद्धि पर, मनुष्यों की विनियोग करने की रुचि पर, करो की दर पर इत्यादि इत्यादि।

हम पहले ही देख चुके हैं कि बचत और विनियोग व्याज की दर पर निर्भर रहते हैं और इस प्रकार मुद्रा के मूल्य को प्रभावित करते हैं। लार्ड कीन्स ने व्याज की 'स्वाभाविक दर' और 'प्रचलित बाजार दर' में अन्तर किया है। उनके अनुसार व्याज की 'स्वाभाविक दर' उस दर को कहते हैं जो बचत और विनियोगों की मात्रा को बराबर रखती है। यदि व्याज की बाजारू दर स्वाभाविक दर से भिन्न है तो मुद्रा के मूल्य पर प्रभाव डालने वाले कुछ निश्चित कारण अपना कार्य करने लगेंगे। उदाहरण के लिये यदि बैंक व्याज की दर, स्वाभाविक दर से कम लेंगे तब साख के लिये मुद्रा की माँग बढ जावेगी। यदि साहसियो के पास खर्च करने के लिये मुद्रा की मात्रा बढ जाती है तो वे उत्पादन के साधनो को अधिक सख्या मे ही केवल प्रयोग में नही लायेंगे बल्कि उनके प्रतिफल की मात्रा भी बढा देंगे, जिससे उत्पादनो के साधनों की मौद्रिक आय बढ जायगी और उनके खर्च करने की शक्ति में भी वृद्धि हो जावेगी, जो वस्तुओं के मूल्यो को बढा देगी। ठीक इसका उलटा विपरीत दशाओं में होगा। साम्य की अवस्था में व्याज की बाजारू दर, स्वाभाविक दर के बराबर होती है, बचत की मात्रा विनियोगों की वस्तुओं के बराबर हो जाती है और मूल्य उत्पादन की प्रति इकाई लागत व्यय के बराबर होगा। कीन्स ने इन विचारों को एक समीकरण द्वारा प्रकट किया है। इस समीकरण को प्रधान समीकरण (Fundamental Equation) कहते हैं।

यदि किसी समय में किसी समाज की आमदनी 'आ' द्वारा व्यक्त की जाय और नये विनियोगो का लागत व्यय 'न' द्वारा सूचित की जाय तो :—

आ-न = उपभोग की वस्तुओं के चालू परिणाम (Current output) का लागत व्यय।

यदि बचत की मात्रा 'ब' द्वारा सूचित की जाय तो—

आ-ब = उपभोग की वस्तुओं पर खर्च होने वाला आय का चालू व्यय (Current Expenditure), और यदि किसी समय में वस्तुओं के रूप में कुल उत्पादन की इकाईयाँ 'इ' द्वारा सूचित की जाए और बाजार मे बिक्री के लिये और उपभोक्ताओं द्वारा खरीदे जाने के लिये आने वाली वस्तुओ और सेवाओं की मात्रा 'म' द्वारा दिखाई जाए और विनियोगो की वास्तविक वृद्धि 'श' द्वारा इस प्रकार व्यक्त की जाए कि (इ=म+श के शब्दों में) और यदि उपभोग की इकाइयों का मूल्य-स्तर

'उ' द्वारा व्यक्त किया जाए तब उ × म = उपभोग की वस्तुओं पर होने वाला चालू व्यय 'आ' × $\frac{\text{श}}{\text{इ}}$ = न, नये विनियोगों का लागत व्यय है।

क्योंकि किसी भी समाज में उपभोग की वस्तुओं पर होने वाले व्यय आमदनी और बचत के अन्तर के बराबर होता है, तब

$$\text{उ} \times \text{म} = \text{आ} - \text{ब} = \frac{\text{आ}}{\text{इ}} \times (\text{म} + \text{श}) - \text{ब}$$

अर्थात्

$$\frac{\text{आ}}{\text{इ}} \times (\text{म} + \text{न}) - \text{ब}$$

अर्थात्

$$\text{उ} = \frac{\text{आ}}{\text{इ}}$$

अर्थात्

$$\text{उ} = \frac{\text{न-ब}}{\text{म}}$$

इस प्रकार नये विनियोगों की दर और लागत व्यय मालूम होने पर उपभोग की वस्तुओं का मूल्य-स्तर पूर्णतया जनता की बचत करने के स्वभाव पर निर्भर रहता है और यदि बैंकों द्वारा उत्पन्न बचत की मात्रा मालूम हो तो विनियोग की वस्तुओं का मूल्य-स्तर पूर्णतया जनता की धन दबा कर रखने के स्वभाव पर निर्भर रहता है।

सिद्धान्त को इस प्रकार प्रस्तुत करने में अर्थशास्त्रियों को तीन आपत्तियाँ हुई हैं—

(१) 'उ', 'आ' और 'ब' मुद्रा के रूप में व्यक्त किये गये है जिसका अर्थ यह हुआ कि यदि सामान्य मूल्य-स्तर 'उ' प्रचलित मुद्रा के समान रहते हुए दुगुना हो जाय तो भी समीकरण में कोई अन्तर नहीं आयेगा। यह सिद्धान्त इस सम्भावना के उत्पन्न होने को रोक नहीं सकता कि मुद्रा परिमाण के समान रहने पर मूल्य-स्तर दुगुना भी हो सकता है, चौगुना भी हो सकता है और सौ गुना भी और जहाँ तक चाहे बढ सकता है। इसलिये वस्तुओं और मुद्रा के बीच विनिमय दर निर्धारित करने वाले कुछ न कुछ कारण ऐसे अवश्य होंगे जिनको कि प्रधान समीकरण (Fundamental Equation) में कोई स्थान नहीं दिया गया है।

(२) द्वितीय क्योंकि 'म', 'श्र' और 'ब' एक समय विशेष के द्योतक कोटियाँ (Magnitudes) हैं। 'उ' भी एक समय विशेष में मूल्य-स्तर का सूचक हो जाता है। अतएव हम इनके द्वारा किसी निश्चित समय पर मूल्य-स्तर पता नहीं लगा सकते। यदि अकस्मात ही कोई असाधारण घटना घट जाये, अर्थात्, यदि लड़ाई की अफवाह फैल जाये या अफवाह फैला दी जाए कि कागजी मुद्रा का विस्तार बहुत हो गया है तो मूल्य-स्तर में एकदम ही बहुत अन्तर पड़ जावेगा चाहे म, आ, और ब अपरिवर्तित ही क्यों न रहे।

(३) कीन्स ने साहसी के 'सामान्य प्रतिफल' और उसको प्राप्त लाभ में अन्तर किया है, उसने सामान्य प्रतिफल को 'आ' में अर्थात् समाज की आय में सम्मिलित किया है और उसको प्राप्त होने वाले लाभ को समाज की आय का भाग न होने के

कारण और चालू उपभोग पर खर्च न होने के कारण उसको बचत का एक भाग माना है। परन्तु वास्तविकता यह है कि यह विचार दोषपूर्ण है क्योंकि व्यवहारिक जीवन में उपभोग की वस्तुओं के मूल्य-स्तर पर यह बात अवश्य प्रभाव डालती है कि लाभ अंशतया या पूर्णतया चालू उपभोग पर खर्च हो रहे हैं या नहीं।

आय सिद्धान्त के मुख्य परिणाम (Important Consequences of Income Theory)

उपरोक्त विचारों के आधार पर कीन्स ने अपनी पुस्तक 'रोज़गार ब्याज और मुद्रा" में विस्तृत रूप से रोज़गार सम्बन्धी सिद्धान्तों का अध्ययन किया है। उसके विचार में बेरोजगारी के मुख्य कारण गिरता हुआ उपभोग और विनियोगों के प्रति अरुचि का उत्पन्न होना है। बेरोजगारी को दूर करने के हेतु यह आवश्यक हो जाता है कि उपभोग और विनियोगों को आर्थिक और मुद्रा सम्बन्धी प्रयोगों द्वारा प्रोत्साहन दिया जाय। कीन्स के यह विचार उसके चारों ओर के वातावरण और उससे प्राप्त अनुभवों पर आधारित हैं। वह पूँजीवादी समाज में धन के असमान वितरण और उनसे उत्पन्न होने वाली उपभोग की कमी और बाज़ार की मन्दी के घातक परिणामों को भलीभाँति समझता था। उसने देखा था कि एक ओर तो धनी वर्ग इतनी अधिक आय प्राप्त करता है कि उसको उपभोग पर खर्च न करके जमा कर लेता है और दूसरी ओर गरीबों को उपभोग करने को भी आय प्राप्त नहीं होती। वह इस असमानता को दूर करना चाहता था जो उसके विचार में केवल धनवानों पर कर बढाने से और गरीबों को सस्ती सेवायें प्रदान करने से ही दूर हो सकती है। इसके अतिरिक्त कीन्स ने विनियोगों के सम्बन्ध में गुणक (Multiplier) सिद्धान्त का निर्माण किया है। कीन्स के इस सिद्धान्त के अनुसार विनियोग व्यवसाय पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं। वह मुख्य और सहायक व्यवसायों (Main and subsidiary occupations) को प्रोत्साहन देते हैं जिससे मौद्रिक आय बढती है और वस्तुओं और सेवाओं की माँग बढने से व्यवसायों में दिन प्रतिदिन वृद्धि होती है। इसीलिये कीन्स ने व्यवसायिक सिद्धान्त का नाम गुणक सिद्धान्त (Multiplier Theory) रक्खा है। यह विचार मुख्यतया इस बात पर आधारित है कि कुल आय कुल व्यय के बराबर होती है। इसे निम्न प्रकार समझाया जा सकता है.—

यदि कुल आय को 'आ' (Y) और कुल व्यय को 'क' (V) और उपभोग को 'उ' (C), विनियोगों को 'व' (I) और बचत को 'च' (S) द्वारा सूचित किया जाय, तो—

आ=उ+व	$Y=C+I$
च=आ—उ	$S=Y-C$
च=व	$S=I$

उपरोक्त विधि के अनुसार समाज की कुल आय या तो उपभोग पर खर्च होती है या बचत पर। इस प्रकार समाज की कुल आय उपभोग और बचत दोनों के बराबर होती है। अत. च=आ—उ, दूसरे शब्दों में उपभोग और विनियोग समान हो जाते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि विनियोगों में वृद्धि होने से बचत को किस प्रकार

प्रोत्साहन मिलता है। हम सब ही इस बात को जानते हैं कि आय बढ़ने के साथ-साथ मनुष्य का उपभोग भी बढ़ता है और मनुष्य के बचाने की शक्ति भी बढ़ जाती है अर्थात् पहले से अधिक प्रतिशत बचत में रक्खा जाने लगता है। नये विनियोगों को प्रोत्साहन मिलने से लोगों को नौकरियाँ मिलने लगती हैं। यह लोग अपनी आय का कुछ भाग बचाते हैं और कुछ का उपभोग करते हैं और बाकी को विनियोगों में लगा लेते हैं, जिससे और अधिक लोगों को नौकरियाँ मिल जाती हैं जो फिर अपनी आय में से उपभोग करके और बचाकर कुछ को और अधिक विनियोगों में लगा देते हैं, जिससे नये आदमियों को नौकरियाँ फिर मिल जाती हैं—और यह क्रम उस समय तक चलता रहता है जब तक कि बचत और विनियोगों में समानता स्थापित नहीं हो जाती।

कीन्स का विचार है कि आय और रोजगारी को इच्छानुसार साम्य पर लाने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार उपभोग और विनियोगों को प्रोत्साहन देकर वस्तुओं और सेवाओं की माग बढाने में सहायता दे। कीन्स ने इस सम्बन्ध में व्यवहारिक नीति के निर्माण के लिये बहुत सुझाव रक्खे हैं। उनका विचार है कि मुद्रा-सकुचन और मुद्रा-प्रसार, दोनों में ही यदि सरकार एक निश्चित रूप से एक सम्मिलित आर्थिक व मौद्रिक नीति को अपनाये तो पूरे रोजगार (Full Employment) की स्थिति उत्पन्न की जा सकती है। मन्दी के दिनों में गिरते हुये उपभोग को रोकने के लिये सरकार को चाहिये कि वह कर और ब्याज की दरों को कम करदे जिससे उपभोग और विनियोग दोनों ही बढ़ेंगे। यदि इससे बाजार की स्थिति में कोई सुधार नहीं होता तो सरकार नोटो की मात्रा बढाकर स्वय नये उद्योगों का निर्माण करे। इसी प्रकार मुद्रा-प्रसार के काल मे धनी वर्ग पर करो की दर बढा देना चाहिये ताकि उनकी विनियोग करने की इच्छा कम हो जाय। साथ ही साथ सरकार को ब्याज की दर भी बढानी चाहिये और सरकारी प्रतिभूतियाँ (Securities) आदि बेचकर लोगों की क्रय-शक्ति कम कर देनी चाहिये। इसके अतिरिक्त गरीबों पर ऐसे कर लगा देना चाहिये, जिससे उनके व्यय करने की शक्ति कम हो जाय। इससे मुद्रा प्रसार के भयकर परिणाम कम हो सकेंगे।

इस प्रकार कीन्स ने कुछ ऐसे सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जो वास्तविक भी है और साथ ही साथ व्यावहारिक भी है। उसने व्यावहारिक जीवन के कटु सत्यों को ध्यान में रखते हुये विभिन्न सरकारों को एक व्यावहारिक नीति (जो कि मुद्रा-प्रसार और मुद्रा सकुचन दोनों ही में समान रूप से हितकर सिद्ध हो) निर्माण करने का मार्ग दिखाया। यद्यपि कुछ लोगों ने उसके सिद्धान्तों की आलोचना करते हुये 'मन्दी का अर्थशास्त्र' कहकर पुकारा है, किन्तु उन लोगों का यह आरोप न्यायपूर्ण नहीं है, और यह सुगमतापूर्वक कहा जा सकता है कि मुद्रा के मूल्य निर्धारण और उससे सम्बन्धित समस्याओं को सुलझाने के हेतु जितने भी सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है उनमें कीन्स के आय-सिद्धान्त से बढकर कोई और सिद्धान्त इतना व्यावहारिक और उपयोगी नहीं है।

चौदहवाँ अध्याय

मुद्रा का मूल्य—(क्रमशः)

'मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन'—(मुद्रा प्रसार)

परिचय

पिछले अध्याय में हमने मुद्रा के मूल्य निर्धारण सम्बन्धी सिद्धान्तों की विवेचना की थी—अब हमको मुद्रा के मूल्य और मूल्य-स्तर के आपसी सम्बन्ध का भली प्रकार ज्ञान हो गया है। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुद्रा का मूल्य और सामान्य मूल्य-स्तर आपस में उल्टे अनुपात द्वारा सम्बन्धित हैं। इसका अर्थ है कि सामान्य मूल्य-स्तर ऊचा होने से मुद्रा का मूल्य गिर जाता है और जब सामान्य मूल्य-स्तर गिर जाता है तो मुद्रा का मूल्य ऊचा हो जाता है। इस प्रकार मुद्रा के मूल्य गिरने और चढने से समाज को घोर कष्ट उठाने पडते हैं जिससे देश की समस्त आर्थिक व्यवस्था में भूचाल सा आ जाता है। हम सभी इस सत्य से परिचित हैं कि मुद्रा क्रय-शक्ति है। जब कभी मुद्रा की स्थिति में कोई परिवर्तन होता है उसकी क्रय-शक्ति भी बदलती है जिसके फलस्वरूप सारी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य एक साथ कम या अधिक हो जाते हैं। वास्तव मे होता यह है कि जब द्रव्य की मात्रा या उसके चलनवेग में वृद्धि होती है तो लोगो की मौद्रिक आय (Money Income) में भी वृद्धि हो जाती है जिसके कारण लोगो की उपभोग करने की शक्ति बढ जाती है। उपभोग की वस्तुओं की बढती हुई माग की पूर्ति करने के लिये उत्पादको को अधिक मात्रा में कच्चा माल व पूजी खरीदनी पडती है और श्रमिको की सख्या में भी वृद्धि करनी पडती है। इसी प्रकार रोजगार बढने से लोगो की मौद्रिक आय फिर बढती है, उत्पादन को फिर प्रोत्साहन मिलता है और फिर अधिक सख्या में लोगो को रोजगार मिलता है और इसी प्रकार का क्रम चलता रहता है। परन्तु मौद्रिक आय बढने से उत्पादन बढने तक एक घटना और घट जाती है वह यह है कि मौद्रिक आय बढने से उपभोग तथा पूँजी की वस्तुओं की माग बढने के कारण उनके मूल्यों में वृद्धि हो जाती है। इससे विपरीत दशाओं में मुद्रा की चलन शक्ति (Velocity of Circulation) कम होने से लोगो की मौद्रिक आय कम होने लगती है और मूल्य भी गिरने लगते हैं। साधारण शब्दो में इस प्रकार मूल्यो के बढने को मुद्रा प्रसार या मुद्रा स्फीति (Inflation) कहते हैं और मूल्यो के घटने की क्रिया को मुद्रा-सकुचन या मुद्रा विस्फीति (Deflation) कहते हैं। परन्तु हर अवस्था में मूल्य का बढना स्फीति नही होता और न ही मूल्यो का कम होना मुद्रा-सकुचन होता है जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है।

मुद्रा प्रसार का अर्थ (The Meaning of Inflation)

मुद्रा प्रसार उस स्थिति को कहते हैं, जिसमे वस्तुओ के मूल्य की प्रवृत्ति

लगातार बढने की हो जाती है। इसीलिये कुछ लोगों ने इसे आर्थिक व्यवस्था के क्षय रोग के नाम से भी पुकारा है। कुछ विद्वान इस स्थिति को मुद्रा-मूल्य-ह्रास (Depreciation) की स्थिति भी कहते है। मुद्रा के मूल्य घटने का अभिप्राय यह है कि उसकी क्रय-शक्ति का ह्रास हो गया है जिसके कारण मूल्य बढ गये हैं। इस अवस्था में मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले में पहले की अपेक्षा कम वस्तुयें और सेवाये प्राप्त होगी। मुद्रा प्रसार में सदैव ही मुद्रा की विनिमय शक्ति घट जाती है और इस प्रकार दोनो ही स्थितियाँ एक समान हो जाती हैं।

मुद्रा प्रसार की अनेकों परिभाषाये देखने में आती है और आश्चर्य की बात तो यह है कि यह परिभाषायें एक दूसरे से इतनी भिन्न हैं कि शब्द का अर्थ स्पष्ट होने के स्थान पर और भी अधिक जटिल हो जाता है। अधिकतर लोग इसको एक 'भय की स्थिति का सूचक' समझते हैं। इसी कारण यह आवश्यक सा हो जाता है कि किसी निर्णय पर पहुचने से पूर्व हम मुख्य-मुख्य परिभाषाओं का अध्ययन करलें।

अनेकों अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि यदि मुद्रा की माग उसकी पूर्ति से कम हो तो मुद्राप्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। केमरर (Kemerer) नामक एक अर्थशास्त्री का मत है कि जब मुद्रा एवं जमा चलन (Money and deposit Currency) की पूर्ति उसकी माग से अधिक बढ जाती है और जिसके कारण सामान्य मूल्य-स्तर में वृद्धि हो जाती है मुद्रा प्रसार की स्थिति होती है। उनके शब्दो में "जब कभी मुद्रा की पूर्ति तथा बैंकों द्वारा चलने वाले बैंक-जमा (Bank deposits) जिन्हे जमा मुद्रा भी कहते हैं विनिमय के साधन की माग से अधिक हो जाती है और जिसके कारण आम वस्तुओ का मूल्य बढ जाता है, मुद्रा प्रसार की स्थिति कहलाती है। ऐसी ही एक परिभाषा केमरर ने एक और स्थान पर दी है जिसमें वे कहते हैं कि यदि मुद्रा का परिमाण अधिक हो और वस्तुओ की मात्रा उत्पादन के घटने के कारण कम हो जाय तो मुद्रा-प्रसार की स्थिति होती है। इस परिभाषा के अनुसार ऐसी स्थिति जबकि व्यापार और उद्योग किसी अनिश्चित शक्ति के सचालन के कारण कम होने लगे और मुद्रा की मात्रा या तो पहले जैसी ही रहे या व्यापार और उद्योगो की माग से अधिक हो जाय जिसके फलस्वरूप कीमतें ऊची होने लगे तब मुद्रा प्रसार की स्थिति होगी। वास्तव में कीमतो की वृद्धि ही मुद्रा-प्रसार की सूचक नही होती वरन मुद्रा प्रसार के लिये अन्य भी कई बातो की अपेक्षा है। उदाहरणार्थ यदि किसी देश की बढती हुई जनसख्या की आवश्यकताओ की पूर्ति के हेतु यदि उत्पादन मे वृद्धि की जाती है और मुद्रा की मात्रा भी बढाई जाती है जिसके कारण मूल्यो में वृद्धि हो जाती है तो यह मुद्रा प्रसार की स्थिति नही कहलायेगी वरन जब वस्तुओ का उत्पादन घटने के साथ-साथ मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से मूल्य भी बढने लगें तो मुद्रा-प्रसार की स्थिति कही जा सकती है।

ऊपर से देखने पर तो केमरर का विचार पूर्णतया सत्य मालूम देता है परन्तु वास्तविकता यह है कि यह विचार भी दूषित है वह इसलिए कि यह परिभाषा आवश्यकता से अधिक सक्षिप्त होने के कारण अस्पष्ट हो गई है। आलोचकों का कथन है कि

केमरर ने अपनी परिभाषा में आवश्यकता से अधिक मुद्रा वाक्यों का प्रयोग किया है परन्तु इनका क्या अर्थ लिया जाय इसको स्पष्ट नहीं किया है। और यदि एक साधारण व्यक्ति की भाँति इसको समझ भी लिया जाय तो इसको पहचानना कठिन हो जायगा। कदाचित केमरर ने मूल्य-स्तर की वृद्धि को ही आवश्यकता से अधिक मुद्रा होने की पहिचान माना हो परन्तु यह भी सत्य प्रतीत नहीं होता क्योंकि केमरर ने स्वयं इस बात का विरोध किया है। ऐसा भी हो सकता है कि आवश्यकता से अधिक मुद्रा का अभिप्राय माग की अपेक्षा मुद्रा की अधिक पूर्ति से लिया हो क्योंकि इसी स्थिति में ही मुद्रा की क्रय शक्ति घटने से मूल्य बढ़ जाते हैं। परन्तु इस परिभाषा में भी कुछ कठिनाइयां हैं जैसे माग और पूर्ति का ठीक-ठीक ज्ञान किस प्रकार प्राप्त किया जाय, दूसरे मुद्रा के चलनवेग का पता लगाना भी कठिन होता है। इसके अतिरिक्त केमरर ने विनिमय के साधन की मात्रा को पता लगाने की कोई विधि नहीं बताई। फिर कुछ लोगों का यह भी कहना है कि बिना मूल्यों में वृद्धि हुए भी मुद्रा-प्रसार हो सकता है। यह स्थिति उस समय उत्पन्न हो सकती है जबकि उत्पादन व्यय तो कम होता चला जाय परन्तु मूल्य कम न हो जैसाकि सन् १९२४ और १९-२९ के बीच में हुआ था।

केमरर से मिलता-जुलता विचार क्राउथर (Crowther) का भी है। वे कहते हैं कि "मुद्रा प्रसार वह स्थिति है जिसमें मुद्रा का मूल्य गिरता रहता है या वस्तुओं के मूल्य बढ़ते रहते है।" परन्तु क्राउथर की यह परिभाषा भी पूर्णतया सही नहीं है क्योंकि मूल्यों कि ह्रसवृद्धि की स्थिति तो मुद्रा प्रसार की स्थिति नहीं होती जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है।

प्रो॰ पीगू (A C Pigou) ने मुद्रा प्रसार की जो परिभाषा दी है वह अन्य परिभाषाओं की तुलनामें अधिक उचित प्रतीत होती है। उन्होंने मुद्रा प्रसार के सम्बन्ध में दो बार अपने मत प्रकट किये हैं। एक बार उन्होंने लिखा है कि "मुद्रा प्रसार तब होता है जब कि मौद्रिक आय आय प्राप्त करने वाली क्रियाओं के अनुपात से ज्यादा बढ़ रही हो"[1] और दूसरे मुद्रा प्रसार उस समय होता है जबकि "मौद्रिक आय (Money Income) उत्पादन साधनों द्वारा किये गये उत्पादन की तुलना में जो कि उसका प्रतिफल है अधिक तेजी से बढ़ रही है।"[2]

प्रो॰ पीगू के कहने का तात्पर्य यह है कि मुद्रा की पूर्ति माँग की अपेक्षा अधिक हो जाती है तो समाज में उसके सचय करने की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है जिससे उत्पा-

1. "Inflation exists when money income is expanding more than in proportion to income earning activity"—Pigou, Types of war inflation Economic Journal, Dec, 1941 P 439.

2. "Inflation is taking place when money is expanding relatively to the output of work by productive agents for which it is the payment"—Pigou, 'The Veil of Money' P. 14.

दक और विनियोग सम्बन्धी कार्यो के लिये अधिक मात्रा में, और कम ब्याज की दर पर पूंजी प्राप्त होने लगती है और उत्पादन बढ जाता है तथा पहले की अपेक्षा उत्पदन के साधनो की मौद्रिक आय बढने लगती है। एक अवस्था ऐसी आती है जबकि उत्पादन का प्रत्येक साधन रोजगार में लग जाता है और देश में पूर्ण रोजगार (Full Employment) का लक्ष्य प्राप्त कर लिया जाता है। इन्ही क्रियाओं को पीगू ने 'आय प्राप्त कराने वाली क्रियायें' (Income earning activities) कहा है। यदि पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त होने के पश्चात भी किसी प्रकार मुद्रा का चलन गति, परिमाण या अन्य किसी कारण से उत्पादन को बढाना चाहे तो ऐसा नही कर सकेंगे। इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'आय प्राप्त कराने वाली क्रियाओं' में वृद्धि नही हो सकेगी, अर्थात् मुद्रा का परिमाण बढने से वस्तुओ और सेवाओ की प्रभावशाली माग (Effective Demand) बढ जायगी परन्तु उत्पादन की मात्रा में उसी अनुपात में वृद्धि न होने से वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य बढ जायेंगे, जो पीगू के अनुसार मुद्रा प्रसार की अवस्था होगे।

मुद्रा प्रसार से कारण

साधरणतया मुद्रा प्रसार के आरम्भ होने का कोई निश्चित काल नही होता परन्तु अधिकतर मुद्रा प्रसार युद्ध काल में और युद्ध के बाद अवश्य होता है। मुद्रा प्रसार के सम्बन्ध में और अधिक जानने से पहले हमें यह अवश्य जानना चाहिये कि मुद्रा प्रसार कब और क्यो होता है ? लेखको ने मुद्रा प्रसार होने के अनेको कारण बताये है। उनका कहना है कि मुद्रा प्रसार पर अधिकतर सरकार की नीति का प्रभाव पडता है और उसके बाद बाह्य कारणो का। वैसे तो हम पहले ही देख चुके है कि देश में उत्पादन के साधनो की मौद्रिक आय में वृद्धि होने के कारण या उस वृद्धि के समान रहने पर उत्पत्ति की मात्रा में कमी होने के कारण मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। कुछ अन्य कारण निम्नलिखित है:—

(अ) राज्य की नीति—जब देश मे सामान्य मूल्य स्तर नीचा होता है और उद्योगो एवम् व्यवसायो की उन्नति रुक जाती है तब देश की सरकार जानबूझकर मुद्रा चलन की मात्रा बढा देती है ताकि मूल्य स्तर ऊँचा हो जाय। सरकार इस नीति को इसलिये भी अपनाती है कि इसके द्वारा ऋणी वर्ग का ऋण-भार कम हो जाता है और कृषको को लाभ होता है। इसके अतिरिक्त राज्य-बैंक-मुद्रा के प्रसार को भी प्रोत्साहन देती है। साख-मुद्रा का प्रयोग बढने से देश में मुद्रा-प्रसार अधिक तीव्र हो हो जाता है विनियोगो की मात्रा बढने लगती है और देश में उत्पत्ति के साधनो का प्रयोग अधिक तीव्रता से होने लगता है। सरकार साख-मुद्रा का प्रसार करने के लिये बैंक दर को कम कर देती है। जब देश में आर्थिक विकास योजनाओ का निर्माण होता है तो भी सरकार यही रीतियाँ अपनाती है। साख-मुद्रा द्वारा उत्पन्न मुद्रा प्रसार को साख प्रसार (Credit Inflation) भी कहते है।

(आ) मुद्रा का चलन-वेग — चलन-मुद्रा तथा साख मुद्रा के चलने की गति के

तीव्र हो जाने से भी मुद्रा का परिमाण बढ़ जाता है जैसा कि पारिमाणिक सिद्धान्त (Quantity Theory) में बताया जा चुका है। चलन-वेग के तीव्र होने से मुद्रा की मात्रा मे वृद्धि हो जाती है, मूल्य स्तर ऊँचा उठने लगता है, समृद्धि काल मे बैंको के साख जमा की मात्रा और उनका चलन वेग बढ़ने से मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

(इ) हीनार्थ-प्रबन्धन-नीति (Policy of Deficit Financing)—साधारणतया सरकार की आय का मुख्य स्रोत 'कर' है और जब कभी सरकार को अपनी आय बढाने की आवश्यकता होती है तो वह करारोपण की नीति अपनाती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि कर की दर बढ़कर एक ऐसी अवस्था पर पहुँच जाती है कि जनता की कर देने की शक्ति समाप्त ही हो जाती है और जिसके बाद सरकार का कर बढाना उचित नही समझा जाता। ऐसी अवस्था में जब सरकार को अपनी आय बढाना आवश्यक हो जाता है तब सरकार हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) की नीति अपनाती है। इस नीति के अन्तर्गत सरकार अपने बजट हमेशा घाटे में रखती है अर्थात् आय से अधिक खर्चा करती है और इस अधिक खर्चे को पूरा करने के लिये सरकार प्रतिभूतियाँ (Securities) निकालकर बैंकों से ऋण लेती है। बैंक इन प्रतिभूतियो से अपने निक्षेपो को बढाते हैं और साख मुद्रा का विस्तार करने लगते हैं जिसके कारण मुद्रा प्रसार होने लगता है। आजकल अधिकतर यही नीति अपनाई जा रही है।

(ई) प्राकृतिक कारण (Natural Causes)—स्वर्णमान वाले देशो में व्यापाराधिक्य पक्ष में होने से या शोधनाधिक्य (Balance of Payment) पक्ष में होने से या अन्य किसी कारण से सोने का आयात होने लगता है। इस आकस्मिक वृद्धि से चलन मे मुद्रा की मात्रा बढ जाती है और देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार देश में बहुमूल्य धातुओ का आयात बढने से भी मुद्रा-प्रसार होता है।

उपरोक्त कारण इस सत्य के द्योतक हैं कि किसी भी देश में मुद्रा के परिमाण अथवा चलनवेग में वृद्धि होने से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु उत्पादन के मुद्रा विस्तार के अनुपात में न बढ पाने के कारण देश में मूल्य स्तर ऊँचा होने लगता है और मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। जब लोगो की मौद्रिक आय बढती है तो उनकी वस्तुओं और सेवाओं की मांग भी बढने लगती है। देश में कच्ची सामग्री के मूल्य और मजदूरी की दर मे कोई विशेष अन्तर नही होता, वह पूर्ववत् ही रहता है जिसके कारण उत्पादकों के उत्पादन व्यय में विशेष अन्तर नही होता और बढती हुई कीमतो से उनके लाभ की मात्रा और भी अधिक बढ जाती है। उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है परन्तु मौद्रिक आय की वृद्धि के अनुपात से ही उत्पादन में वृद्धि हो पाती है जिसके फलस्वरूप वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य बढने लगते हैं। यही स्थिति उस समय भी उत्पन्न हो सकती है जबकि मुद्रा की पूर्ति में कोई वृद्धि न हो परन्तु वस्तुओ और सेवाओ का उत्पादन कम हो जाये। ऐसी दशा में

मुद्रा की मात्रा की तुलना में वस्तुओं और सेवाओं की मात्रा कम हो जायगी और मूल्य स्तर ऊँचा चढने की प्रवृत्ति दिखायेगा। उत्पादन मे कमी या उत्पादन में इच्छानुसार वृद्धि न हो पाने के कई कारण हो सकते हैं जैसे:—

(१) उत्पत्ति के साधनो की दुर्लभता (Scarcity of the Factors of Production)—यदि उत्पत्ति के साधन उत्पादन बढाने के लिये पर्याप्त मात्रा में नही मिल पा रहे हैं तो उत्पादन बढाने के सारे प्रयत्न विफल हो जायेंगे। ऐसी स्थिति युद्धकाल और उसके पश्चात् आ जाती है। युद्धकाल में तो देश के उद्योग-धन्धे युद्ध सम्बन्धी सामान बनाने में लग जाते हैं। इसके अतिरिक्त युद्धोपरान्त भी साधनों के उपलब्ध न हो पाने के कारण जब उत्पादक उत्पादन बढाने का प्रयत्न करते हैं तो उत्पादन क्रमागत उत्पत्ति ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns) के अधीन न होने से प्रति इकाई उत्पादन व्यय बढने से मूल्य बढ जाता है। इस प्रकार उत्पत्ति के साधनो की दुर्लभता के कारण उत्पादन इच्छानुसार नही बढाया जा सकता।

(२) सरकार की नीति—सरकार की व्यापारिक एवम् कर सम्बन्धी नीति से भी देश के उत्पादन पर बुरा प्रभाव पडता है। उत्पादक हतोत्साहित हो जाते हैं और उत्पादन बढाना नही चाहते हैं। यह सरकार की कर नीति के कारण होता है। कभी-कभी सरकार देश के निर्यातो को इतना प्रोत्साहन दे देती है कि देश की जनता को वस्तुओं और सेवाओं की प्राप्ति नही हो पाती और उसको कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इसी के साथ-साथ सरकार आयातों पर नियन्त्रण लगाकर उनको कम कर देती है।

(३) कला एवम् डिजाइन से सम्बन्धित परिवर्तन—उत्पादित वस्तुओं के ढग और डिजाइन थोडे-थोडे समय के पश्चात् बदलते रहते हैं जिनके फलस्वरूप बदले हुए डिजाइन की वस्तुओं को प्रयोग में लाने की प्रवृत्ति बढ जाती है और उत्पादन उसी के अनुकूल होने लगता है। परन्तु इसी बीच में कुछ समय के लिये उत्पादकों को अपने उत्पादन सम्बन्धी कार्य बन्द कर देने पडते हैं अर्थात् वस्तुओं की उत्पत्ति की कला में और नये-नये डिजाइन आने से उस समय तक जब तक कि जनता की माँग उन नई वस्तुओं के लिये नही बढ जाती है उत्पादन कार्य स्थगित रहते हैं, जिनके फलस्वरूप देश में उत्पत्ति की मात्रा कम हो जाती है।

(४) औद्योगिक झगड़े (Industrial Disputes)—औद्योगिक झगडे भी देश में उत्पत्ति की मात्रा को कम करने के कारण बन जाते हैं। मजदूरो और मिल-मालिको में झगडा होने से काम बन्द हो जाता है या तो मजदूर हडताल कर देते हैं या मिल मालिको द्वारा मिल बन्द कर दी जाती है। काम बन्द रहने से उत्पादन की मात्रा कम हो जाती है।

(५) प्राकृतिक घटनायें (Natural Calamities)—देश में प्राकृतिक आपत्तियाँ भी कभी-कभी उत्पादन की मात्रा को कम कर देती हैं। इन आपत्तियों से घबराकर लोग मिलो या फैक्ट्री में काम करने नही जाते, जिससे उत्पादन कुछ समय के लिए स्थगित हो जाता है या इन आपत्तियो द्वारा देश की वस्तुयें नष्ट हो जाती हैं और

वस्तुओं की पूर्ति पहले की अपेक्षा कम हो जाती है। देश में अक्सर भूचाल, अकाल, बाढ इत्यादि प्राकृतिक आपत्तियाँ आती रहती हैं जो देश के उत्पादन की मात्रा को कम कर देती हैं।

इस प्रकार उपरोक्त कारणों से मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। साधारणतया, मुद्रा प्रसार राष्ट्रीय सकट के समय में किया जाता है और यह विशेषकर युद्ध के कारण होता है। युद्ध काल में युद्ध सचालन के हेतु बहुत बडी मात्रा में सामान और श्रम की मात्रा की आवश्यकता होती है, जो बिना मुद्रा के नही खरीदा जा सकता। सरकार इस खर्चे को पूरा करने के लिये या तो जनता पर अधिक कर लगा देती है या उससे ऋण ले लेती है। परन्तु युद्ध सचालन में सरकार का खर्चा इतना बढ जाता है कि वह इसको इन दोनो रीतियों द्वारा पूरा नही कर पाती। उधर प्रति व्यक्ति आय तो इतनी बढती नही है, परन्तु मूल्यो के बढ जाने के कारण जनता के पास भी राष्ट्रीय ऋण देने के लिये कुछ नहीं बच पाता। जब सरकार का खर्चा ऋण तथा कर द्वारा पूरा नही होता, तब इस खर्चे को पूरा करने के लिये सरकार अधिक सख्या में नोट छाप देती है। देश में चलन की मात्रा बढ जाने से वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य बढ जाते हैं। जनता को अपने उपभोग को कम करना पडता है, मजबूरन बचत करनी पडती है। मूल्य-स्तर ऊँचा होने से प्रारम्भिक अवस्था में उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन बढने से वस्तुओं के मूल्य अधिक नही बढ पाते। परन्तु एक अवस्था ऐसी आ जाती है जबकि उत्पत्ति के साधन उपयोग में आ जाने से उत्पादन तो नही बढ सकता, परन्तु सरकार अपने बढते हुए खर्चे को पूरा करने के लिये बराबर नोट छापती जाती है। इधर जनता की मौद्रिक आय बढने से आवश्यकतायें बढने लगती हैं। वस्तुओं की माग बाजार में और बढ जाती है और मूल्य और ऊँचे हो जाते हैं। इस प्रकार मुद्रा-मूल्य-मुद्रा-मूल्य एक दूषित चक्र का रूप धारण कर लेते हैं, जिसका कोई अन्त नही होता और इसका घेरा बराबर बढता ही जाता है।

इस प्रकार मुद्रा-प्रसार देश की आर्थिक व्यवस्था के लिये क्षय रोग के समान हो जाता है। जिस प्रकार क्षय रोग की तीन अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार मुद्रा-प्रसार की भी तीन अवस्थायें होती है —

पहली अवस्था मे तो मुद्रा-प्रसार को पूर्णतया समाप्त किया जा सकता है, परन्तु दूसरी अवस्था में यह पहले की अपेक्षा अधिक भीषण रूप धारण कर लेता है। इसीलिये इसे वश में करने के लिये गंभीर प्रयत्न करने पड़ते हैं। इस अवस्था में मुद्रा-प्रसार को पूर्ण रूप से तो नहीं रोका जा सकता परन्तु उसको तीव्र होने से अवश्य रोका जा सकता है। तीसरी अवस्था में तो इसका निवारण असम्भव हो जाता है। इस अवस्था में कोई भी युक्ति सफल नहीं होती और जिस प्रकार क्षय-रोग की तीसरी अवस्था में मरीज तडप-तड़पकर दम तोड देता है उसी प्रकार देश की आर्थिक व्यवस्था भी अन्तिम घडियाँ गिनने लगती है।

मुद्रा प्रसार के रूप (Forms of Inflation)

मुद्रा-प्रसार की परिभाषा तथा कारणों के अध्ययन के पश्चात् उसके विभिन्न रूपों का अध्ययन किया जायगा। साधारणतया मुद्रा प्रसार के विभिन्न रूपों को अलग-अलग करने के लिये कोई रेखा अंकित नहीं की जा सकती। परन्तु विभिन्न लेखकों ने मुद्रा-प्रसार के विभिन्न रूपों का वर्णन उनके कारणों तथा उद्देश्यों के आधार पर किया है। कीन्स के अनुसार मुद्रा-प्रसार के तीन रूप हैं —

(१) वस्तु मुद्रा प्रसार (Commodity Inflation)
(२) चलन मुद्रा-प्रसार (Currency Inflation)
(३) लाभ मुद्रा-प्रसार (Profit Inflation)

यह मुद्रा-प्रसार की वह स्थिति है जिसमें वस्तुओं के मूल्य बढ़ते हैं। यह मुद्रा प्रसार का एक साधारण रूप है। चलन प्रसार उस स्थिति को कहते हैं जिसमें सरकार आर्थिक संकटों को दूर करने के लिये नोट प्रकाशित करती है। चलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ने से वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। सरकार जानबूझ कर इस रूप का निर्माण करती है। युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार का वास्तविक रूप यही है। लाभ मुद्रा-प्रसार इसका एक विशेष रूप है। यह उस स्थिति को कहते हैं जबकि वस्तुओं का उत्पादन व्यय घटने से उनके मूल्य भी गिरने लगते हैं परन्तु सरकार देश की आर्थिक व्यवस्था को गिरती हुई कीमतों के भय से बचाने के लिये कृत्रिम उपायों का प्रयोग करके मूल्यों को स्थिर रखने का प्रयत्न करती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वस्तुओं का कम लागत पर उत्पादन होते हुए भी वह उन्हीं दामों पर बिकती हैं जिन पर कि उत्पादन व्यय न गिरने की दशा में बिकती थीं। ऊपर से देखने में तो वस्तुओं के मूल्य नहीं बढ़ते परन्तु वस्तुओं के उत्पादन व्यय की तुलना में मूल्य बढ़े ही रहते हैं, जिससे उत्पादकों के लाभ की दर बढ़ जाती है। इसीलिये कीन्स ने इसे लाभ-मुद्रा प्रसार कहा है।

प्रो० पीगू के अनुसार मुद्रा-प्रसार दो रूपों में प्रकट होता है। मुद्रा प्रसार की पहली स्थिति को उन्होंने पूर्ण-प्रसार (Full Inflation) और दूसरी को आंशिक-प्रसार (Partial Inflation) कहा है। प्रो० पीगू के विचारों की व्याख्या निम्न प्रकार की जा सकती है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ने से उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन की हर वृद्धि के साथ-साथ उत्पत्ति के हर नये-नये साधनों का उपयोग बढ़ता जाता है, जिसके कारण पूर्ण रोजगार (Full Employment) की अवस्था स्थापित हो जाती है और उत्पत्ति के साधनों की मौद्रिक आय बढ़ने से ही यह क्रम आरम्भ होता है और उसी के साथ इसका अन्त भी होता है। पूर्ण रोजगार की स्थिति में यदि उत्पत्ति की अपेक्षा मौद्रिक आय ज्यादा तेजी के साथ बढ़ती है तो वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं और पूर्ण प्रसार (Full Inflation) की स्थिति स्थापित हो जाती है। परन्तु ऐसा भी हो सकता है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति से पहले भी यदि उत्पत्ति की अपेक्षा मौद्रिक आय अधिक हो जाती है तो भी मूल्य बढ़ सकते हैं। पीगू के अनुसार यही स्थिति आंशिक-प्रसार (Partial Inflation) की स्थिति होती

है अर्थात् सक्षेप में हम कह सकते हैं कि मौद्रिक आय के बढने से पूर्ण रोजगार की अवस्था से पहले जो मूल्यो मे वृद्धि होती है उसे आशिक प्रसार कहते है और पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त होने के बाद जो मूल्य बढते हैं उसे पूर्ण प्रसार की स्थिति कहते हैं।

युद्ध काल में युद्ध संचालन के लिये सरकार का व्यय प्रतिदिन बढता चला जाता है। इस खर्च को जनता से करो और ऋणों के रूप में सरकार प्राप्त करती है। परन्तु जब सरकार को पर्याप्त मात्रा में आय प्राप्त नही होती तो वह घाटे को पूरा करने के लिये हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit-Financing) की नीति अपनाती है अर्थात सरकार प्रतिभूतिया निकालकर बैंको से ऋण लेती है और मुद्रा प्रसार कर देती है। इस प्रकार के मुद्रा प्रसार को हीनार्थ-प्रोत्साहित-मुद्रा प्रसार (Deficit-Induced Inflation) कहते हैं।

कभी-कभी मिल मालिकों को मजदूर सघों (Labour Unions) के दबाव में आकर मजदूरी की दर बढाने के लिये मजबूर होना पडता है। यदि मजदूरी बढने के साथ-साथ उत्पत्ति की मात्रा नही बढती तो वस्तुओ के मूल्य बढ जाते हैं और मुद्रा–प्रसार हो जाता है। मुद्रा–प्रसार के इस रूप को मजदूरी-प्रोत्साहित मुद्रा-प्रसार (Wage-induced Inflation) कहते हैं।

कुछ लोग मुद्रा-प्रसार को खुले और छिपे मुद्रा-प्रसार में बाट देते हैं। यदि मौद्रिक आय बढने से वस्तुओ की मांग में वृद्धि हो जिसके कारण मूल्य बढ जाय तो उस स्थिति को खुला मुद्रा-प्रसार (Open Inflation) की स्थिति कहते है। यदि सरकार जनता के व्यय करने की शक्ति पर नियत्रण लगादे, तो मनुष्य उपभोग की अपेक्षा मुद्रा राशि को या तो नकदी के रूप में जमा करेंगे या बैंको में जमा कर देंगे। बैंको की जमा मे वृद्धि होने से साख-मुद्रा का प्रसार होगा और मूल्यो में वृद्धि हो जायगी। यह छिपा हुआ मुद्रा प्रसार (Hidden Inflation) कहलाता है। यदि खुले मुद्रा-प्रसार पर किसी प्रकार का नियंत्रण न लगाया जाय और मूल्यों को इसी प्रकार बढने दिया जाय तो एक अवस्था ऐसी आती है जबकि मूल्य बेहिसाब बढ जाते हैं और उनको रोकना एक समस्या हो जाती है। अर्थात मुद्रा के परिमाण में नाम मात्र की वृद्धि होने से ही मूल्य कई गुना बढ जाते हैं। ऐसी स्थिति को बढता हुआ मुद्रा-प्रसार या अत्यधिक मुद्रा-प्रसार (Galloping Inflation or Hyper Inflation) कहते हैं।[1]

मुद्रा प्रसार के प्रभाव (Effects of Inflation)

मुद्रा प्रसार के भिन्न-भिन्न वर्गो पर भिन्न-भिन्न प्रभाव पडते हैं क्योकि हर वस्तु का मूल्य अलग-अलग बढता और घटता है इसीलिये विभिन्न वर्गो की आय में तथा आर्थिक स्थिति में अलग-अलग रूप से अन्तर आते हैं। इसके अतिरिक्त वस्तुओ के मूल्य के बढने का प्रभाव मजदूरी, लाभ, किराया एवम् ब्याज की दर पर व विनिमय दर पर भी पड़ता है। सक्षेप में हम कह सकते है कि मुद्रा-प्रसार का प्रभाव आर्थिक

१. Quoted from Anand Swaroop Garg.

जीवन के समस्त पहलुओं पर पड़ता है। कीन्स ने मुद्रा प्रसार के प्रभाव के अध्ययन को सरल बनाने के लिये समाज को पाँच वर्गों में बाँटा है। यह वर्ग निम्न प्रकार हैं—

(१) उत्पादक वर्ग (Producers)
(२) विनियोगी वर्ग (Investors)
(३) मजदूर वर्ग (Labourers or wage-earners)
(४) उपभोक्ता वर्ग (Consumers)
(५) ऋणी व ऋणदाता वर्ग (Debtors and Creditors)

साधारणतया उपरोक्त वर्गों को एक दूसरे से अलग करना कठिन हो गया है क्योंकि एक ही व्यक्ति इन सब वर्गों का एक साथ सदस्य हो सकता है। एक वर्ग में उसको लाभ हो सकता है परन्तु दूसरे वर्ग का सदस्य होने के कारण उसे हानि भी हो सकती है। इसीलिये हम केवल इन वर्गों पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन समाज पर पड़ने वाले प्रभावों के रूप में करेंगे।

उत्पादक वर्ग

मूल्य बढ़ने से उत्पादकों को सामान्य रूप से लाभ होता है। उत्पादित वस्तुओं के उत्पादन व्यय में तो कोई विशेष अन्तर नहीं आता पर मूल्यों में काफी वृद्धि हो जाती है। अतएव उनके लाभ की दर ऊँची हो जाती है। लाभ की ऊँची दर से लाभ प्राप्त करने के लिये वह उत्पादन के विस्तार को बढ़ा देते हैं। सभी प्रकार के उत्पादक चाहे वह मूल उद्योगों के हों, जैसे कृषक, खानों के मालिक आदि या गौण उद्योगों के जैसे उद्योगपति आदि सब वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य के निरन्तर बढ़ने से लाभ कमाते हैं। यह लाभ निम्न कारणों से होते हैं —

(क) मुद्रा प्रसार में लोगों की क्रय शक्ति बेहिसाब बढ़ती चली जाती है। व्यक्ति अपने उपभोग की मात्रा बढ़ाते हैं जिस कारण वस्तुओं और सेवाओं की माँग बढ़ती है, और मूल्यों की प्रवृत्ति दिन प्रतिदिन ऊपर चढ़ने की ओर होती जाती है। दूसरे शब्दों में, उत्पादन की अपेक्षा मूल्य अधिक तेजी से बढ़ते हैं, वस्तु तैयार होते ही बिक जाती है और लाभ भी अधिक प्राप्त होता है।

(ख) दूसरे, वस्तु के मूल्य में उनके उत्पादन व्यय की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हो जाती है। उत्पादन व्यय के अन्दर मुख्यतया मजदूरी, लगान, पूँजी का सूद एवम् कच्चे माल का मूल्य आते हैं। मजदूरी की दर भी बढ़ती अवश्य है परन्तु उस अनुपात में नहीं बढ़ती जिसमें कीमतें बढ़ जाती हैं, इसके अतिरिक्त माल भी बिकने से पहले बनकर तैयार हो जाता है। यह तो कुछ कहा नहीं जा सकता कि मूल्य कितने और कब तक बढ़ेंगे, वे तो बढ़ते ही रहते हैं। इसी कारण माल अधिकतर कम मजदूरी की दर में ही बनकर तैयार होता है। उस समय अबकी अपेक्षा मूल्य भी कम होता है। और कम मजदूरी की दर पर बना यह माल ऊँची मजदूरी की दर के समय में बिकता है, जिस कारण मजदूरी का एक भाग उत्पादकों को लाभ के रूप में प्राप्त होता है। लाभ की ऊँची दर की सम्भावना उन उद्योगों में और भी अधिक हो जाती है जहाँ पर मजदूरी

उत्पादन व्यय का एक बडा भाग होती है। इसके अतिरिक्त प्रायः खेत और कारखाने का किराया हर समय में ही समान रहता है। मूल्यों के ऊँचे होने से भी इमारत और खेत का किराया नही बढता। सूद की दर भी एक सी ही रहती है। कच्चे माल कर मूल्य अवश्य बढ जाता है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि उत्पादन व्यय वस्तु के मूल्यो की अपेक्षा कम बढता है। वास्तव में वस्तुग्रो की पूर्ति बढाने के लिये उत्पादन बहुत पहले शुरू कर दिया जाता है, मजदूर बहुत पहले भर्ती कर लिये जाते हैं, कच्चा माल खरीद लिया जाता है, पूँजी उधार ले ली जाती है और मशीनें इत्यादि पहले से ही खरीद ली जाती हैं और माल तैयार होना ग्रारम्भ हो जाता है, परन्तु इसी बीच में मूल्य ऊपर चढ जाते हैं। उत्पादन व्यय वही रहते हैं और मूल्य बढने के कारण उत्पादको के लाभ की मात्रा बढ जाती है।

(ग) उत्पादक अधिकतर ऋणी होते हैं। उनको जैसा कि ग्रागे चलकर बताया जायगा, बढते हुए मूल्यों से बहुत लाभ होता है। ब्याज की दर उत्पादन व्यय का एक अग होती है। ब्याज की दर तो यथास्थिर रहती है परन्तु मूल्यो में वृद्धि हो जाने के कारण उत्पादको को लाभ होना है। दूसरे ऋणी वर्ग को वस्तुग्रो और सेवाग्रो के रूप में पहले की अपेक्षा कम द्रव्य की मात्रा ऋणदाता को देनी पडती है जिससे उन्हे लाभ होता है।

इस प्रकार मुद्रा प्रसार में उत्पादक वर्ग को लाभ ही लाभ होता है। केवल उत्पादकों को ही नही, बल्कि थोक और फुटकर व्यापारियो को भी लाभ होता है।

विनियोगी वर्ग (Investors)

विनियोगी वर्ग में वे लोग ग्राते हैं जिनका कार्य साहस व जोखिम उठाना होता है। वे केवल उद्योगों और व्यवसायो में रुपया लगाते हैं परन्तु स्वय उत्पादन का कार्य नही करते। ग्राधुनिक उत्पादन व्यवस्था में साहसी के महत्व के बारे में जो कुछ भी कहा जाय थोडा ही है। यह वर्ग उत्पादकों को ग्रपनी पूँजी देकर उनको प्रयत्नशील बना देते हैं। इस वर्ग में कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जिनको निश्चित ग्राय प्राप्त होती रहती है और कुछ ऐसे होते हैं जिनकी ग्राय बदलती रहती है। जिन लोगो की ग्राय निश्चित होती है उनका सबसे अच्छा उदाहरण सम्मिलित पूँजी कम्पनियों (Joint-Stock Companies) के ऋणपत्र-धारियो (Debenture holders) में मिलता है। निश्चित ग्राय वाले लोगों से हमारा अभिप्राय उन लोगो से है जिनकी ग्राय सदैव ही निश्चित रहती है चाहे उद्योग में हानि हो या लाभ हो। जैसे कि सम्मिलित-पूँजी कम्पनी के ऋण-पत्र-धारी सम्मिलित-पूँजी कम्पनी के सचालकों को एक निश्चित ब्याज की दर पर एक निश्चित राशि उधार देते हैं और उनका कम्पनी के लाभ और हानि से कोई सम्बन्ध नही होता। उनकी ग्राय मुद्रा-प्रसार व मुद्रा-सकुचन दोनों में समान ही रहती है इसीलिये इनको हानि ही होती है क्योंकि मूल्य बढ जाने से मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो जाती है और यह लोग इसी ग्राय मे पहले की अपेक्षा कम वस्तुयें और सेवायें उपलब्ध कर सकते हैं। इसलिये मुद्रा प्रसार में निश्चित ग्राय वाले विनियोगियो को ग्राय

का वास्तविक मूल्य अर्थात आय का मूल्य वस्तुओं और सेवाओं के रूप में, कम होने के कारण हानि होती है। इसके विपरीत अनिश्चित या परिवर्तनशील आय वाले लोगो को मुद्रा प्रसार में लाभ होता है। मुद्रा प्रसार में मूल्य बढ जाने के कारण उद्योगो को खूब लाभ होता है। वस्तुओ की बिक्री तेजी के साथ होती है तथा वह अच्छे मूल्यो पर बिकती है। उद्योगो के लाभ पहले से कई गुना बढ जाते हैं और इस प्रकार अनिश्चित आय वाले विनियोगियो को मुद्रा प्रसार में लाभ होता है।

मजदूर वर्ग (Wage-earners)

इस वर्ग में वे सभी व्यक्ति आ जाते हैं जो अपने श्रम द्वारा अपनी आजीविका कमाते हैं, जिस तरह मिल तथा फैक्ट्रियो में काम करने वाले मजदूर, कृषि उद्योग में बिना भूमि वाले मजदूर, वेतन प्राप्त करने वाले मजदूर तथा अन्य सभी प्रकार के निश्चित आय पाने वाले व्यक्ति। मुद्रा प्रसार में इस वर्ग को पहले तो कुछ लाभ होता है परन्तु मुद्रा-प्रसार की गभीर दशा में इनको आर्थिक कठिनाइयां सहन करनी पड़ती हैं। मुद्रा-प्रसार में मूल्य बढने के कारण उद्योग तथा व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन में वृद्धि करने के हेतु श्रमिको की माँग बढती है। मजदूरी की दर ऊँची होती जाती है और मजदूरो का जीवन-स्तर पहले की अपेक्षा दिन प्रति दिन ऊँचा होता है। परिवार के कई सदस्यो को एक साथ काम मिल जाने के कारण परिवार की औसत मौद्रिक आय (Money Income) बढ़ती जाती है और इस प्रकार यह मजदूर वर्ग के लिए सम्पन्नता का काल होता है। परन्तु वस्तुओ के मूल्य मजदूरी की दर को बहुत पीछे छोड़कर आगे-आगे बढते चले जाते हैं, इसीलिये मजदूरो की वास्तविक आय में कमी हो जाती है। दूसरे शब्दो में मजदूरो की आय में वृद्धि होती है परन्तु वह वस्तुओ के मूल्यो की अपेक्षा कम तेजी से बढती है, जिससे कि मजदूर बढ़ी हुई आय से भी पहले की अपेक्षा वस्तुओ और सेवाओं की कम मात्रा प्राप्त कर पाते हैं। उनकी आर्थिक कठिनाइयाँ बढती चली जाती हैं और जीवन-स्तर गिरता जाता है। उनकी मजदूरी और मँहगाई बढाने की मांगो में दिन प्रतिदिन उन्नति होती जाती है। इन मांगों को पूरा करवाने के लिये उनमें आपसी सहयोग की भावना जाग्रत हो जाती है। मजदूर सघो (Labour Unions) की स्थापना हो जाती है और उनका संगठन दिन प्रतिदिन दृढ होता जाता है। मिल मालिक मजदूरो की बढती हुई मांगो को पूरा करने के लिये तत्पर नही होते, इसीलिये इस काल में अक्सर हड़तालो का जोर होता है और औद्योगिक अशान्ति रहती है।

इसके अतिरिक्त मजदूर वर्ग में कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनकी आय निश्चित रहती है। उनको मुद्रा प्रसार की हर अवस्था में हानि ही उठानी पडती है। यह अवश्य है कि सरकार उन्हे भत्ता देती है परन्तु यह भत्ता उस अनुपात से नही बढता जिससे कि वस्तुओ और सेवाओ के मूल्य बढते हैं। इस तरह मजदूर वर्ग की मौद्रिक आय की क्रय-शक्ति घटने से, उनके लिए मुद्रा प्रसार बहुत कष्टदायक हो जाता है। सामान्य रूप से हम इस प्रकार कह सकते है कि बढते हुए मूल्यो के दिनो में मजदूर वर्ग

तथा निश्चित वेतन पाने वाले व्यक्तियों के आय की क्रय-शक्ति घट जाने के कारण उनको भारी हानि उठानी पड़ती है और घोर आर्थिक कष्ट उठाने पड़ते हैं जो कि उनके जीवन स्तर को नीचा करके अन्त में उनकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव डालते हैं।

उपभोक्ता वर्ग (Consumers)

इस वर्ग में समाज में रहने वाले सारे व्यक्ति आ जाते हैं। हर व्यक्ति अपनी आवश्यताओं की पूर्ति के लिये किसी न किसी प्रकार से आजीविका अर्थात मौद्रिक आय प्राप्त करता है। समाज के भिन्न-भिन्न सदस्य इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये दिन भर किसी-न-किसी कार्य में लगे दीखते हैं। कुछ व्यक्ति मानसिक श्रम द्वारा आय प्राप्त करते हैं, कुछ शारीरिक श्रम द्वारा अपनी आजीविका कमाते हैं, कुछ व्यक्ति उद्योग तथा व्यवसाय को चलाकर मौद्रिक आय प्राप्त करते हैं, दूसरे द्रव्य का लेन देन करके ब्याज के रूप में आय प्राप्त करते हैं। सक्षेप में प्रत्येक व्यक्ति द्रव्य की प्राप्ति के हेतु किसी न किसी प्रकार का श्रम अवश्य करता है। इन लोगो की आय की अपेक्षा वस्तुओं के मूल्य बहुत अधिक बढ जाते हैं, वस्तुएं और सेवायें अधिकतर दुर्लभ हो जाती है, विशेषकर जीवन रक्षक आवश्यकताओं की वस्तुओं के मूल्य बहुत ऊंचे हो जाते हैं। इस प्रकार द्रव्य की क्रय शक्ति घटने से प्राप्त मौद्रिक आय से पहले की अपेक्षा उपभोग की मात्रा कम हो जाती है अतएव उपभोक्ता इस काल में अपनी कुछ आवश्यकताओं को तो बिलकुल पूरा नहीं कर पाता और कुछ को केवल आंशिक रूप में ही सतुष्ट कर पाता है। इस प्रकार उपभोक्ता वर्ग को इस काल में हानि उठानी पडती है और सामान्य रूप से जीवन स्तर बहुत गिर जाता है तथा समस्त समाज का शोषण होता है।

ऋणी तथा ऋणदाता वर्ग (Debtors and Creditors)

मूल्य वृद्धि का ऋणी तथा ऋणदाता दोनो पर ही बड़ा प्रभाव पड़ता है। यह तो सभी जानते हैं कि समाज का हर व्यक्ति या तो ऋणी होता है या ऋणदाता। ऋणी जो कर्जा लेता है वह उसे एक निश्चित ब्याज की दर पर तथा एक निश्चित समय के लिये मिलता है, मूल्यों के उतार चढाव से इस वृद्धि में ऋणी को लाभ तथा ऋणदाता को हानि होती है। ऋणी द्रव्य को उधार लेकर उत्पत्ति एवम् उपभोग सम्बन्धी सेवायें खरीदता है। ऋण की अवधि समाप्त होने के पश्चात ऋण पर लिया हुआ द्रव्य और ब्याज की मात्रा मिलाकर ऋण चुका दिया जाता है। इसी बीच में मूल्य बढ जाने से वापिस की जाने वाली राशि का वास्तविक मूल्य कम हो जाता है अर्थात उस समय की अपेक्षा जबकि ऋण लिया गया था अब वही ऋण वस्तुओं के रूप में कम द्रव्य देकर चुकाया जाता है। इसीलिये ऋण भार हल्का हो जाने से उसे लाभ होता है। इसका बिल्कुल विपरीत ऋणदाता के सम्बन्ध में होता है। बढ़ते हुये मूल्यों के दिनो में ऋणदाता को हानि होती है। ऋणदाता अपनी आय में से कुछ भाग उपभोक्ता के ऊपर खर्च कर देता है और कुछ आवश्यकताओं का त्याग करके बचत करता है जोकि वह ऋण के रूप में दूसरों को दे देता है। मूल्यों के बढ़ने से

ऋणदाता की दो प्रकार से हानि होती है। एक तो मूल्य बढ जाने से उसकी बचत करने की शक्ति कम हो जाती है और दूसरे वह ऋण जोकि उसने गिरे हुये मूल्यो के समय में दिया था जब उसे बढे हुए मूल्यो के दिनो में वापस मिलता है, तब वह पहले की अपेक्षा उस धन राशि से कम वस्तुयें तथा सेवायें खरीद सकता है। अतएव उसे उस समय में हानि उठानी पडती है।

हमने मुद्रा-प्रसार का समाज के विभिन्न वर्गो पर पडने वाला प्रभाव देख लिया है। समाज का पाँचो वर्गो में विभाजन इसी अध्ययन के सम्बन्ध में कीन्स ने किया था। परन्तु कुछ वर्ग और क्षेत्र ऐसे भी है जिन पर भी मुद्रा-प्रसार के लक्षण व प्रभाव दृष्टिगोचर होते हैं। यह प्रभाव निम्न प्रकार हैं:—

सरकार व करदाताओं पर प्रभाव (Effect on Govt. and Tax payers)

मूल्य वृद्धि के दिनो सामान्य मूल्य-स्तर एवम् मजदूरी की दर ऊची हो जाने से सरकार का खर्चा भी बढ जाता है। सरकार इस खर्चे को पूरा करने के लिये अधिक करो की नीति अपनाती है। परन्तु मूल्य बढ जाने से जनता का रहन-सहन का खर्चा बढ जाता है और वह करो की बढती हुई दरो का विरोध करती है। सरकार को अपनी कर नीति बदलनी पडती है और वह फिर मुद्रा-प्रसार का सहारा लेती है। इधर करदाताओं को इसमें कोई विशेष कठिनाई नही होती। यह तो निर्विवाद है कि सामान्य मूल्य-स्तर बढने से कर की दर ऊची हो जाती है परन्तु यह दर इतनी ऊंची नही होती जितना कि मूल्य-स्तर हो जाता है। इसीलिये इस काल मे करदाता वस्तुओं के रूप में पहले की अपेक्षा कर की रकम कम देते हैं।

विदेशी व्यापार पर प्रभाव (Effect on Foreign Trade)

मुद्रा-प्रसार का देश के विदेशी व्यापार पर भी बहुत बुरा प्रभाव पडता है। देश में मूल्य-स्तर ऊचा हो जाने से और इस प्रकार विदेशो में हमारी वस्तुए महगी पड़ने से देश का निर्यात व्यापार (Export Trade) घटने लगता है। विदेशी पहले की अपेक्षा अब कम वस्तुये खरीदते हैं। दूसरी ओर हमारे देश की वस्तुओ की तुलना में विदेशी वस्तुयें अधिक सस्ती पडती है जिसके कारण हमारे देश में विदेशी वस्तुओ की खपत ज्यादा होने लगती है और इस तरह देश की आयात (Imports) की संख्या बढने लगती है। निर्यात कम हो जाने तथा आयात अधिक हो जाने के परिणामस्वरूप हमारे देश का व्यापाराधिक्य (Balance of Trade) एवम् विदेशी विनिमय की दर (Rate of Foreign Exchange) हमारे विपक्ष में हो जाती है। अतएव बढते हुए मूल्यों के दिनो में मुद्रा-प्रसार वाले देश को व्यापारिक सतुलन एवम् विदेशी विनिमय दरो के विपक्ष में हो जाने से घोर सकट का सामना करना पडता है।

मुद्रा-प्रसार के ऊपर दिये गये प्रभावो के अध्ययन से यह पूर्णतया दृष्टिगत हो जाता है कि इसके प्रभाव आर्थिक जीवन के हर पहलू पर पडते हैं। यद्यपि इसके प्रभाव समाज के हर वर्ग के ऊपर समान नहीं होते, यह कुछ वर्गो को सुखदायी होता

है जबकि कुछ को दुखदायी। इसके परिणाम गंभीर होते हुए भी सभी दिशाओं में हानि उत्पन्न नहीं करते। नियंत्रित मुद्रा-प्रसार तो देश के आर्थिक विकास और विभिन्न साधनो के सदुपयोग के लिये देश की आर्थिक अवस्था का एक आवश्यक अंग माना गया है। युद्ध संचालन के लिये भी मुद्रा-प्रसार का कम महत्व नही है। जहा तक आर्थिक नियोजन का सम्बन्ध है उसको भी सफल बनाने के लिये सरकार बहुत बड़ी मात्रा में पूजी की आवश्यकता अनुभव करती है। परन्तु प्राचीन आय के साधनो से जैसे करारोपण आदि के द्वारा आय में वृद्धि करना जनता का विश्वास खो देना है। जनता से ऋण लेने की व्यवस्था भी अब कम होती जा रही है। इसलिये सरकार हर देश में अधिक नोट छाप कर इस व्यय को पूरा करती है। इस नीति का परिणाम मुद्रा-प्रसार तो अवश्य होता है परन्तु भविष्य मे बढी हुई उत्पत्ति मिलने से इसकी क्षति-पूर्ति हो जाती है। इसके अतिरिक्त देश के आर्थिक विकास के लिये मुद्रा-प्रसार द्वारा पर्याप्त मात्रा मे धन मिल जाता है। युद्धकाल में जो मुद्रा-प्रसार होता है, देश की सुरक्षा की तुलना में उसका महत्व नगण्य होता है।

उपरोक्त विवेचन से मुद्रा-प्रसार के लाभदायक सिद्ध होने में कोई सन्देह नही रह जाता। परन्तु फिर भी अधिकतर लोग इसको भय की दृष्टि से देखते हैं क्योंकि इसके सामाजिक और राजनैतिक परिणाम बहुत ही भयकर होते हैं। सामान्य रूप से मूल्य बढ़ने से देश के लोगो का जीवन स्तर गिरने लगता है। मजदूरो में अशान्ति फैलती है, हड़तालें होती हैं और मिलो में ताले लग जाते हैं। सट्टेबाजी दिन प्रति-दिन बढती जाती है। केवल व्यापारी वर्ग ही नही अपितु अधिकारियो में भी दुराचार की भावना जाग्रत होती जाती है। अर्न्तराष्ट्रीय क्षेत्र में व्यापाराधिक्य (Balance of Trade) विपक्ष में होने से देश का आर्थिक व नैतिक शोषण होने लगता है। यह देश में धन के वितरण को भी असमान कर देता है। इस प्रकार "मुद्रा-प्रसार आर्थिक विचार से अस्वस्थ, राजनैतिक विचार से भयपूर्ण, सामाजिक विचार से खतर-नाक व नैतिक दृष्टिकोण से अरक्षणीय है।" Prof. C. N Vakil ने बडे ही सुन्दर शब्दो में मुद्रा-प्रसार की तुलना एक ऐसे डाकू से की है जिसकी डकैती कानूनी है। उनके अनुसार डकैती और मुद्रा-प्रसार एक समान हैं। वह कहते है कि "डाकू एवम् मुद्रा-प्रसार दोनो ही अपने शिकार की सम्पत्ति को छीन लेते है किन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि डाका प्रत्यक्ष होता है जबकि मुद्रा-प्रसार अदृश्य है। जबकि डाकू का कार्य छितरा-बिखरा है मुद्रा-प्रसार निरन्तर कार्य करता रहता है। एक डाकू का शिकार एक समय मे एक या कुछ व्यक्ति हो सकते है, मुद्रा-प्रसार का शिकार सारा राष्ट्र होता है। डाकू को न्यायालय में ले जाया जा सकता है, जबकि मुद्रा-प्रसार कानूनी है।"

मुद्रा प्रसार को रोकने के उपाय (Methods for Controlling Inflation)

मुद्रा-प्रसार केवल उन्ही परिस्थितियों में होता है, जबकि मुद्रा की मात्रा उत्पा-दन की मात्रा से अधिक हो जाती है। इसी कारण मुद्रा प्रसार पर नियंत्रण करने

के लिये देश के उत्पादन और मुद्रा की मात्रा में एक संतुलन स्थापित होना आवश्यक हो जाता है, जो या तो मुद्रा की मात्रा को घटाकर या उत्पादन की मात्रा को बढ़ाकर ही सम्भव हो सकता है । मुद्रा की मात्रा को घटाने के लिये निम्नलिखित रीतियाँ अपनाई जा सकती है.—

(१) देश में एक मुद्रा विशेष को खराब घोषित करके चलन से बाहर निकाल दिया जाय या चलन में नई मुद्रा लाई जाय और पुराने सिक्को का नये सिक्को की कम मात्रा से परिवर्तन किया जाय, जैसाकि लडाई के जमाने में हुआ ।

(२) सरकार को जनता की क्रय-शक्ति कम करने के लिये जनता के पास मुद्रा की मात्रा कम करना आवश्यक हो जाता है, इसलिये वह जनता से ऋण लेकर उसकी क्रय-शक्ति कम कर सक्ती है।

(३) सरकार पुराने करो की दर बढा कर और नये करो को लगाकर जनता की मौद्रिक आय कम कर सकती है । सरकार प्रत्यक्ष एवम् अप्रत्यक्ष दोनो प्रकार के करो की दर बढा सकती है। इस प्रकार प्राप्त किये धन का उपयोग अन्य कार्यों में किया जा सकता है। इस प्रकार सरकार के पास जनता की अपेक्षा अधिक धन राशि होती जाती है। जनता की आय घटने से वस्तुओ और सेवाओ की मांग कम हो जाती है। परिणामत वस्तुओं और सेवाओ के मूल्य कम होने लगते है । वैसे तो यह उपाय अच्छा है, परन्तु यह पूंजी के विनियोग को हतोत्साहित कर देता है।

(४) सरकार केन्द्रीय बैंक द्वारा खुले बाजार की नीति (Open Market Operations) अपना सकती है, अर्थात वह सोना-प्रतिभूतियां तथा अन्य स्वीकृत विपत्र बेचकर जनता से धन वापस ले सकती है ।

(५) सरकार जनता के वेतनो तथा मजदूरियो में कमी कर सकती है। यह बैंको में जमा की हुई धन राशि में से भी अनिवार्य रूप से कमी कर सकती है।

(६) सरकार सम्मिलित पूंजी कम्पनियो (Joint-Stock Companies) के लाभो के बटवारे पर भी कड़े नियत्रण लगा सकती है और इस प्रकार मुद्रा प्रसार द्वारा कम्पनी के हिस्सेदारो की होने वाली आय में कमी कर सकती है ।

(७) सरकार भविष्य में मुद्रा प्रसार को रोकने के लिये नये नये विनियोगो पर भी नियत्रण लगा सकती है। साधारणतया मुद्रा-प्रसार के दिनो मे विनियोगो को प्रोत्साहन नही देना चाहिये, क्योकि यह मुद्रा प्रसार की प्रवृत्ति को तीव्र कर देते है। विनियोगो को रोकने का सबसे अच्छा उपाय लाइसैन्स प्रणाली (Licence System) है। उपयोगी विनियोगो की आज्ञा लाइसैन्स के रूप में दी जा सकती है, जिससे वे विनियोग जो अनावश्यक है लाइसैन्स के अभाव में बन्द हो जायेगे ।

(८) सरकार नई मुद्रा के प्रकाशन को बन्द करके भी मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्ति को रोक सकती है ।

(९) बैंक दर में परिवर्तन कर के भी मुद्रा प्रसार को रोका जा सकता है। बैंक दर के बढ जाने से प्रतिभूतियो (Securities) तथा अन्य स्वीकृत विपत्रो का मूल्य गिर जाता है और जनता में उनको खरीदने की इच्छा दिन प्रतिदिन कम होती जाती है।

देश में उत्पादन की मात्रा बढ़ाने के लिये निम्न उपायों का प्रयोग किया जा सकता है:—

(१) मुद्रा प्रसार को रोकने का सबसे अच्छा उपाय देश के उद्योग-धन्धो तथा कृषि उत्पादन को प्रोत्साहन देना है। यदि जनता अपनी पूंजी का विनियोग करने के लिये तैयार नही है तो सरकार करो की दर कम करके या आर्थिक सहायता पूंजी के रूप में, कच्ची सामग्री के रूप में, कारीगरो या मशीनो के रूप में देने की व्यवस्था कर सकती है। इन सब उपायो से देश में उत्पादन बढेगा और वस्तुये और सेवायें अधिक मात्रा में जनता को प्राप्त होने लगेगी, जिससे मूल्यो के ऊपर चढने की प्रवृति रुक जायगी।

(२) यदि सरकार की यह नीति सफल न हो तो सरकार को स्वय कुछ उद्योग-धन्धे खोलने चाहियें।

(३) यदि सरकार को दूसरी नीति के अपनाने में भी कोई सकोच होता है तो वह देश के आयातो को बढा सकती है और निर्यातो को प्रतिबन्ध व निर्यात कर (Export duty) लगाकर कम कर सकती है। इससे देश में वस्तुओ और सेवाओ की मात्रा बढ जायगी और मूल्य स्तर भी नीचे जाने की प्रवृत्ति दिखायेगा।

यदि सरकार मुद्रा की मात्रा को कम करने और उत्पादन की मात्रा को बढाने में असमर्थ है तो वह मुद्रा प्रसार पर नियत्रण करने के लिये मूल्यो पर नियत्रण कर सकती है और नियत्रित वितरण (Controlled Distribution) की नीति अपना सकती है। यह विधि युद्धकाल में इगलैंड व अन्य देशो द्वारा अपनाई गई थी। सरकार ने वस्तुओ की पूर्ति को निश्चित मूल्य स्थिर करके नियत्रित कर दिया था। सरकार ने वस्तुओ के वितरण के लिये स्वयं दुकानें खोलनी चाही और खोली भी तथा स्वयं राशन द्वारा वस्तुओ का वितरण किया। सरकार ने चोर बाजार को रोकने के लिये कड़े नियम बनाये और अनावश्यक वस्तुओ के मूल्य को निश्चित कर दिया था।

मुद्रा प्रसार के प्रभावों को रोकने के उपरोक्त उपाय लगभग सभी देशो ने समय-समय पर अपनाये है। परन्तु युद्धकाल में प्राय सभी देशो में उत्पादन की मात्रा तो नही बढ सकी थी परन्तु अन्य दो उपायो को विभिन्न देशो ने अपनाया था; अर्थात मुद्रा की मात्रा को बढ़ने से रोकने के भी उपाय किये गये थे और राशन प्रणाली का भी प्रयोग किया गया था। यह स्मरण रहे कि मुद्रा प्रसार केवल पूर्ण नियत्रण (Full Control) द्वारा ही रोका जा सकता है। आशिक नियत्रण तो बिलकुल नियत्रण न होने से भी बुरा है, क्योकि इसमें वस्तुयें छिपा ली जाती हैं और चोर बाजारी को प्रोत्साहन मिलता है। इसीलिये मुद्रा प्रसार की समस्यायें केवल पूर्ण नियत्रण द्वारा ही सुलझाई जा सकती हैं।

भारत में मुद्रा-प्रसार (Inflation in India)

अधिकाश लेखको ने भारतीय मुद्रा-प्रसार के इतिहास को द्वितीय महायुद्ध से प्रारम्भ किया है। परन्तु जहा तक कि मूल्य बढने की प्रवृत्ति का सम्बन्ध है वह बहुत पहले से ही दृष्टिगोचर थी और यह प्रवृत्ति द्वितीय महायुद्ध में अपनी चरम सीमा पर

पहुंच गई थी। सच तो यह है कि भारत में जबसे यातायात और संदेशवाहन के साधनों का विकास हुआ है अन्य देशों की अपेक्षा भारत में मूल्य-स्तर काफी बढ़ गया है। आश्चर्य की बात तो यह है कि मूल्यों की इस वृद्धि में आन्तरिक परिस्थितियों का इतना हाथ नहीं था, जितना कि यह बाह्य परिस्थितियों द्वारा प्रभावित हुआ था। यद्यपि यह मूल्य संसार की महामन्दी (Great Depression) के मूल्यों से कुछ कम हो गये थे परन्तु द्वितीय महायुद्ध से फिर इनकी प्रवृत्ति बढ़ने की ओर हो गई। एक लम्बे अरसे तक इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया क्योंकि उनका विचार था कि भारत में मुद्रा-प्रसार था ही नहीं। सन् १९४४ में भारतीय वित्त मंत्री ने भाषण देते हुए कहा था कि "भारतीय चलन में नोटों की मात्रा बढ़ने का एकमात्र कारण यही था कि जनता की माग नगद रुपयों के लिये बहुत बढ़ गई थी।" उनके अनुसार उस समय देश में मुद्रा-प्रसार नहीं था और उनका विश्वास था कि ऐसा मुद्रा-प्रसार जैसा कि ससार के कुछ देशों में प्रथम महायुद्ध के समय में भी आया था, कभी नहीं आ सकता। उस समय भारत के पूँजीपतियों का भी यही मत था। श्री बिरला ने अपनी राय प्रकट करते हुए कहा था कि भारत में मूल्य क्रय शक्ति बढ़ने के कारण ऊचे नहीं हुए हैं, बल्कि उनका प्रमुख कारण उत्पादन की कमी था। इसके विपरीत भारतीय अर्थशास्त्रियों का अनुमान था कि भारत में मुद्रा-प्रसार की तीसरी अवस्था आरम्भ हो गई है। यद्यपि मुद्रा-प्रसार के अंश के बारे में जो अनुमान लगाये गये हैं उनमें भेद अवश्य पाये जाते हैं परन्तु यह सिद्ध नहीं होता कि प्रथम महायुद्ध के पश्चात मूल्यों की वृद्धि ने एक भीषण रूप धारण कर लिया था। प्रो० राघव के अनुसार मूल्यों की वृद्धि सन् १९४८ के आरम्भ के ६ महीनों में लगभग १२ प्रतिशत थी, जबकि देश में चलनवेग की वृद्धि ४७ प्रतिशत थी। प्रो० सी० एन० वकील की भी यही राय थी।

उपरोक्त कथनों में सत्य का अंश होते हुए भी वास्तविकता यह है कि मूल्यों में वृद्धि केवल सरकारी बजटमें खर्च बढ़ने के कारण हुई थी क्योंकि भारतीय सरकार को केवल अपने लिये ही नहीं वरन अन्य देशों के लिए भी खर्चा करना पड़ता था और इसी कारण से एक ऐसी स्थिति आ गई थी कि क्रय शक्ति तो अपरिमित मात्रा में बढ़ा दी गई थी परन्तु उपभोग सम्बन्धी वस्तुयें जैसे २ युद्ध जोर पर आता जाता था कम होती गईं और अन्त में उत्पादक ने सारे साधन फौज-सम्बन्धी आवश्यकताओं में लगा दिये जिससे वस्तुओं की कमी और अधिक हो गई, और जिसका स्वाभाविक परिणाम मुद्रा-प्रसार था।

वास्तव में चलन में यह सब वृद्धि ही हुई। युद्ध छिड़ने से आरम्भ के १५ महीनों के अन्दर मूल्यों में विशेष वृद्धि नहीं हुई थी परन्तु सन् १९४१ में भारत सरकार द्वारा मित्र-देशों के लिये माल खरीदे जाने पर मूल्य बढ़ने लगे। इसी काल में हमारे चलन में भी काफी वृद्धि हुई। सन् १९३९ में कुल नोट १७९ करोड़ रुपयों से बढ़कर १९४१ में २७७ करोड़ हो गये थे। चलन की मात्रा बढ़ने के कारण हमारी क्रय शक्ति काफी बढ़ गई थी और इस कारण भी मूल्य बढ़ रहे थे। सन् १९४१ में जापान भी युद्ध में शामिल हो गया और अब लड़ाई भारत के काफी निकट आ गई

थी और इसलिये अब भारतीय माल ज्यादा से ज्यादा मात्रा मे युद्ध के काम आने लगा। नागरिकों की आवश्यकताओ के लिये सामान कम पडने लगा। माग बढने से मूल्य बढने लगे। इसके अतिरिक्त युद्ध के संचालन के लिये अधिक नोट छापे जा रहे थे, जो मुद्रा-प्रसार की सहायता कर रहे थे। यद्यपि भारत सरकार ने स्वय अपनी रक्षा के लिये करारोपण एवम् ऋण लेकर धन का प्रबन्ध कर लिया था परन्तु फिर भी उसे काफी खर्चा करना पडा था। उसने मित्र राष्ट्रो की युद्ध सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये तथा एकत्रित सेना की आवश्यकताओ को पूरा करने में और युद्ध सामग्री खरीदने मे काफी खर्चा किया था, परन्तु उन सब खर्चो का भुगतान भारत सरकार को स्टर्लिंग प्रतिभूतियों (Sterling Securities) के रूप में मिला था। इस प्रकार की प्रतिभूतियो को सरकार ने रिजर्व बैंक को देकर रुपये प्राप्त कर लिये थे जो वस्तुओ और सेवाओ के मालिको को उनकी वस्तुओं और सेवाओ को प्राप्त करने के बदले मे दे दिये जाते हैं। लोगो के पास क्रय शक्ति बढती जा रही थी और रिजर्व बैंक के पास स्टर्लिंग प्रतिभूतिया जमा होती जा रही थी। युद्ध के सचालन के लिये इस प्रकार की धन व्यवस्था के फलस्वरूप नोटो की मात्रा प्रतिदिन बढती जा रही थी। नोटो की जो सख्या सन् १६३६ में १७६ करोड रुपया थी वह सन् १६४५ में बढकर ११२५ करोड रुपया हो गई थी। सन् १६४१ मे यह वृद्धि इतनी तीव्र हो गई थी कि लगभग नोटो की मात्रा चौगुनी हो गई थी अर्थात् सन् १६४१ मे २७७ करोड रुपयों से ११२५ करोड़ रुपये हो गई। नोटो की मात्रा यो ही बढती गई और युद्ध समाप्त होने तक नोटो की सख्या १३१० करोड रुपया हो गई थी। इस प्रकार भारतवर्ष मे मुद्रा-प्रसार का मुख्य कारण "हीनार्थ प्रबन्धन नीति" थी।

एक ओर तो हीनार्थ प्रबन्धन की नीति के कारण चलन की मात्रा बहुत बढ रही थी दूसरी ओर नागरिको को वस्तुओ की दुर्लभता अनुभव हो रही थी। सन् १६३६ से १६४५ तक कृषि उत्पादन १५% से कम और औद्योगिक उत्पादन २५% बढा था। देश में उत्पादित माल की अधिकतर खपत युद्ध के लिये होती थी और नागरिको को बहुत कम मात्रा मे वस्तुयें प्राप्त हो पाती थी। मुद्रा की मात्रा बढने और वस्तुओ की दुर्लभता होने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि मूल्य ऊपर उठते चले गये। वस्तुओ की दुर्लभता के कुछ और भी कारण थे। युद्धकाल में आयातो पर नियत्रण लग जाने के कारण आयात की गई वस्तुओ की मात्रा बहुत कम हो गई थी। हमारे देश में खाद्य समस्या युद्ध काल में अपने शिखर पर पहुँच गई थी। बर्मा, मलाया, स्याम एवम् हिन्द चीन पर जापानी अधिकार होने से जो चावल भारत को युद्ध से पहले मिल जाता था, अब भारत न आ पाता था। इसके अतिरिक्त एक ओर तो भारत में खाद्यान्न का उत्पादन वैसे ही गिरता जा रहा था दूसरी ओर भारत युद्ध क्षेत्रो को अनाज भेज रहा था। इन सब कारणो से भारत में खाद्यान्न की विशेष कमी हो गई थी और जिसका परिणाम यह हुआ कि सन् १६४३ में बगाल में भयकर अकाल पड़ा। लडाई समाप्त हुई आजादी मिली, परन्तु खाद्यान्न की कमी से कुछ वर्षो तक छुटकारा न मिल सका, बल्कि यह कमी और भी भयकर हो गई क्योंकि भारत का गेहूँ और चावल का विशेष

क्षेत्र पाकिस्तान में चला गया था। इसीलिये वस्तुओं की कमी शीघ्र ही समाप्त न हो सकी क्योंकि एक तो आयातों पर नियंत्रण लगे थे, दूसरे मशीनों और कच्ची सामग्री के अभाव में देश का उत्पादन भी न बढ़ सका।

उपरोक्त प्रमुख कारणों के अतिरिक्त अन्य भी कई कारण थे जो निम्नलिखित हैं —

(१) वस्तुओं का दोषपूर्ण वितरण—भारतीय यातायात के साधन अधिकतर फौजियों को सामान पहुँचाने में ही व्यस्त रहे जिसके कारण नागरिकों के लिये वस्तुओं का वितरण बहुत ही असंतोषजनक हो गया। यातायात के साधनों के अभाव में किसी स्थान पर वस्तुयें कुछ मात्रा में ही प्राप्त थीं और कहीं-कहीं दुर्लभ थीं। इसी कारण किसी स्थान पर तो मूल्य अधिक बढ़े हुए थे और किसी स्थान पर चोर बाजारी (Black Marketing) और नफाखोरी (Profiteering) को रोकना असम्भव-सा हो गया था।

(२) सरकार ने मूल्य नियंत्रण (Price Regulation) और राशनिंग (Rationing) की जिस नीति का निर्माण किया था वह भी सफल नहीं हो सकी। चोर बाजारी दिन प्रतिदिन प्रगति के शिखर पर चढ़ती गई। जहां तक राशनिंग का सम्बन्ध है यह भी थोड़े ही शहरों में की गई थी और बहुत थोड़ी सी वस्तुयें ही इसमें सम्मिलित की गई थी, जिसके कारण बढ़ते हुये मूल्य गिर न सके। वास्तविकता यह थी कि इधर लोगों के लिये राशन की मात्रा इतनी कम थी कि लोग चोर बाजार पर वस्तुये खरीदने को तैयार हो गये और दूसरे शासन प्रबन्ध में भी कुशलता का अभाव था और सरकारी अधिकारियों के भ्रष्टाचार ने इन कठिनाइयों को और भी बढ़ा दिया था।

(३) सट्टेबाजों को यह अच्छा मौका हाथ आया था। लोगों ने मूल्यों के बढ़ने की प्रवृत्ति देखकर वस्तुओं को जमा करना प्रारम्भ कर दिया था। सट्टेबाजी ने कीमतों को बढ़ने के लिये और भी प्रोत्साहन दिया।

(४) युद्ध के पश्चात् भी स्थिति सुधर न सकी। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने विकास योजनाओं का निर्माण किया जिसके संचालन के लिये सरकार ने अपनी हीनार्थ प्रबन्धन (Deficit Financing) की नीति जारी रक्खी और जिसका प्रभाव यह हुआ कि मुद्रा-प्रसार बढ़ता ही गया बल्कि वास्तविकता यह है कि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा प्रसार और ही अधिक बढ़ गया था।

सरकार ने स्थिति की गंभीरता को समझकर बहुत से उपाय करने आरम्भ कर दिये। ४ अक्टूबर, सन् १९४८ को उसने अपनी नीति की घोषणा की जिसका मुख्य उद्देश्य केवल बढ़ते हुये मूल्यों को रोककर नीचे गिराना था, जिसके लिये दो बातों का होना आवश्यक है एक तो सरकारी खर्चों को कम करना, दूसरे आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाना। जहां तक सरकारी खर्चों का सवाल है वह अब तक बराबर बढ़ ही रहे हैं और उन्होंने मुद्राप्रसार की अग्नि में घी का काम किया है। सरकार ने स्थिति का अध्ययन करने के पश्चात् इस बात का निश्चय किया कि भविष्य में सतुलित बजटों का होना बहुत जरूरी है। इसके लिये केन्द्रीय सरकार ने एक समिति

नियुक्त की। समिति ने यह सुझाव दिया कि केन्द्रीय सरकार राज्यो की शराब बन्दी (Prohibition) तथा जमीदारी उन्मूलन (Zamindari Abolition) को योजनाओ में किसी प्रकार की भी सहायता न दे सकेगी।

इसके अतिरिक्त सरकार ने जनता की क्रय शक्ति को कम करने के लिये अनिवार्य जमा को लौटाने का विचार स्थगित कर दिया था। राष्ट्रीय-बचत-परिमाण पत्रों (National Saving Certificates) में अधिकतम की मात्रा बढ़ा दी गई थी। इतना ही नही बल्कि उत्पादन को प्रोत्साहन देने के लिये नये-नये उद्योगों को कुछ समय के लिये कर से मुक्त कर दिया था व मशीनो के आयात-करो में भी कमी कर दी थी और आधार उद्योगो के लिए यातायात सम्बन्धी नियन्त्रणो को ढीला कर दिया था।

परन्तु इन सब उपायों से भी स्थिति सुधर न सकी क्योंकि सन् १९४६ में मूल्य सूचक अक (Index number) ३७६ था और सन् १९४८ में ३६० था अर्थात् मूल्यो में कोई विशेष अन्तर न हुआ था। सन् १९४६ में सरकार ने भारतीय रुपये का अवमूल्यन कर दिया था। सन् १९४५० मे कोरिया का युद्ध आरम्भ हो गया। इस प्रकार मूल्य निरन्तर बढते ही गए और १९५१ में सूचक-अक ४५८ हो गया। ऐसा दिखने लगा कि देश की आर्थिक व्यवस्था के लिये मुद्रा-प्रसार एक केन्सर बन कर रह गया था जिसका घेर दिन प्रति दिन बढ़ती ही जा रहा था और जिसका कोई उपाय भी न था। अकस्मात ही १५ नवम्बर, सन् १९५१ में रिजर्व बैंक ने मुद्रा-प्रसार को पूर्ण रूप से समाप्त करने की ठान ली और उसने बैंक-दर (Bank rate) को ३ प्रतिशत से बढ़ा कर ३½ प्रतिशत कर दिया। इधर कोरिया का युद्ध भी समाप्त हो गया और सन् १९५३ मे सूचक-अक गिरकर ३५७ हो गया।

सरकार ने मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिये जो उपाय किये वह निम्नलिखित है (Methods to control Inflation)—

(१) हीनार्थ-प्रबन्धन (Deficit Financing) की नीति को बन्द करना।

(२) चलन के विस्तार को रोकना (To check the expantion of Currency)।

(३) पुराने करो (Old-taxes) की दरो में वृद्धि करना और नये करो को लगाना।

(४) सरकार ने ब्याज की दर को बढा दिया जिससे जनता को प्रलोभन मिला और सरकार को इस तरह ऋण प्राप्त हो गया।

(५) सरकार ने शासन-प्रबन्ध के खर्चों में भी भारी कमी कर दी, तथा अतिरिक्त और अनावश्यक व्यक्तियो को सरकारी नौकरी से हटा दिया गया।

(६) सरकार ने कुछ समय के लिये मौद्रिक भुगतानो को रोक दिया।

(७) सम्मिलित-पूंजी कम्पनियों के लाभाश को केवल ६ प्रतिशत पर निश्चित कर दिया गया।

(८) सरकार ने केन्द्रीय बैंक द्वारा बैंक-दर को बढ़ा दिया, जिससे लोगो की

सट्टेबाज़ी की प्रवृत्ति और ऋण लेने की मनोवृत्ति कम हो गई।

उपरोक्त उपायों द्वारा सरकार ने चलन में मुद्रा की मात्रा को कम करने का प्रयत्न किया था। साथ-ही-साथ सरकार ने जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, उत्पादन को बढाने के लिये भी कई उपाय किये थे।

सरकार ने जो उपाय उत्पादन बढ़ाने के लिये किये वह निम्न प्रकार हैं:—

(१) खाद्यान्न तथा आवश्यक वस्तुओ के आयात बढा दिये गये।

(२) सरकार ने नये उद्योगो को स्थापित करने के लिये आर्थिक सहायता प्रदान की और उनको पहले तीन वर्ष के लिये आय-कर से मुक्त कर दिया गया था।

(३) सरकार ने निजी-विनियोगो (Private Investments) को प्रोत्साहन देने के लिये राष्ट्रीयकरण की नीति को दस वर्षों के लिये स्थगित करने की घोषणा की।

(४) वैज्ञानिक अनुशीलन (Scientific Researches) तथा खाद्य पदार्थो को सुरक्षित रखने के लिये ज्यादा-से-ज्यादा सुविधाएँ प्रदान की।

(५) कपास, जूट और गन्ने के उत्पादन को उन्नत करने के लिये कृषि सम्बन्धी भूमि का विस्तार कर दिया।

(६) 'अधिक अन्न उपजाओ' (Grow More Food Campaign) को सफल बनाने के लिये बीज और खाद की व्यवस्था की और सिंचाई की सुविधाएं प्रदान की।

(७) मूल्यो को नियन्त्रित कर दिया गया और उनके नियमो को काफ़ी कडा कर दिया, ताकि चोरबाजारी का क्षेत्र कम हो जाय।

(८) राशनिंग सम्बन्धी नियमो को पहले से भी अधिक कडा कर दिया गया।

यद्यपि जो स्थिति सन् १९५३ में थी, वह अब भी वैसी ही है, परन्तु लोगो का विचार है कि अब मूल्यो की प्रवृत्ति स्थाई रूप से नीचे गिरने को हो रही है। यह प्रवृत्ति केवल भारतवर्ष में ही दृष्टिगोचर नही हो रही है, बल्कि ससार के समस्त देशो में ऐसी ही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर हो रही है। वास्तव में मूल्य तो गिर ही रहे है, परन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि मूल्यो के नीचे गिरने की प्रवृत्ति स्थाई रूप से आ गई है अथवा नही। आशावादी लोगो का यह अनुमान है कि क्योकि भारत ने आर्थिक विकास के लिये पचवर्षीय योजनाओ का निर्माण किया तथा साथ ही साथ प्रथम पचवर्षीय योजना की अवधि की समाप्ति हो जाने से तथा द्वितीय पचवर्षीय योजना के आगमन से देश की स्थिति काफी सुधर चुकी है, इसीलिये यह सम्भव है कि भविष्य की कीमतें नीचे गिरती जाएंगी। परन्तु यह विचारधारा द्वितीय योजना के शुरू होते ही गलत साबित हो रही है क्योकि योजना के प्रारम्भ होते ही मूल्य स्तरो की वृद्धि होनी शुरू हो गई। जुलाई १९५६ में थोक मूल्यो का सूचनाक ४०९·२ था और नवम्बर १९५६ मे वह ४३३·२ तक बढ गया था। आज भी विभिन्न कारणों से मूल्यो मे वृद्धि होती जा रही है। इसके अतिरिक्त भारतीय बाजार में

मुद्रा का प्रसार भी बढ रहा है। अक्टूबर, १९५५ में १९७८ करोड़ रुपया की मुद्रा का चलन था जबकि अक्टूबर १९५६ में यह २१२१ करोड़ रु० का हो गया था। इस प्रकार मुद्रा प्रसार और मूल्य वृद्धि का फिर से भारत में कुचक्र चल पडा है और मुद्रा-स्फीति की समस्या प्रत्यक्ष रूप से प्रकट होने लगी है।

मुद्रा-संस्फीति (Reflation)

कभी-कभी अर्थशास्त्रियो ने मुद्रा-सस्फीति का शब्द भी प्रयोग किया है। मुद्रा सस्फीति मुद्रा-प्रसार का ही एक छोटा रूप है। जब मुद्रा-प्रसार के बढने की प्रवृत्ति पर नियन्त्रण लगा दिये जाते है, तब मुद्रा-संस्फीति की स्थिति होती है। दूसरे शब्दो में मुद्रा-सकुचन और मुद्रा-प्रसार के बीच की अवस्था को मुद्रा-संस्फीति कहा जा सकता है। यह स्थिति भी सरकार द्वारा ही उत्पन्न की जाती है। जिस समय वस्तुओ के मूल्य बहुत गिर जाते है और सरकार को इसका आभास हो जाता है कि अब गिरते हुए मूल्य आर्थिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न कर देंगे, उस समय सरकार ऐसी नीति का निर्माण करती है जिससे मूल्य धीरे-धीरे ऊपर चढने लगते है—यही मुद्रा-सस्फीति की स्थिति होती है। प्रो० कोल का भी यही विचार है। वह कहते है कि "जब मदी के प्रभाव को दूर करने के लिये जानबूझ कर मुद्रा-प्रसार किया जाता है, तो उसे मुद्रा-संस्फीति कहा जा सकता है'[1]

इस प्रकार सरकार मूल्यो को धीरे–धीरे उठाकर फिर से साम्य पर ले आती है। कभी–कभी मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-सस्फीति में भेद किया जाता है। यद्यपि दोनो का स्वभाव और प्रवृत्ति एक ही होती है, परन्तु फिर भी इनमें कुछ अन्तर हैं।

मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संस्फीति में निम्नलिखित भेद हैं:—

(१) मुद्रा-प्रसार के लिये यह आवश्यक नही कि यह सरकार द्वारा ही उत्पन्न किया जाय, यह प्राकृतिक भी हो सकता है, परन्तु मुद्रा-सस्फीति सदैव ही बनावटी होती है और सरकारी नीति द्वारा ही उसे उत्पन्न किया जाता है। इसलिये जबकि मुद्रा-प्रसार प्राकृतिक और ऐच्छिक दोनों है, मुद्रा-सस्फीति केवल ऐच्छिक होती है।

(२) मुद्रा-प्रसार का आरम्भ ही तब होता है जबकि मुद्रा-संस्फीति समाप्त होती है, अर्थात् मुद्रा-सस्फीति उद्धारकाल (Period of Recovery) की स्थिति होती है, और इसका मुख्य उद्देश्य कीमतों को एक सामान्य-स्तर पर लाना होता है, परन्तु मुद्रा-प्रसार मूल्यो के सामान्य-स्तर पर आ जाने के बाद उत्पन्न होता है।

(३) मूल्य तो दोनों अवस्थाओं में ही बढते हैं, परन्तु दोनों स्थितियो में बड़ा अन्तर है। मुद्रा-प्रसार में मूल्य धीरे-धीरे बढते है जबकि मुद्रा-सस्फीति में वे बहुत तीव्रता से बढते हैं।

(४) मुद्रा-संस्फीति को केवल मन्दी को दूर करने के लिये किया जा सकता

---

१ "Reflation may be defined as inflation deliberately undertaken to relieve a depression"—Cole.

है। देश की आर्थिक क्रियाएँ मन्दी के कारण जब शीतल पड़ जाती हैं, तब मुद्रा-संस्फीति उनमें फिर से स्फूर्ति लाती है और इस प्रकार यह देश के आर्थिक जीवन को गिरने से बचाकर उसे ऊपर उठाती है। परन्तु मुद्रा-प्रसार सदैव देश के हित में ही नही होता और अपनी अन्तिम अवस्था में तो मुद्रा-प्रसार बहुत ही नाशकारी हो जाता है।

मुद्रा-विस्फीति (Deflation)

मुद्रा-संस्फीति की भांति मुद्रा-विस्फीति का शब्द भी काफी प्रचलित हो गया है। पिछले कुछ वर्षों से ही यह शब्द प्रयोग में आना आरम्भ हुआ है। जो नीति मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिये प्रयुक्त की जाती है उसे मुद्रा-विस्फीति कहते हैं। इसमें उन सभी क्रियाओं एवं नीतियो का समन्वय होता है जिनका लक्ष्य मुद्रा-प्रसार की तीव्रता को रोकना होता है। इस प्रकार जबकि मुद्रा-सस्फीति का प्रयोग मुद्रा-सकुचन के प्रभावो को रोकना होता है, ठीक उसी प्रकार मुद्रा-विस्फीति का प्रयोग मुद्रा-प्रसार के प्रभावो को रोकने में किया जाता है। अतः मुद्रा-विस्फीति और मुद्रा-सकुचन दोनो की प्रवृत्ति एक सी होते हुए भी दोनो एक नही हैं।

मुद्रा-विस्फीति और मुद्रा-संकुचन के मुख्य भेद

(१) मुद्रा-सकुचन सदैव ऐच्छिक नही होता, परन्तु मुद्रा-विस्फीति सदैव ही कृत्रिम और ऐच्छिक होती है।

(२) मुद्रा-विस्फीति का प्रयोग केवल बढती हुई कीमतो के वेग को रोकना होता है और इस प्रकार उनको फिर से सामान्य-स्तर पर लाना होता है, परन्तु-मुद्रा सकुचन उस आर्थिक स्थिति को कहते हैं जिसमें मूल्य सामान्य-स्तर से नीचे गिरने लगते हैं।

(३) मुद्रा-विस्फीति मुद्रा-प्रसार को रोकने की एक नीति है, जबकि मुद्रा-सकुचन उस नीति का परिणाम हो सकती है। इस प्रकार मुद्रा-विस्फीति को मुद्रा-सकुचन की बाल-अवस्था कहा जा सकता है।

(४) मुद्रा-विस्फीति आर्थिक जीवन को सतुलित बनाता है जबकि मुद्रा-संकुचन मन्दी उत्पन्न करके आर्थिक जीवन को असतुलित बना देता है।

इस प्रकार मुद्रा-प्रसार—मुद्रा-विस्फीति—मुद्रा-सस्फीति का क्रम चलता रहता है।

पन्द्रहवां अध्याय

मुद्रा का मूल्य—क्रमशः (मुद्रा-संकुचन)

मुद्रा संकुचन का अर्थ (The meaning of Deflation)

पिछले अध्याय में मुद्रा प्रसार सम्बन्धी समस्याओ का अध्ययन किया गया। हमने देखा कि मुद्रा-प्रसार मुद्रा परिमाण में वृद्धि होने के कारण होता है, जिसका प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि मूल्य बढने लगते है। मुद्रा-सकुचन में स्थिति इसके विपरीत होती है, इससे हमारा अभिप्राय मूल्य के अत्याधिक गिरने से लिया जाता है जो कि मुद्रा की कमी या मुद्रा-परिमाण में सकुचन होने के कारण होते हैं। दूसरे शब्दो मे जब द्रव्य की माँग पूर्ति की अपेक्षा अधिक होती है तब मुद्रा संकुचन की *स्थिति उत्पन्न होती है। सामान्य मूल्य स्तर गिरने लगता है, द्रव्य की क्रय-शक्ति बढने लगती है।* यह तो ज्ञात ही है कि मुद्रा की माँग व्यवसायिक एवम् औद्योगिक आवश्यकताओ के अनुसार उत्पन्न होती है। मुद्रा प्रसार में मुद्रा की मात्रा बढने से हमारा अभिप्राय यह है कि व्यवसायिक और औद्योगिक आवश्यकतायें समान रहती हैं या उनमें बहुत कम वृद्धि होती है और उनकी अपेक्षा मुद्रा का परिमाण अधिक हो जाता है। मुद्रा सकुचन में मुद्रा का परिमाण कम होने से हमारा अभिप्राय यह होता है कि जबकि व्यवयासिक और औद्योगिक आवश्यकतायें बढती हैं तब उनकी अपेक्षा मुद्रा का परिमाण या तो लगभग समान रहता है या उसमें नाममात्र की वृद्धि होती है जिससे मूल्य गिरने लगते हैं। इस प्रकार जबकि मुद्रा प्रसार में मुद्रा की पूर्ति मुद्रा की माँग से अधिक होती है, मुद्रा सकुचन में मुद्रा की माग उसकी पूर्ति से अधिक होती है। यह स्मरण रहे कि जिस प्रकार मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न की जाती है ठीक उसी प्रकार मुद्रा सकुचन की भी।

उपरोक्त मत अधिकतर लोगो द्वारा प्रस्तुत किया गया है परन्तु जैसा कि मुद्रा-प्रसार का अध्ययन करते समय बताया जा चुका है कि किसी समय विशेष में मुद्रा की माँग और पूर्ति का पता लगाना असम्भव होता है। मुद्रा सकुचन के सम्बन्ध में प्रो० पीगू (Prof A. C. Pigou) का कहना है कि जब वस्तुओं और सेवाओ का उत्पादन मौद्रिक आय की अपेक्षा अधिक तेजी से बढता है जिसके कारण कीमतें गिरने लगती हैं तब मुद्रा-सकुचन की स्थिति होती है। इस प्रकार जब देश में आय सम्बन्धी क्रियायें कम होती जा रही हों, समाज में बेरोजगारी फैलती जा रही हो और लोग भूखों मरने लगें, जब उत्पादन के विभिन्न साधनो का उपयोग कम होता जाय, और मूल्य गिरने लगे, जब उत्पादकों के पास से बने हुये माल की बिक्री न हो और जब द्रव्य की कमी के कारण बिक्री कम हो और व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि न कर पायें, जब वस्तुओं और सेवाओं की बहुतायत के कारण मूल्य स्तर गिरने लगे,

उत्पादकों को साख पर रुपया मिलने में कठिनाई होने लगे, मुद्रा का चलन वेग (Velocity) धीरे-धीरे कम होती जाय और उपभोक्ता मुद्रा को खर्च करने के स्थान पर अपने पास ही जमा करने लगें तब देश के अन्दर मुद्रा सकुचन की स्थिति स्थापित हो जाती है, यही मुद्रा सकुचन के लक्षण हैं।

मुद्रा-संकुचन के कारण (Causes of Deflation)

जब देश में मुद्रा-प्रसार के प्रभाव देश की अर्थ व्यवस्था में भूचाल उत्पन्न कर देते हैं तब सरकार मुद्रा सकुचन की नीति अपनाती है। वह प्रचलित चलन की मात्रा को बहुत अधिक कम करके अपने उद्देश्य की पूर्ति करती है। प्रायः यह देखा गया है कि मुद्रा सकुचन से जब मूल्य गिरने शुरू हो जाते हैं तब यह क्रम चलता ही रहता है अर्थात् कीमतें गिरती ही जाती हैं। साधारणतया जब उत्पादन मुद्रा के परिमाण से अधिक हो जाता है तब वस्तुओं का मूल्य मुद्रा की क्रय शक्ति बढ जाने के कारण गिरने लगता है। इसके अतिरिक्त जब सरकार मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिये मुद्रा की मात्रा को कम करती है और उत्पादन में किसी प्रकार की कमी नही होती है तब मुद्रा विनिमय का मूल्य गिरने लगता है। इसके अतिरिक्त जब सरकार मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिये मुद्रा की मात्रा को कम कर देती है और उत्पादन में किसी प्रकार की कमी नही होने पाती तब मुद्रा विनिमय के माध्यम के रूप में पहिले की अपेक्षा अधिक वस्तुयें खरीदने लगता है और वस्तुओं का मूल्य गिरने लगता है। मुद्रा-संकुचन के अन्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) हर देश की केन्द्रीय बैंक पर देश की साख व्यवस्था की देखभाल करने का उत्तरदायित्व होता है। मुद्रा प्रसार को रोकने के लिये और मुद्रा संकुचन करने के लिये केन्द्रीय बैंक अपने बैंक दर को बढा सकती है। बैंक दर के बढने से बाजारू दर भी ऊँची हो जायगी जिससे व्यक्तियों तथा बैंकों को ऋण पहले की अपेक्षा अधिक दर पर मिल सकेगा। लोग ऊँची दर पर ऋण लेना पसन्द नही करेंगे और इस तरह देश में सट्टबाजी और नये-नये विनियोगो की सम्भावना कम होती जायगी और इस तरह देश में मुद्रा-सकुचन की नीति स्थापित हो जायगी।

(२) जब बैंक दर की नीति असफल हो जाती है तब केन्द्रीय बैंक मुद्रा सकुचन खुले बाजार की नीति (Open Market Operation) द्वारा भी कर सकती है। सरकारी प्रतिभूतियो (Securities) को बेचना आरम्भ कर देती है और जनता की अतिरिक्त धन राशि को अपने पास खींच लेती है।

(३) उपरोक्त दोनो उपायो के अतिरिक्त केन्द्रीय बेंक द्वारा साख निर्माण पर नियंत्रण लगाने से भी मुद्रा संकुचन हो जाता है।

(४) सरकार करारोपण की नीति द्वारा भी देश में मुद्रा संकुचन स्थापित कर देती है।

मुद्रा संकुचन के प्रभाव (The Effects of Deflation)

जिस प्रकार मुद्रा-प्रसार के प्रभाव समाज के विभिन्न वर्गों पर भिन्न-भिन्न

प्रकार से पड़ते हैं उसी प्रकार मुद्रा संकुचन के भी प्रभाव होते हैं ।

उत्पादक वर्ग पर प्रभाव—उत्पादको को मुद्रा-संकुचन में विशेष हानि उठानी पड़ती है । मुद्रा-संकुचन में उत्पादन के साधनों की मौद्रिक आय गिर जाती है—माल न बिकने के कारण दूकानदारो के पास माल जमा होता चला जाता है । इसके अतिरिक्त उत्पादन व्यय पहले जैसा ही रहता है परन्तु मूल्य गिरने लगते हैं जिससे हानि की संभावना बढती ही चली जाती है । मूल्य गिरने का उद्योग-धन्धो की अपेक्षा कृषि पर अधिक प्रभाव होता है । छोटे-छोटे व बिखरे हुये खेत होने के कारण उत्पादन व्यय बढ जाता है और फिर फसल के बोने और काटने के बीच के समय का भी काफी अन्तर होता है और जब एकबार फसल बो दी जाती है, तब उसकी मात्रा को बढाया या घटाया नही जा सकता इसीलिये कृषि का स्वभाव ही ऐसा है कि उसके ऊपर अधिक प्रभाव पड़ना चाहिये । उद्योग-धन्धों के साथ ऐसी बात नही है । यहाँ पर उत्पादन की हर व्यवस्था पर मनुष्य का पूर्ण नियन्त्रण होता है और यह भी सम्भावना होती है कि पूर्ति माग के अनुसार घटाई बढाई जा सके । इसलिये उद्योग-धन्धो पर कृषि की अपेक्षा मूल्य के गिरने का कम प्रभाव पडता है यद्यपि कुछ लोग यह सोचते हैं और सच ही सोचते हैं कि मुद्रा संकुचन में सामान्य मूल्य स्तर गिरने से मजदूरी की दर और ब्याज की दर भी गिर जाती है और इसीलिये उत्पादन व्यय भी कम हो जाता है । फिर मुद्रा-प्रसार में उत्पादक को हानि कैसी ? परन्तु यह लोग इस बात को भूल जाते हैं कि उत्पादन बहुत पहले से शुरू हो जाता है उत्पादन सम्बन्धी कच्चा माल मशीन तथा औजार बहुत पहले से ही खरीद लिये जाते हैं, मजदूरो को भी बहुत पहले से ही भर्ती कर लिया जाता है और फैक्ट्री की इमारत का किराया गिरने के पहले लिया जाता है और इसीलिये इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मजदूरी व ब्याज की दरो के गिरने का उत्पादन व्यय पर कोई प्रभाव नही पडता क्योकि वस्तु का उत्पादन, मूल्य गिरने से पहले ही हो जाता है । हाँ यह अवश्य है कि मूल्य गिरने से पहले जो उत्पादन किया जायगा वह अवश्य ही कम उत्पादन व्यय पर प्राप्त होगा । इसके अतिरिक्त मजदूरी और ब्याज की दर मूल्य स्तर की तुलना में कम तेजी से गिरती है जिसके कारण उत्पादन व्यय में कोई कमी नही होती और उत्पादक को हानि उठानी पडती है ।

विनियोगी वर्ग पर प्रभाव (Effect on Investors)—मुद्रा संकुचन में निश्चित आय वाले विनियोगियों को लाभ होता है क्योकि सामान्य मूल्य स्तर के गिरने से उनकी आय का वास्तविक मूल्य भी अधिक हो जाता है । दूसरी ओर उन विनियोगियों को जिनकी आय उद्योग और व्यवसाय की उन्नति और अवनति के साथ बढती और घटती रहती है, हानि होती है ।

मजदूर वर्ग पर प्रभाव (*Effect on wage earners or working Class*)—श्रमिक वर्ग को मुद्रा संकुचन में एक ओर तो लाभ होता है और दूसरी ओर हानि । मूल्यो के गिरने के कारण बहुत से उद्योग और व्यवसाय बन्द होने लगते हैं जिससे बहुत से मजदूर काम से अलग कर दिये जाते हैं और बेरोजगारी बढती चली

जाती है। घोर निराशा फैलने लगती है और मजदूर भूखे मरने लगते हैं। मजदूर संघो (Labour Unions) के सदस्यो की संख्या दिन प्रतिदिन घटती चली जाती है और मजदूर संघ टूटने चले जाते हैं। दूसरी ओर मजदूरो की आय का वस्तुओं और सेवाओं के रूप में मूल्य बढने के कारण उनको लाभ होता है। एक तो इसका कारण यह है कि मजदूरी की दर गिरने पर भी इतनी नही गिरती जितनी कि मूल्य की दर। यदि यह मान भी लिया जाय कि मजदूरी की दर गिर जाती है तब भी उन लोगो को लाभ ही होता है क्योंकि वह गिरते हुये मूल्य में पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुयें और सेवायें प्राप्त कर सकते हैं। निश्चित आय वाले मजदूरों के लिये हानि का प्रश्न ही नही उठता क्योंकि वेतन निश्चित रहने और कीमतो के घट जाने से इन वेतनो का वास्तविक मूल्य बढ जाता है।

उपभोक्ता वर्ग पर प्रभाव (Effect on Consumers)—मूल्य गिर जाने के कारण उपभोक्ताओ को लाभ होता है क्योंकि पहले की अपेक्षा अब वह मुद्रा की प्रत्येक इकाई के बदले अधिक वस्तुयें तथा सेवायें प्राप्त कर सकेंगे और उनका जीवन स्तर कई गुना अधिक बढ जायगा। भूतकाल की स्थगित आवश्यक्ताओं को भी अब वह पूरी कर सकेंगे। उसके लिये जीवन में चारो ओर सुख और शांति ही दिखाई देती है।

ऋणी तथा ऋणदाता पर प्रभाव (Effect on Debtors and Creditors)—मुद्रा संकुचन में ऋणी वर्ग को हानि होती है क्योंकि जो रकम मूल धन तथा ब्याज के रूप में लौटानी पड़ती है उसकी क्रय शक्ति पहले की अपेक्षा मुद्रा का मूल्य गिर जाने से कुछ अधिक हो जाती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वह पहले की अपेक्षा अब मुद्रा के रूप में उतनी ही रकम लौटा रहा है परन्तु वस्तुओं और सेवाओं के रूप में वह पहले से कही अधिक मुद्रा लौटा रहा है। इस तरह मुद्रा संकुचन में ऋण का भार बहुत अधिक हो जाता है। यदि कोई मजदूर ऋणी है तो उसे अधिक काम करके ऋण लौटाना पड़ेगा और यदि ऋणी एक उत्पादक है तो उसे ऋण का भुगतान करने के लिये पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुयें बेचनी पड़ेंगी।

जहाँ तक ऋणदाताओं का प्रश्न है उनको इस काल में लाभ होता है क्योंकि पहले की अपेक्षा अब वे अधिक क्रय शक्ति प्राप्त करते हैं। यद्यपि मूल धन और ब्याज से मिलने वाली रकम मुद्रा के रूप में उतनी ही मिलती है तथापि वस्तुओ और सेवाओं के रूप में यह रकम कई गुनी बढ जाती है। परन्तु उद्योग तथा व्यवसाय बन्द होने से ऋणों की माग भी गिर जाती है—ब्याज की दरें गिरने लगती हैं और इस दृष्टि से ऋणदाताओं को हानि होती है।

सरकार और करदाताओं पर प्रभाव (Effect on Government and Taxpayer)—मुद्रा सकुचन में देश की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है, ब्याज और मजदूरियो की दरें नीचे गिरने लगती हैं। कीमतें, उत्पादन और रोजगार भी घटने लगता है। देश में चारो ओर वस्तुओं का स्टाक जमा होने लगता है और व्यापार तथा व्यवसाय का भविष्य अन्धकारमय हो जाता है। सरकार की अर्थव्यवस्था

भी असंतुलित हो जाती है। उसे किसानों तथा अन्य उद्योगो को आर्थिक सहायता देनी पड़ती है। इन सब कार्यो के लिये सरकार को ऋण लेने पड़ते हैं और इधर लोगों की मौद्रिक आय कम होने से भी सरकार की आय कम हो जाती है। करदाताओं को इस काल में हानि होती है, क्योकि एक तो उनकी मौद्रिक आय गिर जाती है और दूसरे पहले की अपेक्षा वह अब वस्तुओं के रूप में अधिक कर देते हैं।

व्यापार पर प्रभाव (Effect on Trade) —मूल्यो के गिरने से व्यापारी वर्ग को हानि होती है। वस्तुयें न बिकने के कारण उनकी पूंजी व्यापार में फसी रहती है। माल रक्खा-रक्खा पुराना हो जाता है इसके कारण उसकी कीमत और भी गिर जाती है। बिक्री न होने से उनकी मौद्रिक आय भी घटती चली जाती है। इसके अतिरिक्त इस काल में उन्हे ऋण का भी अभाव रहता है क्योकि ब्याज की दर गिर जाने के कारण ऋणदाता धन-राशि को अपने से अलग नही करना चाहते।

मुद्रा संकुचन को रोकने की रीतियां (Methods to check deflation)

मुद्रा सकुचन की स्थिति को सुधारने के लिये अधिकतर या तो मुद्रा के परिमाण को बढाने या वस्तुओ और सेवाओं की मात्रा को कम करने के प्रयत्न किये गये हैं। मुख्यत मुद्रा सकुचन को रोकने के उपाय निम्न हैं —

(१) देश की केन्द्रीय बैंक (Central Bank) साख प्रसार की नीति अपनाती है। इस उद्देश्य को या तो वह बैंक दर को गिराकर पूरा करती है या खुले बाजार की क्रियाओं (Open Market operations) द्वारा। बैंकों के साख निर्माण करने की शक्ति में वृद्धि हो जाती है और व्यक्ति भी ऋण लेना आरम्भ कर देते हैं। खुले बाजार की क्रियाओ में बैंक सरकारी प्रतिभूतियो (Govt. Securities) को खरीदना शुरू कर देते हैं, जिससे लोगो के पास मुद्रा की मात्रा बढ जाती है।

(२) सरकार अपने व्यय को बढाने के लिये नये-नये विभाग खोलती है, नई-नई विकास योजनायें बनाई जाती हैं, सरकार रोजगारी बढ़ाने का प्रयत्न करती है ताकि लोगो के हाथो में अधिक-से-अधिक द्रव्य शक्ति पहुँच सके।

(३) मन्दी के काल मे सरकार सस्ते ब्याज की दर पर ऋण देती है, पुराने ऋणो का भुगतान कर देती है तथा लगान सम्बन्धी नियंत्रणो को ढीला कर दिया जाता है।

(४) सरकार आयातो (Imports) को रोकने के लिये और निर्यातो (Exports) को बढाने के लिये प्रयत्न करती है जिससे विदेशो में देशी वस्तुओ का बाजार बढ जाता है और देश के व्यापार और व्यवसाय को प्रोत्साहन मिलता है।

(५) सरकार बहुत से उद्योगों को संरक्षण (Protection) देती है।

(६) कभी-कभी मूल्य को बढाने के लिये पुरानी वस्तुओ को नष्ट कर दिया जाता है।

पिछले अध्याय में हमने मुद्रा-प्रसार के प्रभावो का अध्ययन किया था और इस अध्याय में हमने मुद्रा संकुचन सम्बन्धी सारे पहलुओं की विवेचना की है। दोनो के अध्य-

यन के पश्चात् अब हम इस स्थिति में हैं, कि किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं अथवा यह कह सकते हैं कि मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन दोनों में से कौन अच्छा है। सच तो यह है कि दोनों में से किसी को भी अच्छा नहीं कहा जा सकता और न किसी को बुरा क्योंकि दोनों ही हानिकारक हैं और दोनों का ही समाज पर बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि चोर और डाकू में से हमें एक अच्छा और दूसरा बुरा बताने को कहा जाय तो हम किसी को भी अच्छा न कह पायेंगे, ठीक इसी प्रकार यह बात मुद्रा संकुचन और मुद्रा-प्रसार के सम्बन्ध में लागू होती है। मुद्रा-प्रसार में उत्पादकों, ऋणदाताओं, विनियोगियों और कुछ सीमा तक मजदूरों को भी लाभ होता है और उपभोक्ताओं मजदूरों व निश्चत आय वाले क्लर्कों को हानि होती है। ठीक इसके विपरीत प्रभाव मुद्रा संकुचन में होता है। मुद्रा प्रसार में आर्थिक क्रियायें तेजी से होने लगती हैं, पूर्ण रोजगार की स्थिति स्थापित होने लगती है, पर्याप्त मात्रा में मजदूर नहीं मिलते, उत्पादन के लिये साधनों की कमी पड़ जाती है, बिक्री के लिये वस्तुओं का अभाव हो जाता है। दूकानदार मनमाने दाम लेते हैं और इस प्रकार जब लोग वस्तुयें खरीदना चाहते हैं, उन्हें वस्तुएँ किन्हीं दामों पर भी नहीं मिलती। दूसरी ओर मुद्रा संकुचन में उत्पादकों को घोर कष्ट सहन करने पड़ते हैं और उपभोक्ता चैन करता है। आर्थिक क्रियाओं में मन्दी आ जाती है, मूल्य गिरने लगते हैं, बेरोजगारी फैलती जाती है, लोग रोजगार की तलाश में मिलों, दफ्तरों आदि के दरवाजे खटखटाते फिरते हैं परन्तु सब जगह No Vacancy का नोटिस दिखाई देता है, मिल कारखाने आदि बन्द हो जाते हैं, लोग वस्तुयें बेचना चाहते हैं, परन्तु वस्तुयें नहीं बिकती चारों ओर वस्तुयें होते हुए भी लोग भूखे फिरते हैं। उत्पादन के साधन होते हुए भी उत्पादन नहीं होता, चारों ओर प्लेग का सा वातावरण छा जाता है, आर्थिक व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाती है।

दोनों ही स्थितियाँ समाज के लिये हानिकारक हैं, परन्तु मुद्रा-प्रसार में मुद्रा-सकुचन की अपेक्षा अधिक हानि नहीं होती अर्थात मुद्रा-सकुचन की तुलना में मुद्रा-प्रसार उतना बुरा नहीं है। कीन्स का कथन है कि "मुद्रा-प्रसार अन्यायपूर्ण है और मुद्रा-सकुचन अव्यवहारिक कदाचित दोनों में से मुद्रा-सकुचन ही अधिक बुरा है।" इसके अतिरिक्त जैसाकि क्राउथर का विचार है कि "मुद्रा-प्रसार को मुद्रा-सकुचन की अपेक्षा रोकना अधिक आसान है और दोनों में से किसी को भी आसानी से नष्ट किया जा सकता है, जबकि वह तरुण और कोमल हो।"

मुद्रा-प्रसार को अन्यायपूर्ण कहने का कारण यह है कि सरकार के करारोपण की नीति न अपनाने पर भी एक प्रकार का करारोपण सा होता है। सरकार देश में मुद्रा-प्रसार करने के लिये नोट छापती है और घाटे के बजटों (Deficit Budgets) की व्यवस्था करती है। जो वस्तुयें जनता को उपभोग के लिये मिलनी चाहिये वे सरकार अपने काम में ले आती है और इस प्रकार जनता को कष्ट उठाना पड़ता है, यह एक प्रकार का अदृश्य करारोपण सा ही हो जाता है और इसीलिये प्रो० वकील ने इसे 'अदृश्य डकैती' कहा है। केवल इसी दृष्टिकोण से नहीं वरन अन्य दृष्टिकोणों मे भी यह अनुचित है। इस काल में जो समृद्धि और उन्नति चारों ओर दिखाई देती

है वह बनावटी और दिखावटी होती है। वह सरकार द्वारा उत्पन्न की जाती है जो स्थाई नही होती। जब यह उन्नति समाप्त हो जाती है तो चारो ओर हाहाकार मच जाता है। आर्थिक क्रियाओ की तीव्रता एकदम मन्द पड जाने के कारण आर्थिक व्यवस्था नष्ट हो जाती है जिससे जनता को कष्ट उठाने पडते हैं। अन्त में, राजस्व के सिद्धान्तों के दृष्टिकोण से भी यह न्यायपूर्ण नही है। मूल्य बढ़ने का प्रभाव सबसे अधिक मध्यम वर्ग और नीचे वर्ग पर पडता है जो अनुचित है। जिन करो का भार कमजोर कन्धो पर ही सबसे अधिक होता है वे कर न्यायपूर्ण नही होते। मुद्रा प्रसार मे भी यही होता है। जो कन्धे मूल्य वृद्धि का बोझ सहन नही कर पाते उन्ही कन्धो पर बोझ सबसे अधिक होता है, क्योकि जीवन निर्वाह सम्बन्धी वस्तुओ के मूल्य ही सबसे अधिक बढते हैं। इसी कारण से कीन्स (Keynes) ने मुद्रा-प्रसार को अन्यायपूर्ण कहा है।

कीन्स ने मुद्रा सकुचन को 'अव्यवहारिक' (Inexpedient) कहा है क्योकि इसमें आर्थिक क्रियायें मदी पड जाती हैं, उत्पादन बद हो जाता है, बेरोजगारी फैल जाती है, क्रय शक्ति बढाने पर भी लोग वस्तुयें नही खरीद पाते क्योंकि मौद्रिक आय गिर जाती है, बाजारो में वस्तुयें अटी पडी रहती हैं और इस प्रकार महामारी जैसा वातावरण चारो ओर छा जाता है। दूसरे शब्दो में इस काल में किसी वर्ग को व्यवहारिक दृष्टिकोण से लाभ नही होता। मुद्रा-प्रसार से चारो ओर उन्नति ही दीखती है परन्तु मुद्रा-सकुचन में चारो ओर अवनति ही होती है। ऊपर से देखने पर तो केवल यह दीखता है कि उत्पादन गिर रहा है, बेरोजगारी फैल रही है और व्यापार चक्र रुक गया है परन्तु वास्तव में समस्त आर्थिक जीवन समाप्त हो जाता है सारी आर्थिक मशीन निचेष्ट हो जाती है। यह अव्यवहारिक ही नही वरन अनुचित भी है। इस नीति का पालन सरकार केवल मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए ही कर सकती है परन्तु यह सरकार की आर्थिक नीति का स्थाई अग नही बनना चाहिये। यही पर मुद्रा-प्रसार से मुद्रा-संकुचन अधिक बुरा हो जाता है—मुद्रा-प्रसार को तो रोक भी सक्ते हैं परन्तु मुद्रा सकुचन का चक्र एकबार आरम्भ होकर उसी समय रुकता है जबकि देश की आर्थिक व्यवस्था का दम टूट चुका होता है।

उपरोक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-सकुचन केवल आर्थिक दृष्टि से ही नही वरन सामाजिक दृष्टिकोण से भी अनुपयुक्त हैं। सैलिगमैन के शब्दो में "बढती हुई और गिरती हुई कीमतो के कारण देश के आर्थिक ढांचे में एक ऐसी अस्थिरता आ जाती है जिससे कृषि, व्यापार तथा उद्योग की स्थिति डावाडोल हो जाती है और समाज के विभिन्न वर्गो को अलग-अलग अनुपात में लाभ हानि होती है। ऊची और नीची कीमतो के कारण इतना नुक्सान नही होता जितना कि कीमतो के बराबर चढते या उतरते रहने के कारण होता है।" सैलिगमैन का उपरोक्त कथन पूर्णतया सत्य है। वास्तव में कीमतो के ऊचे रहने या नीचे रहने से इतनी हानि नही होती जितनी कि कीमतो के बराबर परिवर्तनो से। यह परिवर्तन देश की समस्त आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन कर उसे अस्थिर और अनिश्चित बना देते हैं,

जिससे देश की आर्थिक उन्नति रुक जाता है। यही नही वरन देश का विदेशी व्यापार भी अस्थिर हो जाता है। मुद्रा के मूल्य के इन परिवर्तनो को स्थाई रूप से रोकना नितान्त आवश्यक हो जाता है क्योकि देश की आर्थिक उन्नति ही स्थिर मूल्यों पर निर्भर रहती है। इन परिवर्तनो को रोकने के लिये एक ऐसी नीति का निर्माण हो सकता है जिससे देश की उन्नति भी कम न हो और देश में मुद्रा का महत्व भी कम न हो। इस प्रकार मौद्रिक नीति (Monetary Policy) का एकमात्र ध्येय मूल्य-स्तर में स्थिरता लाना होता है। इसके तीन उद्देश्य बनाये गये हैं:—

(क) कीमतों की स्थिरता (Price Stabilization)

(ख) मुद्रा की उदासीनता (Neutrality of Money)

(ग) साधनो का अधिकतम प्रयोग

(क) कीमतों की स्थिरता—अधिकतर अर्थशास्त्री इसी मत के समर्थक हैं। वे मूल्यो की स्थिरता बनाये रखना अधिक पसन्द करते हैं। इस नीति का समर्थन कदाचित वे इसलिये भी करते होगे क्योकि यह अत्यधिक सरल है और जनसाधारण की समझ में भी आसानी से आ जाती है। अस्थिर मूल्यो से पिछले वर्षों में जितनी कठिनाइयां हुई है वे सर्व विदित है और इसीलिये स्थिर मूल्यो के पक्ष में कहना या उनके लाभो की व्याख्या करना बेकार ही है। इसके अतिरिक्त मुद्रा का महत्व सार्वभौम या विश्वव्यापक है। यह मूल्यो का सामान्य माप है अतएव इसके मूल्य में स्थिरता लाना आवश्यक हो जाता है। जिस प्रकार गज लम्बाई का मापक है, सेर भार का मापक है उसी प्रकार मुद्रा मूल्य का मापक है। जब सेर और गज के मान में कोई परिवर्तन नही होते तो फिर मुद्रा का मान (मूल्य) ही क्यो अस्थिर रहे। कुछ लोगो का यह भी विश्वास है कि व्यवसाय चक्रो का एकमात्र कारण मुद्रा के मूल्यों की अस्थिरता है। मुद्रा का मूल्य स्थिर रखने से व्यवसाय सम्बन्धी कार्यो में भी अधिक परिवर्तन न हो सकेंगे। अन्त में इस नीति का समर्थन इसलिये भी होता है कि लोगो का यह विश्वास है कि इससे पूंजीपतियो और मजदूरो, ऋणी और ऋणदाताओं में एक उचित और न्यायपूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

इस नीति के विपक्ष में भी काफी कहा गया है। आलोचको का कथन है कि स्थिर मूल्यों से व्यवसाय और उद्योगों को प्रोत्साहन न मिल सकेगा। उद्योगो की उन्नति केवल चढते हुए मूल्यो के समय मे ही हो सकती है क्योकि व्यवसायी वर्ग ऊंचे मूल्यों से लाभ उठाने के लालच के कारण ही जोखिम लेने को तैयार होते हैं। परन्तु स्थिर-मूल्य-स्तर रहने पर तो देश की आर्थिक व्यवस्था भी स्थिर रहेगी, आर्थिक उन्नति का तो प्रश्न ही नही उठता। इस नीति का विरोध करते हुए कीन्स ने कहा है कि स्थिर-मूल्य-स्तर की अपेक्षा एक धीरे धीरे ऊपर चढता हुआ मूल्य-स्तर अधिक उचित है क्योकि यह वृत्तिहीनता को दूर करता है और देश में बेकार पडे साधनो को काम में लगाता है। परन्तु मूल्यों की स्थिरता का यह तात्पर्य नही है कि मूल्यों में कोई परिवर्तन ही नही हो। मूल्यो में घट-बढ तो होगी ही परन्तु यह उतार-चढाव बार-बार नही होगे जिससे देश का आर्थिक ढाचा अस्थिर हो जाय।

(ख) **मुद्रा की उदासीनता**—स्थिर मूल्य की कठिनाईयों को दृष्टि में रखते हुए हेयक (Hayek) ने अपना एक बिलकुल निराला मत प्रकट किया है। उनके अनुसार एक आदर्श मौद्रिक नीति का यह उद्देश्य होना चाहिये कि मुद्रा से सम्बन्ध न रखने वाली क्रियाओं में कम से कम हस्तक्षेप किया जाय। जिस प्रकार वस्तु विनिमय-प्रणाली के अन्तर्गत विभिन्न वस्तुओ के बीच जो विनिमय के अनुपात निश्चित हो, ठीक वही अनुपात मुद्रा के माध्यम होने हुए भी रहने चाहियें। मुद्रा के चलन से वह स्थिति भग नही होनी चाहिये। दूसरे शब्दो में मुद्रा को मूल्यो के प्रभावित करने के विषय में उदासीन रहना चाहिये।

इस उद्देश्य की पूर्ति हेयक के अनुसार मूल्यों को स्थिर रख कर नही वरन मुद्रा के परिमाण में स्थिरता लाकर की जा सकती है। कार्य साधक मुद्रा (Effective Money) की मात्रा को स्थिर रखते हुए भी मुद्रा के परिमाण के परिवर्तन विनिमय के अनुपातो पर किसी प्रकार का प्रभाव नही डाल सकते। इसका परिणाम यह होगा कि मूल्य-स्तर उत्पादन शक्ति के उल्टे अनुपात में बदलेगा। यदि उत्पादक को नये प्राकृतिक साधनो का पता चल जाय या उत्पादन के नवीन एवम् वैज्ञानिक ढगो को अपना लिया जाय तो प्रति इकाई उत्पादन व्यय घटता जायगा। मुद्रा की मात्रा स्थिर रहने पर मूल्य गिरने लगेंगे और लाभ की दर भी न बढेगी। इसके विपरीत किसी असाधारण घटना या युद्ध के कारण उत्पादन शक्ति के कम होने से मूल्य बढ जायेंगे। ठीक इसी प्रकार जनसख्या में वृद्धि होने से मूल्य घटेंगे और जनसख्या में कमी होने से मूल्य बढेंगे। हेयक केवल कार्य साधक (Effective) मुद्रा की मात्रा को ही स्थिर रखना चाहता था जिसका अभिप्राय यह हुआ कि मुद्रा की मात्रा सब सब परिस्थितियो में स्थिर नही रहेगी अर्थात् उसकी मात्रा में परिवर्तन हो सकते हैं, जैसे मुद्रा का चलन वेग (Velocity) यदि कम हो जाय तो मुद्रा का मात्रा बढ जायगी।

कठिनाइयाँ:—यद्यपि वह नीति बडी सरल है परन्तु मूल्यो को स्थिर करने में अनेको कठिनाइयो का सामना उठाना पड़ता है। मुख्य कठिनाइयाँ निम्न प्रकार हैं.—

(१) मूल्य स्तर कई प्रकार के होते हैं जैसे फुटकर, थोक इत्यादि। अत.एव प्रश्न यह उठता है कि कौन से मूल्य स्थिर रखे जाँय—फुटकर या थोक? फुटकर मूल्यो को स्थिर करना कठिन ही नही असम्भव भी है क्योकि इन मूल्यो से सम्बन्धित पूर्ण आँकड़े हमको प्राप्त नही होते? इन आँकडों का मिलना इसलिये भी कठिन है क्योकि एक ही वस्तु के गुण भिन्न-भिन्न समय पर बदलते रहते हैं, नई-नई वस्तुओं के बाजार में आने और पुरानी वस्तुओ के बाजार से गायब हो जाने के कारण भी फुटकर मूल्यो के आंकडे प्राप्त नही होते। इन्ही सब कठिनाइयो को ध्यान में रखते हुये थोक मूल्यो के सूचक अंक (Index Numbers) बनाये जाने और उनके आधार पर मूल्य स्थिर रखने की सलाह दी जाती है। परन्तु वस्तुयें इतनी अधिक मात्रा में हैं कि उन सबका सूचक अक बनाना कठिन हो गया

है। इसलिये कुछ लोगो का सुझाव है कि कुछ वस्तुयें चुन लेनी चाहिये और उनका सूचक अंक बनाना चाहिये—परन्तु इसमें भी एक भय है। चुनी हुई वस्तुओं के अतिरिक्त जो वस्तुयें होंगी उनके मूल्यो में यदि परिवर्तन होने दिये जाय तो पूँजीपति केवल चुनी हुई वस्तुओ में ही पूँजी का विनियोग सुरक्षित समझकर उन्ही में विनियोग करेंगे और चुनी हुई वस्तुओ में विनियोगित पूँजी की मात्रा दिन-प्रति-दिन बढ़ती जायगी जबकि अन्य वस्तुओ में कोई भी पूँजी लगाना नही चाहेगा। परिणामत चुना वस्तुओ का उत्पादन बढेगा और अन्य वस्तुओ में लगी हुई पूंजी बाहर निकलने लगेगी। इस प्रकार के सूचक अंक की स्थिरता आर्थिक स्थिरता का आश्वासन देने में असमर्थ है।

२—मूल्य-स्थिरता-नीति के अनुसार मूल्यो के हर प्रकार के परिवर्तन अनुचित ठहराये जाते हैं परन्तु यह ठीक नही है—जो परिवर्तन मुद्रा की मात्रा के परिवर्तनो के परिणामवश होते हैं वे तो वास्तव में उचित नही परन्तु जो उत्पादन व्यय के परिवर्तनो के आधार पर होते हैं वे हर स्थिति में ही होगे और फिर ऐसे परिवर्तनो का होना स्वाभाविक भी है।

३—यह सभी जानते हैं कि जब आर्थिक व्यवस्था में स्थिरता नही होती तभी मूल्यों में भी अस्थिरता आ जाती है। हमारी आर्थिक व्यवस्था में अनेको कारणो से उथल-पुथल हो सकती है जोकि मूल्यो को स्थिर रखने पर भी होती है। इसीलिये मूल्य स्थिरता से कोई लाभ होने की सम्भावना नही।

४—कुछ लोगो का यह भी विचार है कि "दृढ़ मूल्यों की नीति का यह अर्थ नही कि मुद्रा-स्फीति और मुद्रा सकुचन न होंगे।" जिस देश में उद्योग सम्बन्धी तरह-तरह के आविष्कार होते रहते हैं उसमें उत्पादन वृद्धि के साथ-साथ मूल्यो में अपने आप कमी होनी चाहिये। परन्तु यदि कीमतें दृढ़ और स्थिर रक्खी जायेंगी तो व्यवसायी अधिक लाभ प्राप्त करने लगेंगे उत्पादक पूँजी में वृद्धि होगी और अन्त में मन्दी के कारण सब आर्थिक ढाचा अस्त-व्यस्त हो जायगा। सन् १९२९ के पहले संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में यही हुआ। इसके विपरीत ऐसा भी हो सकता है कि कीमतें मजबूत रहें और गिरनेके बजाय गोदामो मे माल जमा होता जाय या उत्पादन कम होता जाय। सैद्धान्तिक रूप से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते है कि एक बहुत बडी मन्दी की परिस्थिति आ सकती है जिसकी कीमतें तो मजबूत रहेगी परन्तु कीमतें गिरने पर भी मुद्रा की मात्रा बढ जायगी।

हेयक के इस विचार का कि कार्यसाधक मुद्रा के यथास्थिर रहने पर मुद्रा के परिमाण के परिवर्तनो का यह परिणाम होगा कि मूल्य-स्तर उत्पादन शक्ति के विलोम अनुपात में बदलेगा, अन्य लेखकों ने भी इसका समर्थन किया है। इसके पक्ष में यह कहा गया है कि मूल्यो को गिरने पर ऋणदाता और विनियोगी वर्ग को उन्नति का एक भाग स्वय ही प्राप्त हो जायगा और मजदूरो की मजदूरी का वास्तविक मूल्य बढ जायगा। और जैसा कि राबर्टसन (Robertson) का विचार है कि "इसके लिये उन्हे बार-बार मुद्रा के रूप में मजदूरी बढाने की माँग न करनी पडेगी और इस प्रकार की

माँगें ऐसी होती हैं कि चाहे उनसे काम बन्द हो या न हो परन्तु व्यक्तियों के आपसी सम्बन्ध कटु हो जाते हैं और रचनात्मक नेतृत्व की शक्तियां व्यर्थ खर्च हो जाती हैं।"

इस नीति का व्यवहारिक महत्व बहुत कम है। यह केवल सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से ही उपयुक्त प्रतीत होती है। वास्तव में इस नीति को व्यवहारिक रूप देने के लिये अनेको कठिनाइयो को दूर करना पडेगा। मुद्रा की कार्यसाधक मात्रा को जब ही स्थिर रखा जा सकता है जबकि उसके चलन वेग के हर परिवर्तन के साथ मुद्रा की मात्रा में भी परिवर्तन कर दिया जाय। यहा पर कई समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं जैसे कि केन्द्रीय बैंक (Central Bank) को यह कैसे पता लगेगा कि मुद्रा के चलन-वेग में कितना परिवर्तन हुआ ? इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न फर्मो और कम्पनियो का कब एकीकरण हुआ और कब वे अलग हो गई। प्रो० हैनसॅन ने इसी नीति का विरोध किया है। इसके अतिरिक्त जब हम बढती हुई उत्पादन शक्ति पर दृष्टिपात करते हैं तो एक नई कठिनाई और सामने आती है। इस नीति के अन्तर्गत जैसे-जैसे वस्तु का उत्पादन व्यय कम किया जायगा मूल्य गिरेगा। यदि कुछ वस्तुओ का उत्पादन एकाधिकारी वातावरण में हो रहा है तो उन वस्तुओ के मूल्य एकाधिकारी नियत्रणो द्वारा गिरने से रोक लिये जाते हैं। इसका अभिप्राय यह हुआ कि सूचक अक समान रखने के लिये अर्थात मूल्यों के औसत को बराबर करने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि अन्य वस्तुओ के मूल्यो को और भी अधिक गिराया जाय। यदि ऐसा किया जाता है तो उन वस्तुओ से सम्बन्धित साधनो के मूल्य भी उसी अनुपात में गिरेंगे। ऐसा होना असम्भव है और यदि यह मान भी लिया जाय कि ब्याज की दर भूमि का लगान और मजदूरी की दर सबमें कीमतो के परिवर्तनों के साथ-साथ स्वतन्त्रतापूर्वक परिवर्तन लाये जा सकते है, तो इसका मतलब यह हुआ कि मुद्रा प्रणाली बहुत ही परिवर्तनशील और लोचदार है जिससे यह नीति ही नही वरन हर नीति सफल हो सकती है।

(ग) साधनो का अधिकतम प्रयोग—कीन्स (Keynes) के अनुसार मूल्य-स्तर के ऊपर उठाने के लिये सस्ती मुद्रा नीति (Cheap Money Policy) का अपनाना उपयुक्त है। इस नीति द्वारा जब पूर्ण रोजगार (Full Employment) की स्थिति पहुच जायगी अर्थात जब देश के साधनो का अधिकतम प्रयोग हो चुकेगा, राष्ट्रीय आय अधिकतम हो जायगी। कीन्स ने अपने मत के पक्ष में कहा है कि (१) सस्ती मुद्रा नीति द्वारा देश में मुद्रा की मात्रा बढने से साधनो की मौद्रिक आय अधिक होगी, लोग मुद्रा का व्यय अधिक करेंगे क्योकि नकद रोके (Cash Balances) बढेंगी और बैंकों की साख निर्माण शक्ति बढने से ब्याज की दर नीचे गिरेगी। (२) मुद्रा की मात्रा में वृद्धि होने से कीमतें ऊपर चढेगी। (३) और अन्त में, कीमते बढने से आय बढेंगी। इस प्रकार कीन्स देश से बेरोजगारी दूर करना चाहते थे और इस नीति को वह सरकार की स्थाई नीति का एक भाग बनाना चाहते थे। व्यापार चक्रो को रोकने के लिये कीन्स (Keynes) ने यही नीति बताई है। उनके अनुसार ब्याज की दरो को नीचे रख कर समृद्धि काल (Boom Period) का एक आभास-स्थाई (Quasi Permanent) रूप दिया जा सकता है।

उपरोक्त सभी नीतियां एक दूसरे की विरोधी है परन्तु उनका अध्ययन करने के पश्चात यही निष्कर्ष निकलता है कि मूल्यों में स्थिरता लाना एक सम्भव और उपयुक्त नीति नहीं है। एक अच्छी मौद्रिक नीति का उद्देश्य यह होना चाहिये कि वह मूल्यों में धीरे-धीरे उठने की प्रवृत्ति उत्पन्न करे।

सोलहवाँ अध्याय

मुद्रा का मूल्य—(क्रमशः)

सूचक अंक (Index Numbers)

परिचय

हम यह भली-भाँति जान गये है कि मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन होते है, और इस सत्य से भी भली प्रकार अवगत है कि मुद्रा के मूल्य-सम्बन्धी परिवर्तनो के बडे घातक परिणाम होते है। आधुनिक ससार की इन जटिल परिस्थितियो मे व्यापारिक सौदो की जटिल अवस्थायें कदापि ही एक समय में पूरी नही हो सकती। इन सौदो के पूरा होने मे काफी समय लगता है। जहाँ तक इन सौदो के मौद्रिक भुगतान का सम्बन्ध है वह काफी लम्बे काल तक चलता है और इसी बीच मुद्रा के मूल्य मे परिवर्तन के कारण स्थगित भुगतानो का मूल्य भी बदल सकता है, मजदूरी एव ब्याज की दरो मे भी परिवर्तन हो सकता है। इसी कारण यह आवश्यक है कि मुद्रा के मूल्य मे होने वाले परिवर्तनो की सीमा का सही-सही ज्ञान हो। पिछले अध्याय मे हम मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनो का विभिन्न वर्गों पर प्रभाव देख चुके है। हम जान चुके है कि इन परिवर्तनो का प्रभाव भिन्न-भिन्न व्यक्तियो पर भिन्न-भिन्न अनुपात में पडता है और समाज को अनेको कठिनाइयाँ सहन करनी पडती है। पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था में मूल्य यन्त्र (Price Mechanism) को सचालक शक्ति के समान माना गया है क्योकि पूँजीवादी उत्पादन पूर्णतया इसी पर निर्भर करता है। उत्पादन की मात्रा, उत्पादन के साधनों की कितनी सख्या का प्रयोग किया जाय, देशी एव विदेशी व्यापार का स्वरूप निर्धारण, लोगो के जीवन-स्तर और देश के आर्थिक विकास की सीमाये आदि सब इसी पर अवलम्बित है। इन परिवर्तनो के कारण आर्थिक जीवन इतना अनिश्चित हो जाता है कि कोई भी व्यक्ति निश्चित रूप से अपनी आर्थिक स्थिति को नही समझ सकता। "जहाँ पर बोते नही वहा मनुष्य काटते है, और जहाँ नही बोते हैं वहाँ काटते है"—किसी ने सत्य ही कहा है। इसीलिए मुद्रा की क्रय-शक्ति का सही-सही माप करना बहुत ही आवश्यक और महत्वपूर्ण है, क्योकि बिना इसके ज्ञान के किसी भी आर्थिक नीति का निर्माण नही हो सकता। यह माप केवल सूचक अंको द्वारा ही सभव है।

सूचक अंक की परिभाषा

सूचक अक भिन्न-भिन्न समयो पर वस्तुओ के मूल्यो के आँकड़ो का वह समूह है, जिनके तुलनात्मक अध्ययन से मुद्रा के मूल्य के उतार-चढाव का ज्ञान होता है। अत मुद्रा के मूल्य के होने वाले परिवर्तनो का ज्ञात करने के लिए सूचक अक वे संख्यायें है

जिन्हे वस्तुओ अथवा सेवाओ के मूल्य के उतार-चढाव दिखाने के लिए एक तालिका के रूप मे प्रयुक्त किया जाता है। सूचक अको से प्रथम दृष्टि में ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी समय विशेष पर वस्तु या वस्तुओ के मूल्य अर्थात् सामान्य मूल्य-स्तर मे क्या-क्या परिवर्तन हुए। इसके अतिरिक्त वस्तुओ के व्यक्तिगत मूल्यो मे होने वाले परिवर्तनो का पता भी उनसे लग जाता है। इस प्रकार सूचक अक उस सूची को कह सकते हैं, जिसमे किसी समय विशेष पर वस्तु या वस्तुओ के एक समूह का मूल्य सहित ब्यौरा रहता है, जिसके आधार पर हम अन्य समयों पर उन्ही वस्तुओ के मूल्यो की तुलना करके मुद्रा की क्रय-शक्ति के उतार-चढाव का ज्ञान कर सकते हैं। जब किसी एक समय-विशेष की तुलना में दूसरे समय का सूचक अक ऊँचा होता है, तो इसका अभिप्राय यह होता है कि सामान्य मूल्य-स्तर ऊपर उठ गया है और मुद्रा की क्रय-शक्ति कम हो गई है; और जब सूचक अक नीचा होता है तब सामान्य मूल्य-स्तर गिर जाता है और मुद्रा की क्रय-शक्ति बढ जाती है।

यद्यपि सूचक अक वस्तुओ और सेवाओ के व्यक्तिगत मूल्यो के आधार पर तैयार किये जाते है तथापि इनका इन मूल्यो से कोई निकट सम्बन्ध नही होता, क्योकि इनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मूल्यो की सामान्य प्रवृत्ति से होता है यद्यपि यह भी सत्य है कि मूल्यो की सामान्य प्रवृत्ति स्वय व्यक्तिगत परिवर्तनो पर आश्रित है क्योकि सामान्य मूल्य-स्तर व्यक्तिगत मूल्यो का ही औसत होता है। वास्तव मे होता यह है कि हर वस्तु और सेवा का मूल्य भिन्न-भिन्न दिशा और रूपो में बदलता है। कुछ वस्तुओ और सेवाओ का मल्य गिरता है और कुछ का बढता है तथा कुछ का समान रहता है। इतनी भिन्नता होने पर भी एक सामान्य प्रवृत्ति अवश्य पाई जाती है जिसका पता लगाना कठिन नही होता। यह सामान्य प्रवृत्ति सूचक अक द्वारा पता लगाई जाती है और यही इनका एक मात्र उद्देश्य होता है।

इस सम्बन्ध में एक बात और स्पष्ट कर देना आवश्यक है। सूचक अक मुद्रा के मूल्यों के निरपेक्ष (Absolute) भाव नही है। यह केवल एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते है। उनका मुख्य ध्येय दो समयो के बीच सामान्य मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना है। यदि कोई यह कहे कि इस वर्ष का सूचक अक १८० या ४८० है, तो यह कहना उस समय तक अर्थहीन होगा जब तक कि इसे हम किसी दूसरे वर्ष की तुलना मे नही बताते। इस प्रकार सूचक अक मूल्य-स्तर के तुलनात्मक अध्ययन की वह विधि है जिसकी सहायता से हम दो विभिन्न कालो के मूल्य-स्तरो के परिवर्तनो का ज्ञान कर सकते है।

सूचक अक केवल मूल्य-स्तरो के परिवर्तनो को नापने के ही काम नही आते, वरन् हर प्रकार के आर्थिक परिवर्तन इनके द्वारा सूचित किये जा सकते हैं। अत इनके द्वारा मजदूरी, लगान और रहन-सहन—सभी के परिवर्तनो का माप किया जा सकता है। सूचक अक कई देशो में व्यक्तिगत आय मापने के लिए 'आय मान' (Earning Standard) का भी कार्य करते है और थोक मूल्यो के परिवर्तनो को देखने के लिए यह थोक मान

(Wholesale Standard) का भी कार्य करते है। इस प्रकार सूचक अक कई प्रकार के हो सकते हैं। मुख्यत यह निम्न प्रकार के होते है —

(१) आय-सूचक अक (Earning Index Numbers)
(२) मजदूरो के जीवन-निर्वाह-सूचक अक (Cost of living index Nos.)
(३) सामान्य मूल्य-सूचक अक (General Price Index Nos.)
(४) थोक मूल्य-सूचक अक (Wholesale price index Nos.)।

आय सूचक अंक—सामान्य मूल्यो के सूचक अको में हम मानव प्रयत्नो द्वारा प्राप्त मुद्रा की एक सूची तैयार करते है अर्थात् यह सूचक अक मुद्रा की क्रय-शक्ति को मानव प्रयत्नों की इकाइयो में नापते हैं। दूर से देखने पर ऐसे सूचक अक बडे ही लाभदायक सिद्ध होते हैं। परन्तु इनको बनाते समय बडी कठिनाइयो का सामना करना पड़ता है। एक कठिनाई यह होती है कि मानव श्रम और प्रयत्नो का कोई सामूहिक माप संभव नही है, जिसके अभाव में मानव प्रयत्नो के माप और तुलना में कठिनाई होती है।

मजदूरी के जीवन निर्वाहसूचक अंक—जिन प्रमुख वस्तुओ एवं सेवाओ का उपभोग मजदूर साधारण रूप से करता है, उनके फुटकर मूल्यो पर आधारित सूचक अक को मजदूरो के जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी सूचक अक कहते हैं। इनमे उपभोग में आने वाली सेवाओ को सम्मिलित नही करते। ऐसे सूचक अको मे उपभोग की विभिन्न मदो को भार प्रदान किया जाता है और भार की मात्राये किसी विशेषज्ञ-मडल द्वारा तय की जाती हैं। जैसे कि ब्रिटिश मजदूर मत्रालय (British Labour Ministry) ने सरकारी सूचक अको मे इस प्रकार का भार निश्चित किया है—भोजन ६०, किराया १६, कपडे १२, ईंधन और रोशनी ८, अन्य मदे ४। मजदूरियो के निमत करने मे इन सूचक अको ने बडी मदद की है और विभिन्न समयो पर मजदूरियो में सूचक अको के अनुपात के परिवर्तनो के कारण परिवर्तन भी कर दिये गये हैं।

सामान्य-मूल्यो के सूचक अंक या मुद्रा की कार्यशक्ति सूचक अंक—इन सूचक अको का प्रयोग अधिकतर होता है और इनका उद्देश्य मुद्रा के मूल्यो के तुलनात्मक परिवर्तनो को मापना है। इनको बनाने में प्रत्यक्ष रूप से उपभोग मे आने वाली सभी मदो को सम्मिलित किया जाता है। केवल उपभोग की जाने वाली सारी वस्तुओ के मूल्य की सूची बनाना ही काफी नही, वरन् उन पर किये गये व्यय के अनुपात में भार भी दिये जाने चाहिए। विना भार वाले सूचक अको को साधारण सूचक अक (Simple Index Numbers) और भार युक्त सूचक अको को भार सूचक अक (Weighted index numbers) कहते हैं। इनमे उपभोग की सारी वस्तुये सम्मिलित करना असभव होता है। अतएव केवल प्रतिनिधि वस्तुओ को ही इस सूची मे रखा जाता है। इसमें सामान्य मूल्य-स्तर को व्यक्तिगत मूल्यों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। सच तो यह है कि सूचक अकों को मुद्रा की क्रय-शक्ति के निश्चित माप के रूप मे प्रयोग करना ठीक नही होता है। इन सूचक अको की जीवन-निर्वाह व्यय सूचक अंक (Cost of living

index number) या उपभोग सूचक अंक (Consumption index number) कहते हैं।

थोक मूल्यों के सूचक अंक—यह सूचक अंक वस्तुओं के थोक मूल्य के आधार पर बनाये जाते हैं। इसमें साधारणतया केवल कच्ची सामग्री की वस्तुओं को ही लिया जाता है। बहुधा वस्तुओं को कृषि-सम्बन्धी और गैर कृषि-सम्बन्धी में बाँट दिया जाता है। विभिन्न वस्तुओं के मूल्य के उतार-चढ़ाव का राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर विभिन्न रूपों में प्रभाव पड़ता है। इनके अलग-अलग प्रभाव जानने के लिए राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था में प्रत्येक वस्तु के महत्व के अनुसार भारों का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन समय में भारों का निर्धारण इतना वैज्ञानिक नहीं था जितना कि आजकल है। मुद्रा की क्रय-शक्ति नापने में इन सूचक अंकों का प्रयोग तो किया जाता है, परन्तु इनमें निम्न दोष पाये जाते हैं :—

(१) इन सूचक अंकों में थोक मूल्य सम्मिलित किये जाते हैं जो कि उपभोक्ताओं के लिए व्यर्थ ही रहते हैं क्योंकि उपभोक्ता अधिकतर अपने उपभोग की वस्तुएं फुटकर मूल्यों पर ही खरीदते हैं। यह तो सर्वविदित है ही कि थोक और फुटकर मूल्यों में काफी अन्तर रहता है।

(२) ऐसे सूचक अंकों में परिवर्तनों का भाग अधिक रहता है क्योंकि इनमें साधारण सूचक अंकों की अपेक्षा मदें अधिक विशिष्ट होती हैं।

(३) इनमें वस्तुओं के अनिर्मित अवस्था के मूल्य लिये जाते हैं जो कि निर्मित अवस्था के मूल्यों से सर्वदा भिन्न होते हैं। व्यावहारिक जीवन में तो निर्मित अवस्था के मूल्यों के परिवर्तन ही प्रभाव डालते हैं और अर्थ-व्यवस्था के लिए विशेष हितकारी होते हैं।

उपरोक्त दोषों के कारण थोक कीमतों के सूचक अंक मुद्रा की क्रयशक्ति के परिवर्तनों के उचित माप नहीं हैं।

सूचक अंक तैयार करने के लिये आवश्यक बातें

सामान्य मूल्यों के सूचक अंक तैयार करते समय केवल कुछ ही वस्तुओं और सेवाओं को प्रतिनिधि के रूप में चुन लिया जाता है यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से इसमें उपभोग सम्बन्धी सभी वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य का औसत निकालना चाहिए। इन प्रतिनिधि वस्तुओं और सेवाओं के औसत मूल्यों को ही देश के सामान्य मूल्य के रूप में ग्रहण किया जाता है। सूचक अंक बनाते समय निम्नलिखित बातों का ध्यान आवश्यक है :—

(१) **आधार वर्ष का चुनाव** (Selection of the Base Year)—सर्वप्रथम हमको एक आधार-वर्ष को चुनना पड़ता है। इसे आधार-वर्ष इसलिए कहते हैं क्योंकि इस वर्ष के मूल्यों के आधार पर ही हम अन्य वर्षों के मूल्यों की तुलना करते हैं और पता लगाते हैं कि मूल्य कितने उतर या चढ़ गये हैं। वैसे तो हम किसी भी वर्ष को आधार-वर्ष मान सकते हैं परन्तु वास्तव में इस वर्ष के चुनाव में विशेष सावधानी से

काम लेना पड़ता है। यदि हम किसी ऐसे वर्ष को आधार-वर्ष मान लेते हैं जिसमें देश में अकाल पड़ा हो या लड़ाई हुई हो या दंगे-फसाद हुए हो, तो ऐसे वर्ष में अवश्य ही मूल्य अधिक ऊँचे होंगे। इन घटनाओं के कारण यदि हम और वर्षों के मूल्यों की तुलना उस वर्ष से करके निष्कर्ष निकालेंगे तो वह सदैव ही गलत होगा। इसलिए आधार-मूल्यों की तुलना करने के लिए आधार-वर्ष एक साधारण वर्ष होना चाहिए, एक ऐसा वर्ष जिसमे कोई असाधारण घटना न घटी हो, जिसमे मूल्य न बहुत ऊँचे रहे हो और न बहुत नीचे ही। ससार मे १९१३, १९२९ और १९३९ को आधार-वर्ष माना जाता है। १९१३ को इसलिए मानते हैं क्योंकि १९१४ मे प्रथम महायुद्ध आरभ हो गया था जिसका प्रभाव सारे ससार की आर्थिक व्यवस्था पर पड़ा था। १९२९ को इसलिए कि इसके बाद संसार का सबसे बड़ा मंदीकाल (Depression) आया था जिसके कारण ससार के लगभग सभी देशो मे मूल्य बहुत नीचे गिर गये थे और सन् १९३९ को इस कारण आधार-वर्ष माना जाता है क्योंकि इसके बाद द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया था और युद्ध के कारण मूल्य बहुत चढ गये थे। ससार के सभी देशो मे सूचक अक १९३९ को आधार-वर्ष मान कर बनाये जाते हैं।

(२) **वस्तुओं और सेवाओं का चुनाव** (Selection of commodities and services)—आधार-वर्ष को चुन लेने के बाद दूसरी आवश्यक बात वस्तुओं और सेवाओं का चुनाव है। सैद्धान्तिक रूप से बात दूसरी है पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखने पर तो सारी उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं के मूल्यों का औसत निकालना न सभव ही हैं और न इसकी कोई विशेष आवश्यकता ही है। केवल ऐसी वस्तुओं से काम चल सकता है जो देश की समस्त वस्तुओं की सामान्य प्रवृत्ति को दिखा सकें अर्थात् वस्तुओं और सेवाओं का चुना हुआ समूह सारी वस्तुओं और सेवाओं का प्रतिनिधि है। इन चुनी हुई वस्तुओं के मूल्यों के औसत की तुलना आधार-वर्ष के मूल्यों के औसत से करके ही मूल्यों के परिवर्तनों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। जिस प्रकार का सूचक अक हमें बनाना हो, उसीके अनुसार वस्तुओं और सेवाओं का चुनाव होता है। इसके अतिरिक्त हर देश में उपभोग एव आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार भी इनमे भिन्नता होगी। उदाहरण के लिए यदि हमको रहन-सहन खर्च सूचक अक (Cost of living index number) बनाना है तो हम ऐसी वस्तुओं का चुनाव करेंगे जिनका हमारे जीवन मे बहुत महत्व है। वस्तुओं और सेवाओं का यह चुनाव भिन्न-भिन्न वर्गों के मनुष्यों के रहन-सहन के खर्च के परिवर्तनों को नापने के लिए भिन्न-भिन्न होगा, अर्थात् हमे उन्हीं वस्तुओं का चुनाव करना होगा जिनका उपभोग करनेके एक श्रेणी-विशेष के लोग आदी हैं।

(३) **वस्तुओं के मूल्यों की सूची** (List of the prices of commodities)—आधार-वर्ष और वस्तुओं का चुनाव कर लेने के बाद प्रतिनिधि वस्तुओं के मूल्यों का चुनाव करते हैं। वस्तुओं के मूल्य थोक और फुटकर दोनों ही प्रकार के होते हैं। सूचक अक बनाते समय थोक मूल्यों का चुनाव करना है या फुटकर मूल्यों का, यह सूचक अक के उद्देश्य पर निर्भर करता है। मुद्रा का सामान्य मूल्य जानने के

लिए थोक मूल्यों को लिया जाता है क्योंकि एक तो उनको मालूम करना अधिक सरल एवं सुविधाजनक होता है और दूसरे वे मुद्रा के सामान्य मूल्यों के परिवर्तनों का ज्ञान कराने में फुटकर मूल्यों की अपेक्षा अधिक सहायता प्रदान करते हैं। जहाँ तक रहन-सहन व्यय के सूचक अंक बनाने का प्रश्न है उनके लिए फुटकर मूल्यों का चुनाव ही अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में उपभोक्ताओं की आय का अधिकांश व्यय फुटकर मूल्यों के अनुसार ही होता है। सूचक अंक तैयार करने में अधिकतर थोक मूल्यों को ही चुना जाता है क्योंकि एक तो उसमें परिवर्तन भी जल्दी हो जाता है और लगभग सब स्थानों पर उसमें समानता पाई जाती है। इसके विपरीत फुटकर मूल्यों में तो एक ही स्थान पर बड़ी भिन्नता पाई जाती है। मूल्यों के चुनाव के बाद इस बात का भी निर्णय करना पड़ता है कि वस्तुओं के मूल्य किसी दिन अथवा मास या वर्ष के लिए जाये या किसी और समय के लिए जाँय। इस सम्बन्ध में निर्णय पूर्णतया सूचक अंक के उद्देश्य, बनाने वाले की सुविधा और मूल्यों की प्राप्ति पर आश्रित है।

(४) **मूल्यों का औसत निकालना** (To strike out the averages of Prices)—सूचक अंक बनाते समय अन्तिम आवश्यकता औसत निकालने के सम्बन्ध में है। पहले वर्ष और दूसरे वर्ष के मूल्यों का प्रतिशत निकालते हैं और फिर इन प्रतिशतों का औसत निकाला जाता है। यहाँ पर एक कठिनाई और उत्पन्न होती है वह यह कि औसत कौन-सा निकाला जाय अंक-गणित औसत (Arithmetical average) या रेखागणित औसत (Geometrical average)। इसका निर्णय बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक विधि से एक-सा फल (Result) प्राप्त नहीं होता। परन्तु सत्य तो यह है कि भिन्न-भिन्न दशाओं में औसत निकालने की विधि भिन्न-भिन्न होती है। अधिकतर अंक गणित औसत ही निकाले जाते हैं।

सूचक अंक बनाने की विधि (Method for the construction of index numbers)

उपरोक्त आवश्यक बातों को चुन लेने के बाद सूचक अंक बनाने का प्रश्न उठता है। पहले हम आधार-वर्ष लेते हैं और चुनी हुई वस्तुयें और उनके मूल्य आधार वर्ष के नीचे क्रमानुसार लिख दिये जाते हैं। आधार-वर्ष की प्रत्येक वस्तु के मूल्य के सूचक अंक को १०० के बराबर मान लिया जाता है। फिर जिस वर्ष का सूचक अंक निकालना है उस वर्ष के नीचे भी चुनी हुई वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य आधार-वर्ष के क्रमानुसार लिख दिये जाते हैं। फिर जिस वर्ष का सूचक अंक निकालना है, उस के मूल्यों को, आधार-वर्ष के मूल्यों (जो १०० माना गया है) के आधार पर प्रतिशत वृद्धि या कमी निकाल लेते हैं। इन प्रतिशतों को जोड़ कर वस्तुओं की संख्या से भाग देकर औसत निकालते हैं जो कि दूसरे वर्ष का सूचक अंक होता है। इस विधि को हम निम्न उदाहरण द्वारा स्पष्ट कर सकते हैं —

आधार-वर्ष, सन् १९३९				दूसरा वर्ष, सन् १९५५	
वस्तु संख्या	वस्तुएँ	मूल्य	सूचक अंक	वस्तुओं के मूल्य	सूचक अंक
१	गेहूँ	३ रुपया प्रति मन	१००	१३ रु ८ आ प्रति मन	$\frac{१००\times२७}{३\times२}$ = ४५०
२	दालें	८ रुपया प्रति मन	१००	१६ रु प्रति मन	$\frac{१००\times१६}{८}$ = २००
३	कपडा	४ आने प्रति गज	१००	१ रु ४ आ प्रति गज	$\frac{१००\times२०}{४}$ = ५००
४	घी	४ रुपया प्रति मन	१००	१६० रुपया प्रति मन	$\frac{१००\times१६०}{४०}$ = ४००
५	चीनी	६ रुपया प्रति मन	१००	३३ रुपया प्रति मन	$\frac{१००\times३३}{६}$ = ५५०
कुल			$\frac{५००}{५}$ = १००		$\frac{२१००}{५}$ = ४२०

निष्कर्ष—सन् १९३९ की तुलना में सन् १९५५ में ३२० प्रतिशत मूल्य बढ गये थे।

उपरोक्त तालिका में आधार-वर्ष का सूचक अंक तो १०० ही रहता है परन्तु उसके आधार पर १९५५ में निकाले गये वस्तुओं के मूल्यों के प्रतिशतों को जोड कर वस्तुओं की संख्या (५) से भाग देकर ४२० सूचक अंक प्राप्त किया गया है। इससे स्पष्ट है कि (४२०—१००—३२०) आधार-वर्ष (१९३९) की तुलना में सामान्य मूल्य-स्तर में ३२० प्रतिशत की वृद्धि हो गई है।

उपरोक्त सूचक अंक साधारण औसत द्वारा प्राप्त किया गया है। इसीलिए इसे साधारण सूचक अंक (Simple Index Number) भी कहते हैं। यद्यपि यह सरल है, तथापि इसमें एक बडा दोष यह है कि यह केवल मूल्यों की सामान्य प्रवृत्ति को ही व्यक्त करता है और वस्तुओं के व्यक्तिगत मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों को, जो समाज को उसी प्रकार प्रभावित करते हैं जिस प्रकार सामान्य मूल्य-स्तर के परिवर्तन, बिल्कुल

छोड देता है। बात यह है कि समाज के उपभोग मे हर वस्तु का समान महत्व नही होता, कुछ वस्तुओ का महत्व दूसरो की अपेक्षा सदैव ही अधिक होता है। जिन वस्तुओ का महत्व अधिक होता है उनके मूल्यो के परिवर्तन समाज पर अधिक प्रभाव डालते हैं, उन वस्तुओ के मूल्यो के परिवर्तनो की अपेक्षा जिनका महत्व कम है। इसलिए सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु के मूल्यों के परिवर्तनों का अध्ययन किया जाय, परन्तु यह उद्देश्य साधारण सूचक अक से पूरा नही होता क्योकि उसमें प्रत्येक वस्तु को समान महत्व दिया जाता है। इसलिए सही ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक वस्तु के मूल्य परिवर्तनो के व्यक्तिगत प्रभावो का अध्ययन किया जाय। परन्तु यह उद्देश्य साधारण सूचक अक मे पूरा नही होता। साधारण सूचक अक में दो वस्तुओ के मूल्यों मे बिल्कुल विपरीत दिशा मे परिवर्तन होने पर भी औसत समान ही रहेगा, हालांकि समाज पर उन दोनो वस्तुओ के मूल्य परिवर्तनो का प्रभाव भिन्न-भिन्न होगा। उदाहरण के लिए यदि गेहूँ के मूल्य ६० % ऊपर चढ जाय और खाने की तम्बाकू के मूल्य ४० % नीचे गिर जाय, तो इनके प्रभाव स्पष्टतया अलग-अलग होगे। गेहूँ के मूल्य मे ६० % वृद्धि होने से समाज पर बहुत प्रभाव पडेगा, क्योकि गेहूँ पर मनुष्य की आय का एक बहुत बडा भाग व्यय होता है। उसका मूल्य बढने से मनुष्यों के आय की क्रय-शक्ति कम हो जाती है और गेहूँ पर पहले की अपेक्षा अब अधिक व्यय होता है। इस प्रकार समाज के सदस्यों के जीवन-स्तर की प्रवृत्ति नीचे की ओर जाने की होगी, परन्तु इसके विपरीत तम्बाकू का मूल्य गिरने से समाज को कुछ भी आराम नहीं मिलेगा क्योकि एक तो तम्बाकू का उपयोग समाज का हर सदस्य नहीं करता है, दूसरे, इस पर आय का एक छोटा अश ही व्यय किया जाता है, जिसके फलस्वरूप मूल्य के घटने-बढने से क्रय-शक्ति पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता। इस प्रकार साधारण सूचक अक इस बात को व्यक्त नही करते और यही उनका दोष भी है। इस दोष को दूर करने के लिए भारयुक्त सूचक अको (Weighted Index Numbers) का उपयोग किया जाता है। ऐसे सूचक अको मे जिस वस्तु का उपभोग में जैसा महत्व होता है उसीके अनुसार उसको भार दिये जाते हैं। उपभोग के अन्तर्गत किसी भी वस्तु का महत्व जानने के लिए हमें यह देखना पडेगा कि वर्ग-विशेष के सदस्य अपनी आमदनी का कितना भाग किस वस्तु पर खर्च करते हैं। आय का जितना अधिक भाग जिस वस्तु पर खर्च होगा, उतना ही उस वस्तु का महत्व अधिक होगा और जितना ही आय का कम भाग किसी वस्तु पर खर्च होगा, उतना ही उसका महत्व कम होगा। इस प्रकार भार देने के लिए कुल व्यय मे से प्रत्येक वस्तु का प्रतिशत व्यय मालूम किया जाता है और उसी प्रतिशत के अनुसार भार निर्धारित किये जाते हैं। भारयुक्त सूचक अक मे औसत मूल्य-स्तर मालूम करने के लिए आधार-वर्ष के आधार पर दूसरे वर्ष मे मूल्यो के प्राप्त प्रतिशत को अर्थात् सूचक अक को भारो से गुणा कर दिया जाता है और गुणन फल को भारो के योग से भाग दे दिया जाता है। मान लिया कि उपरोक्त तालिका मे गेहूँ को १०, दालो को २, कपड़े को ५, घी को ४, और चीनी को ३ भार दिये गये है, तो भारयुक्त सूचक अक निम्न प्रकार होगा :—

आधार वर्ष १९३९				वर्तमान वर्ष १९५५	
सं.	वस्तुएं	मूल्य	सूचक अक भारयुक्त	मूल्य	भारयुक्त सूचक अक
१	गेहू	३ रु. प्रतिमन	१००×१०=१०००	१३-८-० प्रतिमन	४५०×१०=४५००
२	दाले	८ रु. ,,	१००×२=२००	१६-०-० ,,	२००× २=४००
३	कपड़ा	४ग्रा.प्रति गज	१००×५=५००	१-४-० प्रति गज	५००× ५=२५००
४	घी	४०रु प्रति मन	१००×४=४००	१६०रु प्रति मन	४००× ४=१६००
५	चीनी	६ रु ,,	१००×३=३००	३३-०-० ,,	५५०× ३=१६५०
कुल			$\frac{२४००}{२४}$=१००		$\frac{१०६५०}{२४}$=४४३.७५

उपरोक्त तालिका मे भारयुक्त सूचक अक ४४३.७५ है और सन् १९३९ की अपेक्षा सन् १९५५ मे ३४३.७५% मूल्यो मे वृद्धि हुई है जबकि साधारण सूचक अक केवल ३२०% की ही वृद्धि सूचित करता है। इससे स्पष्ट है कि दोनो प्रकार के सूचक अको में कितना अतर है।

सूचक अंक बनाते समय कुछ आवश्यक सावधानियाँ

सूचक अक के बनाने की विधि और उसके लिए आधारभूत बातो का ज्ञान करने के पश्चात् अब हम उन विशेष सावधानियो का उल्लेख करेगे, जिनका सूचक अक बनाते समय ध्यान रखना आवश्यक ही नही वरन् अनिवार्य है। यह सावधानियाँ निम्न प्रकार है :—

(अ) सर्वप्रथम आधार-वर्ष का चुनाव करते समय बडी सावधानी से काम लेना चाहिए क्योकि इसी के चुनावो पर हमारे अनुमानो का सही और गलत होना निर्भर होता है। यह स्मरण रहे कि आधार-वर्ष भी समय-समय पर बदलता रहता है। एक बार चुना हुआ आधार-वर्ष सदैव ही काम नही देता, क्योकि देश मे आर्थिक घटनाये कुछ ऐसी घट सकती है जिनसे पुराना आधार-वर्ष बदली हुई दशाओ मे ठीक अनुमान लगाने मे सहायक न हो। इसलिए आधार-वर्ष का चुनाव बडी सावधानी से करना चाहिए।

(आ) प्रतिनिधि वस्तुओ का चुनाव भी काफी कठिन होता है। यह वस्तुये ऐसी होनी चाहिए जो कि एक वर्ग-विशेष की उपभोग-सम्बन्धी आवश्यकताओ का प्रतिनिधित्व करे। इसके अतिरिक्त वस्तुओ का चुनाव देश, काल, आय तथा देश की आर्थिक परिस्थितियो के अनुसार होना चाहिए, क्योकि वस्तुओ की मात्रा एव गुण समयानुसार बदलते है। इस प्रकार मजदूरो का सूचक अंक बनाते समय जिन वस्तुओ

को हम सम्मिलित करेंगे, उनमें से अधिकतर वस्तुयें सम्पूर्ण जनता के जीवन-स्तर का सूचक अंक बनाते समय सम्मिलित नहीं की जायगी,इसीलिए वस्तुओं के चुनाव में भी सावधानी की आवश्यकता है।

(इ) सूचक अंक बनाने के उद्देश्य के अनुसार वस्तुओं के मूल्य का चुनाव होना चाहिए। इसलिए मूल्यों का चुनाव बड़ी सावधानी से करना चाहिए। यदि फुटकर मूल्यों के स्थान पर थोक और थोक के स्थान पर फुटकर मूल्यों का चुनाव किया जायगा, तो हमारे उद्देश्य की पूर्ति कभी भी न हो सकेगी।

(ई) भारों के निर्धारण में भी सावधानी बरतनी चाहिए। इसके अतिरिक्त औसतों का चुनाव भी सावधानी से करना चाहिए। यद्यपि भारों के निर्धारण और औसतों के चुनाव के सम्बन्ध में हर देश में काफी सावधानी बरती जाती है, परन्तु हर स्थान पर इनका चुनाव अनुमानजनक ही होता है। जिसका परिणाम यह होता है कि एक ही समय पर भिन्न-भिन्न संस्थाओं द्वारा बनाये जाने वाले सूचक अंकों में भिन्नता होती है।

(उ) साधारण और भारयुक्त सूचक अंक बनाते समय दोनों वर्षों में उन्हीं वस्तुओं और सेवाओं का उपयोग किया जाता है, जिनको पहले एक निश्चित महत्व प्रदान कर दिया जाता है। ऐसा देखा गया है कि समय के साथ-साथ मनुष्यों की रुचियों और मनोवृत्तियों में परिवर्तन हो जाता है जिसके कारण पुरानी उपभोग की वस्तुओं और उनके महत्व में भी परिवर्तन हो जाता है। पुरानी वस्तुओं के स्थान पर अनेकों नई वस्तुओं का उपभोग आरम्भ हो जाता है। इस समस्या को सुलझाने के लिए प्रो० मार्शल ने एक नये प्रकार का सूचक अंक प्रयोग करनेका सुझाव दिया है। इस सूचक अंक को उन्होंने शृंखलाकारी सूचक अंक का नाम दिया है। इस विधि में लगातार दो वर्षों के सूचक अंक बना कर उनकी तुलना की जाती है अर्थात् प्रत्येक वर्ष के मूल्यों की तुलना उसके अगले वर्ष के मूल्यों से करते हैं। हर अगले वर्ष में नई आने वाली वस्तुओं को छोड दिया जाता है और केवल पिछले वर्ष की वस्तुओं के आधार पर ही मूल्यों की तुलना की जाती है। इसी प्रकार हर वर्ष भारों के निर्धारण में भी परिवर्तन कर दिये जाते हैं। इसीसे यह एक उपयुक्त विधि प्रतीत होती है।

हर सूचक अंक बनाते समय व्यवहारिक जीवन में उपरोक्त सभी सावधानियों को ध्यान में रखा जाता है, परन्तु फिर भी सही-सही सूचक अंक बनाना कठिन ही नहीं, असंभव भी है। जैसा कि प्रो० मार्शल ने कहा है कि, "मूल्य का पूर्णतया सही माप केवल अप्रापणीय ही नहीं, वरन् अविचारणीय भी है।"[1]

सूचक अंक के लाभ

सूचक अंक का प्रयोग साधारणतया दो समयों के मूल्यों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए किया जाता है। परन्तु जैसा कि हम पहले ही कह चुके है कि आजकल अंक-

---

१—A perfectly exact measure of value is not only unattainable but even unthinkable." Marshall.

शास्त्र (Statistics) का महत्व बढ जाने से (चूकि सूचक अक भी अकशास्त्र की ही एक रीति है) सूचक अको का प्रयोग किन्ही भी दो घटनाओ (Phenomena) की दो समय पर तुलना करने मे किया जा सकता है। इस प्रकार अब अनेक प्रकार के सूचक अंक पाये जाते है और उनके उपयोग भी भिन्न-भिन्न हैं, जो निम्न प्रकार हैं :—

(१) ये मुद्रा की क्रय-शक्ति तथा मूल्य नापने के लिए सर्वोपयोगी यत्र हैं, जिनके द्वारा प्राप्त अनुमान व्यावहारिक जीवन मे विशेष रूप से लाभदायक सिद्ध होता है। हम देश में लोगों के जीवन-स्तर में होने वाले परिवर्तनों का पता लगा सकते है और उन्ही के अनुसार व्यावहारिक नीतियो का निर्माण कर सकते है।

(२) जो सूचक अक जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी व्यय के परिवर्तनों को मालूम करने के उद्देश्य से बनाये जाते है उनके अध्ययन मे यह भली-भाँति पता लगाया जा सकता है कि लोगों की वास्तविक आय मे कितना परिवर्तन हुआ। देश मे वास्तविक मजदूरी की दर में क्या-क्या परिवर्तन हुए। वे बढी या घटी, इसके अतिरिक्त उनमे परिवर्तन किस अनुपात मे हुए। इस अध्ययन मे बडे व्यवहारिक लाभ हैं। हम श्रम और पूजी के आपसी झगडो को समाप्त करके उनमे अच्छे सम्बन्ध स्थापित कर सकते है। देश मे रहन-सहन स्तर के गिरने की दशा में मजदूरी की दर को बढा कर और जीवन-स्तर बढने के समय मजदूरी की दर को घटा कर शांति स्थापित कर सकते हैं। मजदूरी की दरो मे एक सतुलन स्थापित किया जा सकता है, और इस प्रकार देश के उत्पादन को मूल्य और मजदूरी के परिवर्तनो के हिचकोलो से बचा सकते हैं। इसके अतिरिक्त मजदूरो की कार्यक्षमता को बढा कर मजदूरी की दर और जीवन-निर्वाह-सम्बन्धी व्यय में भी सतुलन स्थापित किया जा सकता है।

(३) सूचक अक की सहायता से मुद्रा के मूल्य के परिवर्तनों का अध्ययन करने के पश्चात् हम देश के लिए उपयुक्त मौद्रिक नीति का निर्माण कर सकते हैं।

(४) विदेशी व्यापार-सम्बन्धी सूचक अको को तैयार करके उनकी सहायता से विदेशी व्यापाराधिक्य के होने वाले परिवर्तनों को रोकने का उपाय काम मे लाया जा सकता है, और उनको सतुलित किया जा सकता है।

(५) देश के उत्पादन सम्बन्धी परिवर्तनो का अध्ययन करने के लिए भी सूचक अक तैयार किये जाते हैं। ऐसे सूचक अको द्वारा उत्पादन मे होने वाले परिवर्तनो पर विशेष रूप से प्रकाश डाला जाता है। उत्पादन किस ओर जा रहा है, कौन-से उद्योग उन्नति कर रहे हैं और कौन-से अवनति की ओर जा रहे है, ये इन सभी समस्याओ पर प्रकाश डालते हैं। इस अध्ययन के आधार पर सरकार औद्योगिक नीति मे आवश्यक परिवर्तन कर सकती है और अपनी सरक्षण की नीति मे भी आवश्यक सशोधन कर सकती है। जो उद्योग उन्नति कर गये हैं, उनके ऊपर से आर्थिक सहायता हटा कर सरकार उसी आर्थिक सहायता को दूसरे उद्योगो को प्रोत्साहन देने में काम ला सकती है। इस प्रकार उद्योग और उत्पादन मे इन सूचक अको का विशेष महत्व है।

(६) सूचक अको द्वारा क्रय-शक्ति के परिवर्तनो की सामान्य प्रवृत्ति का ज्ञान

प्राप्त किया जा सकता है और इस प्रकार भविष्य में होने वाले भुगतानों में इनको प्रयोग करके सतुलन और न्याय प्राप्त किया जा सकता है।

(७) सूचक अको का प्रयोग सम्मिलित पूंजी वाली कम्पनियों या अन्य कम्पनियो के लिए बहुत आवश्यक सिद्ध होता है। जो सूचक अक विनियोगों की तुलनात्मक अवस्था को जानने के लिए तैयार किये जाते है, उनमे विभिन्न कम्पनियों की आर्थिक स्थिति का पता चल जाता है और उनके आय-व्यय का एक तुलनात्मक अध्ययन प्राप्त किया जा सकता है। कम्पनी के दृष्टिकोण से भी यह काफी उपयोगी सिद्ध होते है। कम्पनिया अपनी बिक्री और लागत को मालूम कर सकती है। वे इस बात का ज्ञान प्राप्त कर सकती है कि उनकी बिक्री घट रही है या बढ रही है और कौन-कौन-सी वस्तुओ की बिक्री मे क्या-क्या परिवर्तन हुए है। इसी प्रकार की अन्य समस्याओ के अध्ययन मे भी इनका विशेष महत्व है।

मूल्यो के परिवर्तनो के ज्ञान से अनेको लाभ प्राप्त होते है। आर्थिक जगत की सारी समस्याओं का हल इन्ही सूचक अको द्वारा प्राप्त हो सकता है। व्यापारी एव व्यवसायी वर्ग अपने लाभ तथा हानि का ज्ञान इन्ही के द्वारा करते है। सूचक अक मजदूरी की दरो, ब्याज की दरो तथा काम की मात्राओ का विभिन्न स्थानों पर तुलनात्मक अध्ययन करके निष्कर्ष निकालते है। इसी प्रकार सट्टा बाजार के सगठन के लिए और व्यापार एव पूंजी की गतिशीलता का ठ्ख पता लगाने के लिए सूचक अको की सहायता ली जाती है। फिशर ने इसे इस प्रकार कहा है—"वस्तुओ के मूल्य-स्तर को स्थाई बनाने तथा व्यापार मे स्थिरता एव स्थायित्व लाने के लिए सूचक अक अत्यधिक उपयोगी है। इनकी सहायता से आर्थिक, व्यापारिक तथा वित्त-सम्बन्धी सभी समस्याये समझने मे आसानी होती है।"

सूचक अको को आर्थिक जगत के दबावों को नापने का यत्र कहा जाता है, क्योंकि इनके द्वारा सभी आर्थिक घटनाओं के परिणामों को नापा जा सकता है। ये देश की वर्तमान एव भूतकालीन स्थिति का ज्ञान कराते है जिससे सरकार को आर्थिक विकास सम्बन्धी योजनाओ के निर्माण मे बडी सहायता मिलती है। सरकार सूचक अको द्वारा मुद्रा के मूल्य, उत्पादन, व्यय और रहन-सहन व्यय का ज्ञान प्राप्त करके अपनी कर-नीति का निर्माण करती है। एक राजनीतिज्ञ इनकी सहायता से देश की आर्थिक स्थिति का पता लगाता है, और सरकार की आर्थिक नीति का समालोचनात्मक अध्ययन कर सकता है। इस प्रकार सूचक अक समाज व देश के हर प्राणी को सहायता प्रदान करते है।

सूचक अंकों की सीमायें

(१) हमने पहले सूचक अक बनाते समय कुछ सावधानियो को ध्यान मे रखने का वर्णन किया था। परन्तु यह सभी जानते है कि हर सावधानी को ध्यान मे रखने के उपरान्त भी सूचक अक मूल्य परिवर्तनो का सही अनुमान नही देते। एवर्टसन का भी यह विचार है कि "मुद्रा के मूल्य परिवर्तनों का ठीक ठीक माप न तो सैद्धान्तिक दृष्टि से

सभव ही है और न ही व्यावहारिक।" इतना अवश्य है कि यदि मुद्रा के मूल्य में परिवर्तन होते हैं और काफी सावधानी बरती जाती है, तो प्रत्यक्ष उपयोग के लिए उनको मापदड ठीक रूप से बनाया जा सकता है। वास्तविकता तो यह है कि आर्थिक जगत की इन जटिल परिस्थितियो मे इतनी साधारण विधि से काम नही चल पाता।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक घटनाओ की तुलना करने मे बडी असुविधा होती है क्योकि प्रत्येक देश में आधार-वर्ष, वस्तुओ के मूल्य, मात्रा, एव गुण मे बहुत भिन्नता पाई जाती है।

(३) सूचक अक केवल अनुमानित ही होते हैं। अक शास्त्र की एक प्रमुख रीति होने पर भी इनमे गणितात्मक सत्यता (Arithmetical accuracy) का सर्वथा अभाव रहता है।

(४) भारयुक्त सूचक अको में भार निर्धारण एकदम ऐच्छिक होता है। एक ही समय मे भारो मे अन्तर होने से परिणामो मे भी अन्तर हो सकता है।

(५) जिस उद्देश्य-विशेष से सूचक अक तैयार किया जाता है, वह केवल उसीके लिए उपयोगी सिद्ध होता है। उसका उपयोग किसी अन्य आर्थिक घटना का अध्ययन करने के लिए नही किया जा सकता है।

यही सूचक अको की मुख्य कठिनाइयाँ व सीमाये है, परन्तु इनसे यह सिद्ध नही होता कि सूचक अक की न कोई उपयोगिता है और न ही कोई महत्व। बल्कि यह रीति अपूर्ण होते हुए भी मुद्रा के मूल्य परिवर्तनो को जानने के लिए एकमात्र रीति है। इतना अवश्य है कि इसका प्रयोग जरा सावधानी पूर्वक करना चाहिए।

सत्रहवां अध्याय
साख तथा साख-पत्र

आधुनिक आर्थिक ससार मे साख के महत्व के सम्बन्ध में जितना कहा जाय, उतना कम है। वास्तव मे यह वह कीली है, जिसके चारो ओर आर्थिक जगत् चक्कर काट रहा है। आजकल अधिकाश विनिमय कार्य बिना मुद्रा के प्रयोग के ही होते हैं। आधुनिक व्यापार, व्यवसाय तथा अन्य प्रकार की आर्थिक क्रियाओ के सम्बन्ध मे साख-पत्रो व साख-सस्थाओ का प्रयोग होता है, जो आज के आर्थिक जगत् के मुख्य अग बन गए हैं और जिनका अध्ययन अर्थशास्त्र में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इससे पूर्व कि हम साख-पत्रो तथा साख-सस्थाओ के सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक उल्लेख करे, हमे साख सम्बन्धी प्रारम्भिक बातो का जानना अत्यन्त आवश्यक है।

साख का उद्गम तथा परिभाषा

साधारणत. साख का अर्थ 'विश्वास' अथवा 'भरोसे' मे लिया जाता है। यह अर्थ काफी व्यापक है। अर्थशास्त्र में इसका अर्थ विशेष रूप से सकुचित होता है। यहाँ पर इसका अभिप्राय केवल ऋण लौटाने या भुगतान करने की शक्ति के विश्वास से होता है। इस प्रकार यदि हम किसी व्यक्ति विशेष के बाज़ार में साख का वर्णन करते हैं तो उससे हमारा अभिप्राय यह होता है कि अधिक साख वाले व्यक्ति पर लोगो की उसकी ऋण लौटाने की शक्ति का अधिक विश्वास होता है, अर्थात् उसे बाजार में सरलता-पूर्वक अधिक मात्रा मे ऋण प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत कम साख वाले व्यक्ति को कम मात्रा मे ऋण प्राप्त होता है क्योकि उस पर लोगो का विश्वास कम होता है।

साख का प्रयोग बहुत ही प्राचीन समय से होता आया है। अग्रेजी भाषा का शब्द क्रेडिट (Credit) क्रेडो (Credo) शब्द से बना है जिसका शब्दार्थ "मैं विश्वास करता हूँ" (I believe) होता है। और इसी प्रकार हिन्दी भाषा के साख शब्द का अर्थ विश्वास तथा भरोसा लिया जाता है। हममे से हर व्यक्ति इस बात से परिचित है कि मानव समाज में वस्तुओ के उधार लेने तथा ऋण लेने की नीति का प्रयोग हर काल मे हुआ है। विनिमय कार्यों को सम्पन्न करने के लिए साख की ही सहायता प्राप्त की गई है। वस्तुओ अथवा सेवाओ को जब कभी एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को उधार देता है तो वह उधार देते समय उस व्यक्ति से भविष्य मे उनको लौटाने के लिए कुछ शर्ते निर्धारित कर लेता है। इस प्रकार भविष्य मे किये जाने वाले भुगतानो के वायदे पर जो विनिमय कार्य सम्पन्न किये जाते है, वही साख का आधार है। प्रो० जीड (Gide) के शब्दो में "यह एक ऐसा विनिमय कार्य है जो एक निश्चित काल की

समाप्ति के पश्चात्—भुगतान के पश्चात्—पूरा होता है।"[1] प्रो० टोमस (Thomas) ने साख शब्द का अर्थ एक बहुत ही विस्तृत रूप में दिया है उनका कथन है। कि, "अब साख शब्द का प्रयोग किसी व्यक्ति की देनदारी तथा भुगतान करने की शक्ति में होने वाले उस विश्वास से होता है जो उसको दूसरे व्यक्ति की कुछ बहुमूल्य वस्तु के सौंप दिये जाने की आज्ञा प्रदान कर देगा, चाहे उस कुछ वस्तु में मुद्रा, वस्तुएँ, सेवाएँ अथवा स्वयं साख ही सम्मिलित हों जैसा कि जब एक व्यक्ति दूसरे को अपने अच्छे नाम, अथवा कीर्ति का प्रयोग सौंप देता है।"[2] इस प्रकार साख "वर्तमानकाल में वस्तुओं का वह हस्तांतरण है जो किसी निश्चित भावी तिथि पर वस्तुओं की निश्चित मात्रा के दिये जाने के वायदे के बदले में होता है या वर्तमान में मुद्रा का इस शर्त पर उधार देना कि उसका भुगतान किसी भावी तिथि पर किया जाए।"[3]

यद्यपि साख का प्रयोग हर स्थान पर किया जा सकता है और साख-कार्य अनेकों प्रकार के हो सकते हैं, परन्तु उन सब की प्रकृति समान ही रहती है क्योंकि इन सब कार्यों का मूल तत्व यही होता है कि वर्तमान में प्राप्त की गई वस्तु, सेवा अथवा मुद्रा का भुगतान भविष्य में किया जाएगा। इस प्रकार यह स्पष्ट ही है कि साख एक तुलनात्मक शब्द है। यह व्यक्ति विशेष, समय, अथवा देश की आर्थिक उन्नति पर निर्भर करता है। इसीलिए यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि किसी व्यक्ति विशेष की साख किन-किन बातों पर निर्भर रहती है। इस सम्बन्ध में लेखकों में आपस में बड़ा मतभेद मिलता है। हर लेखक ने साख के आधार को अलग-अलग बताया है। कुछ के अनुसार केवल विश्वास ही साख का आधार है क्योंकि ऋणदाता कभी भी ऋण लौटा दिये जाने के विश्वास के अभाव में ऋण नहीं देगा। कुछ दूसरे लेखकों का विचार है कि साख व्यक्ति के विश्वास पर नहीं दिया जाता, बल्कि ऋण लेने वाले की सम्पत्ति ही साख का आधार है। ऋण देने वाला ऋण देते समय ऋणी की सम्पत्ति पर निगाह रखता है। कुछ अन्य लेखकों का यह विचार है कि मनुष्य का चरित्र ही साख का वास्तविक आधार

१—"It is an exchange, which is complete, after the expiry of a certain period of time—after payment." —Gide

२—"The term credit is now applied to that belief in a man's probity and solvency which will permit of his being entrusted with something of value belonging to another, whether that something consists of money, goods, services or even credit itself as when one man entrusts to another the use of his good name and reputation" —Thomas

३—"The transfer of goods in the present for a promise of a certain amount of goods to be paid at a given future date, or the lending of money in the present on condition of payment at some future date."—

है। कुछ लेखक ऐसे भी हैं जो विश्वास, सम्पत्ति व चरित्र तीनों को ही साख का आधार मानते हैं। परन्तु वास्तविकता यह है कि साख का आधार मनुष्य के चरित्र और उसकी आर्थिक स्थिति दोनों ही हैं। व्यावहारिक जीवन में साख के निम्न चार आधार है :—

(१) चरित्र (Character)।

(२) व्यक्ति के भुगतान करने की योग्यता (Capacity to pay)।

(३) व्यक्ति की सम्पत्ति (Property)।

(४) व्यक्ति की तरल सम्पत्ति (Liquid assets of the individual)।

(१) **चरित्र**—किसी भी व्यक्ति की साख उसके चरित्र पर निर्भर होती है। यहाँ पर हमारा अभिप्राय यह है कि भूतकाल में ऋण के भुगतान के सम्बन्ध मे उसका चरित्र कैसा रहा है। यदि किसी व्यक्ति ने भूतकाल मे लिये हुए ऋणो का भुगतान ठीक समय पर अथवा ठीक प्रकार से नही किया है तो उसका चरित्र विश्वासनीय नही है। लोग उसे सन्देह की दृष्टि से देखेंगे और उसे ऋण प्राप्त करने में काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़ेंगी। इसके विपरीत यदि किसी व्यक्ति ने अपने ऋणो का भुगतान भूतकाल में ठीक प्रकार से किया है तो बाजार में वह व्यक्ति चरित्रवान् कहलाएगा—उसकी प्रतिष्ठा और मान बाजार में बहुत ऊँचा होगा—लोग उसका विश्वास करेंगे उसकी साख अधिक होगी और उसे आसानी से ऋण प्राप्त हो जाएगा।

(२) **व्यक्ति के भुगतान करने की योग्यता**—चरित्र के अतिरिक्त व्यक्तिओं मे साख प्राप्त करने की शक्ति उनके भुगतान करने की योग्यता पर भी निर्भर रहती है। योग्यता से हमारा अभिप्राय उन साधनो से है जिनके द्वारा व्यक्तिविशेष भुगतान कर सके। यदि किसी व्यक्ति के पास साधन पर्याप्त मात्रा मे मौजूद है तो उसकी साख बाजार मे अधिक होगी और यदि साधनो का अभाव है तो कोई व्यक्ति भी ऋण देने को तैयार न होगा। इस दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति की बाजार में अलग-अलग साख होती है। धनी व्यापारी को अधिक मात्रा मे ऋण प्राप्त हो सकता है, जबकि थोड़ी आय वाले व्यक्ति को थोडा ऋण मिलना भी कठिन हो जाता है। किसी व्यक्ति के पास यदि पर्याप्त साधन नही है और उसमें अनेको व्यक्तिगत गुण है, जैसे कि इमानदारी, सच्चाई, वह शिक्षित है और बाजार मे उसका सम्मान है, तो ये सब इस बात के सूचक है कि उस व्यक्ति मे भुगतान के समय पर पर्याप्त मात्रा में साधन प्राप्त करने की शक्ति मौजूद है। इस प्रकार यदि देखा जाए तो एक दूसरे रूप मे चरित्र ही व्यक्ति-विशेष में भुगतान करने की योग्यता उत्पन्न कर देता है।

(३) **व्यक्ति की सम्पत्ति**—व्यक्ति विशेष का चरित्र और ऋण का भुगतान करने की योग्यता केवल छोटे ऋण प्राप्त करने मे ही सहायता दे सकते हैं। परन्तु बड़े ऋणों के लिए व्यक्तिगत पूंजी और सम्पत्ति ही आधार का कार्य करते हैं। बड़े ऋण अधिकतर बैंको द्वारा प्राप्त होते हैं। व्यक्ति विशेष की पूँजी ही उसके ऋण लेने की शक्ति को निर्धारित करते हैं, क्योंकि बैंक ऋण देने से पहले ऋण लेने वाले की पूंजी का पूर्ण रूप से निरीक्षण कर लेती है। इस प्रकार अधिक सम्पत्ति अधिक साख का सूचक है।

(४) **व्यक्ति की तरल सम्पत्ति**—तरल सम्पत्ति भी साख का एक महत्वपूर्ण आधार है। तरल सम्पत्ति के अन्तर्गत सम्मिलित पूँजी के हिस्से सरकारी बॉंड (Bonds) अथवा प्रतिभूतियां (Securities) सम्मिलित होती है। वास्तविकता यह है कि हर प्रकार की सम्पत्ति बाजार में नही बेंची जा सकती। तरल सम्पत्ति से हमारा अभिप्राय उस सम्पत्ति से है जिसका बाजार में सरलतापूर्वक क्रय-विक्रय हो सकता है।

साख के अंग

साख के आधारों का अध्ययन करने के पश्चात् साख के कई अंग दिखलाई पडते हैं। सबसे मुख्य अंग 'विश्वास' हैं। ऋणदाता को ऋणी की इमानदारी व उसके ऋण वापिस करने की शक्ति पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। विश्वास के अतिरिक्त साख का दूसरा अंग समय है। ऋणदाता ऋण देते समय वस्तु, मुद्रा और सेवा का हस्तांतरण वर्तमान में करके उसका भुगतान भविष्य में करता है और यह भुगतान इसका अर्थ यह हुआ कि कुछ समय बाद किया जाता है। इस प्रकार साख में भविष्यता का अंश पाया जाता है। साख का तीसरा अंग उसकी राशि है अर्थात् ऋण की मात्रा का भी निश्चय होना आवश्यक है। अंत में साख में कुछ जोखिम का भी अंश मिलता है। यदि व्यापार या व्यवसाय में घाटा होने से या अन्य असाधारण परिस्थितियों के उत्पन्न हो जाने से ऋणी भुगतान न करे या ऋणी बेइमान हो जाए तो ऋणदाता को हानि उठानी पडती है और इसीलिए साख में ऋणदाता को काफी जोखिम उठाना पड़ता है।

साख का वर्गीकरण

साख का वर्गीकरण अनेकों प्रकार से किया गया है। कुछ लेखकों ने साख का वर्गीकरण समय, अवधि के अनुसार किया है। अन्य दूसरे लेखकों ने साख का वर्गीकरण करने के लिए ऋणी तथा ऋणदाता की स्थिति को आधार बनाया है। अधिकतर साख का वर्गीकरण उसके उपयोगों पर आधारित किया गया है। इस दृष्टिकोण से साख के दो भाग हो जाते हैं।

(१) सार्वजनिक साख (Public credit)।
(२) व्यक्तिगत साख (Private credit)।

सार्वजनिक साख

सार्वजनिक साख को लोक-साख तथा सरकारी साख भी कहते हैं। इसमे हमारा अभिप्राय उस ऋण से है जो कि विभिन्न सरकारें भविष्य में भुगतान करने के वायदे पर प्राप्त करती है। प्राचीन समय में ऐसे ऋण बहुत कम हुआ करते थे परन्तु आजकल यह एक साधारण-सी बात हो गई है। प्राय हर सरकार को ऐसे ऋण की आवश्यकता पडती हैं।

व्यक्तिगत साख

व्यक्तिगत साख उस साख को कहते है जब कि ऋणी व्यक्ति भविष्य

मे भुगतान करने की प्रतिज्ञा पर ऋण प्राप्त करते है । यह स्मरण रहे कि व्यक्तिगत साख मे व्यापारिक एव व्यावसायिक सस्थाओ की साख भी सम्मिलित होती है अर्थात् व्यक्ति और सस्थाओ की साख व्यक्तिगत साख कहलाती है। जब कभी अर्थशास्त्र मे साख शब्द का प्रयोग किया जाता है तो उसका अभिप्राय व्यक्तिगत साख से ही होता है। व्यक्तिगत साख का भी वर्गीकरण किया गया है जो निम्न प्रकार है —

(क) बैंक साख (Bank credit) ।

(ख) व्यावसायिक साख (Industrial credit) ।

(ग) उपभोग एव उत्पादन साख (Consumption and production credit) ।

(क) **बैंक साख**—बैंक साख उस साख को कहते है जो कि किसी भी बैंक को अपनी व्यक्तिगत पूजी व प्रतिभूतियो द्वारा प्राप्त होती है । इसके प्राय दो अर्थ होते हैं। प्रथम सकुचित, द्वितीय व्यापक। प्रथम अर्थ मे बैंक-साख का अभिप्राय केवल माँग निक्षेपो (Demand deposits) से लिया जाता है। द्वितीय अर्थ मे इस शब्द के अन्तर्गत बैंको की सभी प्रकार की भविष्य मे होने वाले भुगतान सम्बन्धी प्रतिज्ञाएँ सम्मिलित रहती है। अर्थात् बैंक साख के अन्तर्गत बैंको के माँग-निक्षेप, समय-निक्षेप, नगद-साख-पत्र (Cash letter of credit), बॉड (Bonds), ऋण-पत्र (Debentures) आदि सम्मिलित होते हैं । आधुनिक समय मे देश की मुद्रा-प्रणाली के अन्तर्गत केन्द्रीय बैंको का महत्व बढ जाने के कारण केन्द्रीय बैंक की साख ने भी एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है, जिसमे केन्द्रीय बैंक द्वारा प्रकाशित नोट व अन्य माँग-दायित्व (Demand liabilities) सम्मिलित होते हैं।

(ख) **व्यावसायिक साख**—जब ऋण की आवश्यकता किसी व्यवसाय विशेष के लिए होती है तब उसे व्यावसायिक साख कहते है । उद्योगपति अपनी व्यवसाय-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करने के हेतु भविष्य मे भुगतान करने के वायदे पर ऐसे ऋण प्राप्त करता है। यह ऋण बहुधा बडी सख्या मे होते है। ऐसे ऋण दो प्रकार के होते है—दीर्घकालीन एव अल्पकालीन। दीर्घकालीन ऋणो को स्थाई सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए प्राप्त किया जाता है । इनको विनियोग साख (Investment credit) भी कहते हैं । अल्पकालीन ऋण केवल अल्पकालीन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए लिये जाते हैं। इन अल्पकालीन ऋणो को व्यापारिक-साख (Commercial credit) कहते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है कि विनियोग-साख को केवल स्थाई सम्पत्ति उपलब्ध करने के लिए प्राप्त किया जाता है। अधिकतर उद्योगपतियो के पास मकान तथा मशीन आदि के खरीदने के लिए पर्याप्त मात्रा मे पूँजी नही होती, जिनको प्राप्त करने के लिए वे दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करते है और इन ऋणो का भुगतान उनके विनियोग द्वारा प्राप्त आय में से किया जाता है। अर्थात् उत्पादन कर्ता अपनी उत्पादित वस्तुओ को बेचकर नगदी प्राप्त करता जाता है और कुछ ही वर्षों मे अपने ऋणो का भुगतान कर देता है। परन्तु यह केवल उत्पादन के सफलतापूर्वक सचालन के समय मे ही सम्भव होता है और ऐसे ऋण के भुगतानो मे समय भी अधिक लगता

है। इसीलिए अधिकतर यह ऋण आधि-बंध (Mortgage) के आधार पर लिये जाते है। आधि-बंध ऐसे साख-पत्र होते हैं जिनमें ऋणी निश्चित शर्तों पर ली हुई रकम को चुकाने की प्रतिज्ञा करता है और आड के रूप मे अपनी सम्पत्ति का कुछ भाग गिरवी रख देता है। गिरवी रक्खी हुई सम्पत्ति पर ऋणदाता का अधिकार केवल विशेष परिस्थितियो मे ही होता है। जब तक ऋणी निर्देशित शर्तो को पूर्ण रूप से पूरा करता रहता है, तब तक उसकी गिरवी रक्खी हुई वस्तु पर उसका स्वतन्त्र अधिकार रहता है अन्यथा ऋणदाता उस पर अधिकार प्राप्त कर लेता है।

व्यापारिक साख अल्पकालीन ऋणो को कहते हैं। ऐसे ऋणो की आवश्यकता समय-समय पर पडती है। उद्योगपति ऐसे ऋणो को अपने व्यवसाय एव बिक्री सम्बन्धी अल्पकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए लेता है। कच्ची सामग्री के उपलब्ध करने, मज़दूरियो को चुकाने, ब्याज का भुगतान करने, करो को चुकाने, विज्ञापन आदि के खर्चो को पूरा करने के लिए उत्पादक ऐसे ऋण प्राप्त करता है, क्योकि वस्तु के उत्पादन और बिक्री के बीच में काफी समय का अन्तर होता है और उपरोक्त खर्चों की आवश्यकता इसी समय के बीच मे अनुभव होती है। इन खर्चो को पूरा करने के लिए जो ऋण प्राप्त किये जाते हैं, वह अधिक-से-अधिक छ महीने या एक साल के लिए ही होते है, और इनका भुगतान भी व्यवसाय से प्राप्त आय मे से ही किया जाता है।

(ग) **उपभोग एवं उत्पादन साख**—साख उपभोग एव उत्पादन सम्बन्धी भी हो सकती है। उपभोग सम्बन्धी साख के अन्तर्गत वे ऋण आते है जो कि एक व्यक्ति अपनी उपभोग-सम्बन्धी आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने के लिए वस्तुओ, सेवाओ और क्रय-शक्ति के रूप मे प्राप्त करता है, और भविष्य मे उनके भुगतान करने का वायदा करता है। ऋणी को ऐसे ऋणो से कोई भी आमदनी नही होती। वे केवल अपनी आवश्यकताओं की ही सन्तुष्टि कर पाते हैं। इसलिए ऐसे ऋणो का भुगतान ऋणी की व्यक्तिगत आय में से होता है। ऐसे ऋण छोटे-छोटे दुकानदारो व साहूकारो से लिए जाते है, और उनका भुगतान किश्तो द्वारा किया जाता है। व्यक्तिगत साख ही ऐसे ऋणो का आधार होती है। उत्पादन सम्बन्धी साख के अन्तर्गत वह ऋण आते है जो उत्पादन कर्ताओं द्वारा उत्पादन के विभिन्न क्रियाओ को सम्पन्न करने के लिए लिये जाते हैं। यह ऋण कम्पनियो व अन्य संस्थाओ, व्यक्तियो तथा सरकारो द्वारा लिये जाते है। ऋणी को ऐसे ऋणो मे आय प्राप्त होती है और वह इस आय मे से सूद का भुगतान कर देता है। व्यावसायिक ऋण ऐसे ही ऋण होते हैं और इसलिए यह ऋण दीर्घकालीन, और अल्पकालीन दोनो ही प्रकार के हो सकते हैं।

साख के विस्तार सम्बन्धी मुख्य अवस्थाएं

किसी भी देश मे साख का विस्तार उस देश की व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त व्यापार की दशा का भी बहुत प्रभाव पडता है। जब देश का व्यापार उन्नत होता है और लोगों में व्यावसायिक स्फूर्ति का सचार होता है तब साख का विस्तार खूब होता है। इसके विपरीत मन्दीकाल मे वस्तुओ की माँग

गिरने के कारण उत्पादन कम हो जाता है। देश में बेरोजगारी बढ़ने लगती है और चारो ओर निराशा का वातावरण छा जाता है, जिसके कारण साख संकुचित होने लगती है। संक्षेप में सुख और शान्ति के समय में साख का विस्तार अधिक होता है और निराशा के वातावरण के कारण साख घटने लगता है साख का विस्तार वास्तव में ऋण लेने वालों और ऋण देने वालों की पारस्परिक शक्तियों द्वारा निर्धारित होता है जिस पर राष्ट्रीय आय, देश के जीवन-स्तर, राजनैतिक परिस्थितियों, मौद्रिक व्यवस्था, स्वर्ण के आयात-निर्यात आदि बातों का प्रभाव पड़ता है। प्रमुख बातें जिनका साख की मात्रा पर प्रभाव पड़ता है, निम्न प्रकार हैं —

(१) **व्यापार की दशाएं**—किसी देश का व्यापार जब उन्नत होता है तब व्यवसायों और उद्योगों को प्रोत्साहन मिलता है और विनियोग अधिक लाभदायक होते हैं। ऋणों की माँग बढ़ती है और ब्याज की दरें भी ऊपर चढ़ती हैं। ऋणों की बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिए बैंक अपने साख का विस्तार करते हैं। इस प्रकार अच्छे व्यापार अर्थात् समृद्धि काल में चारो ओर उत्साह ही उत्साह रहता है। मन्दी-काल में ठीक इसका उल्टा होता है। मन्दीकाल में व्यापार गिरने लगता है, उत्पादन कम होने से उद्योग कम होने लगते हैं और ऋणों की माग घटने लगती है, व्यवसायी वर्ग की जोखिम उठाने की शक्ति कम होने लगती है और साख का विस्तार भी कम होने लगता है।

(२) **लाभ की दर**—ऋणों की माँग अधिकतर व्यवसायी वर्ग द्वारा उत्पन्न होती है। वे यह ऋण विनियोगों के लिए प्राप्त करते हैं। यदि उद्योगों से प्राप्त लाभ की दर अधिक है, तो विनियोगों को प्रोत्साहन मिलेगा और ऋणों की मांग बढ़ेगी। ऋण-दाता भी ऋण देने के लिए जल्दी ही तैयार हो जायेंगे। इसके विपरीत लाभ की गिरती हुई दर के समय में व्यापार और उद्योगों में मन्दी आने के कारण विनियोग कम होने लगेंगे और ऋणों की माँग गिर जायगी—इस प्रकार लाभ की बढ़ती हुई दर के समय में साख का विस्तार होता है और गिरती हुई दर के समय में साख का सकुचन होता है।

(३) **सरकार की मौद्रिक नीति**—यदि देश में मुद्रा-संकुचन की स्थिति चल रही है तो केन्द्रीय बैंक सस्ती मुद्रा-नीति (Cheap Money Policy) को अपना कर देश के आर्थिक क्षेत्र में स्फूर्ति उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगी, और ब्याज की दर को गिरा कर अधिक ऋण देने की सुविधाएँ प्रदान करेगी, जिससे साख का विस्तार होगा। इसके विपरीत साख के विस्तार का क्षेत्र बहुत ही सकुचित हो जाएगा, जबकि केन्द्रीय बैंक बैंक-दर को ऊँचा कर देगी और लोगों के ऋण लेने की प्रवृत्ति को हतोत्साहित कर देगी।

(४) **देश की चलन-व्यवस्था**—यदि देश की चलन-नीति अनिश्चित रहती है तब लोगों के हृदयों में सदैव मुद्रा के मूल्य के अनिश्चित रहने का भय रहता है। वह ऋण लेने में डरते हैं और विनियोग करने से घबराते हैं, इसलिए साख का विस्तार नहीं हो पाता। एक निश्चित सुव्यवस्थित एवं सुसगठित प्रणाली के अन्तर्गत लोगों के दिलों से मुद्रा के मूल्यों में परिवर्तन होने का भय नहीं रहता और देश में विनियोगों की मात्रा

बढती जाती है जिससे साख का विस्तार अधिक हो जाता है। इस प्रकार साख की मात्रा पर देश की चलन व्यवस्था का विशेष प्रभाव पड़ता है।

(५) **देश की बैंकिंग व्यवस्था**—सभी इस बात को जानते हैं कि बैंक साख का महत्वपूर्ण स्रोत है और इसी संस्था द्वारा देश में साख का निर्माण होता है। इसलिए साख का विस्तार देश की बैंकिंग प्रणाली पर निर्भर रहता है। जितनी अधिक देश की बैंकिंग प्रणाली विकसित और सुसगठित होगी उतनी ही अधिक साख के विस्तार की सम्भावना रहेगी। इसके अतिरिक्त साख का विस्तार बैंकों की साख नीति तथा जनता में बैंकों को प्रयोग करने की आदत पर भी निर्भर रहता है।

(६) **सट्टेबाजी की अवस्था**—साख की मात्रा पर सट्टेबाजी का बहुत प्रभाव पडता है। जब भविष्य मे मूल्य-स्तर बढने की आशा की जाती है तब सट्टे की क्रियाओं को प्रोत्साहन मिलता है। नये-नये सौदे तय होते हैं। ऋणो की माँग दिन-प्रति-दिन बढती चली जाती है और देश मे साख का विस्तार भी होता जाता है। परन्तु जब भविष्य मे मूल्य-स्तर के गिरने की आशा की जाती है तब सट्टेबाज़ार की क्रियाएँ बन्द होने लगती हैं, देश मे मन्दी आ जाती है, ऋणो की माँग गिरने लगती है, और साख का विस्तार कम होने लगता है।

(७) **देश की राजनैतिक परिस्थितियां**—यदि देश के राजनैतिक क्षेत्र मे शान्ति और स्थिरता है तो देश के लोगो का आर्थिक जीवन भी स्थाई हो जाता है। देश के आर्थिक विकास के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ उत्पन्न हो जाती है। सरकार नई-नई विकास योजनाओ का निर्माण करती है और ऋणो की माँग दिन-प्रति-दिन बढती जाती है, जिससे साख का विस्तार होता है। परन्तु यदि देश मे अशान्ति है तो देश का आर्थिक जीवन बहुत ही अनिश्चित होगा। सरकार शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करेगी, समस्त विकास योजनाओं को स्थगित कर देगी, जिससे ऋणो की माँग गिरने लगेगी और साख का विस्तार कम हो जाएगा।

क्या साख पूंजी है ?

आर्थिक शब्दो मे पूंजी से हमारा अभिप्राय धन के उस भाग से है जो कि और अधिक उत्पादन करने के काम मे लाया जाता है। इस अर्थ में साख पूंजी है अथवा नहीं, इस प्रश्न पर लोगों की एक राय नही है। कुछ लोग इसे पूंजी मानते हैं जब कि दूसरे अर्थशास्त्रियो के विचार मे साख न तो पूंजी ही है और न ही यह किसी उपयोगिता का सृजन करती है। मेकलोयड (Macleod) जैसे अर्थशास्त्री का विचार है कि साख पूंजी है। वह कहते हैं कि—

"मुद्रा और साख दोनो ही पूंजी है, व्यापारिक साख व्यापारिक पूंजी है।"[१]

मेकलोयड का यह विचार ठीक प्रतीत नही होता, क्योंकि वास्तव मे साख उत्पत्ति का साधन नहीं है बल्कि केवल एक रीति है जिसके द्वारा वस्तुओं मे उपयोगिता का सृजन

१—"Money and credit are both capital, Mercantile credit is mercantile capital."

किया जा सकता है। इसी प्रकार की उत्पादन की अन्य रीतियाँ भी हैं, जैसे श्रम-विभाजन तथा विनिमय। इस प्रकार यह श्रम और भूमि की भाँति एक साधन नहीं है केवल उत्पादन की एक प्रणाली है जिसके द्वारा एक व्यक्ति की पूंजी दूसरे ऐसे व्यक्ति को हस्तान्तरित हो जाती है जो उसे उत्पादन सम्बन्धी क्रियाओं में उपयोग में लाते हैं, अर्थात् साख स्वयं पूंजी नहीं है बल्कि यह केवल पूंजी प्राप्त करने का एक साधन है। प्रो० मिल (Mill) तथा रिकार्डो का भी यही विचार है। रिकार्डो ने कहा है कि—

"साख पूंजी उत्पन्न नहीं करती है, वह तो केवल यह निर्धारित करती है कि पूंजी का प्रयोग किसके द्वारा होना चाहिए।"[१]

मिल ने भी अपना मत प्रगट करते हुए कहा है कि :—

"केवल उधार देने से ही नई पूंजी नहीं उत्पन्न हो जाती है। पहले वह पूंजी ऋणदाता के हाथ में थी, वह अब ऋणी के हाथ में चली जाती है। साख केवल किसी दूसरे व्यक्ति की पूंजी के प्रयोग की आज्ञा है, इसके द्वारा उत्पत्ति के साधनों की वृद्धि नहीं की जा सकती, बल्कि केवल उनका हस्तान्तरण ही किया जा सकता है।"[२]

साख का सृजन करते समय साख-पत्रों का प्रयोग किया जाता है और इस अर्थ में वह केवल पूंजी के प्रतिनिधि हैं। वह पूंजी को हस्तान्तरित करने में सुविधा प्रदान करते हैं। वह पूंजी प्राप्त करने का एक साधन मात्र हैं। स्वयं उनको पूंजी कहना एक बड़ी भूल होगी। यह अवश्य है कि वह उत्पादन की वृद्धि करने में सहायता प्रदान करते हैं, परन्तु उनको उत्पादन का साधन नहीं माना जा सकता। वे केवल एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की पूजी व अन्य साधनों पर अधिकार प्राप्त करने का एक यन्त्र है। उनकी तुलना श्रम और भूमि जैसे स्वतन्त्र साधनों से नहीं की जा सकती। वह केवल पूंजी में गतिशीलता उत्पन्न करते हैं, जिससे पूंजी की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो जाती है। परन्तु इनके प्रयोग से न तो उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है, और न ही पूंजी की मात्रा बढ़ती है। इसलिए साख को पूंजी कहना और उत्पत्ति का एक स्वतन्त्र साधन मानना एक बहुत बड़ी भूल होगी।

साख एवं मूल्य-स्तर (Credit and Price-Level)

साख और मूल्यों के सम्बन्ध में भी लेखकों का एक मत नहीं मिलता। मिल और उसके मत को मानने वाले अन्य अर्थशास्त्रियों का कहना था कि साख की मात्रा *का सामान्य मूल्य-स्तर पर काफी प्रभाव पड़ता है। जिस प्रकार देश के चलन में*

—"Credit does not create capital, it only determines by whom capital should be employed."—Ricardo

२—"New capital is not created by the mere fact of lending, only the capital that was in the hands of the lender is now transferred to the hands of the borrower. Credit being only the permission to use the capital of another person. The means of production cannot be increased by it but only be transferred."—Mill

परिवर्तनो के साथ-साथ देश के मूल्य-स्तर मे भी परिवर्तन होते है, उसी प्रकार साख की मात्रा के परिवर्तन भी मूल्य-स्तर को प्रभावित करते है। उनका विचार था कि जिस प्रकार देश के चलन में क्रय-शक्ति होती है और उनसे वस्तुएँ और सेवाएँ खरीदी जा सकती है, ठीक उसी प्रकार साख-मुद्रा मे भी क्रय-शक्ति होती है। देश मे मुद्रा का कुल परिमाण चलन और साख-मुद्रा के योग द्वारा सूचित होता है, और साख-मुद्रा के हर परिवर्तन का प्रभाव देश के मुद्रा-परिमाण पर पड़ता है। साख-मुद्रा पर नियन्त्रण करने के लिए सरकार तथा केन्द्रीय बैंक जो नीति अपनाती है वह देश की सामान्य मौद्रिक नीति होनी है, जो देश की वास्तविक मुद्रा पर भी उतना नियन्त्रण रखती है, जितना कि साख-मुद्रा पर और जिसका सामान्य रूप मे देश की मुद्रा पर प्रभाव पडता है।

वाकर व अन्य लोगो का मत बिल्कुल इसके विपरीत है। उनके अनुसार साख का मूल्यों पर कोई प्रभाव नही पडता, क्योंकि साख में केवल क्रय-शक्ति है, निस्तारण शक्ति (Liquidating power) नही होती। वास्तविक मुद्रा मे ही निस्तारण शक्ति होती है जो कि अन्तिम भुगतानो के काम मे आती है। यही नही, बल्कि साख मुद्रा द्वारा किये गए सौदो में एक सन्तुलन स्थापित हो जाता है, जिससे सामान्य मूल्य-स्तर पर उनका कुछ भी प्रभाव नही पडता।

उपरोक्त दोनो मत एक-दूसरे के विपक्ष मे है। परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। साख-पत्रो का प्रयोग केवल विश्वास पर निर्भर करता है। जिस समय साख-पत्र नगदी का प्रतिनिधित्व करते है, उस समय उनका प्रभाव देश के मूल्य-स्तर पर ठीक उसी प्रकार पडता है जिस प्रकार कि देश के वास्तविक चलन का। परन्तु साख-पत्रो का यह विश्वास स्थाई नही होता और इसलिए हर भुगतान अन्त मे नगद के रूप मे ही किया जाता है। यह भी निर्विवाद है कि साख का निर्माण कोई भी बैंक उस समय तक नही कर सकती जबतक कि उसके पास नगद कोष जमा न हो, और साख का विस्तार भी वह उसी समय कर सकती है जब वह नगद कोषो मे वृद्धि करें। साख के विस्तार के साथ-साथ उत्पादन मे वृद्धि होती है जिससे वस्तुओं की कुल मात्रा बढ जाती है और मूल्यों में नीचे गिरने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। इसलिए साख मुद्रा मे निस्तारण-शक्ति का अभाव होते हुए भी मूल्य स्तर पर प्रभाव डालने की शक्ति होती है, परन्तु उतनी नही जितनी कि चलन मुद्रा मे।

साख-पत्र (Credit Instruments)

साख-पत्रो मे वे सभी प्रतिज्ञा-पत्र सम्मिलित है जिनका उपयोग साख मुद्रा के रूप में किया जाता है। यद्यपि विस्तृत अर्थ मे उन्हें भी मुद्रा कहा जाता है, परन्तु सिक्को और नोटो की अपेक्षा साख-पत्र कम विश्वासनीय होते है और कानूनी ग्राह्य भी नही होते। इसी कारण उनका चलन सीमित होता है और उनका प्रयोग क्रय-शक्ति के सचय में भी नही किया जाता। यह साख-पत्र किसी व्यक्ति, सस्था या सरकार की ओर से लिखित प्रतिज्ञा होते है कि उसमे लिखित रकम अमुक समय पर अमुक व्यक्ति को दे दी जायेगी।

यह कई प्रकार के होते हैं —

(१) चैक (Cheque)।
(२) विनिमय बिल (Bill of Exchange)।
(३) बैंक ड्राफ्ट्स (Bank Drafts)।
(४) प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Notes)।
(५) हुंडी (Hundis)।
(६) साख-प्रमाण-पत्र (Letters of credit)।
(७) यात्री धनादेश (Travellers' cheques)।
(८) पुस्तकीय साख (Book-Credit)।
(९) कोषागार बिल्स (Treasury Bills)।
(१०) अनुग्रह बिल (Accomodation Bill)।

चैक

चैक सब से अधिक महत्वपूर्ण साखपत्र है, क्योंकि अन्य साख पत्रों की अपेक्षा इसका चलन सब से अधिक होता है।

चैक बैंक मे रुपया जमा कराने वाले का अपनी बैंक के नाम एक लिखित आदेश है, जिसके द्वारा उसके खाते मे से आदेश-प्राप्त व्यक्ति को अथवा अन्य व्यक्ति या सस्था को जिसका कि आदेश मे नाम लिखा है आदेशानुसार अंकित रुपया दिया जाता है। चैक सदैव ही बैंक के नाम लिखे जाते हैं जिनका भुगतान बैंक को तुरन्त ही करना पड़ता है।

चैक का नमूना

No. Bly. ______	No. Bly. ______ Bareilly __________ 19
Date __________	THE CENTRAL BANK OF INDIA LTD.
In favour of	Pay ____________________ or Bearer
__________	Rupees ____________________
__________	____________________
Rs. __________	Rs. ______
	(Signature of Depositor)

उपरोक्त नमूने से स्पष्ट है कि चैक मे तीन पक्ष होते हैं—(१) चैक लिखने वाला यानी बैंक में रुपया जमा करने वाला (Depositor) जिसे Drawer भी कहते हैं।

(२) जिस बैंक के नाम उसमें रुपए के भुगतान करने का आदेश होता है (Drawee), और (३) भुगतान पाने वाला जिसका नाम चैक में लिखा होता है या जिसके पास वह चैक होता है (Payee)।

चैक कई प्रकार के होते हैं, जैसे वाहक चैक (Bearer Cheque), आदेश चैक (Order Cheque), रेखांकित चैक (Crossed cheque), प्रमाणिक चैक (Marked cheque), खुला चैक (Open cheque) और उत्तर-तिथि चैक (Post-dated cheque)।

वाहक चैक ऐसा चैक होता है जिसका कि भुगतान उस चैक के वाहक को किया जाय। चाहे वह कोई निर्देशित व्यक्ति हो या कोई अन्य व्यक्ति हो। ऐसा चैक परिवर्तनशील (Transferable) होता है। बैंक ऐसे चैक को देख कर बिना किसी पूछ-ताछ के चैक प्रस्तुत करने वाले व्यक्ति को भुगतान कर देता है। यदि बेअरर (Bearer) शब्द काट कर आर्डर (Order) लिख दिया जाए, तो वह चैक आदेश-चैक हो जाता है। इस चैक का भुगतान हर व्यक्ति को नहीं मिल सकता, बल्कि वह व्यक्ति ही भुगतान प्राप्त कर सकता है जिसका नाम चैक में लिखा हुआ है। बैंक भुगतान करते समय काफी पूछ-ताछ करती है। ऐसे चैक परिवर्तनशील भी होते हैं। उनकी परिवर्तनशीलता उसी समय सम्भव होती है जब कि वह व्यक्ति जिसके नाम में चैक लिखा गया है चैक के पीछे किसी दूसरे व्यक्ति का नाम लिख कर भुगतान करने का आदेश देकर अपने हस्ताक्षर कर दे।

उपरोक्त दोनों प्रकार के चैकों के खो जाने पर उनका भुगतान किसी भी व्यक्ति को जिसे वह चैक प्राप्त हो जाएँ, मिल सकता है। इससे बचने के लिए चैक के ऊपर तिरछी समानान्तर रेखाएँ खींच दी जाती है जिससे चैक का भुगतान नगदी में नहीं होता, बल्कि उसमें लिखी हुई रकम चैक में लिखे व्यक्ति के खाते में जमा कर दी जाती है। ऐसे चैक को रेखांकित चैक कहते है। चैक कई प्रकार से रेखांकित किये जाते है। मुख्यत दो प्रकार से किये जाते है—साधारण और विशेष। साधारण रेखांकित-चैक का भुगतान किसी भी बैंक के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं कि जिस बैंक के नाम में वह चैक काटा गया है, उसी बैंक में भुगतान पाने वाले का हिसाब हो। परन्तु विशेष-रेखांकित-चैक जिस बैंक का नाम लाइनों के बीच में लिख दिया जाता है उसी बैंक में चालू खाता रखने वाले व्यक्ति के हिसाब में जमा किया जा सकता है अर्थात् इसका भुगतान किसी भी दूसरे बैंक द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके उदाहरण निम्न प्रकार हैं :—

साधारण रेखांकित चैक :- विशिष्ट रेखांकित चैक :-

प्रमाणिक चैक वह चैक होते है जिन पर बैंक द्वारा यह प्रमाणित कर दिया जाता है कि उसको प्रस्तुत करने पर उसका भुगतान कर दिया जायेगा। यह केवल भुगतान पाने वाले व्यक्ति के विश्वास के लिए किया जाता है। खुले-चैंको में इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है कि कोई भी व्यक्ति बैंक में उन्हें प्रस्तुत करके उनका भुगतान प्राप्त कर सकता है। उत्तर-तिथि-चैंको में चैंक काटने वाले तिथि से बाद की तिथि डाली जाती है जिसका अर्थ यह होता है कि उसमें लिखित तिथि मे पहले उस चैक का भुगतान प्राप्त नही किया जा सकता।

सामान्य रूप से चैक में निम्न विशेषताएँ मिलती है —

(१) यह सदैव किसी बैंक के नाम लिखा जाता है।

(२) एक लिखित आदेश के रूप मे होता है।

(३) इसमे भुगतान की रकम स्पष्ट कर दी जाती हैं।

(४) इसका भुगतान बैंक को तुरन्त ही करना पडता है।

(५) इसमे भुगतान पाने वाले व्यक्ति का या उसके आदेश-प्राप्त व्यक्ति का नाम स्पष्ट रूप मे लिखा जाता है और इसका भुगतान केवल उन्ही व्यक्तियो को मिलता है।

(६) इसके भुगतान पर कोई शर्त नही लगाई जा सकती।

(७) चैंक पर रुपया जमा करने वाले के हस्ताक्षर होते हैं।

विनिमय बिल (Bill of Exchange)

यह भी एक साख-पत्र है जिसमे लिखने वाला व्यक्ति एक बिना शर्त की आज्ञा अपने ऋणी को या उस व्यक्ति को जिसने कि वस्तुएँ उधार ली है, उसमें लिखित रकम को या तो स्वय अपने को या किसी अन्य व्यक्ति को या उससे आज्ञा-प्राप्त व्यक्ति को या उसके वाहक को माँगने पर उसमे लिखित अवधि के समाप्त होने पर भुगतान करने को देता है। जिस व्यक्ति के नाम में यह लिखा जाता है उसे इस आज्ञा का पूर्ण रूप

से पालन करना पड़ता है। इसकी परिभाषा इस प्रकार भी की जा सकती है कि :—

"विनिमय बिल एक ऐसा लिखित पत्र है जिसमें लिखने वाला किसी अन्य व्यक्ति को बिना शर्त लगाए ऐसा आदेश देता है कि वह किसी व्यक्ति को या उसके आदेश-प्राप्त व्यक्ति को या उसके वाहक को एक निश्चित रकम का भुगतान कर दे।"

अतएव विनिमय-पत्र एक प्रकार का आज्ञा-पत्र है, जिसमें पाँच बातों का होना आवश्यक है —

(१) लिखने वाला, (२) आदेश, (३) भुगतान पाने वाले, (४) भुगतान करने वाला, (५) भुगतान राशि।

विनिमय बिल का नमूना

Rs. 1,000/-

Bombay,
10th January, 1957

Stamp

Three months after sight pay to *Ram Narain or order the sum of* one thousand rupees only, for value received.

To
Shri Ram Prasad
Beharipur - Bareilly

Krishna Kumar

ACCEPTED
Ram Prasad

विनिमय बिल दो प्रकार के होते हैं —

(१) देशी बिल (Inland Bills of Exchange)।

(२) विदेशी बिल (Foreign Bills of Exchange)।

जिन बिलो का प्रचलन किसी एक देश की सीमा के भीतर होता है अर्थात् जिनके लिखने वाले, स्वीकार करने वाले तथा भुगतान पाने वाले व्यक्ति एक ही देश में रहते है, उन्हे देशी बिल कहते हैं। परन्तु जब उपरोक्त पक्षो में से कोई भी पक्ष विदेश में रहता है, तब ऐसे बिलो को विदेशी विनिमय-बिल कहते हैं। दोनो प्रकार के बिलो का नमना नीचे दिया जाता है :—

देशी बिल का नमूना

Rs. 1,500/-

258, Civil Lines
Bareilly
18th Feb 1952

Stamp

Three months after date pay to Shri Krishna Prasad or order the sum of one thousand five hundred rupees only, for value received.

To
Nanak Chand
Kanpur.

R. Prasad -

विदेशी बिल का नमूना

£ 500

London
15th March, 1949

Stamp

Sixty days after date of this first of Exchange (Second and third of the same tenor and date unpaid) pay to the order of the Lloyd's Bank Ltd, the sum of five hundred pounds only, for value received.

To M/s Kuldip Stores Ltd,
15, Subhash Market
Lucknow

FOR COLGATE PALMOLIVE LTD.
John Martin
Manager.

यह एक प्रथा-सी चली आ रही है कि विनिमय बिल तीन महीने के समय के लिए लिखा जाता है अर्थात् लिखने की तिथि से ९० दिन के बाद उसका भुगतान करना अनिवार्य होता है। ऐसे विनिमय बिलो को मुद्दती बिल (Time Bills) कहते हैं। कभी-कभी ऐसे बिल भी लिखे जाते हैं जिनका भुगतान देखते ही करना पडता है। ऐसे बिलो को दर्शनी-बिल (Demand or Sight Bills) कहते हैं। ऐसे बिलो पर टिकट नही लगाना पडता। विनिमय-बिल उसी समय कानूनी होता है जब कि भुगतान करने वाला उसे स्वीकार करके अपने हस्ताक्षर कर देता है, जैसा कि विनिमय-बिल के पहले नमूने में दिखाया गया है।

बैंक ड्राफ्टस (Bank Drafts)

बैंक ड्राफ्ट्स उन लिखित पत्रों को कहते हैं, जिनमे एक बैंक दूसरी बैंक या अपनी ही शाखा के नाम भुगतान करने का आदेश देती है। ड्राफ्ट मे चैक और विनिमय-बिल दोनों ही के गुणो का समावेश होता है। जो व्यक्ति एक स्थान से दूसरे स्थान को रुपया भेजना चाहते हैं, वह ड्राफ्ट का प्रयोग करते हैं। रुपया भेजने वाला व्यक्ति भेजने वाली राशि को बैंक मे जाकर जमा कर देता है और बैंक अपना कमीशन लेने के बाद जमा की रकम के बदले में एक बैंक ड्राफ्ट दे देता है। रुपया भेजने वाला व्यक्ति इस ड्राफ्ट को डाक द्वारा उस जगह भेज देता है जहाँ पर वह रुपया भेजना चाहता है, जिसको पाकर भुगतान पाने वाला व्यक्ति लिखित बैंक मे ड्राफ्ट ले जाकर रुपया प्राप्त कर लेता है। बैंक ड्राफ्ट भी दो प्रकार के होते हैं—देशी और विदेशी। देशी ड्राफ्ट का चलन केवल देश के अन्दर ही होता है, जबकि विदेशी ड्राफ्ट की सहायता से एक देश मे रहने वाला व्यक्ति दूसरे देश में रहने वाले व्यक्ति को भुगतान कर सकता है।

बैंक ड्राफ्ट का नमूना

CENTRAL BANK OF INDIA LTD.

No. Bareilly__________19

Rs.____________

On demand pay to____________________

or order, Rupees ____________________for value received.

To for Central Bank of India Ltd.

Allahabad Bank Ltd., Kanpur. (Agent)

प्रोमिसरी नोट

यह एक ऐसा लिखित पत्र है जिसमें लिखने वाला उसमें लिखे हुए किसी पक्ष अथवा उसकी आज्ञा-प्राप्त व्यक्ति या उसके वाहक को बिना शर्त के उसमें लिखित रकम का भुगतान करने का वायदा करता है। इसमें दो ही पक्ष होते हैं। (१) लिखने वाला, और (२) पाने वाला। वैसे तो यह बिल्कुल विनिमय-बिल की तरह होता है, पर एक अन्तर यह है कि इसमें भुगतान करने वाला और लिखने वाला दोनों एक ही व्यक्ति हो जाता है। यह पत्र सदैव ही मुद्दती होते हैं। यह प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Note) तीन प्रकार के होते है.

(१) व्यापारिक प्रतिज्ञा-पत्र—यह पत्र एक व्यक्ति लिख कर अपने लेनदार को दे देता है अर्थात् ऋणी अपने हस्ताक्षर करके ऋण दाता को यह पत्र दे देता है, जिसमे भुगतान करने वाला और लिखने वाला एक ही व्यक्ति होते हैं। ऐसे बिलो का प्रयोग केवल व्यापारिक क्षेत्र में ही होता है।

(२) बैंक प्रतिज्ञा-पत्र—ऐसे प्रतिज्ञा-पत्र केवल केन्द्रीय बैंक द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते है, जिनका भुगतान तुरन्त ही मांग करने पर कर दिया जाता है।

(३) चलन प्रतिज्ञा-पत्र (Currency Promissory Note)—यह पत्र देश के मुद्रा-सचालक द्वारा चालू किये जाते हैं, और प्रकृति और रूप दोनो मे ही बैंक प्रतिज्ञा-पत्र के समान होते हैं।

हुंडी (Hundi)

इसका प्रचलन केवल भारतवर्ष में ही होता है। यह एक प्रकार का भारतीय साख-पत्र है, जिसका प्रयोग बहुत प्राचीनकाल से भारत में होता आया है। साधारणत प्रतिज्ञा-पत्र, चैक, विनिमय-बिल का प्रयोग कानूनी होता है, परन्तु हुण्डियों की स्वीकृति केवल रीति-रिवाज पर निर्भर करती है। यह स्थानीय भाषा मे लिखी जाती है और देशी बैंको और व्यापारियो द्वारा इनका प्रयोग किया जाता है। इन पर भी टिकट लगाया

जाता है। हुण्डियाँ भी अधिकतर दो प्रकार की होती हैं, दर्शनी और मुद्दती। दर्शनी हुण्डी का भुगतान तुरन्त ही प्रस्तुत करने पर कर दिया जाता है और मुद्दति हुण्डी का भुगतान उसमें लिखित अवधि के बाद किया जाता है। इसके अतिरिक्त धनी लोग हुण्डी उसे कहते है, जिसमे पाने वाले का नाम निश्चित रूप मे दे दिया जाता है और भुगतान केवल उसी व्यक्ति को किया जाता है। नामजोग हुण्डी म भुगतान पाने वाले के आदेशानुसार किया जाता है। इसके अतिरिक्त देखनहार और शाहजोर हुण्डी भी होती है।

साख प्रमाण-पत्र (Letters of Credit)

यह एक ऐसी प्रकार का प्रार्थना पत्र होता है जिसमें एक सस्था, बैंक, फर्म या एक व्यक्ति किसी दूसरी सस्था, बैंक, फर्म या किसी दूसरे व्यक्ति को इस प्रार्थना के साथ लिखता है कि वह उसमे लिखित व्यक्ति को निश्चित रकम के अन्दर ही किसी सीमा तक साख प्रदान कर दिया जाए। इसके अतिरिक्त इसमें यह भी प्रार्थना की जाती है कि साख केवल उसमें लिखित तिथि तक ही प्रदान की जाए। अधिकतर यह प्रमाण-पत्र बैंको द्वारा चलाए जाते हैं। प्रमाण-पत्रों के भी दो रूप मिलते हैं—साधारण (Ordinary) तथा चलायमान प्रमाण-पत्र (Circular letter of credit)। प्रथम पत्र एक बैंक या फर्म विशेष का नाम लिखा होता है। परन्तु चलायमान-पत्र एक बैंक अपनी सारी शाखाओ तथा अन्य सम्बन्धित बैंको को एक साथ ही जारी करती है।

यात्री धनादेश (Traveller's cheques)

इन चैंको का प्रयोग अधिकतर यात्रियो द्वारा किया जाता है। यात्री इन चैंको को प्रस्तुत करके इनको निकालने वाली बैंक की शाखाओं अथवा अन्य सस्था से रुपया ले सकता है। प्रत्येक चैंक के बदले मे उस पर लिखी रकम मिल जाती है, और यात्री को उस पत्र पर भुगतान लेते समय हस्ताक्षर करने होते है। यद्यपि पहले ही उनको चालू करने वाली बैंक उन पर यात्री से हस्ताक्षर प्राप्त कर लेती है, जिसमे खो जाने के कारण हानि होने की सम्भावना नही होती। जितनी अधिक भुगतान करने वाली बैंक अथवा सस्थाएँ होती है उतनी अधिक यात्रियो को यात्रा करने में सुविधा रहती है।

पुस्तकीय साख (Book Credit)

पुस्तकीय साख से अभिप्राय यह है कि ऋण की राशि बहीखाता मे लिख दी जाती है। जब कभी कोई दुकानदार किसी को उधार सौदा बेचता है उस समय वह उधार की रकम को अपने बहीखाते में उधार लेने वाले व्यक्ति के नाम मे डाल देता है। इसी प्रकार बैंक भी अपने ऋण देते समय ऋण की राशि को ऋणी के नाम में अपनी किताबो मे लिख देती है। इस प्रकार के खातो व किताबो के हिसाब को कानूनी समझा जाता है। इस प्रकार का साख बहुत ही प्रचलित है।

कोषागार-विपत्र (Treasury Bills)

जब सरकार को अल्पकालीन ऋणो की आवश्यकता होती है, वह इन विपत्रो

को जारी करती हैं। अधिकतर इन विपत्रों की निकासी एक साल तक की अवधि के लिए की जाती है। सरकार इन ऋणों को इस आशा से प्राप्त करती है कि वह उनका भुगतान आय प्राप्त होने के बाद कर देगी। सरकार इन विपत्रों को चालू करने के लिए जनता से टैण्डर (Tender) मँगाती है, जिसमें टेण्डर देने वालों से ऋण पर दी गई रकम के ब्याज का ब्योरा होता है। सबसे कम ब्याज वाले रकम को स्वीकार कर लिया जाता है। ऋण देते समय ऋणदाता ब्याज की रकम काट लेते है, और भुगतान लेते समय पूरी रकम ले लेते है।

अनुग्रह-बिल (Accomodation Bill)

इन बिलो का मुख्य उद्देश्य दो पक्षों में पारस्परिक साख का सृजन करना होता है। यह बिल प्रकृति और रूप में विनिमय बिल की ही तरह होते है, परन्तु जब कि विनिमय बिल प्राप्त मूल्य के अनुसार लिखे जाते हैं, अनुग्रह-बिल बिना किसी मुआवजे के लिखे जाते हैं। ऐसे बिलो को बैंक से भुना कर दोनो ही पक्ष साख प्राप्त कर लेते है।

उपरोक्त साख-पत्रो के अतिरिक्त कई और प्रकार के साख-पत्र जैसे बॉड (Bond), ऋण-पत्र (Debenture) आदि भी निकाले जाते हैं।

साख के कार्य तथा लाभ (Functions and advantages of credit)

आधुनिक अर्थ-व्यवस्था मे साख का एक विशेष महत्व है। बडे पैमाने की उत्पत्ति और आधुनिक विनिमय कार्य केवल साख द्वारा ही सम्भव हो सके हैं। साख पूंजी मे गतिशीलता प्रदान करके व्यापार और उद्योगों को प्रोत्साहन देती है। साख के क्षेत्र के व्यापक होने के साथ-साथ व्यापार का क्षेत्र भी व्यापक होता जाता है। सरकार भी इससे लाभ उठाती है और अपनी विकास-योजनाओ तथा अन्य नीतियो के सचालन के लिए कागजी नोट छापती है और ऋण-पत्रो द्वारा ऋण प्राप्त करती है। वास्तविकता तो यह है कि आधुनिक काल मे हर देश की उन्नति साख पर ही निर्भर रहती है। इसके मुख्य लाभ निम्नलिखित है :—

(१) यह पूंजी की उत्पादन-शक्ति बढाती है। साख पूंजी को एक स्थान से दूसरे स्थान को हस्तान्तरित करके उसकी उत्पादन-शक्ति बढा देती है। पूंजी के इस हस्तान्तरण से जो केवल साख के द्वारा सम्भव होता है, पूंजी ऐसे व्यक्तियों से जिनको कि उसकी आवश्यकता नही है, ऐसे व्यक्तियो के पास पहुच जाती है जिनको उसकी आवश्यकता है, और जो कि उसे लाभदायक उपयोग मे ला सकते हैं, और अपना ही नही बल्कि समाज और सारे राष्ट्र को लाभ पहुँचाते है।

(२) यह व्यापार को उन्नति प्रदान करती है। साख देश के आन्तरिक एवं बाह्य व्यापार की उन्नति में एक विशेष सहायता प्रदान करती है। बैंकों के माध्यम द्वारा एक देश के व्यापारी दूसरे देश के व्यापारियों से भली-भाँति परिचित हो जाते हैं। आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल साख-पत्रों पर ही आश्रित है।

(३) साख भविष्य में होने वाले भुगतानों का प्राण है और साधारणतया यह देश के आर्थिक, व्यापारिक और औद्योगिक उन्नति का सूचक है, क्योंकि देश की आर्थिक

उन्नति और साख का विस्तार एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

(४) यह साख का ही चमत्कार है कि साख-पत्रों का प्रयोग मुद्रा के रूप में हो रहा है। साख-पत्रों का प्रयोग केवल विनिमय-माध्यम की संख्या को नहीं बढ़ाता बल्कि देश के व्यापार और उद्योगों की सहायता करता है। इसके अतिरिक्त साख-पत्रों के प्रयोग से बहुमूल्य धातुओं की बहुत बचत हो जाती है।

(५) साख की सहायता से सामान्य मूल्य-स्तर और व्यापार स्थाई हो जाता है। क्योंकि व्यापार के बढ़ने पर मुद्रा की माँग को पूरा करने के लिए साख का विस्तार किया जा सकता है और मन्दी काल में साख का विस्तार कम किया जा सकता है जिससे देश का मूल्य-स्तर और व्यापार दोनों ही सतुलित रह सकते हैं।

(६) सिक्कों व धात्विक द्रव्य को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने में केवल असुविधा ही नहीं होती बल्कि उनको सुरक्षा के साथ पहुँचाने की जिम्मेदारी भी बढ़ जाती है। परन्तु यह कठिनाईयाँ साख-पत्रों के उपयोग से दूर हो जाती हैं। बड़ी से बड़ी रकमों का भुगतान साख-पत्रों द्वारा किया जा सकता है।

(७) साख का निर्माण क्योंकि अधिकतर बैंकों द्वारा होता है, इसलिए बैंक आवश्यकतानुसार साख का विस्तार अथवा सकुचन करती रहती है जिससे मुद्रा-प्रणाली लोचपूर्ण हो जाती है।

(८) साख लोगों में बचत करने की आदत का सचार करती है, जिससे देश में पूँजी के जमा होने में काफी सहायता मिलती है। छोटी-छोटी बैंक भी लोगों की छोटी-छोटी बचत को जमा करती हैं और इस प्रकार देश में पूँजी का सचय दिन प्रति दिन बढ़ता ही जाता है। लोग ब्याज के लालच से भी बचाना आरम्भ कर देते हैं।

(९) साख एक ऐसा साधन है जिससे व्यक्तिगत एव सरकारी आर्थिक सकटों का सामना किया जा सकता है, क्योंकि व्यक्ति और सरकार दोनों ही साख के आधार पर धन प्राप्त करके अपनी आर्थिक कठिनाइयों को दूर कर सकते हैं। किसी ने सच ही कहा है कि 'यदि साख न होती तो औद्योगिक सगठन का एक बहुत बड़ा भाग समाप्त हो जाता। उत्पादकों, कृषकों, और उपभोक्ताओं को बहुत-से समयों पर क्रय-शक्ति की आवश्यकता होती है, (सकट के समय को दूर करने के लिये या अपने व्यवसाय को बढ़ाने के लिए)। सम्भव है कि मुद्रा की कमी हो या वह उपलब्ध ही न हो। साख मुद्रा के स्थान पर उपयोग की जा सकती है और वह मुद्रा का कार्य करेगी।"[१]

(१०) साख सरकार को आय के बचे स्रोत प्रदान करती है, जिससे सरकार देश की श्रम-शक्ति और देश के साधनों का सदुपयोग कर सकती है।

१—The greater part of industrial organisation to-day would come to an end, if there were no credit Manufacturers, agriculturists and consumers do on many occasions require purchasing power to tide over periods of difficulty or to expand their business. Money may not be available or it may be scarce Credit would be a substitute and do the work of money.

साख की हानियाँ (Dangers of credit)

इतने लाभों के होते हुए, साख की कुछ हानियाँ भी है। यद्यपि एक सेवक के रूप में इसके कार्य प्रशंसनीय हैं परन्तु इसका स्वतन्त्र रूप बहुत ही भयंकर होता है। इसकी मुख्य हानियाँ निम्न प्रकार है —

(१) लोगों को ऋण सरलतापूर्वक मिल जाने के कारण उनमें अपव्यय की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे समाज का नैतिक पतन होने लगता है, क्योंकि ऋणी बजाय उत्पादन कार्यों के खर्च करने के अपनी उपभोग सम्बन्धी आवश्यकताओं की संतुष्टि करने लगते हैं। भारतवर्ष में इतना अधिक ग्रामीण ऋण होने का प्रमुख कारण यही है कि किसान जानता है कि उसको महाजन से ऋण किसी भी समय प्राप्त हो सकता है। ऋण लेने की सुविधा इतनी अधिक है, कि वह ऋण लेता जाता है परन्तु भुगतान नहीं कर पाता क्योंकि वह लिये हुए ऋण को उत्पादक कार्यों में नहीं लगाता। इस प्रकार साख मनुष्य में मितव्ययिता की प्रवृत्ति नष्ट कर देती हैं और उसका स्थान फजूलखर्ची ग्रहण कर लेती है।

(२) केवल मनुष्यों में फजूलखर्ची की प्रवृत्ति ही उत्पन्न नहीं होती, बल्कि इससे देश में स्थायी औद्योगीकरण भी नहीं हो पाता है। हर रोज़ नये-नये व्यवसाय और उद्योग मेढक के बच्चों की तरह जन्म लेते रहते हैं और एक दिन ऐसा आता है जब कि वह ताश के पत्तों के घर के समान नीचे गिर पड़ते हैं और राष्ट्र की पूंजी, श्रमशक्ति और प्राकृतिक साधनों की इस प्रकार बरबादी होती है।

(३) साख देश में धन के वितरण को असमान कर देती हैं। क्योंकि साख पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन देती है और देश का सारा धन और आर्थिक शक्ति कुछ ही हाथों में एकत्रित हो जाती हैं। देश मे अशान्ति की एक लहर दौड़ जाती है और प्रगति रुक जाती है।

(४) कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि साख के विस्तार से एकाधिकार संस्थाओं (Monopolistic Organisations) की स्थापना में काफी प्रोत्साहन मिला है। साख की कमी के कारण छोटे-छोटे पूंजीपतियों का अन्त होने लगता है क्योंकि वह बड़े-बड़े पूंजीपतियों से प्रतियोगिता नहीं कर पाते। ऐसी संस्थाओं की स्थापना द्वारा न केवल देश में श्रमिकों, कच्ची सामग्री के उत्पादकों और छोटे-छोटे उद्योगपतियों को शोषण होता है, बल्कि उपभोक्ताओं को बढ़े हुए मूल्य पर वस्तुएँ प्राप्त होने से बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(५) साख सट्टेबाजी को प्रोत्साहन देती है जिससे देश के मूल्य-स्तर में बहुत अधिक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं।

(६) साख की एक बड़ी हानि यह भी है कि समृद्धि काल में इसका विस्तार खूब होता है। कभी-कभी तो यह आवश्यकता से अधिक हो जाती है। वस्तुओं के मूल्य बढ़ते जाते हैं और उत्पादक वर्ग अधिक-से-अधिक लाभ कमाने का प्रयत्न करता है। साख संस्थाएँ भी अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए ऋण अधिक-से-अधिक मात्रा में

उधार देती हैं। ठीक इसी प्रकार दुकानदार भी ऊँचे दामों से लाभ प्राप्त करने के लिए उपभोक्ताओं को वस्तुएँ खूब उधार देते हैं। देश में सट्टेबाजी बढ़ जाती है और अन्त में बाजार में मन्दीकाल आ जाता है और व्यापार तथा उद्योगों को भारी धक्का पहुँचता है। इसीलिए देश में साख के नियन्त्रण करने के हेतु केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता अनुभव की गई थी। सच भी यही है कि क्योंकि साख मुद्रा-प्रसार और मुद्रा-संकुचन की प्रवृत्तियों को शक्ति प्रदान करती है, इसलिए इसका उचित नियन्त्रण होना चाहिए ताकि इसका सदुपयोग हो सके और देश की आर्थिक प्रणाली को संकटकालीन परिस्थितियों का सामना न करना पड़े।

अठारहवां अध्याय

बैंक की परिभाषा एवं कार्य

पिछले अध्याय मे हम साख के महत्व का भली प्रकार वर्णन कर चुके हैं। साख का सृजन साख संस्थाओ द्वारा होता है जो विभिन्न व्यक्तियो की पूजी को एकत्रित करके विभिन्न व्यक्तियों, सस्थाओं तथा राज्यो को बाँट देती हैं। यदि यह साख सस्थाएँ अपना कार्य करना बन्द कर दे, तो राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा नाना प्रकार के उद्योग-धन्धे बन्द हो जावेगे और आज का मानव फिर से प्राचीन मानव हो जावेगा। आर्थिक जगत् मे नाना प्रकार की साख सस्थाएँ मिलती हैं जिनमे से मुख्य बैंकें, बीमा कम्पनियाँ, स्टॉक एक्सचैंज आदि हैं। इनमें से भी बैंको ने किसी भी देश की आर्थिक उन्नति मे जो भाग लिया है, उतना अन्य सस्थाओ का हाथ नही रहा है।

कहा जाता है कि अग्रेजी भाषा के बैंक शब्द का प्रादुर्भाव बैंकस (Bancus) या (Banque) शब्द मे हुआ है जिसका कि अर्थ बैंच (Bench) है। बात यह है कि प्राचीनकाल में महाजन लोग बैंचो पर बैठ कर मुद्रा का लेन-देन किया करते थे। कुछ अन्य विद्वानो का यह भी विचार है कि बैंक शब्द या तो जर्मन भाषा के (Back) शब्द से बना है या इटेलियन भाषा के (Banco) शब्द से बना है। (Back) बैंक शब्द का अर्थ सम्मिलित पूँजी-कोष (Joint Stock Fund) से लिया जाता है।

बैंक की परिभाषा करना एक कठिन कार्य है। जहाँ तक अर्थशास्त्र का सम्बन्ध है, वहाँ पर इसकी अनेकों परिभाषाएं देखने में आती है। सबसे प्रथम परिभाषा इगलैण्ड के सन् १८८२ के विनिमय-बिल विधान में मिलती है। इसके अनुसार "बैंक के अन्तर्गत हर उस व्यक्ति, फर्म या कम्पनी को सम्मिलित किया जाता है, जिसके पास व्यवसाय के लिए एक ऐसा स्थान है जहाँ पर निक्षेपो अथवा मुद्रा या चलन को जमा करके साख खोली जाती हैं और जिसका भुगतान ड्राफ्टो, चैकों या आदेशो द्वारा होता है अथवा जहाँ मुद्रा या ऋण हिस्सो के आधार पर दिये जाते हैं।"[1]

जौन पेजेट ने एक बड़ी ही लम्बी और विस्तृत परिभाषा देने का प्रयत्न किया है।

१—"In a Bank we include every person, firm or company having a place of business, where credits are opened by deposits or collection of money or currency subject to be paid or remitted on drafts, cheques or orders or money is advanced or loaned on stocks etc."

वह कहते हैं कि—

"कोई भी व्यक्ति अथवा सस्था उस समय तक बैंकर नहीं हो सकती, जब तक कि वह निम्नलिखित कार्य नहीं करती —(१) निक्षेप खाते स्वीकार करना, (२) चालू खाते स्वीकार करना, (३) अपने ऊपर लिखे हुए चैंकों को चालू करना और उनका भुगतान करना, (४) अपने ग्राहकों की ओर से रेखांकित एवं बिना रेखांकित चैंकों का भुगतान प्राप्त करना। और यह भी कहा जा सकता है कि चाहे उपरोक्त सभी कार्य किसी व्यक्ति या सस्था द्वारा किये जाते हो, तो भी वह एक बैंकर या बैंक उस समय तक नहीं हो सकते जब तक कि वह निम्नलिखित शर्तें पूरी न करें—(१) बैंकिंग उसका परिचित व्यवसाय हो, (२) वह स्वय को बैंकर या बैंक होने की घोषणा करे और जनता भी उसको ऐसा ही समझ ले, (३) ऐसा करने से उसका इरादा आय प्राप्त करने का हो, (४) यह व्यवसाय उसका गौण धन्धा न हो।"[1]

उपरोक्त परिभाषा में केवल बैंक के कार्यों व बैंक होने के लिए विभिन्न शर्तों की गणना की गई है, इसको एक परिभाषा नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार की और भी परिभाषाएँ हैं जैसे कि सेयर्स ने कहा है कि "बैंक वह सस्था है जिसके ऋणों को दूसरे व्यक्तियों के पारस्परिक भुगतान में विस्तृत मान्यता प्राप्त हो।"

राजिंग का कथन है कि "बैंक विनियोगों और बचतों के सग्रह के आढतियों का कार्य करती है, वे विनिमय के माध्यम के एक अश का निर्माण करती हैं।"

आक्सफोर्ड शब्दकोष में बैंक की निम्न परिभाषा दी गई है—"बैंक एक ऐसा कार्यगृह है जो अपने ग्राहको से प्राप्त या उनकी ओर से धन का सरक्षण करता है। इसका मुख्य कार्य उनके द्वारा बैंक पर निकाले हुए आदेशों का भुगतान करना है। इसके लाभ उस धन के उपयोग द्वारा उत्पन्न होते हैं जिसका उपयोग ग्राहक नहीं करते।"

सन् १९४९ के भारतीय बैंकिंग कम्पनीज ऐक्ट के अनुसार बैंक वह सस्था है जो "जनता से मुद्रा की जमा उधार देने या विनियोगों के उद्देश्यों से स्वीकार करती है और जिसकी वापसी माँग करने पर या किसी अन्य प्रकार से और जिसकी निकासी चैंक, ड्राफ्ट, आदेश या किसी अन्य प्रकार से की जा सकती है।"[2]

१—"No one and nobody corporate and otherwise can be a banker who does not :—(i) take deposit accounts, (ii) take current accounts, (iii) issue and pay cheques drawn upon himself, (iv) collect cheques crossed and uncrossed for his customers—and it might be said that even if all the functions are performed by a person or body corporate, be or it may not be a banker or bank unle s he or it fulfills the following conditions :—(i) banking is his or its known occupation, (ii) he or it may profe s to be a banker or bank and the public take him or it as such, (iii) has an intention of earning by doing so (iv) this business is not subsidiary." —John Paget

२—"The accepting for the purpose of lending or investment of deposits of money from the public repayable on demand or otherwise and withdrawable by cheque, draft, order or otherwise" —The Indian Banking Companies Act, 1949.

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हार्ट ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि "एक बैंकर वह है जो अपने व्यवसाय के साधारण व्यवहार में मुद्रा जमा करता है, जिसका भुगतान वह उन व्यक्तियों के चैकों को स्वीकार करके करता है, जिनमें या जिनके हिसाब में उस मुद्रा को प्राप्त किया गया है।[१]"

किनले ने बैंक की सबसे सही परिभाषा दी है। उनके अनुसार—"बैंक एक ऐसी सस्था है जो व्यक्तियों को मुद्रा के ऐसे ऋण देती है जिसकी कि आवश्यकता हो और जो सुरक्षापूर्वक दिये जा सके और जिसके पास व्यक्ति अपना रुपया जमा करा देते हैं जब कि उनको उपयोग के लिए आवश्यकता नहीं होती।[२]"

उपरोक्त सभी परिभाषाओं के अध्ययन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकतर वर्णनात्मक हैं। लेखकों ने अधिकाश रूप में बैंकों के कार्यों और किसी व्यक्ति एवं सस्था को बैंकर होने के लिए आवश्यक शर्तों की गणना की है। कुछ परिभाषाएँ जटिल भी हैं और तर्क से विरहित भी। इसलिए बैंक की एक आसान परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है कि बैंक वह सस्था है जो साख का व्यापार करती है। इस प्रकार बैंक का मुख्य कार्य साख का व्यापार करना होता है और मुद्रा का क्रय-विक्रय करना होता है। दूसरे शब्दों में इसका अभिप्राय ऋण प्राप्त करने और देने से होता है। बैंक मुद्रा का क्रय-विक्रय ब्याज की एक विशेष दर पर करती है। इसके अतिरिक्त साख के क्रय-विक्रय से हमारा अभिप्राय यह है कि बैंक साख का निर्माण करती है। साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति ऋण दे और ले सकता है परन्तु उसे सही अर्थ में बैंक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह बैंक की भाँति साख का निर्माण नहीं करता। बैंक साख का निर्माण कर अपनी साख को अपने ग्राहकों की साख में हस्तातरित करता है। बात यह है कि जब कभी बैंक ऋण देती है तो उस ऋण से निक्षेपों की उत्पत्ति होती है, अर्थात् वह ऋण फिर से बैंकों में जमा कर दिया जाता है जिसके आधार पर बैंक और ऋण दे देती है। ऋण देते समय बैंक अपनी साख को ग्राहक की साख में बदल देती है। और जब धन जमा करने वाला व्यक्ति ऋण प्राप्त करने के पश्चात् अपनी बैंक के ऊपर कोई चैक लिखता है तो बैंक भुगतान करते समय ग्राहक की साख को अपनी साख में फिर से बदल लेते हैं। यही साख का हस्तातरण है और वह विशेष गुण है जो एक बैंक और मुद्रा में व्यवसाय करने वाले अन्य व्यक्तियों के बीच भिन्नता उत्पन्न कर देता है।

बैंकिंग का प्रारम्भिक इतिहास

बैंकिंग प्रणाली का प्रयोग ससार में काफी प्राचीन समय से होता आया है।

१—A banker is one who in the ordinary course of his business, receives money which he repays by honouring cheques of persons from whom or on whose account he receives it." —Hart

२—"Bank is an establishment which makes to individual such advances of money as may be required and safely made and to which individuals entrust money when not required by them for use." —Kinley.

कुछ लोगो का तो यहाँ तक कहना है कि दो हजार वर्ष पहले भी बैंकिंग व्यवसाय होता था। भारतवर्ष, यूनान, रोम और बैबीलोन जैसे देशों में प्राचीन बैंकिंग के काफी प्रमाण मिलते हैं। लोगो का कहना है कि प्राचीन समय में यह कार्य सुनारो और सर्राफो द्वारा किया जाता था, जिनके पास लोग अपने फालतू धन को जमा करवा देते थे। जमा किये हुए धन के बदले में यह रसीद भी देते थे। धीरे-धीरे इन सुनारो की साख पर लोगो का विश्वास इतना बढ गया कि उनकी दी हुई रसीदें ऋणों का भुगतान करते समय मुद्रा के स्थान पर उपयोग में आने लगी अर्थात् उनका प्रचलन आधुनिक बैंक नोटो की भाँति होने लगा। इधर सुनारो व साहूकारो को भी इस बात का ज्ञान हो गया कि किसी निश्चित समय में जमा करने वाली राशि का केवल कुछ भाग ही जमा करने वाले व्यक्तियों द्वारा निकाला जाता है। इसलिए उन्होने अपने पास बचे हुए रुपये को ऋण के रूप में देकर ब्याज प्राप्त करना शुरू कर दिया।

धीरे-धीरे महाजनो ने लाभ प्राप्त करने के लालच से अधिक जमा प्राप्त करने के लिए जमा राशि पर ब्याज देना शुरू कर दिया। और अब वह नीची ब्याज की दर पर जमा प्राप्त करते थे और ऊँची ब्याज की दर पर ऋण देते थे। इस प्रकार धीरे-धीरे बैंकिंग व्यवसाय आरम्भ हुआ।

सर्वप्रथम बैबीलोन में बैंकिंग प्रणाली ने विशेष प्रगति की थी। उसके पश्चात् इटली और योरुप के अन्य देशो में इसका विकास हुआ। परन्तु मध्यकालीन युग में राज-नैतिक अशान्ति के कारण बैंकिंग प्रणाली अधिक उन्नति न कर सकी। इसके अतिरिक्त धार्मिक दृष्टिकोण से भी कुछ देशो में ब्याज लेना निन्दनीय बताया गया। केवल यहूदियो ने जिनके लिए ब्याज लेना बुरा न था, उस काल में भी बैंकिंग मे काफी उन्नति की।

बैंकिंग-प्रथा की वास्तविक प्रगति सतरहवी शताब्दी में दृष्टिगोचर होती है, जब कि योरुप में औद्योगिक क्रान्ति के परिणामवश व्यापार और उद्योगो ने उन्नति की। इस प्रकार बैंकिंग प्रणाली के विकास के सम्बन्ध मे यह बता देना उचित होगा कि आधुनिक प्रकार की सब से पहली बैंक सन् १४०१ मे स्पेन में स्थापित की गई थी। उसके पश्चात् सन् १६०७ में हालैण्ड में 'बैंक ऑफ ऐमस्टरडम', सन् १६१६ मे जर्मनी मे 'बैंक ऑफ हेम्बर्ग' और सन् १६६४ मे इगलैण्ड मे 'बैंक ऑफ इगलैण्ड' की स्थापना हुई थी। वास्तव में 'बैंक ऑफ इगलैण्ड' की स्थापना के पश्चात् ही ससार में सम्मिलित पूंजी बैंको का विकास हुआ।

बैंकों के कार्य (Functions of Banks)

आधुनिक बैंक के कार्य निम्नलिखित है :—

(१) जमा स्वीकार करना अथवा ऋण प्राप्त करना (Accepting of Deposits or loans)।

(२) ऋण देना (Advancing of loans)।

(३) साख का निर्माण करना (Creation of credit)।

(४) एजेन्सी सेवाएँ (Agency Services)।

(५) नोट प्रकाशित करना (To Issue Notes)।

(६) विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय (Dealing in Foreign Exchange)।

(७) देसी तथा विदेशी व्यापार का अर्थ प्रबन्ध करना (To finance local and foreign trade)।

(८) अन्य सेवाएँ (Miscellaneous Services)।

जमा स्वीकार करना अथवा ऋण प्राप्त करना

आधुनिक बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य जमा प्राप्त करना है। बैंक अपने हिस्सों को बेच कर या ब्याज पर जमा स्वीकार करके व्यक्तियों तथा संस्थाओं के फालतू धन को अपने पास जमा कर लेती है। यह जमा मुख्य रूप से तीन प्रकार की होती होती है :—

(क) चालू जमा (Current Deposits)।

(ख) बचत जमा (Savings Deposits)।

(ग) मियादी जमा या निश्चित जमा (Fixed Deposits)।

(क) **चालू जमा**—प्रथम प्रकार की जमा करने वाले को सब से बड़ी सुविधा यह रहती है कि वह अपने हिसाब में किसी समय भी धन जमा कर सकता है और किसी समय भी धन निकाल सकता है। व्यापारी वर्ग को सदैव ही धन की आवश्यकता रहती है, इसलिए वह अधिकतर इसी खाते में रुपया जमा कराते हैं। धन निकालने में चैकों का प्रयोग होता है। ऐसी जमा पर कुछ भी ब्याज नहीं मिलता बल्कि कभी-कभी तो बैंक उनके प्रबन्ध करने के खर्चे के रूप में उलटा ग्राहकों से ही कुछ ले लेते हैं।

(ख) **बचत जमा**—इस प्रकार की जमा करने वालों को बहुत थोड़ा सूद मिलता है। जमा करने वाले व्यक्ति केवल एक सप्ताह में केवल दो बार ही धन निकाल सकते हैं। यह जमा मुख्यत गृहस्थों और छोटी आय वाले लोगों से प्राप्त की जाती है। जमा करने वाले को एक पास बुक (Pass Book) बैंक की ओर से दी जाती है और ऐसे लोग चैकों का प्रयोग भी कर सकते हैं।

(ग) **मियादी जमा**—मियादी जमा में धन निश्चित अवधि के लिए जमा कर दिया जाता है, जो कि केवल मियाद पूरी होने के बाद ही निकाला जा सकता है। इस जमा पर और जमा की अपेक्षा सब से अधिक ब्याज की दर मिलती है। यह खाते केवल उन्हीं लोगों के लिए उपयुक्त हैं जिनको कि धन की काफी समय तक जरूरत नहीं होती और जो ब्याज की ऊँची दर प्राप्त करने के लिए उस धन को एक लम्बी अवधि के लिए बैंक के पास छोड़ सकते हैं। कुछ बैंक जमा करने वाले को इस बात की भी सुविधा प्रदान कर देती हैं कि वह समय से पहले भी जमा राशि को निकाल सकता है। परन्तु यह सुविधा प्रदान करने के लिए बैंक जमा राशि में से कुछ कटौती काट लेती है।

उपरोक्त जमा खाते के अतिरिक्त कुछ देशों में बैंक निम्न प्रकार की जमा भी स्वीकार करती हैं :—

(१) अनिश्चित कालीन जमा (Indefinite Deposits)।

(२) गृह-बचत जमा (Home Saving Deposits)।

(१) **अनिश्चित कालीन जमा**—अनिश्चित कालीन जमा के अन्तर्गत जमा राशि केवल विशेष दशाओं में ही निकाली जा सकती है अर्थात् इसमें धन एक बहुत लम्बे समय तक जमा रहता है। इसीलिए उस पर ब्याज की दर भी काफी ऊँची होती है क्योंकि बैंक इसका विनियोग स्थाई रूप से कर सकती है। जमा करने वाले व्यक्ति को केवल ब्याज-राशि निकालने की ही स्वतन्त्रता होती है। ऐसी जमा अधिक नहीं होती और न ही इसका कोई विशेष महत्व है।

(२) **गृह-बचत जमा**—इस खाते के अनुसार जमा करने वाले व्यक्ति के घर पर बैंक एक गुल्लक (Safe) रख देती है जिसमे व्यक्ति थोड़ी-थोड़ी बचत को डालता रहता है। कुछ समय के पश्चात् गुल्लक को बैंक मे ले जाकर खोला जाता है और जो धन उसमें प्राप्त होता है वह उस व्यक्ति के खाते मे जमा कर दिया जाता है। इस प्रकार की जमा पर ब्याज नाममात्र ही होता है परन्तु इससे लोगों मे बचत करने की आदत उत्पन्न हो जाती है।

ऋण देना (Advancing of loans)

इस प्रकार बैंक लोगों का फालतू धन जमा करने के पश्चात् उन लोगों को उधार दे देती है, जिन्हें ऋण की आवश्यकता होती है। यही बैंक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य है। साधारणत बैंक ऋण नगदी के रूप में नहीं देती, बल्कि दी हुई उधार रकम को उसके खाते में जमा कर देती है। ऐसी जमा को साख जमा (Credit Deposit) कहते हैं। बैंक अपने ऋणी को इस जमा मे से चैक द्वारा धन निकालने का अधिकार दे देती है। बैंकों को अधिकांश लाभ इसीके द्वारा प्राप्त होता है। बैंक अधिकतर ऋण ऐसी प्रतिभूतियों पर देती है जिनका कि क्रय-विक्रय हो सके। बैंकों का अधिकतर ऋण निम्न प्रकार के होते हैं :—

(१) **नगद साख**—इस व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहक को एक निश्चित मात्रा तक ऋण लेने का अधिकार दे देती है। इसके अनुसार वह अपने ग्राहक की एक निश्चित समय की ऋण सम्बन्धी आवश्यकताओं का अनुमान लगा लेती है और उसको पूरा करने के लिए आवश्यक धन रख लेती है। बैंक इस रकम के ऊपर ब्याज ले लेती है चाहे कुल रकम का प्रयोग हो या न हो। भारतीय व्यापारी इस व्यवस्था को पसन्द करते हैं, क्योंकि उनको इस बात की सुविधा रहती है कि वह समय-समय पर अपनी आवश्यकता नुसार धन निकाल सकते हैं।

(२) **ओवरड्राफ्ट (Over Draft)**—इस व्यवस्था के अन्तर्गत बैंक अपने ग्राहक को इस बात का अधिकार दे देती है कि वह अपने चालू खाते में जमा राशि से भी अधिक निकाल सकता है। परन्तु यह केवल अल्पकाल के लिए ही सुविधा प्रदान की जाती है।

(३) ऋण (Loans)—बैंक अपने ग्राहकों को एक मुश्त धनराशि ऋण के रूप में उधार देती है जिसका कि अन्त पूर्णरूप से चुकाए जाने पर ही होता है। चाहे ऋणी ऋण का कितना ही भाग चुका दे और यदि उसके बदले में फिर से ऋण लेना चाहे तो बैंक उसको एक अलग ऋण के रूप में ही धनराशि उधार दे सकती है अर्थात् बैंक पहले ऋण की रकम मे बाद की रकम को नही मिलायेगी व उनको दो अलग-अलग ऋण समझेगी।

(४) **विनिमय बिलों का भुनाना** (Discounting of Bills of Exchange)—बैंक अपने ग्राहको को अल्पकाल के लिए विनिमय-बिलो को भुना कर भी रुपए दे सकती है। विनिमय-बिलो को भुनाते समय बैंक व्याज काट लेती है और रकम दे देती है। इस व्यवसाय से बैंको को बडा लाभ होता है और आज के बैंकिग व्यवसाय मे इसने महत्वपूर्ण स्थान ले लिया है।

साधारणत. बैंक निम्नलिखित जमानतो पर रुपया उधार देती है :—

(क) बैंक निजी जमानत पर जैसे अधी-विकर्ष (Over Draft) या नगदी के रूप मे ऋण देती है।

(ख) बैंक अपने ग्राहक को ऋण, सम्मिलित पूँजी के हिस्सो (Stock and Shares), गोदाम की रसीदों (Ware-house Receipts), रेलवे-रसीदों, (Railway Receipts), बीमा पोलिसियो (Insurance Policies) आदि की जमानत पर भी रुपया उधार देती है।

(ग) बैंक अपने ग्राहकों की जायदाद (Property), उत्पत्ति (Produce), धातु (Bullion) आदि को भी जमानत के रूप मे स्वीकार कर लेती है।

(घ) बैंक व्यापारिक हुण्डियों के आधार पर भी ऋण दे देती है।

साख का निर्माण करना (Creation of credit)

बैंको के सम्बन्ध मे एक बात बहुत ही प्रसिद्ध है कि वे 'उस जगह काटते है जहाँ पर बोते नहीं' और यह कथन एक कटु सत्य है। बैंक प्राप्त धनराशि पर कम सूद की दर देते हैं और जब उसी धन को वे दूसरे लोगो को उधार देते हैं तो अधिक सूद की दर लेते है। इसी प्रकार वे लाभ कमाते है। परन्तु यदि बैंक केवल इसी लाभ पर निर्भर रहे तो उनको लाभ की बहुत कम मात्रा ही प्राप्त होगी क्योकि व्याज की इन दोनो दरो के बीच बहुत थोडा अन्तर होता है। इसलिए बैंक लाभ की मात्रा बढाने के लिए प्राप्त जमा से अधिक ऋण देते हैं जो कि केवल साख का निर्माण करके ही सम्भव होता है।

साधारणत बैंक साख का निर्माण दो प्रकार से करती है। एक तो बैंक नोटो को छाप कर, दूसरे ऋण देकर। प्राचीन काल मे नोट छापने का कार्य हर बैंक द्वारा किया जाता था, परन्तु आजकल उसका अधिकार केवल केन्द्रीय बैंक को प्राप्त है। नोट प्रकाशित करते समय केन्द्रीय बैंक उनके पीछे धातु-निधि रखती है परन्तु नोटो की कुल मात्रा के पीछे धातु-निधि नही रक्खी जाती, बल्कि केवल इनके एक भाग को ही धातु नीधि के रूप मे रक्खा जाता है, बाकी नोटो के पीछे प्रतिभूतियो की आड रक्खी जाती है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि नोट बैंक की साख के कारण चलते हैं न कि धातु-निधि की वजह से, और इस तरह बैंक साख उत्पन्न करती है।

जहाँ तक साख निर्माण की दूसरी विधि का सम्बन्ध है, उसके लिए बैंक निक्षेपों को उत्पन्न करती है अर्थात् बैंक ऋणों को निक्षेप उत्पन्न करके देती है। बैंक अपने पास जमा की हुई राशि से कई गुनी अधिक राशि ऋण के रूप में दे देती है और इसी तरह से लाभ कमाती है। वैसे तो यह कथन कुछ अजीब सा लगता है परन्तु वास्तविकता यही है। बैंक अपने अनुभव से यह जानती है कि दिये हुए अधिकांश ऋण केवल लेखे-जोखों के द्वारा ही बिना नगदी के उपयोग के ही निबट जाते हैं और इस प्रकार केवल नगदी का एक बहुत छोटे-से भाग की ही किसी एक समय में विशेष आवश्यकता होती है। यह इस प्रकार सम्भव होता है कि एक बैंक के ग्राहकों में आपस में भी लेन-देन चलता है और विभिन्न बैंको में भी आपस में लेन-देन चलता रहता है जिससे ग्राहक एक-दूसरे को जो भुगतान करते है वह साधारणतः एक-दूसरे के भुगतान से रद्द हो जाते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है —

मान लिया कि किसी बैंक मे एक हजार रुपये जमा किये गये। बैंक ने इस रुपये का दस प्रतिशत रख कर बाकी दूसरे लोगों को उधार दे दिया अर्थात् १०० रु० अपने पास रखकर शेष ९०० रु० उधार दे दिये। अब यह उधार दी हुई रकम दुबारा बैंक मे जमा कर दी जायेगी क्योंकि लोग लेन-देन चैकों द्वारा ही करेंगे। बैंक फिर से इस जमा की हुई रकम में से दस प्रतिशत अपने पास रख कर बाकी रकम उधार दे देगी जो जमा के रूप मे फिर बैंक के ही पास आ जायेगी। इस प्रकार शुरू मे जो एक हजार रुपए की रकम थी वह बढ कर कई गुनी हो गई और यह क्रम यूँ ही चलता रहता है। इस प्रकार बैंक अपने हर ऋणी को जमा करने वाले की तरह समझ कर साख का निर्माण करता है। सब बैंक यही नीति अपनाती हैं। अपने ऋणी को जो ऋण देती हैं वह अधिकतर उसके नाम मे खाता खोलकर जमा कर देते हैं जिसको कि वह चैकों द्वारा निकाल सकता है। इस प्रकार निक्षेप दो प्रकार के होते हैं—एक तो वह निक्षेप जो कि वास्तविक जमा करने वाले की ओर से उत्पन्न हुये है दूसरे वह जो ऋण लेने वालों ने जमा किये हैं। दूसरे निक्षेपों (Deposits) के आधार पर यह कहा जाता है कि ऋण निक्षेपों को उत्पन्न करते हैं (Loans make deposits), परन्तु केनन ने इसकी कड़ी आलोचना की है। वह कहते हैं कि ऋण जमा उत्पन्न नहीं करते बल्कि जमा ऋण उत्पन्न करते हैं। किसी समय विशेष में जमा करने वाले व्यक्ति अपनी जमा का कुछ ही भाग निकालते और अधिकांश जमा को बैंक मे ही छोड देते हैं जिससे बैंकों को ऋण देने मे बहुत सुविधा हो जाती है। केनन ने इस विषय मे एक बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया है कि यदि किसी शाम को पार्टी में सौ अतिथि आए जिनमें से प्रत्येक के पास एक लबादा हो जिसे कि वह नौकर के पास छोड देते हैं। नौकर यह जानता है कि पार्टी दस बजे समाप्त होगी इसलिए उसने यह अनुमान लगा कर कि शायद बीस आदमी समय से पहले ही चले जाए, बीस लबादों को अपने पास रख कर अस्सी को इस शर्त पर किराये पर उठा दिया कि वह दस बजे से पहले ही उसके पास आ जायेंगे। इसका मतलब यह नहीं कि यदि नौकर

ने असमी लबादो को किराये पर उठा कर उसने असमी लबादों को पैदा कर लिया। इसी प्रकार से यह भी कहना अनुपयुक्त होगा कि ऋणों से जमा उत्पन्न होती है।

वाल्टर लीफ ने भी इसी प्रकार का विचार प्रगट किया है। उनका कहना है कि "यदि किसी को भी साख का उत्पन्न करने वाला कहा जाए तो वह जमा करने वाला है क्योंकि बैंक अपने बैंकिंग व्यवसाय मे उस धन राशि से मजबूती से बँधी है जो कि जमा करने वाला उनके पास छोडना ठीक समझता है।"[1]

इसके विपरीत हार्टले विदर्स का मत है कि बैंक वास्तव मे साख का निर्माण करती हैं और बैंक के ऋण निक्षेपो (deposits) को उत्पन्न करते हैं यद्यपि बैंक जमा जमा करने वालो को नगदी के रूप मे भुगतान करने मे इन्कार नही करती, परन्तु जमा करने वाले व्यक्ति अपना भुगतान चैंको द्वारा मांगते है, और इन चैंको मे से कुछ तो उसी बैंक मे जमा हो जाते हैं, कुछ अन्य बैंको मे कर दिये जाते हैं। क्योंकि विभिन्न बको मे आपस में लेन-देन चलता रहता है।

परन्तु एक ओर लीफ (Leaf) और केनन का विचार और दूसरी ओर विदर्स का विचार दोनो ही अपने-अपने स्थान पर सही नहीं हैं। सही बात दोनो विचारो के बीच की है। ऋण भी उतने ही जमा उत्पन्न होने मे सहायता करते है जितने कि जमा ऋण देने मे सहायक होते हैं। जैसा कि कीन्स ने कहा है कि "ऋण निक्षेपों की सन्तान है और और निक्षेप ऋण की सन्तान है।"[2]

साख निर्माण की सीमाएं (Limits of the creation of credit)

इस स्थान पर एक प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या बैंक की साख-निर्माण की शक्ति अपरिमित है या उसकी कुछ सीमाएँ भी है? वास्तव मे बैंक की साख निर्माण की शक्ति असीमित नही है और वह केवल कुछ सीमाओं के अन्दर ही साख का विस्तार कर सकती हैं। बैन्हम (Benhem) ने तीन सीमाएँ बताई है जो निम्नलिखित है —

(१) देश मे वास्तविक मुद्रा या नकदी की कुल मात्रा के ऊपर बैंक की साख निर्माण की शक्ति आश्रित रहती है। देश मे वास्तविक मुद्रा की मात्रा जितनी अधिक होगी, उतनी ही साख निर्माण की शक्ति अधिक होगी। देश मे वास्तविक मुद्रा या कानूनी-ग्राह्य मुद्रा की मात्रा रिज़र्व बैंक की नीति के ऊपर निर्भर करती है जो समय-समय पर उसको घटाती-बढाती रहती है। यदि केन्द्रीय बैंक साख का विस्तार करना चाहती है तो उस समय कानूनी-ग्राह्य-मुद्रा की कुल मात्रा को बढा कर देती है और जब साख का सकुचन करना चाहती है तो कानूनी-ग्राह्य मुद्रा का मात्रा को घटा देती है। कानूनी-ग्राह्य मुद्रा के अधिक होने की स्थिति में बैंक में निक्षेपो की मात्रा बढ जाती है जिससे बैंको की साख

१—"If any one can be called a creator of credit it is the depositor, for the banks are strictly limited in their banking operations by the amounts which the depositors think to be with them." —Leaf

२—"Loans are the children of deposits and the deposits are the children of loans." —Keynes

निर्माण शक्ति में भी वृद्धि हो जाती है। ठीक इसके विपरीत उस स्थिति में होता है जब कि कानूनी-ग्राह्य मुद्रा की मात्रा कम होती है।

(२) जनता में बैंकों के उपयोग करने की आदत—यदि जनता में बैंकों को उपयोग करने की आदत है तो वह नगदी का उपयोग न करके चैकों का उपयोग करेगी। बैंकों के निक्षेप दिन प्रति दिन बढ़ते जायेंगे और उनके साख निर्माण करने की शक्ति भी बढ़ जायेगी—परन्तु यदि किसी देश में जनता नगदी का उपयोग चैकों की अपेक्षा कम करती है तो बैंक में निक्षेप की मात्रा भी कम होगी और बैंक की साख निर्माण शक्ति भी सीमित रहेगी।

(३) बैंक की साख-निर्माण करने की शक्ति अधिकांश रूप से इस बात पर भी निर्भर रहती है कि बैंक के नकद कोष और निक्षेपों में क्या अनुपात है। यद्यपि इस अनुपात के निश्चित करने के लिए किसी कानून की आवश्यकता नहीं परन्तु फिर भी कुछ देशों में यह अनुपात कानून द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। और अधिकतर देशों में तो बैंक उतने ही नकद कोष रखते हैं, जितना कि वह अपनी सुरक्षा के लिए आवश्यक समझते हैं। बैंक अपने नकद कोषों को एक न्यूनतम सीमा से नीचे नहीं गिरने देते हैं क्योंकि उनको विश्वास खो बैठने का भय रहता है। बात यह है कि जब भी बैंक कोई नया ऋण देती है तब बैंक के नकद कोषों और उसके निक्षेपों का अनुपात घट जाता है। यद्यपि दूसरी ओर बैंक की भुगतान करने का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। अब क्योंकि बैंक नकदी में भुगतान करने का वायदा करती है इसलिए नकद कोषों और निक्षेपों का अनुपात कम होने की दशा में बैंक नकदी में भुगतान करने में असमर्थ हो जायेगी और उसके ठप हो जाने की सम्भावना बहुत अधिक हो जायेगी। इसीलिए बैंक इस सम्बन्ध में सतर्कता से काम करती है।

(४) प्रत्येक देश में अनुसूचित बैंकों को अपनी मियादी या निश्चित निक्षेपों (Fixed Deposits) का एक निश्चित प्रतिशत नकदी के रूप में केन्द्रीय बैंक के पास जमा करना पड़ता है। यह प्रतिशत निश्चित निक्षेपों के बढ़ने-घटने के साथ-साथ बढ़ता-घटता रहता है। यदि केन्द्रीय बैंक अनुसूचित बैंकों को अपने निश्चित निक्षेपों का अधिक प्रतिशत रखने के लिए बाध्य कर दे तो बैंकों की साख निर्माण शक्ति भी घट जायगी।

(५) बैंकों की साख निर्माण करने की शक्ति मुख्यत केन्द्रीय बैंक की साख नीति पर निर्भर रहती है।

(६) बैंक अधिकांश ऋण प्रतिभूतियों की आड़ पर देते हैं। अत प्रतिभूतियाँ किस प्रकार की हैं इस बात से भी उनकी साख निर्माण शक्ति सीमित होती है।

एजेन्सी-सेवाएं (Agency Services)

बैंक अपने ग्राहकों की सेवा उनके एजेण्ट के रूप में करते हैं। यह सेवाएँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) यह अपने ग्राहकों के लिए अन्य बैंकों अथवा व्यक्तियों से चैकों, विनिमय बिलों, प्रतिज्ञा-पत्रों आदि का भुगतान प्राप्त करते हैं और अपने ग्राहकों की ओर से वह एक

स्थान से दूसरे स्थान को हुण्डियो, ड्राफ्टो, बिलो द्वारा रुपया भेजकर व्यापार मे सहायता देते है।

(२) अपने ग्राहको की ओर से अनेक प्रकार के भुगतान जैसे व्याज, ऋणो की रकम और लाभांश इत्यादि प्राप्त करते हैं।

(३) बैंक अपने ग्राहको की ओर से प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय करते हैं।

(४) वे अपने ग्राहको की ओर से भुगतान भी करते है जैसे ऋणो की किस्तें, बीमे की किस्तें, व्याज की राशि आदि का चुकाना।

(५) वे अपने ग्राहको का धन एक शाखा से दूसरी शाखा या एक स्थान से दूसरे स्थान को भेज देते है जिससे कि ग्राहको को एक स्थान या शाखा में रुपया जमा करके दूसरे शाखा या स्थान पर भुगतान प्राप्त करना अधिक सुविधाजनक हो जाता है।

(६) उपरोक्त सेवाओ के अतिरिक्त बैंक ग्राहको के एजेन्ट के रूप में अन्य सेवाएँ भी करते हैं।

नोट प्रकाशित करना

प्रारम्भिक काल मे बैंक का यह एक प्रमुख कार्य था और लगभग सभी बैंक यह कार्य करते थे, परन्तु आधुनिक काल में यह कार्य केवल केन्द्रीय बैंक द्वारा किया जाता है जैसे कि भारत मे रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, इगलैण्ड मे बैंक ऑफ इगलैण्ड इत्यादि।

विदेशी-विनिमय का क्रय-विक्रय

प्रत्येक देश में जहाँ बैंकिंग प्रणाली काफी उन्नति कर चुकी है, विदेशी व्यापार को सहायता पहुँचाने के लिए विदेशी विनिमय बैंके स्थापित है जिनका कि मुख्य कार्य विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय होता है। परन्तु जिन देशो में ऐसी बैंको का अभाव होता है वहाँ पर साधारण बैंके ही विनिमय का क्रय-विक्रय करती है और विदेशी व्यापार की वित्त-सम्बन्धी आवश्यकताओ की पूर्ति करती हैं जैसे कि भारतवर्ष मे यह कार्य कुछ व्यापारी बैंको द्वारा किया जाता है।

देशी तथा विदेशी व्यापार का अर्थ प्रबन्ध करना

व्यापारी बैंको का यह एक मुख्य कार्य है। यह कार्य बैंक हुण्डियो तथा विनिमय बिलो को खरीद कर करती है। हम सभी इस बात को जानते हैं कि व्यापार में साख पत्रो का प्रयोग होता है। एक व्यापारी दूसरे व्यापारी को नकद भुगतान करके विनिमय बिल द्वारा करता है जिनकी परिपक्वता (Maturity) का समय कुछ महीने बाद आता है परन्तु इसी बीच मे जब व्यापारी को धन की आवश्यकता पड़ती है, तो वह बिल को बैंक से भुना लेता है। बैंक उस बिल को भुनाते समय उसकी परिपक्वता के समय तक का व्याज बाजार दर पर काट कर बिल की राशि का भुगतान कर देती है और परिपक्वता का समय आने पर बिल लिखने वाले से भुगतान ले लेती हैं। इस क्रिया से व्यापारियो को आवश्यकता के समय धन भी मिल जाता है और बैंक भी लाभ प्राप्त कर लेती है।

अन्य सेवाएं

उपरोक्त कार्यों के अतिरिक्त बैंक अपने ग्राहकों के लिए और भी बहुत-से कार्य करती हैं, जैसे :—

(१) बैंक अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुएँ जैसे जेवरात, हीरे, मोती, आवश्यक-पत्र इत्यादि को देखभाल करती है। वह इन बहुमूल्य वस्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए मजबूत अलमारियों का प्रबन्ध करती है। इन अलमारियों की ताली बहुमूल्य वस्तुएँ जमा करने वाले के पास ही रहती है। बैंक इस सेवा के बदले कुछ कमीशन ले लेती है।

(२) बैंक अपने ग्राहकों की ओर से विनिमय विल भी स्वीकार करती है।

(३) बैंक अपने ग्राहकों को साख मानपत्र (Letter of Credit) देती है जिससे कि वे दूसरे स्थानों पर माल खरीद सकते हैं और जिनके आधार पर बिना जान-पहचान वाले व्यापारियों से भी माल खरीद सकते हैं।

(४) बैंक अपने ग्राहकों की साख के विषय में एक-दूसरे ग्राहक को सही सूचना देती है जिससे कि उनमें से हरेक को एक-दूसरे की सही आर्थिक स्थिति का पता चल जाता है।

(५) कुछ बड़ी-बड़ी बैंकें देश के व्यापार तथा उद्योग सम्बन्धी सूचनाएँ अपने ग्राहकों की जानकारी के लिए प्रकाशित करती है जिस से कि उनको देश के व्यापार एवं व्यवसाय की सही स्थिति से परिचिति हो जाती है।

उपरोक्त विवरण से आधुनिक बैंक के महत्व का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। वास्तव में व्यापारी-जगत की कोई भी सेवा नहीं है जो बैंक अपने ग्राहकों के लिए न करती हो। इसीलिए एक सुसगठित तथा विकसित प्रणाली देश की आर्थिक उन्नति का सूचक समझी जाती है।

बैंकिंग का महत्व (Importance of Banking)

बैंकों के कार्यों के अध्ययन से बैंकों का महत्व भली-भाँति स्पष्ट हो जाता है। बैंक समाज-सेवक के रूप में समाज के सदस्यों में बचत की आदत का निर्माण करते हैं और इधर-उधर बिखरे हुए धन को एकत्रित करके देश की व्यापारिक एवं औद्योगिक उन्नति में सहायता पहुँचाते हैं। यह ऋणी और ऋण दाता के बीच में मध्यस्थ का कार्य करते हैं और साख-पत्रों के चलन पर पूर्ण नियन्त्रण रखते हैं। इस प्रकार बैंक आधुनिक समाज में "व्यापार, वाणिज्य और व्यवसाय के ध्वनि केन्द्र (Nerve centre) है।" बैंक के मुख्य-मुख्य लाभ निम्न प्रकार हैं —

(१) बैंक उन लोगों से धन लेकर जिनको उसकी आवश्यकता नहीं है ऐसे लोगों दे देती है जो उसका सदुपयोग कर सकते हैं। बैंक के इस कार्य से देश के उद्योग-धन्धे एवं व्यापार को प्रोत्साहन मिलता है और जिससे न केवल व्यक्तियों का ही बल्कि सारे समाज का भला होता है।

(२) बैंक धन को एक जगह से दूसरी जगह भेजने के लिए मितव्ययी साधन उपलब्ध करती हैं।

(३) बैंक देश अथवा व्यक्तियों के आर्थिक स्रोतों के संरक्षण की जिम्मेदारी लेती हैं और उनका उपयोगी वितरण करके देश के आर्थिक जीवन को दृढ़ करते हैं।

(४) बैंक साख-मुद्रा के प्रयोग को प्रोत्साहन देती हैं और साख मुद्रा से प्राप्त होने वाले लाभ इस प्रकार बैंकों के कारण ही होते हैं।

(५) बैंक साख-मुद्रा के परिमाण में परिवर्तन करके विनिमय माध्यम की मस्या को घटा-बढ़ा सकते हैं और इस प्रकार देश की मुद्रा प्रणाली को लोचपूर्ण बना देते हैं।

(६) बैंक चैंकों के प्रयोग को प्रोत्साहन देती हैं, जिससे कि दो लाभ विशेष कर होते हैं। एक तो लोगों को सिक्कों एवं नोटों को गिनने तथा परखने की असुविधा नहीं होती। दूसरे, यह नीति अधिक सुरक्षित भी है भुगतान करने वाले व्यक्ति के पास भुगतान कर देने का एक सबूत सा प्राप्त प्राप्त हो जाता है।

(७) बैंक अपने ग्राहकों की बहुमूल्य वस्तुओं की सुरक्षा करके उन्हें विशेष लाभ पहुँचाती हैं।

(८) बैंक राजकीय अर्थ-प्रबन्ध में भी बहुत सहायता पहुँचाती है। यह सरकारी ऋणों के विक्रय में बहुत सहायता देती हैं।

उन्नीसवाँ अध्याय

बैंकों का वर्गीकरण

बैंकों का वर्गीकरण एक कठिन कार्य है। प्राय प्रत्येक बैंक की कार्यविधि समान ही होती है इसलिए विभिन्न बैंकों को एक-दूसरे से अलग करना असम्भव-सा प्रतीत होता है, फिर भी उनका एक सामान्य वर्गीकरण, उनके उद्देश्यों के आधार पर किया जा सकता है। वास्तव में वर्गीकरण मे जो कठिनाई उत्पन्न होती है, उसके दो प्रमुख कारण है: एक तो यह कि भिन्न-भिन्न देशों में बैंको के कार्य भी अलग-अलग होते है और दूसरे यह कि प्रत्येक बैंक एक मुख्य कार्य के साथ-साथ और भी दूसरे कार्य करता है। साधारणतया बैंकिग प्रणाली दो प्रकार की होती है —

(१) शाखा बैंकिग प्रणाली (Branch Banking System)।

(२) इकाई बैंकिग प्रणाली (Unit Banking System)।

प्रथम प्रकार की प्रणाली इगलैण्ड में मिलती है और दूसरी अमेरिका में। शाखा बैंकिग प्रणाली मे बैंकिग कार्य अनेक शाखाओं द्वारा सम्पन्न होता है और इकाई बैंकिग प्रणाली मे यह कार्य स्वतन्त्र रूप से एक ही बैंक द्वार किया जाता है। इगलैण्ड मे पाँच बडे बड़े बैंक है जो कि बडे पाँच (The big five) कहलाते है। यह बडे पाँच बैंक मिडलैण्ड, बार्कलेज, लौयड्स, वेस्ट मिनिस्टर और नेशनल प्राविन्शल है जिनका कि आधिपत्य नौ हज़ार सातें सौ सत्तारह सस्थाओ पर है जबकि इगलैंड में बैंकिग सस्थाओं की कुल सख्या १०,८७४ है। इसी प्रकार जर्मनी और फ्रास में भी अधिकाश बैंकिग व्यवसाय कुछ ही बैंकों के हाथ मे है। इस प्रकार की प्रणाली में बहुत-से गुण पाये जाते हैं जो निम्न प्रकार है—

(१) इस प्रणाली मे बडे पैमाने के उत्पादन और श्रम विभाजन की सभी बचतो को प्राप्त किया जा सकता है। अच्छे अच्छे व्यक्तियो और विशेषज्ञो की सेवाओ द्वारा वैज्ञानिक और कुशल प्रवन्ध किया जा सकता है।

(२) इस प्रणाली के अन्तर्गत नकद कोषो की मितव्ययिता (Economy) का भी लाभ उठाया जा सकता है, क्योंकि आवश्यकता होने पर विभिन्न शाखाओं से मदद ली जा सकती है। इसलिए प्रत्येक शाखा में थोडी-थोडी निधि रखने से ही काम चल सकता है। इसके विपरीत इकाई बैंकिग प्रणाली मे यह सुविधा प्राप्त नही होती।

(३) इस प्रणाली के द्वारा धन का हस्तान्तरण एक स्थान से दूसरे स्थान को बहुत ही कम खर्च पर और सरलता पूर्वक किया जा सकता है। इस प्रकार देश मे ब्याज की दरो में समानता लाई जा सकती है।

(४) शाखा बैंकिग प्रणाली में कुल सम्पत्ति को एक स्थान पर न रख कर कई

स्थानों पर रक्खा जा सकता है। अर्थात् कुल सम्पत्ति को विभिन्न शाखाओं में विभाजित कर सकते हैं और इस प्रकार व्यवसाय सम्बन्धी जोखिम का भौगोलिक वितरण किया जा सकता है। एक स्थान पर होने वाले हानि को दूसरे स्थान के लाभ से पूरा किया जा सकता है जो कि इकाई बैंकिंग प्रणाली मे सम्भव नही है।

(५) अन्त में इस प्रणाली में देश के कोने-कोने में और प्रत्येक गाँव और पिछड़े हुए स्थानों पर भी बैंकिंग सुविधायें उपलब्ध की जा सकती हैं।

इस प्रणाली के मुख्य दोष निम्न प्रकार हैं—

(१) इस प्रणाली में बड़े पैमाने के सगठन के सभी दोष दृष्टिगोचर होते हैं। क्योंकि इतने बड़े सगठन में प्रबन्ध नियन्त्रण तथा निरीक्षण की कुशलता प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(२) इस प्रणाली मे ग्राहकों से व्यक्तिगत सम्बन्ध का अभाव रहता है जिससे किसी व्यवसाय को शुरू करने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है और इसके साथ-साथ व्यवसाय की लोच भी समाप्त होजाती है क्योंकि हर बात के लिए हेड-आफिस से पूछना पड़ता है और एक निश्चित नीति के अनुसार काम करना पड़ता है। ग्राहकों से व्यक्तिगत सम्पर्क का लाभ नही प्राप्त किया जा सकता। बात यह है कि विभिन्न क्षेत्रों मे किसी भी बैंक को क्षेत्र विशेष की परिस्थितियों और ग्राहकों की रुचि के अनुसार काम करना चाहिए, जिसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि बैंकिग प्रणाली में लोच हो, परन्तु यह गुण इस प्रणाली मे नही हैं।

(३) यह प्रणाली ईकाई बैंकिंग प्रणाली की अपेक्षा अधिक खर्चीली होती है। हर नई शाखा की स्थापना के साथ खर्चे मे भी वृद्धि होती जाती है। इसके अतिरिक्त जैसे-जैसे शाखाओं की सख्या और उनका भौगोलिक क्षेत्र बढता है, वैसे-वैसे उनके प्रबन्ध का खर्चा भी बढता जाता है।

(४) इस प्रणाली के अन्तर्गत बैंकिंग प्रतियोगिता को प्रोत्साहन मिलता है, जिससे नई-नई समस्याये उत्पन्न होने लगती हैं और बैंकिंग व्यवसाय को हानि उठानी पड़ती है।

(५) इस प्रणाली मे एक स्थान की मन्दी का प्रभाव समस्त वैंकिंग प्रणाली पर पड़ता है, एक शाखा के व्यापार गिरने का प्रभाव अन्य शाखाओं पर भी पड़ता है।

इकाई बैंकिंग प्रणाली का सबसे उत्तम उदाहरण अमेरिका मे मिलता है जहाँ पर केवल एक बैंक की एक शाखा होती है। यद्यपि बैंको को एक सीमित क्षेत्र मे शाखायें खोलने का अधिकार होता है, व्यवसाय की कुशल और धन के हस्तान्तरण को सरल बनाने के लिए हर बैंक को प्रतिनिधित्व बैंकिंग प्रणाली (Correspondent Bank System) से सहायता लेनी पड़ती है। प्रतिनिधित्व बैंकिंग पद्धति से हमारा अभिप्राय उस प्रणाली मे है जिसमें कि गाव के बैंक शहरों के बैंकों से शहर का बैंक देश के बडे-बडे बैंको से, और इस प्रकार हर बैंक देश के सभी बैंको से, प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्बन्ध रखता है, अर्थात् सारे बैंको का आपस में व्यवहार चलता है और लेन-देन होता है।

यह प्रणाली इस विचार पर आधारित है कि बैंक की स्थापना और उसका कार्य समाज द्वारा होना अमेरिका में स्थानीय स्वामित्व वाली हजारों छोटी-छोटी बैंक खुली हुई है।

इस प्रणाली के लाभ वे ही हैं जो शाखा बैंकिंग प्रणाली के दोष हैं; और जो शाखा बैंकिंग प्रणाली के गुण हैं, वह इस प्रणाली के दोष हैं। अमेरिका में इस पद्धति के दोषो को दूर करने के लिए और उसमे आवश्यक सुधार लाने के लिए तथा उसमें एकाधिकारी प्रवृत्तियो को रोकने के लिए कुछ परिवर्तन कर दिये गये हैं। प्रथम, कुछ बैंको को थोडी-थोडी शाखायें खोलने का अधिकार दे दिया गया और दूसरे, वर्गीय बैंकिंग प्रणाली (Group Banking System) का प्रचार किया गया है जिसके अनुसार बहुत-से बैंको पर एक साथ कुछ थोडे-से व्यक्तियो का सामूहिक स्वामित्व रहता है, यद्यपि उनकी पूंजी, प्रबन्ध और कर्मचारी सब अलग-अलग होते हैं।

दोनो प्रणालियो मे से कौन-सी प्रणाली अधिक श्रेष्ठ है इसका निर्णय करना जरा कठिन हो जाता है क्योंकि प्रत्येक प्रणाली की स्थापना देश की परिस्थितियो के अनुकूल हुई है। इस सम्बन्ध में टामस (Thomas) का विचार है कि "हालाँकि दोनों ही पद्धतियाँ अपूर्ण हैं लेकिन दोनो की कार्य-विधि को देखते हुए यह ज्ञात होता है कि शाखा बैंकिंग प्रणाली अधिक अच्छी है।" परन्तु वास्तविकता यह है कि अमेरिका जैसे धनी देश मे जहाँ प्रति व्यक्ति आय बहुत अधिक है और जहाँ पर व्यावसायिक और औद्योगिक उन्नति शिखर पर पहुँच चुकी है, इकाई बैंकिंग प्रणाली ही अधिक उपयुक्त है। इसके विपरीत एक निर्धन देश में जहाँ पर व्यवसाय और उद्योगो का विकास तक नही हो पाया, जैसे, भारतवर्ष, वहा पर शाखा बैंकिंग प्रणाली अधिक उत्तम रहती है।

बैंकों के विभिन्न रूप

साधारणत:, बैंक निम्न प्रकार के पाये जाते हैं।

(१) व्यापारिक बैंक (Commercial Bank)।
(२) विदेशी विनमय बैंक (Foreign Exchange Bank)।
(३) औद्योगिक बैंक (Industrial Bank)।
(४) कृषक बैंक (Agricultural Bank)।
(५) सहकारी बैंक (Co-operative Bank)।
(६) भूमि-बन्धक बैंक (Land-Mortgage Bank)।
(७) केंद्रीय बैंक (Central Bank)।

(१) व्यापारिक बैंक (Commercial Bank)—पिछले अध्याय में इन बैंको के कार्यों का वर्णन किया जा चुका है। इस प्रकार के बैंको का मुख्य कार्य व्यापार की वित्त-सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करना है। यह अल्पकालीन ऋण प्रतिभूतियो, विनिमय बिलो, तैयार माल व बहुमूल्य वस्तुओ की आड पर देती हैं। यह बैंकिंग के अतिरिक्त, और भी अन्य प्रकार की सेवाओ को सम्पन्न करती है। यह बैंकें विदेशी विनिमय सम्बन्धी कार्यों मे भी भाग लेती है। भारतवर्ष मे अधिकतर सम्मिलित पूंजी बैंक इन्ही कार्यों को सम्पन्न करती है।

(२) **विदेशी विनिमय बैंक** (Foreign Exchange Bank)—इन बैंकों का मुख्य कार्य विदेशी व्यापार को वित्तीय सहायता प्रदान करना है, और विदेशी विनिमय सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाने का दायित्व भी इन्ही पर है। विदेशी व्यापार के अन्तर्गत हर देश के व्यापारी अपने देश की मुद्रा में ही भुगतान लेना पसंद करते हैं। इसलिए एक ऐसी सस्था का होना आवश्यक हो जाता है जो विभिन्न देशों की मुद्रा को एक दूसरे मे बदल सकें। विदेशी विनियमय बैंक का यही कार्य होता है। यह बैंक इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए विदेशी विनिमय बिलो का क्रय-विक्रय करते है साधारणतः इन बैंको को विनिमय बैंक कहा जाता है। इन बैंको का कार्यक्षेत्र इतना व्यापक है कि इनकी शाखाये विभिन्न देशो मे फैली रहती हैं। इसके अतिरिक्त इन बैंको के कुछ और कार्य भी हैं जैसे अन्तर्राष्ट्रीय ऋणो का भुगतान करना, भावी विनिमय-व्यापार (Forward Exchange), प्रतिभूतियो का आयात-निर्यात, विनिमय दरो में सन्तुलन स्थापित करना, और साधारण बैंको के कार्य करना।

भारतवर्ष में विनिमय बैंको का अभाव है। जो विनिमय बैंक यहाँ कार्य कर रहे हैं, वे विदेशी बैंको की शाखायें है। इसके अतिरिक्त कुछ व्यापारिक बैंक भी विनिमय बैंको का कार्य कर रही हैं।

(३) **औद्योगिक बैंक** (Industrial Bank)—इन बैंको का मुख्य कार्य उद्योग-धन्धो की वित्त-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है। यह अल्पकालीन और दीर्घ-कालीन दोनो प्रकार के ऋण प्रदान करती हैं। औद्योगिक वित्त की व्यवस्था करने के लिए एक अलग सस्था का होना अनिवार्य सा हो जाता है, क्योंकि देश की साधारण व्यापारिक बैंक दीर्घकालीन ऋण प्रदान नही कर सकते। वे केवल अपने ग्राहको की दैनिक आवश्यकता-ओ को पूरा करते हैं। दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना उनके सिद्धान्त और प्रकृति के विरुद्ध है, और फिर उनमें एक ही उद्योग में बडी मात्रा मे जोखिम मोल लेने की शक्ति भी नही होती। इन बैंको के साधारणत. निम्न कार्य होते है

(क) यह जनता से विशेष कर व्यापारियो से जमा प्राप्त करते हैं। यह अधिकतर दीर्घकालीन जमा को ही स्वीकार करते है, क्योकि इन्हे भी दीर्घकालीन ऋण देने पडते हैं।

(ख) यह बैंक उद्योगो के लिए दीर्घकालीन ऋण प्रदान करते है।

(ग) यह बैंक कुछ और सेवाये भी करती है जैसे औद्योगिक कम्पनियों के लिए हिस्सो का क्रय-विक्रय, उनके लिए विज्ञापन आदि की व्यवस्था करना, इत्यादि।

उद्योगपतियो को अपने उद्योगों के लिए एक बहुत बडी पूँजी की आवश्यकता रहती है। वे मशीन, बिल्डिंग आदि के लिए दीर्घकालीन ऋण प्राप्त करते है जो उन्हें औद्योगिक बैंकों से मिल जाते है। इसके अतिरिक्त उनको कुछ अल्पकालीन ऋणों की भी आवश्यकता पडती है जैसे मजदूरी, ब्याज चुकाने, कच्ची सामग्री आदि खरीदने के लिए। यह ऋण उन्हे व्यापारिक बैंको से मिल जाते हैं। प्राय. अल्पकालीन ऋणो की अपेक्षा उद्योगपतियो को दीर्घकालीन ऋणो की अधिक आवश्यकता होती है। इसलिए औद्योगिक बैंको को भी एक बडी मात्रा में पूँजी की व्यवस्था करनी पडती है, और साधारणत वे मिश्रित पूंजी बैंक होते हैं जो कि अपनी पूँजी अपने हिस्सों को बेच कर,

दीर्घकालीन जमा स्वीकार करके, और ऋण पत्र (Debentures) निकाल कर प्राप्त करते हैं।

भारतवर्ष में इन बैंको का विशेष रूप से अभाव है। कुछ वर्षों से देश के अन्दर औद्योगिक वित्तीय प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation) की स्थापना हुई है जो कि औद्योगिक बैंको के कार्यों को कर रहा है। जर्मनी और जापान में इन बैंकों का अधिक चलन है।

(४) **कृषक बैंक** (Agricultural Bank)—कृषि उद्योग की भी अपनी अलग समस्यायें होती हैं। उनको भी पूँजी की आवश्यकता होती है, परन्तु वे व्यापारियों और उद्योगपतियो की तरह प्रतिभूतियाँ नही दे सकते। उनकी प्रतिभूतियो की प्रकृति बिलकुल भिन्न होती है जिनको कि व्यापारिक एव औद्योगिक बैंक स्वीकार नही करते। कृषको को भी दो प्रकार के ऋणो की आवश्यकता होती हैं। एक तो औजार, बीज, खाद आदि के लिए अल्पकालीन ऋणों की और दूसरे भूमि में स्थाई सुधार प्राप्त करने के लिए दीर्घकालीन ऋणो की। इन सब कारणो से जहाँ तक दीर्घकालीन ऋणो का सम्बन्ध है, व्यापारिक बैंक ऐसे ऋणो को विशेष कर प्रदान नही कर सकता, क्योंकि कृषि एक बहुत ही अनिश्चित उद्योग है। दूसरे इस उद्योग मे माँग के अनुसार पूर्ति में जल्दी-जल्दी परिवर्तन नही किये जाते और तीसरे किसान अपने ऋणो के लिए एक अच्छी जमानत नही दे सकते और व्यापारिक बैंको मे भी जोखिम मोल लेने की शक्ति नही होती। इसलिए कृषि सम्बन्धी वित्तीय आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए विशेष प्रकार के बैंक पाये जाते हैं जिनका कि मुख्य कार्य यही होता है। यह बैंक अधिकतर दो प्रकार के होते हैं, एक तो सहकारी बैंक, दूसरे भूमि-बन्धक-बैंक।

(५) **सहकारी बैंक** (Co-operative Bank)—सहकारी बैंको का मुख्य उद्देश्य कृषि के लिए किसानो को कम सूद पर अल्पकालीन ऋण देना है। यह बैंक अपनी पूँजी निम्न प्रकार से इकट्ठी करते है।

(क) अपने सदस्यो को हिस्से बेच कर।

(ख) जमा स्वीकार करके।

(ग) ऋण प्राप्त कर के।

बैंक द्वारा जो भी ऋण लिये जाते है, उनके भुगतान की पूरी जिम्मेदारी प्रत्येक सदस्य पर होती हैं क्योंकि इन बैंको का सगठन असीमित दायित्व (unlimited liability) के सिद्धान्त के आधार पर किया जाता है, किन्तु कुछ दशाओ में विधान द्वारा किसी भी सदस्य को सीमित दायित्व की स्वतन्त्रता दी जा सकती है। इन बैंको का जन्म सर्वप्रथम जर्मनी में हुआ था और आजकल यह प्रत्येक देश में पायी जाती है। इन को सहकारी साख समितियो (Co-operative credit Societies) के नाम से भी पुकारा जाता है।

(७) **भूमि बन्धक बैंक** (Land Mortgage Bank)—भूमि-बन्धक बैंक कृषि-उद्योग के दीर्घकालीन ऋण देते हैं। यह ऋण अधिकतर भूमि में स्थाई सुधार के लिए प्राप्त किये जाते हैं और उन्हे भूमि को गिरवी रख कर दिया जाता है। किसान अपने

खेती में ट्यूब-वेल लगवाने, कुएँ खुदवाने, सड़कें बनवाने, बैल खरीदने आदि के लिए ऋण लेता है जिसको कि वह कई वर्षों में चुका पाता है। इसलिए इन ऋणों की अवधि पाँच से लेकर बीस वर्ष तक की होती है, और इनका भुगतान किश्तों द्वारा किया जाता है। इसी प्रकार इन बैंकों का उद्गम सर्वप्रथम १८५२ में फ्रान्स में हुआ था और अब यह लगभग समस्त देशों में पाये जाते हैं।

अधिकतर भूमि-बन्धक बैंक मिश्रित पूँजी वाले होते हैं। कुछ स्थानों पर यह बैंक सहकारिता के आधार पर बनाये गये हैं और कुछ स्थानों पर आभास सहकारी भूमि-बन्धक बैंक (Qausi Co-operative Land Mortgage Bank) के रूप में भी पाये जाते हैं जिनके सदस्य ऋण लेने वाले और ऋण देने वाले दोनों ही होते हैं और जिनका दायित्व सीमित होता है।

(७) केन्द्रीय बैंक (Central Bank)—प्रत्येक देश में आधुनिक काल में बैंकिंग प्रणाली की सबसे बड़ी विशेषता केन्द्रीय बैंकों की स्थापना है। केन्द्रीय बैंक भी साधारण बैंकों की भाँति होती है। परन्तु इसको केन्द्रीय बैंक इसलिए कहा जाता है कि यह देश की बैंकिंग प्रणाली के केन्द्र के समान होती है जिसके चारों ओर देश की अन्य छोटी-छोटी बैंक चक्कर काटती है। यह बैंक प्रत्येक देश में होती है और इनका मुख्य कार्य देश की समस्त बैंकिंग प्रणाली को नियन्त्रित करना और द्रव्य-सम्बन्धी समस्याओं को सुलझाना होता है। यह बैंक छोटी बैंकों से प्रतियोगिता नहीं करती, बल्कि उनको समयानुसार रक्षण (guidance) देती है। यह सरकार की बैंक होती है और देश की चलन तथा साख व्यवस्था पर नियन्त्रण रखती है। साराश में यह एक राष्ट्रीय बैंक होती है, जिसके मुख्य कार्य देश में मौद्रिक साख विनियोग और वित्तीय समस्याओं को सुलझाना है।

अच्छी बैंकिंग प्रणाली की विशेषताएं

उपरोक्त विवेचन में बैंकिंग का महत्व स्पष्ट हो जाता है, और यह कहना अनुचित न होगा कि देश की औद्योगिक एवं व्यापारिक उन्नति देश की बैंकिंग व्यवस्था पर निर्भर करती है। इसलिए प्रत्येक देश में एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली होनी चाहिए, यदि वह देश उन्नति करना चाहता है। बैंक समाज को भी कई लाभ पहुँचाते हैं, जैसे देश में बचत की आदत को प्रोत्साहन देना, बचत करने वालों तथा विनियोगियों में सम्बन्ध स्थापित करना और साख का निर्माण करना। इसलिए एक अच्छी बैंकिंग प्रणाली में निम्न बातें होना आवश्यक है:—

(१) बैंकिंग प्रणाली देश की आर्थिक परिस्थितियों के अनुकूल होनी चाहिए, ताकि वह समाज के हर वर्ग की आवश्यकताओं को पूरा कर सके, अर्थात् प्रत्येक देश में कृषि-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए कृषि-बैंक उद्योग, और व्यापार की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यापारिक बैंकें और विदेशी व्यापार को आर्थिक सहायता पहुँचाने के लिए विनिमय बैंक होना चाहिए।

(२) बैंकिंग प्रणाली का संगठन इस प्रकार होना चाहिए कि उस पर पूरा

नियन्त्रण रक्खा जा सके ताकि साख का निर्माण देश की व्यापारिक आवश्यकताओं के अनुसार घटे और बढे। साराश में बैंकिंग प्रणाली लोचपूर्ण होनी चाहिए।

(३) आधुनिक समाज में जब कि धन का वितरण समान नहीं होता और मनुष्यों की आमदनी इतनी थोडी होती है, यह आवश्यक हो जाता है कि बैंकिंग प्रणाली का सगठन ऐसा होना चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति की बचत एकत्रित की जा सके और उसका उपयोग किया जा सके।

(४) बैंकिंग प्रणाली का सगठन इस प्रकार होना चाहिए कि विभिन्न अंगो के बीच पूर्ण सहयोग और आपसी सम्बन्ध स्थापित रहे। इस प्रकार न तो प्रतियोगिता ही हो सकेगी और न सेवाओं की दो वार्गी (Duplication) ही होने पायेगी। इसलिए देश की बैंकिंग प्रणाली को सुसगठित और विकसित होना चाहिए।

बीसवां अध्याय

केन्द्रीय बैंक (Central Bank)

केन्द्रीय-बैंक देश का मुख्य बैंक होता है जो देश के मौद्रिक तथा बैंकिंग ढांचे में सचालक का कार्य करता है। ये बैंक बीसवी शताब्दी की ही देन हैं। पिछली शताब्दी के अन्त मे योरुप के लगभग प्रत्येक देश मे केन्द्रीय-बैंक स्थापित हो चुके थे और अन्य देशो में इनकी स्थापना इसी शताब्दी मे हुई है। सयुक्त-राष्ट्र अमेरिका मे भी केन्द्रीय-बैंक की स्थापना कुछ ही वर्ष पूर्व हुई है। सबसे पहले इगलैण्ड में केन्द्रीय-बैंक स्थापित हुआ था और आधुनिक प्रगतियो के अनुकूल सबसे पहला केन्द्रीय-बैंक स्वीडन में स्थापित हुआ था। बीसवी शताब्दी की आर्थिक-मन्दी और प्रथम महायुद्ध के कारण अनेको बैंक फेल हो गये और लगभग सभी पर आर्थिक-सकट आये। देशो में जनहित के लिये साख-मुद्रा का नियत्रण करने के लिये एक ऐसे बैंक की आवश्यकता अनुभव होने लगी, जो देश की साख तथा मौद्रिक-नीति का निर्माण और सचालन कर सकती हो। सन् १६२० ई० में ब्रुसेल्स में एक अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-सम्मेलन हुआ था, जिसमें सभी देशो ने एकमत होकर यह प्रस्ताव पास किया कि "उन सभी देशो मे जिनमे अभी तक केन्द्रीय बैंक नही स्थापित हुए हैं, इनका स्थापन केवल बैंकिंग तथा मुद्रा-व्यवस्था के सगठन के लिये ही नही प्रत्युत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-सहयोग प्राप्त करने के लिये भी शीघ्र ही हो जाना चाहिये।" इस प्रस्ताव के अधीन अब ससार के सभी देशो मे केन्द्रीय बैंक स्थापित हो चुके हैं। केन्द्रीय बैंक एक ऐसी सस्था है जो किसी देश मे मुद्रा और साख दोनों का सम्बन्ध स्थापित करती है और देश के हित में उनका उचित नियत्रण करके देशी और विदेशी मूल्यो मे स्थिरता रखती है और देश की बैंकिंग प्रणाली का सगठन करती है। केन्द्रीय बैंक देश के सभी बैंको का स्वामी है। देश की सम्पूर्ण बैंकिंग सस्थाएँ इसी के अधीन चलती है और यह उनके लिये एक मित्र, दार्शनिक और पथ-प्रदर्शक (Friend, Philosopher and Guide) का कार्य करता है। डीकोक (De-Kock) का कहना है कि "एक साधारण बैंक व्यापारिक उद्देश्यो पर चलता है इसलिये कि वह लाभ प्राप्त करे और दूसरी ओर एक केन्द्रीय बैंक प्रारम्भिक रूप से देश की वित्तीय और आर्थिक स्थिरता की सुरक्षा करने का दायित्व अपने कंधो पर लेता है। यह सम्पूर्ण देश के कल्याण और जनता के हित में कार्य करता है तथा इसका प्राथमिक उद्देश्य लाभ कमाना नही है।"[1]

इस प्रकार लगभग प्रत्येक देश मे केन्द्रीय बैंक अपने कार्यों के नियमो का निर्माण निम्नलिखित सिद्धान्तो के आधार पर करता है :

१—"An ordinary bank is run on business lines with a view of earning profits ; and a central bank, on the other hand, is primarily

उद्देश्य (Aims)

(१) केन्द्रीय-बैंक का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नही, प्रत्युत देश मे आर्थिक स्थिरता स्थापित करना, बैंकिंग-प्रणाली का सगठन करना और देश के हित मे राजस्व-सम्बन्धी जिम्मेदारियों को पूरा करना होना चाहिये।

(२) देश के हित के लिए इसे ऋण-दाता का कार्य करना चाहिए तथा विभिन्न राज्यों और बैंकों को आर्थिक सहायता प्रदान करनी चाहिए।

(३) इसकी नीति प्राय स्वतन्त्र होनी चाहिए अर्थात् इसे किसी भी राजनीतिक दल के विचारो से प्रभावित नहीं होना चाहिए।

(४) इसे सदैव ही इस बात के लिए प्रयत्नशील होना पडता है कि जब कभी देश मे आर्थिक असंतुलन और अस्थिरता उत्पन्न हो जाती है तो केन्द्रीय बैंक को तुरन्त ही क्रियात्मक नीति अपनानी पडती है।

(५) अन्त मे केन्द्रीय बैंक देश की मुद्रा साख-सम्बन्धी नीतियों पर नियन्त्रण करने के उद्देश्य से सरकार और बैंको का बैंक होना चाहिए और इसीलिए इसको देश की मुद्रा-चलन का एकमात्र अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

केन्द्रीय-बैंक के कार्य (Functions of the Central Bank)

केन्द्रीय बैंको के कार्यों के सम्बन्ध मे विभिन्न लेखको ने अपने-अपने मत प्रकट किये हैं। हॉट्रे (Hantrey) के अनुसार इसका मुख्य कार्य देश में अन्तिम ऋणदाता (Lender of the last resort) का कार्य करना होता है और इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए उसे नोट-प्रकाशन का एकाधिकार दिया जाता है। वीरा स्मिथ (Vera Smith) का दूसरी ओर मत है कि "केन्द्रीय-बैंकिग की प्राथमिक परिभाषा वह बैंकिंग प्रणाली है जिसमें एक अकेली बैंक को नोट-प्रकाशन का या तो पूर्ण या आंशिक एकाधिकार प्राप्त होता है, और नोट प्रकाशन के इसी एकाधिकार से ही आधुनिक केन्द्रीय-बैंको की विशेषताएँ और गौण कार्य उत्पन्न हुए थे।"[१]

इसके विपरीत शॉ (Shaw) का विचार है कि केन्द्रीय-बैंक का एकमात्र कार्य साख का नियन्त्रण करना है और लान्सी (Launcey) कहते हैं कि निकासी (clearing)

---

meant to shoulder the responsibility of safeguarding the financial and economic-stability of the country, it acts only in the public interest and for the welfare of the country as a whole, and without regard to profit as a primary consideration"

—Central Banking by De-Kock

१—The primary definition of central banking is a banking-system in which a single bank has either a complete or a residuary-monopoly in the note-issue" and that "it was out of monopolies in the note-issue that were derived by the secondary functions and characteristics of our modern central banks"

ही केन्द्रीय-बैंकिंग का मुख्य कार्य है। किश (Kisch) और एल्किन (Elkin) के शब्दों में "केन्द्रीय-बैंक का मुख्य कार्य मौद्रिक-मान की स्थिरता को बनाये रखना है जिसके अन्तर्गत मौद्रिक-प्रचलन भी सम्मिलित है।"[1]

इसी प्रकार स्प्रेग (Spregue) ने अपना मत प्रकट करते हुए कहा है कि "केन्द्रीय-बैंकों के विशेष कार्यों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है। वे सरकार के आर्थिक ऐजेण्टो का कार्य करते है, नोट-प्रकाशन के लगभग एकाधिकार के द्वारा बैंक के चलन पर नियन्त्रण रखने की शक्ति रखते है, और क्योंकि अन्य बैंको का बहुत सा रिजर्व धन उनके पास जमा रहता है इसलिए साख के समुचित ढाँचे की बुनियाद के लिए वे प्रत्यक्ष-रूप से उत्तरदायी होते हैं। यह अन्तिम कार्य ही केन्द्रीय-बैंक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य होता है।"[2]

बैंक ऑफ इगलैण्ड के गवर्नर ने सन् १९२६ ई० में भारतीय मुद्रा-चलन और वित्त पर आयोजित रॉयल कमीशन (Royal Commission on Indian Currency and finance) के सम्मुख केन्द्रीय-बैंक के कार्यों का वर्णन इस प्रकार किया था--"इसे नोट प्रकाशन का पूर्ण अधिकार होना चाहिए; इसे कानूनी ग्राह्य मुद्रा की निकासी और उसको चलन से निकालने का सूत्र और एकमात्र सूत्र होना चाहिए। यह सरकार के सम्पूर्ण कोषो का रक्षक होना चाहिए, देश की अन्य बैंकों और बैंको की शाखाओं की समस्त-निधियों का भी रक्षक होना चाहिये। कहने के लिए इसे एक ऐजेन्ट होना चाहिए जिसके द्वारा सरकार की देशी और विदेशी आर्थिक-क्रियाएँ सम्पन्न की जावें। केन्द्रीय-बैंक का यह भी कर्तव्य होना चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो सके वह देश के चलन के आन्तरिक और बाह्य मूल्य को स्थिर बनाये रखते हुए उसमें चलन-प्रणाली का उपयुक्त विस्तार और सकुचन करे। जब आवश्यक हो तो यह सकटकाल में वह अन्तिम स्रोत होगा जिससे स्वीकृत बिलो को फिर से भुनाकर या अल्पकालीन सरकारी प्रतिभूतियों या कागजों की आड़ पर ऋण प्राप्त किया जा सके।"[3]

१--"The essential function of a central bank is the maintenance of the stability of the monetary standard" which "involves circulation"

२--"The special functions of central banks may be grouped under three heads--they serve as fiscal agents of goverement, they have large power of control over the currency through the more or less complete monopoly of note-issue, and finally since they hold a large part of the reserve of other banks, they are directly responsible for the foundation of the entire structure of credit. This is by far the most important function of central bank."

३--"It should have the sole right of note issue, it should be the channel and sole channel for the output and intake of legal tender currency. It should be the holder of all the government balances, the holder of all the reserves of other banks and branches of banks

कैम्ब्रिज अर्थशास्त्रियों ने केन्द्रीय बैंक के महत्व और उसके कार्यों पर विशेष रूप से जोर दिया है, परन्तु लन्दन अर्थशास्त्रियों ने केन्द्रीय-बैंक के कार्यों को अधिक महत्व देने के मत की काफी आलोचना की है जिनमें विशेषकर केनन हैं।

उपरोक्त विवेचन से यह भली-भाँति विदित हो गया होगा कि लेखकों में केन्द्रीय-बैंक के कार्यों के सम्बन्ध में कितना मतभेद है। केन्द्रीय-बैंक के कार्यों में आरम्भकाल से अब तक बराबर विस्तार होता रहा है। आधुनिक-काल में केन्द्रीय-बैंक किसी एक कार्य को ही नहीं करता, प्रत्युत अनेकों कार्यों को एक साथ करता है। मोटे तौर पर केन्द्रीय-बैंक के कार्यों को चार भागों में विभक्त किया जाता है —

(क) नोट छापने वाली एजेन्सी के रूप में;
(ख) राज्य के बैंक के रूप में;
(ग) बैंकों के बैंकर के रूप में;
(घ) साख पर नियन्त्रण द्वारा मुद्रा-बाजार के अभिरक्षक (Guardian) के रूप में।

डीकोक (De-kock) ने केन्द्रीय-बैंक के निम्न कार्य बताये हैं :—

(१) कागजी मुद्रा की निकासी,
(२) सरकार के लिए साधारण बैंकिंग कार्य और एजेन्सी-सेवाएँ सम्पन्न करना,
(३) व्यापारिक-बैंकों के नगद-कोषों की रक्षा करना,
(४) राष्ट्र को धात्विक-कोष की रक्षा करना,
(५) विनिमय-बिलों और अन्य साख-पत्रों को जो व्यापारिक-बैंकों द्वारा प्रस्तुत किये जाएँ, दुबारा भुनाना,
(६) अन्तिम ऋणदाता के दायित्व को स्वीकार करना,
(७) निकास-घरों का कार्य करना,
(८) साख पर नियन्त्रण करना।

अब हम उपरोक्त कार्यों का विस्तार से उल्लेख करेंगे।

---

in the country. It should be the agent, so to speak, through which the financial operation at home and abroad of the government would be performed It would further be the duty of a central bank to effect, so far as it could, suitable contraction and suitable expansion in addition to aiming generally at stability and to maintain that stability within as well as without. When necessary it would be the ultimate source from which the emergency credit might be obtained in the form of rediscounting of approved bills or advances on approved short securities, or government paper"—vide Central Banks—Kisch and Elkin, Page—105

कागजी-मुद्रा की निकासी

सर्वप्रथम नोट छापने का कार्य सरकार करती थी। फिर यही कार्य बैंकों द्वारा किया जाने लगा। किन्तु जब यह काम बैंके ठीक प्रकार से नही कर सकी तो यह अधिकार केन्द्रीय-बैंकों को दे दिया गया। नोट छापने के सम्बन्ध में तो सरकार को भी कोई विशेष सफलता प्राप्त नही हुई थी। बात यह है कि यदि ऊपर से देखा जावे, तो नोटों के प्रकाशन में कोई विशेष कठिनाइयाँ नही होती। परन्तु यदि नोटों की मात्रा देश की आवश्यकताओं से अधिक हो जावे तो देश में मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जावेगी और यदि नोटों की मात्रा कम रहेगी तो देश के उद्योग-धंधे पूर्ण रूप से उन्नति नही कर पावेंगे। अनुभव यह बताता है कि मुद्रा और अन्य असाधारण परिस्थितियों में सरकार ने मनमानें नोट छापे और व्यापारिक-बैंकों ने भी अधिक लाभ कमाने के लालच से नोटों की अधिक निकासी की। परन्तु केन्द्रीय-बैंक में, क्योंकि इस पर देश में साख-नियंत्रण की पूर्ण-जिम्मेवारी थी, इसलिए यह आशा की गई कि वह इस कार्य को अधिक सफलतापूर्वक कर सकेगा। इसलिए केन्द्रीय-बैंक को नोट-प्रकाशन का एकाधिकार सौंप दिया गया। केन्द्रीय- बैंक को एकाधिकार देने के कारण यह हैं —

(१) नोट-प्रकाशन के सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि उसमें समानता का गुण हो और उस पर सरकारी नियन्त्रण तथा निरीक्षण भी रहे। इन सब बातों को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि नोट-प्रकाशन का कार्य विभिन्न संस्थाओं द्वारा न किया जाकर केवल एक संस्था द्वारा किया जावे। ऐसी संस्था केन्द्रीय-बैंक ही हो सकती है। इसलिए केन्द्रीय-बैंक को ही नोट-प्रकाशन का एकाधिकार सौंपना उपयुक्त था।

(२) वर्तमान-युग में बैंकिंग-व्यवस्था-कार्य उन्नति कर चुका है और बैंकों द्वारा निकाले गये साख-पत्रों का प्रचलन भी बढ़ गया है, जिसके कारण साख-मुद्रा पर नियन्त्रण रखने की समस्या गम्भीर हो गई है। ऐसा विचार किया जाता है कि केन्द्रीय-बैंक नोट-प्रकाशन का एक अधिकार प्राप्त होने के कारण उसका सरलता-पूर्वक नियन्त्रण कर सकती है,क्योंकि बिना चलन की वृद्धि के साख-मुद्रा नही बढ़ाई जा सकती। इसलिए केन्द्रीय-बैंक चलन की मात्रा को नियन्त्रित करके साख-मुद्रा के विस्तार पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकती है।

(३) नोट-प्रकाशन एक लाभप्रद कार्य है। क्योंकि केन्द्रीय-बैंक राज्य की ओर से यह कार्य करती है इसलिए सरकार को नोट-प्रकाशन के लाभों को प्राप्त करने में काफी सुविधा रहती है।

(४) क्योंकि देश की मुद्रा का आन्तरिक और बाह्यमूल्य स्थिर रखने का दायित्व केन्द्रीय-बैंक पर होता है, इसलिए इस कार्य में उसे नोट-प्रकाशन के एकाधिकार से काफी सहायता मिलती है। देश के मूल्य-स्तर में भी और विदेशी-विनिमय-दरों में भी उतार-चढ़ाव कम होते हैं।

(५) जनता के विश्वास को बनाये रखने के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि नोट-प्रकाशन का कार्य ऐसी संस्था को सौंपा जावे जिसे राज्य की सहायता उपलब्ध हो

और केन्द्रीय-बैंक ही ऐसी संस्था है जिसे राज्य की सहायता प्राप्त होती है। इसलिए केन्द्रीय-बैंक को नोट-प्रकाशन का एकाधिकार देना ठीक था।

सरकारी बैंकर

केन्द्रीय-बैंक सरकारी बैंकर के रूप मे विभिन्न सरकारी विभागो के खातों और हिसाबो को रखती है और सरकारी कोषो का सरक्षण करती है। सरकार की जितनी भी आय है वह सब केन्द्रीय-बैंक मे ही जमा की जाती है। सकटकाल मे और आवश्यकता पडने पर केन्द्रीय-बैक सरकार के लिए अल्पकालीन ऋणो का प्रयत्न करती है। यह सरकार की ओर से सभी आर्थिक-मामलो की देख-भाल करती है। सरकार की ओर से यह विदेशी मुद्राओ तथा प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय भी करती है। इसके अतिरिक्त यह समय-समय पर मौद्रिक तथा बैकिंग-मामलो मे सरकार को सलाह भी देती रहती है। इस रूप में केन्द्रीय-बैंक सरकार के आर्थिक सलाहकार का कार्य करती है। इसके अतिरिक्त मुद्रा, साख, विदेशी-विनिमय और लोकऋण सम्बन्धी सारे नियमो का निर्माण केन्द्रीय-बैंक की सलाह से किया जाता है। "केन्द्रीय-बैक हर जगह सरकार के बैंकर का कार्य करते हैं। केवल इसीलिए ही नही कि यह सरकार के लिए अधिक सुविधाजनक और मितव्ययी हो सकते हैं, प्रत्युत इसलिए कि राजस्व और मौद्रिक समस्याओ मे एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है।"[१]

व्यापारिक-बैंकों के नगद कोषों की रक्षा करना

केन्द्रीय-बैंक देश की अन्य बैंको के नगद कोषो की रक्षा करता है। बात यह है कि बैंकों की कुल जमा का एक निश्चित प्रतिशत उसे अपने पास नगदी के रूप मे रखना पडता है, ताकि ग्राहको के मागने पर वह भुगतान कर सके। इसके अतिरिक्त जो नगद राशि बैंको के पास रह जाती है, वह उनको केन्द्रीय-बैंक के पास जमा करनी पडती है। इन दोनो प्रकार की राशियो के योग को ही नगद-कोष (Cash Reserve) कहते हैं। अन्य बैंको द्वारा केन्द्रीय-बैंक के पास नकद राशि जमा करने की प्रथा अधिक प्राचीन नही है। आरम्भ में यह केन्द्रीय बैंक की स्वेच्छा पर निर्भर था। परन्तु बाद में कुछ देशो ने इस पर वैधानिक नियन्त्रण लगा दिए, जैसे कि अमेरिका और भारत में। इगलैण्ड मे इस प्रकार का कोई बन्धन नही है। वास्तव मे इस मे कई लाभ हैं —

(अ) केन्द्रीय-बैंक के पास नगद-राशि जमा कराने से व्यापारिक-बैंको को केवल अपना ही सहारा नही होता, प्रत्युत सकट के समय मे केन्द्रीय-बैंक से भी सहायता प्राप्त हो सकती है।

१—Central banks everywhere operate as bankers to the state, not only because it may be more convenient and economical to the state but also because of the intimate connection between public-finance and monetary affairs."

—Vide De Kock: Central Banking—P. 64

(ब) इस नीति से बैंको की साख-निर्माण-शक्ति लोचपूर्ण हो जाती है। अब वे अपने पास एक अधिक मात्रा में नकद कोष रखे बिना मुद्रा की बढ़ती हुई माँग को केन्द्रीय-बैंकों की सहायता से पूरी कर सकती है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय-बैंक आर्थिक-संकट के समय में किसी एक या अनेक बैंको को सहायता दे सकती है और केन्द्रीय-बैंक को व्यापारिक-बैंको की साख-निर्माण शक्ति पर नियन्त्रण करने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो जाता है। इसका पूर्ण विवरण आगे इसी अध्याय मे दिया गया है।

(स) इस नीति से बैंको के नकद कोषो का अधिकतम उपयोग प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि नकद कोष विभिन्न बैंकों के पास न रहकर एक स्थान पर केन्द्रित रह जाते हैं, इसलिए उनके प्रयोग का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। इसके अतिरिक्त बैंको का आपसी लेन-देन केन्द्रीय-बैंक द्वारा होता है। वे द्रव्य का प्रयोग न करके केन्द्रीय-बैंक के नाम चेक काटकर एक दूसरे को भुगतान कर देते हैं और केन्द्रीय-बैंक नकदी मे भुगतान न करके केवल भुगतान की राशि को एक बैंक के खाते मे निकालकर दूसरे बैंक के खाते मे जमा कर देता है।

राष्ट्र के धात्विक-कोष की रक्षा करना

केन्द्रीय-बैंक पर देश के समुचित धात्विक-कोषो को संरक्षण करने का दायित्व होता है और वह सरकार द्वारा निर्धारित मुद्रा-मान को बनाये रखने का दायित्व भी स्वीकार करता है। इन कार्यो का जन्म इस कारण होता है कि वह नोट-प्रकाशन करने का मुख्य बैंक है और बैंको के नकद कोषो का रक्षक भी। केन्द्रीय-बैंक को देश के स्वर्ण-कोषों तथा विदेशी-विनिमय-कोषो का संरक्षण करने की आवश्यकता इसलिए भी होती है कि उसको देश के चलन के बाद मूल्य स्थिर रखना पडता है, जिसको सम्पन्न करने के लिए उसको विदेशी मुद्राओ का सचय करना पडता है।

स्वर्णमान की विवेचना करते समय यह कहा जा चुका है कि स्वर्णमान वाले देशो मे स्वर्ण का आयात-निर्यात स्वतन्त्रतापूर्वक हो सकता है, और इन देशो मे कानून के अनुसार कागजी-मुद्रा सोने या सोने के सिक्को में परिवर्तित हो सकती है। ऐसे देशो मे जब साख का विस्तार अधिक हो जाता है तो मुद्रा-प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो जाती है जिससे लोग बैंको से नकदी निकालना प्रारम्भ कर देते हैं और केन्द्रीय-बैंको से सोना भी अधिक मात्रा में निकाला जा सकता है ताकि सौदो का भुगतान किया जा सके। यह वह स्थिति है जिसके स्थापित हो जाने से देश मे स्वर्ण-कोषो को घटाने वाली भीतरी परिस्थितियाँ स्थापित हो जाती है। इसके अतिरिक्त जब अन्तर्राष्ट्रीय मूल्यो की अपेक्षा देशी मूल्य ऊँचे हो जाते है तब निर्यात की अपेक्षा आयात को अधिक प्रोत्साहन मिलता है। व्यापारिक-सतुलन बिगड़ जाता है, और सोने का निर्यात आरम्भ हो जाता है। यह स्थिति उन बाहरी परिस्थितियों को जन्म देती है जिससे देश का स्वर्ण-कोष घटने लगता है। देश के चलन के इन परिवर्तनो के कारण जब विदेशी पूंजीपतियो का देशी चलन के प्रति विश्वास समाप्त हो जाता है तब भी स्वर्ण का निर्यात आरम्भ हो जाता है। क्योंकि वे अपनी जमा वापस लेने लगेंगे इसलिए केन्द्रीय-बैंक देशी तथा विदेशी-क्षेत्र मे होने वाले परिवर्तनो को रोकने के हेतु देश के धात्विक-कोषों के संरक्षण का कार्य करती है।

विनिमय-बिलों और अन्य साख पत्रों का दुबारा भुनाना तथा अन्तिम ऋणदाता का कार्य्य करना (lender of the last re

केन्द्रीय-बैंक अन्तिम ऋणदाता का भी कार्य करता है और अन्य व्यापारिक-बैंकों को यह उस समय आर्थिक सहायता प्रदान करता है जबकि उनके आन्तरिक और बाहरी दोनो ही आर्थिक साधनो का अन्त हो जाता है। इस कार्य को वह दुबारा भुनाने की क्रियाओ द्वारा सम्पन्न करता है। सकुचित अर्थ मे दुबारा भुनाने की क्रियाओं से (उन प्रथम-श्रेणी के व्यापारिक तथा कृषि-सम्बन्धी बिलो के दुबारा भुनाने से) हमारा अभिप्राय--"व्यापारिक-बैंकों की साख को प्रत्यक्ष या परोक्ष-ढग से केन्द्रीय-बैंक के अतिरिक्त-साख में परिणत करने से है"।[1] इस प्रकार दुबारा भुनाने की क्रियाओं मे बैंक तथा अन्य आर्थिक-सस्थाओ द्वारा बिलों, प्रामिसरी नोट या सरकारी-प्रतिभूतियों की आड पर लिए गये अल्पकालीन-ऋण भी सम्मिलित है। साधारण शब्दो मे यो कहा जा सकता है कि व्यापारिक-बैंक जिन हुडियो, बिलो, प्रतिभूतियो को आड पर जनता को अल्पकालीन-ऋण देती है उन्ही की आड पर दुबारा केन्द्रीय-बैंक व्यापारिक-बैंको को ऋण देती है। क्योंकि व्यापारिक-बैंको को यह विश्वास होता है कि उनको समय आने पर केन्द्रीय बैंक से आर्थिक सहायता प्राप्त हो जावेगी। इसीलिए वे अपने पास एक थोडी मात्रा में नकदी रखकर शेष केन्द्रीय-बैंक में जमा कर देती हैं। परन्तु केन्द्रीय-बैंक हर समय आर्थिक-सहायता नही देते, केवल आर्थिक-सकट के समय ही यह सहायता प्रदान की जाती है। इससे दो लाभ है--एक तो व्यापारिक-बैंक सतर्कता से काम करते हैं, दूसरे केन्द्रीय-बैंक की शक्ति आर्थिक-सकटो के लिए सचित रहती है। दुबारा भुनाने की क्रियाओ का ही यह परिणाम होता है कि जनता का बैंको के प्रति विश्वास बना रहता है। केन्द्रीय-बैंक भी व्यापारिक-बैंको को ऋण देते समय बैंक-विशेष की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में पूरी जाँच-पडताल कर लेता है। यदि केन्द्रीय-बैंक को यह पता लगता है कि ऋण प्राप्त करने वाला सट्टे की क्रियाओ मे भाग लेता है या बिना किसी धरोहर के रुपया उधार देता है तब वह उसे दुबारा भुनाने की सुविधा नही प्रदान करता। अतएव केन्द्रीय-बैंक केवल उसी बैंक को आर्थिक सहायता देता है, जिसका आधार दृढ रहता है।

निकास-गृह का कार्य्य करना

केन्द्रीय-बैंक निकास-गृह अथवा समाशोधन-गृह (Clearing Houses) का कार्य भी करता है और कही-कही पर उनकी व्यवस्था भी करता है। प्रो० राजिग के अनुसार "निकास-गृह किसी स्थान-विशेष के बैंको का एक सामान्य-सगठन है जिसका मुख्य उद्देश्य चेको द्वारा उत्पन्न हुए आपसी लेन-देन का हिसाब करना होता है।"[2]

१—"The conversion directly or indirectly of commercial-bank credit into additional central bank credit"—De-Kock.

२—Clearing house is a general organisation of banks of a

इस प्रकार निकास-गृह एक ऐसा बैंक होता है जिसका प्रभुत्व देश के अन्य बैंकों पर होता है, जो विभिन्न बैंकों के आपसी लेन-देन इस प्रकार हिसाब करता है कि भुगतान नकदी में न होकर केवल खातों में आवश्यक परिवर्तन करके ही हो जाता है। इस प्रकार के निकास-गृहों की व्यवस्था सर्वप्रथम इंगलैण्ड में हुई थी। इनकी कार्यप्रणाली निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जावेगी। मान लिया कि अ, ब, स, द चार बैंक हैं जिनके खाते केन्द्रीय-बैंक में खुले हुए हैं। चारों बैंकों में एक-दूसरे के नाम के चेक बड़ी सख्या में आते हैं। इस प्रकार आपसी लेन-देन की सूची यों है —

'अ' बैंक को भुगतान करना है, 'ब' बैंक को २००) रुपए, 'स' को १५०) रुपए और 'द' बैंक को २५०) रुपए।

इस प्रकार 'अ' बैंक को कुल भुगतान ६००) रुपए का करना है। 'ब' बैंक को भुगतान करना है, 'अ' को ३००) रुपए, स को ५०) रुपए और 'द' को ३५० रुपए।

इसप्रकार 'ब' बैंक को कुल ७००) रुपए का भुगतान करना है। 'स' बैंक को 'अ' बैंक के २००) रुपए, 'ब' बैंक के १००) रुपए और 'द' बैंक के १००) रुपए भुगतान करने हैं।

इस प्रकार 'स' को कुल ४००) रुपए का भुगतान करना है। 'द' बैंक को 'अ' बैंक के २००) रुपए और 'ब' बैंक के २५०) रुपए और 'स' बैंक के ३५०) रुपए भुगतान करने हैं।

इस प्रकार 'द' बैंक को कुल ८००) का भुगतान करना है। अर्थात् चारो बैंको के लेन-देन के हिसाब की सूची निम्न प्रकार हुई —

बैंको के नाम	लेन	देन	बाकी
'अ' बैंक	७०० रु०	६०० रु०	१०० रु०
'ब' बैंक	५५० ,,	७०० ,,	१५० ,,
'स' बैंक	५५० ,,	४०० ,,	१५० ,,
'द' बैंक	७०० ,,	८०० ,,	१०० ,,

इस प्रकार यदि 'द' बैंक, 'अ' बैंक का १०० रुपए दे दे और 'ब' बैंक 'स' बैंक को १५० रुपए दे दे, तो हिसाब साफ हो जायेगा।

निकास-गृह की कार्य-प्रणाली—देश की हर बैंक किसी-न-किसी निकास-गृह की सदस्य होती है और इस प्रकार एक निकास-गृह की बहुत-सी बैंके सदस्य होती हैं।

---

given place having for its main purpose, the off-setting of cross obligations in the form of checks."

प्रतिदिन एक निश्चित समय पर हर बैंक के क्लर्क अपनी-अपनी बैंक के लेन-देन का हिसाब तैयार करके निकास-गृह में एकत्रित होते हैं। निकास-गृह में सधावक (Runners) होते हैं जिनका कि कार्य हर एक बैंक के नाम मे लिखे हुए बैंकों को छाँट कर लाना होता है। जिन विपत्रों पर बैंक के लेन-देन का हिसाब बनता है उनको बहिर्पुस्तक (Out-Book) कहते हैं और हिसाब तैयार करने वाले क्लर्कों को (Out Clearers) कहते हैं। इन विपत्रों की लिखाई के पश्चात् प्रत्येक बैंक की लेनी-देनी निकाली जाती है और एक विस्तृत लेखा तैयार कर लिया जाता है जो कि प्रत्येक बैंक की लेनी-देनी सूचित करता है। देनदार बैंक लेनदार-बैंक के नाम भुगतान की जानेवाली रकम का एक चैक लिख देती है जिसके द्वारा अन्त मे प्रत्येक बैंक के लेन-देन का सतुलन हो जाता है। इस प्रकार यह लेन-देन बिना किसी नक्दी के प्रयोग हुए केवल किताबों मे आवश्यक परिवर्तन करके तय हो जाता है। यही निकास-गृह की विधि है।

निकास-गृह से लाभ—(१) निकास-गृह के द्वारा लेन-देन का हिसाब व्यक्तिगत रूप मे न होकर सामूहिक-रूप मे होता है, जिसमे नकद-भुगतान की कठिनाइयाँ दूर हो जाती हैं और उनमे सरलता आ जाती है।

(२) निकास-गृह के स्थापित हो जाने से अब बैंकों को अपने पास अधिक मात्रा में नकद-कोष नही रखने पडते। वे अब अधिक मात्रा मे साख का निर्माण कर सकते है और देश के उद्योग, वाणिज्य तथा व्यापार को अधिक मात्रा मे सहायता प्रदान कर सकते हैं।

(३) निकास-गृह के विकास से नकद राशि अर्थात् मुद्रा के उपयोग मे मितव्ययिता आ गई है, क्योंकि प्रत्येक बैंक के लेन-देन की चुकती खाते में परिवर्तन करके कर दी जाती है।

५. **साख पर नियन्त्रण करना**—हम देश के मूल्य-स्तर मे होने वाले परिवर्तनो के समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों पर पडनेवाले प्रभावों से भली-भाँति परिचित है, और यह भी जानते हैं कि अधिकतर मूल्यो की यह अस्थिरता मुद्रा के अत्यधिक चलन के कारण हो जाती है। इसीलिए केन्द्रीय-बैंक को कागजी मुद्रा निकालने का एकमात्र अधिकार दिया जाता है जिससे कि समय आने पर मुद्रा के परिमाण को घटा-बढा कर देश के मूल्य स्तर को स्थिरता प्रदान की जा सके। आधुनिक-काल में देश मे मुद्रा का परिमाण साख-विस्तार पर निर्भर करता है। यदि देश मे मुद्रा का परिमाण साख की आवश्यकताओ से अधिक है तो मूल्य-स्तर ऊँचा हो जावेगा और यदि कम है तो मूल्य-स्तर गिर जावेगा। इसलिए केन्द्रीय-बैंक नोटो की मात्रा पर नियन्त्रण करने के साथ-साथ यह भी प्रयत्न करता है कि साख-पूर्ति व्यापारिक आवश्यकताओ के अनुसार ही रहे केन्द्रीय-बैंक की इस नीति को साख-नियंत्रण की नीति कहते हैं। जब केन्द्रीय-बैंक यह देखता है कि देश के बैंक साख का विस्तार अधिक मात्रा में कर रहे है तो वह उनकी गति को कम करने का प्रयत्न करता है और जब केन्द्रीय-बैंक को यह विश्वास हो जाता है कि देश की आर्थिक-क्रियाओं की तुलना में साख सीमित-मात्रा मे है तो केन्द्रीय-बैंक देश के बैंकों को साख-विस्तार करने मे सहायता देता है।

साख-नियन्त्रण के उद्देश्य (Aims of Credit-Control)—साख-नियन्त्रण करते समय केन्द्रीय बैंक कुछ उद्देश्यों को लेकर चलता है। यह उद्देश्य निम्न प्रकार हैं :—

(१) केन्द्रीय-बैंक का मुख्य उद्देश्य देश के आन्तरिक-मूल्यों में स्थिरता प्राप्त करना होता है। यदि किसी देश में साख का विस्तार व्यापारिक आवश्यकताओं से कम है, तब मूल्य-स्तर गिरने लगेगा। इसके विपरीत जब साख की पूर्ति व्यापारिक आवश्यकताओं की अपेक्षा अधिक है तब मूल्य-स्तर बढ़ने लगता है। यह दोनों ही स्थितियाँ राष्ट्रीय-हित के विरुद्ध होती है, क्योंकि मूल्य के इन परिवर्तनों का देश की आर्थिक-क्रियाओं पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। इसलिए केन्द्रीय-बैंक देश की मौद्रिक एवं साख-व्यवस्था को नियन्त्रित करके मूल्यों को स्थिर कर देता है।

(२) आन्तरिक मूल्यों में स्थिरता लाने के अतिरिक्त केन्द्रीय-बैंक का दूसरा उद्देश्य विदेशी विनिमय-दरों को स्थिर रखना है। विदेशी विनिमय दरों के परिवर्तनों का प्रभाव विदेशी व्यापार के लिए घातक सिद्ध होता है और विदेशी-व्यापार के संतुलन पर देश की आर्थिक उन्नति बहुत कुछ निर्भर करती है। इसलिए साख नियन्त्रण उसका मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध में लोगों में बड़ा मतभेद है। कुछ लोगों का विचार है कि केन्द्रीय-बैंक को देशी मूल्य-स्तर की स्थिरता पर अधिक ध्यान देना चाहिए। साधारण-सी बात तो यह है कि एक बहुत बड़े पैमाने पर व्यापार करने वाले देश को आन्तरिक मूल्य-स्तर पर अधिक ध्यान देना चाहिए। आजकल भी केन्द्रीय-बैंक विनिमय-दरों को स्थिर बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं परन्तु वे अधिक ध्यान आन्तरिक-मूल्यों की स्थिरता पर देते हैं और विनिमय-दरों को परिस्थितियों पर छोड़ देते हैं।

(३) साख-नियन्त्रण का तीसरा उद्देश्य देश की स्वर्णनिधि को बचाना होता है। इसका विस्तारपूर्वक वर्णन केन्द्रीय-बैंक के कार्यों का उल्लेख करते समय दिया जा चुका है।

(४) साख-नियन्त्रण का अन्तिम उद्देश्य देश के उत्पादन और रोजगार की स्थिति को स्थायी रखना है।

साख-नियन्त्रण का कार्य केन्द्रीय-बैंक कई रीतियों द्वारा करता है, जो कि निम्न प्रकार हैं —

(१) बैंक-दर-नीति (Bank-Rate Policy);

(२) खुले बाजार की क्रियाएँ (Open Market Operations);

(३) व्यापारिक बैंकों की न्यूनतम-नकद निधि में परिवर्तन करना (To bring about changes in the minimum cash Reserves of Commercial banks)

(४) साख की राशनिंग (Credit Rationing);

(५) सीधी कार्रवाई (Direct Action);

(६) समझाना (Persuasion);

(७) विज्ञापन तथा प्रचार (Publicity);

(८) अन्य उपाय (Miscellaneous)

अब हम इन रीतियों का विस्तार से वर्णन करेंगे।

बैंक-दर-नीति (Bank-Rate Policy) (Discount rate)

बैंक-दर केन्द्रीय-बैंक द्वारा निर्धारित ब्याज की दर को कहते हैं। अर्थात् यह वह दर होती है जिस पर कि केन्द्रीय-बैंक प्रथम श्रेणी के बिलों को दुबारा भुनाने और स्वीकृत प्रतिभूतियों पर ऋण देने के लिए तैयार रहती है। इसके विपरीत बाजार में प्रचलित दर को बाजार-दर (Market Rate) कहते हैं। यह वह दर है जिस पर देश के बैंक तथा अन्य संस्थाएँ स्वीकृत विनिमय-बिलों को भुनाते हैं और ऋण देते हैं। आगुन में बैंक दर केन्द्रीय-बैंक की कटौती पर होती है। इस प्रकार बाजार दर बैंक-दर पर आश्रित रहती है, और उसीके अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।

स्वर्णमान-प्रणाली के अन्तर्गत साख नियन्त्रण का सबसे उत्तम और प्रभावशाली उपाय बैंक-दर में परिवर्तन करना था। इसलिए इस नीति का संसार में सन् १९१४ ई० से पहले बड़ा महत्व था। परन्तु बीच में यह महत्व कुछ कम हो गया और द्वितीय-महायुद्ध के बाद लगभग प्रत्येक देश ने इसका प्रयोग मुद्रा-प्रसार-नीति के रूप में किया।

बैंक-दर का सिद्धान्त—मौद्रिक-दरों के सारे परिवर्तन बैंक-दर के परिवर्तनों के परिणामस्वरूप होते हैं—यही बैंक दर के सिद्धान्त का आधार है। लोगों का विचार है कि बैंक-दर ऊँची हो जाने से ब्याज की दरें भी ऊपर उठ जाती हैं, जिससे लोगों के ऋण लेने की प्रवृत्ति कम हो जाती है और इस प्रकार साख का संकुचन होकर मूल्य गिरने लगते हैं। जब बैंक-दर घटाई जाती है तो अपेक्षाकृत ब्याज की दरों के गिरने से ऋण लेने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है और साख का विस्तार होता है। कीन्स (Keynes) ने बैंक-दर के सिद्धान्त के सम्बन्ध में तीन प्रकार की विचार-धाराओं का उल्लेख किया है। पहली विचार-धारा के अनुसार बैंक-दर केवल बैंक-मुद्रा पर नियन्त्रण करने का एक उपाय है अर्थात् प्रचलित चलन की मात्रा को कम करने के लिए बैंक-दर को बढ़ाना आवश्यक हो जाता है। परन्तु इस सिद्धान्त के अनुयायी यह भूल जाते हैं कि बैंक-दर तथा बैंक-मुद्रा में कोई भी स्थिर सम्बन्ध नहीं होता। यदि यह मान भी लिया जाय कि बैंक-दर किसी अंश तक अपना प्रभाव डालती है तो अनुभव यह बताता है कि समृद्धिकाल में बैंक-दर की वृद्धि से साख का संकुचन नहीं होता। साथ ही मन्दी के काल में बैंक-दर के घटाने से भी सदैव साख का विस्तार नहीं होता। इसलिए यह विचार कर लेना कि बैंक-दर बैंक-मुद्रा को नियन्त्रित करने का एक उपाय है और सदैव ही बैंक-दर की नीति साख पर नियन्त्रण करने में सफल हो जाती है, उचित नहीं है।

(२) कीन्स ने एक दूसरी विचारधारा का भी उल्लेख किया है जिसमें वह उन लोगों की विचारधारा को बताने का प्रयत्न करते हैं, जो यह सोचते हैं कि पहले बैंक-दर विदेशी-ऋणों के ब्याज की दर को नियन्त्रण करेगा और फिर उसके प्रभाव से स्वर्ण-कोष की रक्षा हो सकेगी। अर्थात् जब बैंक दर ऊँची हो जावेगी, तो उससे केवल सोने का निर्यात ही नहीं रुक जाता बल्कि अन्य देशों के लोग ऊँचे ब्याज की दर से लाभ होने के लालच से सोना बहुत भेजने लगेंगे और देश में सोने का आयात बढ़ जावेगा। इस प्रकार बैंक-दर विनिमय-दरों को अनुकूल करके देश के स्वर्ण-कोषों की रक्षा करती है।

(३) तीसरी विचारधारा बचत और विनियोग पर बैंक-दर के प्रभावों का वर्णन करती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब बैंक-दर ऊँची होती है तब लोगों की प्रवृत्ति विनियोग की अपेक्षा बचाने की अधिक होती है। इस प्रकार बैंक-दर देश के आर्थिक-जीवन पर विशेष प्रभाव डालती है। परन्तु बैंक-दर देश के आर्थिक जीवन को किस प्रकार प्रभावित करती है, उसका सही वर्णन करना एक कठिन कार्य है। इस सम्बन्ध में भी लोगो में मतभेद पाया जाता है। इस सम्बन्ध में हॉटरे का कहना है कि व्यवसाय पर पडने वाले अल्पकालीन प्रभाव ही बैंक-दर के परिवर्तनो के प्रभाव को जन्म देते हैं। बैंक-दर के परिवर्तनो का प्रभाव दूकानदारो के स्टॉक जमा करने की प्रवृत्ति पर पडता है। जब अल्पकालीन-व्याज की दरें घटती है, तो लोग माल का स्टॉक जमा करने लगते हैं। उत्पादक-वर्ग उत्पत्ति की मात्रा को बढाते हैं जिसके फलस्वरूप रोजगार तथा मौद्रिक-आय मे वृद्धि होती है। परन्तु इस सम्बन्ध में दो कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। एक तो ब्याज की दर और स्टॉक जमा करने के व्यय का सम्बन्ध मालूम करना कठिन हो जाता है, दूसरे स्टॉक जमा करने की सुविधा की माँग की लोच का निर्धारण भी कठिन हो जाता है।

दूसरी ओर कीन्स सोचते हैं कि पहले बैंक-दर दीर्घ-कालीन व्याज को प्रभावित करती है जिसका प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था पर पडता है। बैंक-दर ऊँची होने की अवस्था मे ऋण प्राप्त करने का खर्चा बढ़ जाने के कारण लोग दीर्घकालीन प्रतिभूतियो पर ऋण प्राप्त करने की अपेक्षा उनको बेचने का प्रयत्न करते है। परन्तु जिन व्यक्तियो के पास फालतू धन होता है वह इन प्रतिभूतियों को न खरीद कर ऊँची बैंक-दर से लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से निक्षेपो मे लगाना अधिक लाभदायक समझते है। इस प्रकार दोनो ही कारणों से दीर्घकालीन प्रतिभूतियो के मूल्य गिरने लगते है, जिसके परिणामस्वरूप उनसे प्राप्त आय बढेगी और इस प्रकार अल्पकालीन व्याज की दर बढने से दीर्घकालीन ब्याज की दरें बढेगी और अल्पकालीन-दरो के गिरने से दीर्घकालीन-दरें भी गिर जावेगी। इसके अतिरिक्त साहसी वर्ग भी अपनी विनियोग-नीति का निर्माण दीर्घकालीन ब्याज की दरो के अनुसार करेगा। जब ब्याज की दीर्घकालीन-दरे नीची है तब साहसी सरलतापूर्वक ऋण प्राप्त कर सकेगा क्योकि प्रतिभूतियो की कीमत ऊँची होगी।

इस प्रकार बैंक दर दीर्घकालीन ब्याज की दरो को भी प्रभावित करती है।

बैंक-दर के प्रभाव—जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि बैंक-दर को घटाने-बढाने का मुख्य उद्देश्य देश के मूल्य-स्तर और विदेशी विनिमय-दरों मे स्थिरता लाना है। जहाँ तक बैंक-दर के परिवर्तनो का देशी अर्थ-व्यवस्था से सम्बन्ध है, वे दो प्रकार से देशी अर्थ-व्यवस्था को प्रभावित करते हैं। प्रथम, बैंक-दर के बढने से बचत की मात्रा में वृद्धि होती है और स्थिर-पूँजी की वस्तुओं का मूल्य गिर जाता है। यह उसी समय होगा जब कि देश में आय की मात्रा समान रहती है। उपरोक्त प्रभाव से अर्थात् पूँजीवाली वस्तुओं के मूल्य घटने से उनका उत्पादन भी घट जावेगा। लोगो की आमदनी घटने लगती है, जिसका प्रभाव उपभोग की वस्तुओं पर भी पडने लगता है। अर्थात् उपभोग

की वस्तुओं के मूल्य गिरने लगने हैं और चारो ओर मन्दी फैल जाती है। इसके विपरीत बैंक-दर के कम होने पर व्यापार और सौदो मे तेजी आ जाती है।

हम पहले भी कह चुके है कि बैंक-दर के राष्ट्रीय-क्षेत्र मे प्रभाव अधिकतर स्वर्णमान मे दृष्टिगोचर होते हैं। सबसे मुख्य प्रभाव यह होना है कि बैंक-दर के बढने से सोना विदेशों को जाने से रुक जावेगा और विदेशी-पूंजी का आयात देश मे बढ जावेगा, जिसका कि प्रत्यक्ष प्रभाव यह होगा कि विदेशी-विनिमय दर अनुकूल हो जावेगी।

दूसरा, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं कि बैंक-दर के बढने से देश मे वस्तुओं के मूल्य कम हो जाते है, जिससे विदेशी आयात गिरने लगते हैं और निर्यात बढने लगते है, और व्यापारिक-सतुलन अनुकूल होने लगता है। तीसरे, देश मे वस्तुओं के मूल्य घटने से मजदूरी और ब्याज की दर घटने लगती है, जिससे उत्पादन-व्यय घटने लगता है और देशी-उद्योग-धधे बढने लगते हैं और देश की अर्थ-व्यवस्था का असतुलन लुप्त हो जाता है।

बैंक-दर के प्रभाव विदेशी विनिमय-दर पर इस प्रकार पड़ते हैं। सर्वप्रथम बैंक-दर अल्पकाल में मौद्रिक-बाजार को प्रभावित करता है। विदेशी विनिमय-दर के घटने का एक प्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि सोना देश से बाहर जाने लगता है और सोने के कोषों की कमी देश मे होने लगती है। इस स्थिति को सभालने के लिए बैंक-दर को ऊँचा कर दिया जाता है जिससे शोधनाधिक्य (Balance of Payments) में सतुलन बिना सोने के निर्यात किए ही स्थापित हो जाता है। होता यह है कि विदेशी ऊँची ब्याज की दर से लाभ कमाने के लिए ऋणो का भुगतान तो स्थगित कर ही देते हैं और अधिक ऋण देने की प्रवृत्ति भी बढ जाती है। इसके अतिरिक्त विदेशियों को दिये गये ऋण भी वापस आने लगते हैं। इस प्रकार चारो ओर से देश मे सोने का प्रवाह होने लगता है और विदेशी विनिमय-दर की प्रतिकूलता दूर हो जाती है। इसका दूसरा प्रभाव दीर्घकाल मे दृष्टिगोचर होता है। यदि उपरोक्त परिस्थिति बनी रहे तो दीर्घकाल में प्रतिभूतियो की दर भी प्रभावित होने लगती है। लोग ऋण लेना बन्द कर देते हैं। प्रतिभूतियों के मूल्य गिर जाते हैं, और उनमे प्राप्त आय बढ जाती है। इसके अतिरिक्त विदेशो मे ऋणो की माँग घट जाने से सोना और पूंजी का निर्यात रुक जाता है जिससे देशी मुद्रा की पूर्ति विदेशी विनिमय-बाजार में कम हो जाती है और विदेशी बाजारों मे देशी मुद्रा का मूल्य बढ जाता है। इसका तीसरा प्रभाव दीर्घकाल में देश के समस्त आर्थिक जीवन पर पडता है। लोगों मे विनियोग करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। मौद्रिक-आय, ब्याज तथा मजदूरी की दर और उत्पादन-व्यय गिरने लगेंगे, देशी निर्यात बढने लगेंगे और व्यापारिक-सतुलन भी अनुकूल हो जावेगा, जिससे विदेशी विनिमय-दर भी अनुकूल हो जावेगी।

उपरोक्त प्रभावो के बिलकुल उलटे प्रभाव बैंक-दर को ऊँचा कर लेने की स्थिति में होते हैं। विदेशी अपनी पूंजी देश से निकालने लगते हैं, सोने का निर्यात बढने लगता है जिस से विदेशी मुद्रा की माँग, देशी- मुद्रा की अपेक्षा बढ जाती है। उसके मूल्य भी बढ जाते हैं, और विनिमय-दर प्रतिकूल हो जाती है क्योकि देशी-मुद्रा का मूल्य विदेशी-मुद्रा की तुलना में घट जाता है। इसका दूसरा प्रभाव यह होगा कि दीर्घकाल मे बैंक-दर कम होने

से प्रतिभूतियों की कीमत बढ जावेगी और उनसे प्राप्त आय घट जावेगी। विदेशो मे ऋणो की माँग बढने लगती है और विदेशो को सोना और पूँजी जाने लगता है जिससे विदेशी विनिमय-दर प्रतिकूल हो जाती है। अन्त मे बैंक-दर गिरने से लोगो मे ऋण लेने की प्रवृत्ति बढ जाती है। देश मे व्यापार और उद्योगो को प्रोत्साहन मिलने लगता है, ब्याज तथा मजदूरी की दर बढने लगती है। सारांश में मुद्रा-प्रसार की प्रवृत्तियाँ दृष्टि-गोचर होने लगती है जिसका परिणाम यह होता है कि वस्तुओ का उत्पादन-व्यय बढने से उनके मूल्य बढने लगते है और देश के निर्यात आयात की अपेक्षा घटने लगते है। व्यापारिक-सतुलन प्रतिकूल होने लगता है जो विनिमय-दरों को भी प्रतिकूल बना देता है।

बैंक-दर की सीमाएँ (Limitations of Bank Rates)—बैंक-दर की सफलता मुख्यत दो बातों पर निर्भर रहती है —

(१) देश का मुद्रा-बाजार सुसंगठित होना चाहिए, जिससे बैंक-दर का प्रभाव देश मे प्रचलित सभी ब्याज की दरो पर पड सके। यदि ऐसा नही है तो बैंक-दर अपना प्रभाव डालने में असमर्थ रहेगा और बैंक-दर की नीति सफल न हो सकेगी। अधिकाश देशों मे एक सुसगठित मुद्रा बाजार का अभाव रहता है जिसके कारण बैंक-दर की नीति अधिकतर असफल ही रहती है।

(२) देश की अर्थ-व्यवस्था लोचपूर्ण होनी चाहिए ताकि बैंक-दर का प्रभाव देश की अर्थ व्यवस्था के समस्त भागो पर पड सके। अर्थात् बैंक-दर का प्रभाव मजदूरी तथा ब्याज की दरो पर, उत्पादन-व्यय पर, वस्तुओ के मूल्यो पर, मौद्रिक-आय तथा अन्य सभी आर्थिक-क्षेत्रो पर दृष्टिगोचर होना चाहिए तभी बैंक-दर की नीति को सफल कहा जा सकता है। व्यावहारिक-जीवन मे बैंक-दर की नीति इसीलिए तो सफल नही हो पाती क्योकि उसका प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था के समस्त क्षेत्रो पर नही पडता।

बैंक दर के गिरते हुए महत्व के कारण—आधुनिक काल मे बैंक-दर का साख-नियन्त्रण करने वाले के रूप मे वह स्थान नही रहा है जो प्रथम महायुद्ध से पहले था। इस महत्व के घट जाने के कदाचित् तीन कारण हो सकते हैं —

(१) वर्तमान काल में ससार के सभी देशो की आर्थिक-व्यवस्था मे ऐसे परिवर्तन हो गये है, जिन्होने बैंक-दर की नीति को पूर्ण तथा असफल बना दिया है।

(२) बैंक-दर नीति की अपेक्षा साख-नियन्त्रण की अन्य रीतियों का उपयोग अधिक हो गया है।

(३) संसार मे सस्ती मुद्रा-नीति को अधिक महत्व दिया गया है।

बैंक-दर का महत्व स्वर्णमान के टूट जाने के कारण भी कम हो गया है। वास्तव मे अन्तर्राष्ट्रीय-भुगतान सतुलन मे सतुलन स्थापित करने के लिए कष्टदायक एव घातक सिद्ध होती है। आधुनिक-जगत् मे जहाँ कि हर नीति को व्यवहारिक दृष्टिकोण से देखा जाता है केवल विदेशी विनिमय-दरो को स्थिर रखने के लिए देशी अर्थ-व्यवस्था की बलि चढा देना उपयुक्त नही समझा जाता है। आजकल सीधी क्रियाओं का महत्व

बढता जा रहा है और अधिक प्रभावशाली-रीतियो का आविष्कार किया जा रहा है, ऐसी रीतियो का आविष्कार जिनको अपनाने से देश की अर्थ-व्यवस्था पर भी बुरा प्रभाव नही पडता और सफलता भी निश्चित हो जाती है। बैंक-दर नीति के अपेक्षाकृत महत्व घट जाने के मुख्य कारणो की गणना इस प्रकार की गई है :—

(१) स्वर्णमान की समाप्ति हो जाने पर बैंक-दर का महत्व घट गया;

(२) साख-नियन्त्रण की अधिक सफल रीतियो के आविष्कार से भी विनिमय-दर के महत्व में कमी हो गई है;

(३) आजकल विभिन्न देशो की अर्थ-व्यवस्था उतनी लोचपूर्ण नही रही जितनी कि पहले थी। इसलिए बैंक दर का प्रभाव देश की अर्थ-व्यवस्था पर न पडने के कारण भी बैंक-दर का महत्व घट गया है;

(४) आधुनिक काल मे विनिमय-बिलो का प्रयोग भी कम हो जाने से बैंक-दर का पहले जैसा स्थान नही रहा है;

(५) बैंक-दर की नीति उसी दशा में सफल हो सकती है जब कि देश के सभी बैंक अपने ऋणो की आवश्यकता केन्द्रीय-बैंक द्वारा पूरी करे। परन्तु आधुनिककाल में ऐसा नहीं होता,

(६) मुद्रा-बाजार पर बैंक-दर द्वारा जो प्रभाव डाले जाते हैं वे दीर्घकाल मे दृष्टिगोचर होते हैं और इस प्रकार उसके प्रभाव अल्पकाल में अर्थात् तुरन्त न होने से भी बैंक-दर का महत्व घट गया है,

(७) आजकल बैंको के अपने एसेट्स (Assets) की तरलता (Liquidity) बढ जाने के कारण बैंक केन्द्रीय-बैंक से ऋण लेने की आवश्यकता नही समझते और इस प्रकार बैंक-दर के परिवर्तनो का साधारण बैंको पर कोई प्रभाव नही पडता,

(८) ससार के प्रत्येक देश द्वारा सस्ती-मुद्रा की नीति अपनाये जाने मे बैंक-दर का महत्व घट गया है क्योकि सस्ती मुद्रा-नीति के अन्तर्गत बैंक-दर को स्थायी रूप से नीचा रखा जाता है,

(९) अन्य बैंक केन्द्रीय-बैंक के साख-नियन्त्रण के प्रयत्नो को असफल बना सकते हैं। वे अपनी ब्याज की दर को बढा कर जनता से जमा की अधिक मात्रा प्राप्त करके अपनी ऋण की आवश्यकता को पूरी कर सकती हैं और इस प्रकार उन्हे केन्द्रीय-बैंक पर अपने ऋण के लिए आश्रित होने की आवश्यकता नही रहती।

खुले-बाजार की क्रियाएं (Open Market Operations)

जब बैंक-दर की नीति सफल नही होती, तब केन्द्रीय-बैंक खुले बाजार की क्रियाओ को सम्पन्न करती है। यद्यपि केन्द्रीय-बैंक को व्यक्तिगत व्यापारिक संस्थाओ से व्यवसाय करने का अधिकार नही होता तथा बैंको से प्रतियोगिता करने की भी स्वतन्त्रता नही है, परन्तु असाधारण परिस्थितियो में केन्द्रीय-बैंक इन निषेध-कार्यों को भी कर सकती

है। जब केन्द्रीय-बैंक जनता के साथ स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय करती है अर्थात् प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करती है तब ऐसी क्रियाएँ खुले-बाजार की क्रियाएँ कहा जाता है। केन्द्रीय-बैंक के पास सरकारी और अन्य प्रकार की प्रथम-श्रेणी की प्रतिभूतियाँ होती हैं, जैसे अल्पकालीन और दीर्घकालीन ऋण-पत्र और सरकारी-प्रतिभूतियाँ इत्यादि।

जब केन्द्रीय-बैंक बाजार मे मुद्रा की अधिकता देखती है, तब वह मुद्रा की मात्रा को कम करने के हेतु इन प्रतिभूतियो को बाजार में बेचती है। लोग इन प्रतिभूतियों को खरीदने के लिए या तो बैंको से नकदी निकालते हैं या अपने बैंको के नाम चैक लिखते हैं जिससे बैंको के नकद कोष कम होने लगते हैं। दूसरी ओर बैंकों के नकद कोषो मे कमी हो जाने के कारण बैंक अपने ग्राहको को या तो ऋण देना कम कर देती हैं या अपने ऋणो को वापस माँगने लगती हैं और साख-मुद्रा की मात्रा भी कम हो जाती है, जिससे कि मूल्य-स्तर गिरने लगता है। इसके विपरीत जब केन्द्रीय-बैंक बाजार मे मुद्रा की कमी देखती है तब वह मुद्रा की मात्रा बढाने के लिए बाजार मे प्रतिभूतियो को खरीदना आरम्भ कर देता है। केन्द्रीय बैंक इन प्रतिभूतियों को खरीदने वालो को भुगतान या तो नकदी मे करता है या बैंको द्वारा। इन चैकों को लोग अपनी बैंकों मे जमा कर देते हैं, जिससे कि केन्द्रीय-बैंक के नकद-कोषों में वृद्धि हो जाती है और उसकी साख-निर्माण की शक्ति भी बढ जाती है। वे अधिक मात्रा में ऋण देना आरम्भ कर देती हैं, जिससे व्यापारिक-क्रियाएँ तीव्र हो जाती हैं और वस्तुओ के मूल्य बढने लगते हैं, और देश मे मुद्रा-प्रसार हो जाता है।

इस प्रकार केन्द्रीय-बैंक इन क्रियाओ द्वारा साख पर नियन्त्रण करके देश के मूल्य-स्तर पर उत्पादन, रोजगार और व्यापार मे सतुलन स्थापित करके देश की आर्थिक-व्यवस्था को दृढ बना सकता है।

खुले बाजार की क्रियाओं के कार्यान्वित होने की अवस्थाए—खुले बाजार की क्रियाएँ निम्न अवस्थाओ मे कार्यान्वित की जाती हैं —

(१) जब देश मे विनियोग की जाने वाली धनराशि की अधिकता होती है और उसका निर्यात विदेशों को हो रहा होता है तब केन्द्रीय-बैंक इन क्रियाओ का प्रयोग करके देशी पूंजी को बाहर जाने से रोकने का यत्न करती है।

(२) केन्द्रीय-बैंक देश की बहुमूल्य धातुओ के निर्यात-आयात से होने वाले प्रभावों को रोकने के लिए भी यह नीति अपनाती है। जब देश मे सोने का आयात होता है तब स्वर्णमान के नियमों के अधीन देश मे मुद्रा का परिमाण भी बढ जाता है, जिससे देश में मूल्य-स्तर बढ जाता है और सोने का निर्यात होता है। तब देश में सोने की कमी मुद्रा-परिमाण को कम कर देती है, जिससे मूल्य-स्तर गिरने लगता है। यदि केन्द्रीय-बैंक की दृष्टि में मूल्यो का घटना और बढना उचित नही होता, तब वह उन पर नियन्त्रण रखने के लिए खुले बाजार की क्रियाओं की नीति अपनाती है।

(३) जब बाजार मे किसी अज्ञात कारण से लोगो मे घबराहट उत्पन्न हो जाती है और वह बैंको मे मुद्रा निकालने लगते है, तब केन्द्रीय-बैंक प्रतिभूतियो को खरीद-

कर जनता के पास मुद्रा पहुँचा देता है और इस प्रकार मुद्रा-सम्बन्धी संकटों को दूर कर देता है।

(४) खुले बाजार की क्रियाओं की नीति उस समय भी अपनायी जाती है जब बैंक दर की नीति असफल हो जाती है।

(५) जब बाजार में जनता को मुद्रा की कमी अनुभव होने लगती है और मूल्य गिरने लगते हैं, तब केन्द्रीय-बैंक बाजार में मुद्रा का परिमाण बढाने के लिए प्रतिभूतियों को खरीदना आरम्भ कर देती है।

खुले बाजार की क्रियाओं की सफलता की शर्तें—खुले बाजार की क्रियाएँ केवल उसी समय सफल हो सकती हैं जबकि निम्नलिखित शर्तें पूरी हों —

(१) केन्द्रीय-बैंक द्वारा खरीदी और बेची जाने वाली प्रतिभूतियों की माँग और पूर्ति बाजार में होनी चाहिए। इस प्रकार खुले बाजार की क्रियाएँ केवल मुद्रा-बाजार की सुसगठित और सुव्यवस्थित होने की अवस्था में ही सफल हो सकती हैं।

(२) यह क्रियाएँ तभी सफल हो सकती हैं जबकि इनका प्रभाव अन्य बैंकों के नकद कोषों पर पड़े। केन्द्रीय-बैंक की प्रतिभूतियाँ बेचने का प्रयत्न बैंकों में जम बढ जाने से विफल हो सकता है क्योंकि प्रतिभूतियाँ बेचने से बैंकों की निधि कम होनी चाहिए। इसी प्रकार यदि केन्द्रीय-बैंक प्रतिभूतियाँ खरीदता है तब यह सम्भव हो सकता है कि बैंक के नकद-कोष न बढे, क्योंकि जनता में मुद्रा के सग्रह करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो सकती है।

(३) खुले बाजार की नीति के कार्यान्वित होने के साथ बैंकों के साख-निर्माण की नीति में कोई अन्तर नही आना चाहिए। यदि केन्द्रीय-बैंक साख-विस्तार के उद्देश्य से प्रतिभूतियों को खरीदती है तब यदि बैंक बाजार में अविश्वास के कारण अपने ग्राहकों को ऋण न दे प्रत्युत अपने पास ही नकद-राशि बढाती जावे तब खुले बाजार की क्रियाओं का विशेष प्रभाव न पड़ेगा। इसीलिए यह आवश्यक है कि व्यापारिक बैंकों के ऋण प्रदान की नीति पहले ही जैसी रहे।

(४) यह नीति केवल उसी समय सफल हो सकती है जबकि देश के मुद्रा-बाजार में ये सब बातें न हों अन्यथा खुले बाजार की क्रियाएँ सफल नही हो सकतीं।

(५) खुले बाजार की क्रियाओं के सफल होने के लिए यह भी आवश्यक है कि बैंकों के नकद-कोषों के घटने-बढने का उत्पादकों के ऋण की माँग पर भी प्रभाव पड़े। यदि केन्द्रीय-बैंक प्रतिभूतियाँ खरीदकर अन्य बैंकों के नकद-कोषों में वृद्धि कर भी दे, तो भी उससे कोई लाभ न होगा जबकि देश में अनिश्चित आर्थिक दशाओं के कारण उत्पादक कम ब्याज की दर पर भी ऋण लेना पसन्द न करे। अनुभव बताता है कि इसी कारण से तेजी के समय में केन्द्रीय-बैंक अपनी नीति में सफल हो जाता है, परन्तु मन्दी-काल में केन्द्रीय-बैंक सफल नहीं होता।

-व्यापारिक-बैंकों का न्यूनतम नकद-निधि में परिवर्तन करना

हम पहले बता चुके हैं कि व्यापारिक-बैंकों को केन्द्रीय-बैंक के पास एक निश्चित अनुपात में नकदी रखनी पड़ती है। यह बैंकों की साख-निर्माण शक्ति पर नियन्त्रण

रखने का एक उपाय है। बैंकों की साख-निर्माण-शक्ति उनकी नकद-राशि के ऊपर निर्भर रहती है। जितनी अधिक नकद जमा उनके पास होगी, उतनी ही उनकी साख-निर्माण-शक्ति भी अधिक होगी। इस डर से कि बैंक आवश्यकता से अधिक साख का निर्माण न कर दें, केन्द्रीय-बैंक सभी बैंकों से उनकी नकद जमा का एक निश्चित अनुपात अपने पास जमा करवा लेता है। जब कभी केन्द्रीय-बैंक देश में साख का विस्तार अधिक पाता है उस समय साख-सकुचन करने के लिए बैंकों को न्यूनतम नकद निधि का अनुपात अधिक कर देता है ताकि व्यापारिक बैंकों के पास नकद निधि कम हो जावे और उनकी साख-निर्माण-शक्ति भी कम हो जावे। जब देश में साख का विस्तार कम होता है तो केन्द्रीय-बैंक मुद्रा का परिमाण बढाने के लिए, न्यूनतम नकद-निधि के अनुपात को कम कर देती है। सर्वप्रथम इस नीति का उपयोग अमेरिका ने सन् १६२३ में किया था और आज तक लगभग प्रत्येक देश में इसका प्रयोग किया जा चुका है।

साख की राशनिंग

यह पहले ही बताया जा चुका है कि व्यापारिक बैंकों के लिए केन्द्रीय-बैंक अन्तिम-ऋणदाता का कार्य करता है। व्यापारिक-बैंक जनता के ऋण का भुगतान करने के लिए या ऋण की बढ़ती हुई माग को पूरा करने के लिए जब अन्य साधन समाप्त हो जाते हैं तब केन्द्रीय-बैंक से ऋण लेते हैं। यदि केन्द्रीय-बैंक को साख-विस्तार अनुचित प्रतीत होता है तो वह हर बैंक को उनकी माँगी हुई मात्रा में ऋण नही देता। वह साख का राशनिंग कर देता है अर्थात् केन्द्रीय-बैंक प्रत्येक बैंक का व्यापार देखकर एक निश्चित राशि तक ऋण देने की घोषणा कर देता है। व्यापारिक आवश्यकताओं को देख कर अधिकतम सीमा निश्चित कर दी जाती है, और बाद में हर बैंक का हिस्सा नियत कर दिया जाता है। इस प्रकार कोई भी बैंक नकद हिस्से या Quota से कम या अधिक साख-निर्माण नही कर सकती है। यह रीति प्रभावशाली अवश्य है, परन्तु कठोर है और इसमें कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां भी होती हैं। एक तो केन्द्रीय-बैंक को व्यापारिक एवं औद्योगिक आवश्यकताओं का पता लगाने में बड़ी कठिनाई होगी। दूसरे इन आवश्यकताओं से सम्बन्धित साख-निर्माण की निश्चित मात्रा का अनुमान लगाना भी सरल नही और तीसरे प्रत्येक बैंक का हिस्सा नियत करना भी कठिन हो जाता है। यह रीति तानाशाही-शासन की प्रतीक है, और साधारण परिस्थितियों में इसका प्रयोग नही होता।

सीधी कार्यवाही

जब मुद्रा-बाजार की आर्थिक संस्थाएँ केन्द्रीय-बैंक की साख निर्माण की नीति को सफल बनाने में अपना सहयोग नही देतीं, तो केन्द्रीय-बैंक ऐसी संस्थाओं पर दबाव डालती है और सीधी कार्यवाही से काम लेती है। केन्द्रीय-बैंक ऐसी संस्थाओं को हुण्डियों और बिलों के दुबारा भुनाने की सुविधाएँ प्रदान नही करता है। यदि केन्द्रीय-बैंक अधिक कठोर हो जाये तो वह सीधी कार्यवाही के रूप में किसी भी असहयोगी-बैंक के अधिकार छीन सकता है। इस नीति का महत्व यही है कि इसके द्वारा साख का अच्छा वितरण हो जाता

है। परन्तु कुछ लोगों का कहना है कि इस नीति का कोई रचनात्मक लाभ नहीं है। यह केवल एक प्रतिकार है जिसका कि मुख्य उद्देश्य केन्द्रीय-बैंक की रीति को अपनाने के लिए बाध्य करना होता है इसलिए यह रीति ठीक नहीं है।

समझाना (Persuation)

जहाँ तक केन्द्रीय-बैंक का देश के लिए मौद्रिक तथा आर्थिक-नीति के निर्माण का सम्बन्ध है, वहाँ यह अन्य बैंकों के लिए एक नेता के समान है। इसीलिए मुद्रा-बाजार में केन्द्रीय-बैंक का प्रमुख स्थान होता है। केन्द्रीय-बैंक अपनी स्थिति का लाभ उठाती है। वह अन्य ऋणदाता संस्थाओं पर नैतिक प्रभाव डालती है, उन्हें समझाती-बुझाती है और उनसे प्रार्थना करके अपनी साख-नीति को सफल बनाने के लिए उन्हें बाध्य कर देती है।

विज्ञापन तथा प्रचार (Publicity)

उपरोक्त समझाने की रीति के साथ-साथ बैंक अपना नैतिक प्रभाव डालने के लिए मुद्रा-बाजार सम्बन्धी आंकड़ों का प्रकाशन करता है। केन्द्रीय-बैंक समय-समय पर मुद्रा-बाजार की स्थिति का अध्ययन करती रहती है और इस स्थिति से ऋणदाता-संस्थाओं का परिचय कराने के लिए वह उद्योग, व्यापार, आयात-निर्यात, व्यवसाय और राजस्व-सम्बन्धी आँकड़ों और समुचित-विवरण प्रकाशित करती रहती है जिससे सभी संस्थाओं को यह ज्ञान हो जाय कि केन्द्रीय-बैंक द्वारा अपनाई गई नीति राष्ट्रीय हित में है और इसलिए उनको भी इस नीति को सफल बनाने में पूरा सहयोग देना चाहिए।

अन्य उपाय (Miscellaneous Methods)

उपरोक्त उपायों के अतिरिक्त केन्द्रीय-बैंक ने साख नियंत्रण के लिए कुछ और उपायों का उपयोग किया, जैसे प्रतिभूति-ऋणों की आवश्यकताओं की सीमाओं में परिवर्तन करके या उपभोक्ता-साख की व्यवस्था करके या विदेशी-ऋणों की प्राप्ति करके इत्यादि। जब केन्द्रीय-बैंक सट्टे के लिए प्रयोग की जाने वाली साख की राशि को नियंत्रित करना चाहती है तब वह प्रतिभूति-ऋणों की आवश्यकताओं की सीमाओं में परिवर्तन कर देती है। इस नीति का उपयोग सर्वप्रथम अमेरिका में हुआ था। इस नीति के अनुसार केन्द्रीय-बैंक को ऐसे नियम बनाने का अधिकार दे दिया जाता है जिससे कि वह बैंकों द्वारा सट्टेबाजी को दिए जाने वाले ऋणों की मात्रा पर नियंत्रण कर सके। इसका मुख्य उद्देश्य सट्टे-बाजार की क्रियाओं पर नियंत्रण करना होता है। जहाँ तक उपभोक्ता-साख की व्यवस्था करने का सम्बन्ध है, केन्द्रीय-बैंकों को उन शर्तों के निर्माण करने का अधिकार दे दिया जाता है जिनके आधार पर उपभोक्ताओं को छोटी-छोटी किस्तों के रूप में साख-सुविधाएँ प्रदान की जा सकें। इस नीति का उपयोग करने के हेतु ऐसी व्यवस्था की जाती है जिससे कि बैंक स्थायी उपभोग की वस्तुओं का दस प्रतिशत मूल्य नकद-राशि में दें। इस प्रकार इस रीति के अधीन बैंकों को हर ऋण का एक निश्चित भाग नकदी में चुकाना अनिवार्य हो जाता है जिससे कि उनके साख की शक्ति पर एक प्रकार की रोक लग जाती है। इस नीति का प्रयोग भी सर्वप्रथम द्वितीय

महायुद्ध काल मे अमेरिका ने किया था। इसी प्रकार पिछले कुछ वर्षों में युद्धकालीन मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए एक और नीति अपनाई गई थी। कुछ लोगो ने मुद्रा-प्रसार को रोकने के लिए विदेशी ऋणो को प्राप्त किया था। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं पर केन्द्रीय-बैंक ने व्यापारिक-बैंको द्वारा प्राप्त विदेशी आदेशों को कम मात्रा मे बाहर भेजने की सलाह दी, जैसा कि लका के केन्द्रीय-बैंक ने किया है। कनाडा की केन्द्रीय बैंक ने एक दूसरी रीति का उपयोग किया है। इस केन्द्रीय-बैंक ने लोचपूर्ण-विनिमय-दरों को ग्रहण करके व्यापारिक-बैंको को निक्षेप-प्रमाण-पत्र जारी कर दिए है।

इस प्रकार केन्द्रीय-बैंक साख-नियत्रण के लिए अनेकों प्रकार की रीतियो को अपना सकती है। विभिन्न देशो मे केन्द्रीय-बैंको ने उपरोक्त रीतियो का या तो अलग-अलग या कई को एक साथ मिलाकर उपयोग किया है, जिनका चुनाव देश की आवश्यकता और अर्थ-व्यवस्था की स्थिति के आधार पर किया जाता है।

केन्द्रीय-बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Central Bank)

पिछले कुछ वर्षों मे केन्द्रीय-बैंक के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर काफी वाद-विवाद रहा है, और यह मत आज भी पाया जाता है। केन्द्रीय-बैंको के राष्ट्रीयकरण के पक्ष मे निम्नलिखित दलीलें दी जाती है —

राष्ट्रीयकरण के पक्ष में दी गई दलीलें (Arguments given in favour of the Nationalisation of Central Bank)

(१) केन्द्रीय-बैंक एक ऐसी संस्था है जिसको सार्वजनिक-हित के लिए कार्य करना पडता है और इसीलिए उसे अपने कार्यों पर पूर्ण अधिकार प्राप्त होता है। यदि केन्द्रीय-बैंक को सुचारु-रूप से देश के हित मे काम करना है तो उस पर सरकार का ही पूर्ण स्वामित्व होना चाहिए।

(२) क्योंकि केन्द्रीय-बैंक को अपने अधिकाश कार्यों पर एकाधिकार प्राप्त होता है, इसीलिए यह आवश्यक है कि उस पर सरकारी नियत्रण रहे ताकि वह अपने कार्यों को भली-भाँति सम्पन्न कर सके।

(३) केन्द्रीय-बैंक अपने कार्यों मे काफी लाभ कमाता है। जो केन्द्रीय-बैंक हिस्सेदारो के होते हैं वे अपनी लाभ का सरकार द्वारा निर्धारित लाभांश (Dividend) अपने हिस्सेदारो में बाँट देते है। लाभ का यह हिस्सा बहुत थोडा होता है। अधिक भाग सरकार द्वारा जनहित मे उपयोग कर लिया जाता है। इस प्रकार व्यवहार में केन्द्रीय-बैंक एक सरकारी-बैंक के रूप मे कार्य करता है। इससे अच्छा तो यह होगा कि हिस्सेदारो को बिलकुल भी लाभांश प्राप्त न हो और सारा-का-सारा लाभ राष्ट्रीय-हित मे खर्च कर दिया जावे जिसके लिए सरकारी-स्वामित्व का होना जरूरी है।

(४) केन्द्रीय-बैंक को अधिकतर ऐसे कार्य करने होते है, जो बहुत महत्वपूर्ण होते है और जिनका कि प्रत्यक्ष-सम्बन्ध सरकार से होता है। यदि इन कार्यों को सुचारु रूप से सम्पन्न न किया जावे तो देश में एक भारी आर्थिक-हानि होने की सभावना होती है। इसलिए केन्द्रीय-बैंको का राष्ट्रीयकरण अत्यन्त आवश्यक है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में दी गई अपीलें (Arguments offered against Nationalisation)

(१) केन्द्रीय-बैंक का प्रबन्ध राष्ट्रीयकरण हो जाने के पश्चात् पूर्णरूप से सरकारी अफसरों के हाथ में आ जाता है। इन अफसरों की नौकरी स्थाई होती है और उनको सालाना तरक्की मिलती है, वह अपना कार्य कुशलता से करे या अकुशलता से। परन्तु दूसरी ओर यदि बैंक हिस्सेदारों का है तो कर्मचारियों को तरक्की उनकी कार्यकुशलता के अनुसार दी जाती है जिससे वे सदा सतर्कता से काम करते हैं। इसीलिए केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीयकरण उपयुक्त नहीं है।

(२) केन्द्रीय-बैंक की कार्य-प्रणाली इतनी जटिल है कि उसका सचालन केवल विशेषज्ञों द्वारा ही हो सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि सरकारी अफसर बैंकिंग-सम्बन्धी पूर्ण जानकारी रखते हों। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र-राज्य में चुनाव द्वारा मंत्री के पद को ग्रहण करने वाले व्यक्ति से भी यह आशा नहीं की जाती कि वह बैंकिंग-सिद्धान्तों से परिचित हो। इसीलिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय-बैंक का प्रबन्ध सरकार के हाथ में न जाकर विशेषज्ञों के हाथ में ही रहे।

(३) अनुभव यह बताता है कि जिन उद्योग और कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण हुआ है उनके कार्य देर में होते है, क्योंकि एक पत्र को विभिन्न-विभागों तथा विभिन्न कर्मचारियों के हाथ से निकालने में अनावश्यक देरी हो जाती है। इसलिए भी केन्द्रीय-बैंक का राष्ट्रीयकरण उपयुक्त नहीं है।

(४) केन्द्रीय बैंक पर देश की अर्थ-व्यवस्था बहुत सीमा तक निर्भर रहती है। राष्ट्रीयकरण से उस पर राजनीतिकदलों के विचारों का अनुचित प्रभाव पड़ने की सभावना हो जाती है।

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में जो दलीलें दी गई है वे सही नहीं हैं और उनको समय की कसौटी ने भी गलत सिद्ध कर दिया है। जिन देशों में केन्द्रीय-बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है उनसे पता चलता है कि राष्ट्रीयकरण देश के लिए हितकर ही सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि बैंक ऑफ इंगलैण्ड, बैंक ऑफ फ्रांस और रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया जैसे केन्द्रीय-बैंकों का राष्ट्रीयकरण हो चुका है।

केन्द्रीय-बैंक तथा व्यापारिक-बैंकों का सम्बन्ध

केन्द्रीय-बैंक का महत्व, उसके कार्य और देश के मुद्रा-बाजार में उसके स्थान की जानकारी के पश्चात् सरलतापूर्वक केन्द्रीय-बैंक की तुलना व्यापारिक-बैंकों से कर सकते है। केन्द्रीय और व्यापारिक-बैंकों के उद्देश्य, कार्य और सिद्धान्तों में समानताएँ और असमानताएँ दोनों ही मिलती हैं। प्रथम हम इनकी समानताओं का वर्णन करेंगे जो कि इस प्रकार हैं :—

(१) सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से दोनों ही प्रकार के बैंक अचल पूंजी के लिए ऋण नहीं देते, क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य व्यापार एव व्यवसाय की अल्पकालीन आवश्यकताओं को पूरा करना होता है।

(२) दोनों ही प्रकार के बैंक खानों, मकानों तथा कारखानों और इसी प्रकार की अन्य मरी हुई जमानतो (Dead Securities) पर ऋण स्थायी रूप से नही देती।

(३) दोनो बैंक केवल अल्पकालीन ऋण ही प्रदान करते है और अपने आदेयो (Assets) को अधिक-से-अधिक तरल (Liquid) रखने का प्रयत्न करते हैं, यद्यपि केन्द्रीय-बैंक व्यापारिक बैंकों की उपेक्षा अपने आदेयो मे अधिक तरलता रखते हैं।

असमानताएं

उपरोक्त समानताओं की अपेक्षा केन्द्रीय-बैंक तथा व्यापारिक-बैंको में असमानताएँ अधिक है, जो निम्नलिखित है —

(१) केन्द्रीय-बैंक का मुख्य उद्देश्य देश मे आर्थिक स्थिरता स्थापित करना है और बैंकिंग प्रणाली को सुसगठित और व्यवस्थित करना होता है, और लाभ कमाना इसका गौण उद्देश्य होता है। इसके विपरीत व्यापारिक-बैंको का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना है।

(२) केन्द्रीय-बैंक जमा पर ब्याज नही देता है क्योंकि वह व्यापारिक बैंको से प्रतियोगिता नही करते, लेकिन व्यापारिक-बैंक जमा पर ध्यान देते है।

(३) केन्द्रीय-बैंक की नीति क्रियाशील होती है, जबकि व्यापारिक-बैंक उसके नेतृत्व में रहते हैं और इस प्रकार निष्क्रिय होते हैं।

(४) केन्द्रीय-बैंक एक निष्पक्ष-सस्था होती है और इसकी नीति भी निष्पक्ष होती है, जिस पर किसी भी राजनैतिक-दल का प्रभाव नही पडता। परन्तु व्यापारिक-बैंकों पर किसी व्यक्ति-विशेष का या राजनैतिक-दल का प्रभाव हो सकता है।

(५) केन्द्रीय-बैंक देश मे सबसे बडे ऋणदाता के रूप मे कार्य करता है, जबकि व्यापारिक-बैंक केवल एक गौण सस्था होती है जो अपने ऋण की आवश्यकता केन्द्रीय-बैंक से पूरी करती है।

(६) केन्द्रीय-बैंक को नोट-प्रकाशन का एकमात्र अधिकार होता है, जो कि व्यापारिक-बैंको को नही होता।

(७) केन्द्रीय-बैंक सदैव ही राज्य के आदेश के अनुसार कार्य करता है, परन्तु व्यापारिक-बैंको की नीति डाइरेक्टर्स द्वारा निर्धारित की जाती है।

इक्कीसवां अध्याय

भारतीय बैंकिंग—भारतीय मुद्रा-बाजार और उसके अंग

मुद्रा-बाजार का अर्थ

मुद्रा बाजार से हमारा अभिप्राय उस क्षेत्र से होता है, जिसमें मुद्रा का क्रय-विक्रय होता है। मुद्रा के क्रय-विक्रय की बात कुछ विचित्र अवश्य लगती है, परन्तु यह एक सत्य है। मुद्रा के क्रय-विक्रय से हमारा अभिप्राय केवल मुद्रा के उधार लेने तथा उधार देने से ही है। मुद्रा का यह लेन-देन भी एक निश्चित मूल्य पर होता है अर्थात् जिस प्रकार वस्तुओं का बाजार में एक मूल्य होता है, उसी प्रकार मुद्रा बाजार में मुद्रा का लेन-देन भी मुद्रा के एक निश्चित मूल्य पर होता है। मुद्रा के मूल्य का अर्थ उस दर से लेते हैं जिस पर कि मुद्रा उधार दी और ली जाती है, अर्थात् मुद्रा को भविष्य में लौटाने के बदले में जो कुछ रकम दी जाती है वही मुद्रा का मूल्य होता है। दूसरे शब्दों में इसे यूँ भी कह सकते हैं कि मुद्रा के उधार देने के बदले में जो ब्याज की दर प्राप्त होती है उसे मुद्रा का मूल्य कहते हैं। इस प्रकार मुद्रा-बाजार के अन्तर्गत वे सभी क्रियाएँ आ जाती हैं, जिनका सम्बन्ध मुद्रा के उधार देने और लेने से होता है।

भारत में पाश्चात्य देशों की भाँति कोई सुसगठित मुद्रा-बाजार नहीं है। इसके अतिरिक्त भारतीय मुद्रा बाजार कई छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटा हुआ है, जिनमें से अधिकतर स्थानीय बाजार हैं। इस प्रकार हमारे देश में एक अखिल-भारतीय मुद्रा बाजार का अभाव है। भारतीय मुद्रा बाजार के निम्न अंग हैं :—

(१) भारतीय सम्मिलित पूँजी वाले बैंक।
(२) विनिमय बैंक।
(३) राज्य बैंक।
(४) औद्योगिक बैंक।
(५) कृषि बैंक।
(६) देशी बैंकर्स।
(७) रिजर्व बैंक आफ इण्डिया।

भारतीय मुद्रा बाजार के उपरोक्त अंगों का विस्तार में अध्ययन हम बाद में करेंगे। इससे पूर्व हम भारतीय मुद्रा बाजार के दोषों पर दृष्टिपात करेंगे।

भारतीय मुद्रा-बाजार के दोष

(१) भारतीय मुद्रा बाजार सुसगठित नहीं है। अधिकतर बाजार स्थानीय हैं

और अनेकों छोटे तथा बड़े बाजार हैं जिनके बीच में कोई विशेष सम्पर्क नहीं रहता। भारतीय मुद्रा बाजार को दो अंगों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम, आधुनिक बैंक, जैसे रिजर्व बैंक, विनिमय बैंक तथा सम्मिलित पूँजी वाले बैंक इत्यादि और दूसरे, देशी बैंकर्स जैसे साहूकार, सर्राफ इत्यादि। मुद्रा बाजार के इन दोनों अंगों के बीच लगातार प्रतियोगिता होती रहती है, सम्पर्क और सहयोग का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसके अतिरिक्त आधुनिक बैंकों में भी आपस में प्रतियोगिता चलती है, जिसके कारण भारत में एक सुसंगठित मुद्रा बाजार का अभी तक अभाव है। यद्यपि इस ओर रिजर्व बैंक ने काफी प्रयत्न किये हैं, परन्तु उनको कोई विशेष सफलता प्राप्त नहीं हो पाई है और आज भी मुद्रा बाजार उतनी ही एक समस्या है जितनी कि पहले थी।

(२) भारतीय मुद्रा बाजार का दूसरा दोष यह है कि यहाँ पर ब्याज की दरों में भारी भिन्नता पाई जाती है। वास्तव में मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों में सम्पूर्ण सम्बन्ध न होने के कारण ही यह दोष उत्पन्न हुआ है। एक सुसंगठित मुद्रा बाजार में ब्याज की दर बैंक-दर (Bank Rate) पर निर्भर करनी चाहिए, परन्तु नियंत्रण के अभाव में यहाँ के मुद्रा बाजार में ब्याज की दरें हर स्थान पर अलग-अलग पाई जाती हैं, और उनके परिवर्तन बैंक-दर से बिल्कुल स्वतन्त्र होते हैं।

(३) भारतीय मुद्रा में एक अच्छे बिल-बाजार (Bill Market) का अब भी अभाव है। यहाँ पर अधिकतर बैंक अपनी पूँजी का केवल ६ प्रतिशत भाग ही बिलों के भुनाने में लगाते हैं, जब कि लन्दन में या अन्य देशों में बैंकों की पूँजी का अधिकांश भाग बिलों के भुनाने में लगता है। इसलिए भारतीय मुद्रा बाजार को सुसंगठित बनाने की सब से प्रमुख शर्त यह है कि यहाँ पर व्यापारिक बिलों के प्रयोग में वृद्धि की जाय और साथ-ही-साथ एक सुव्यवस्थित बाजार भी स्थापित किया जाय।

(४) भारतवर्ष में धन की बहुत कमी है, जिसके कारण देश के व्यापार और उद्योग सम्बन्धी वित्त आवश्यकताओं की पूर्ति में भारी कठिनाईयाँ उत्पन्न होती हैं। यह धन की कमी कई कारणों से है। एक तो भारतीयों की आय ही बहुत कम है जिसके कारण बचत बहुत कम हो पाती है और दूसरे अधिकतर लोग अपनी बचत को जमीन में गाड़ कर रख देते हैं। इनके अतिरिक्त आय का असमान वितरण तथा जनता में शिक्षा का अभाव आदि कारण हैं जिनका ज्ञान एक असाधारण व्यक्ति को भी है। लेकिन कुछ ऐसे भी कारण हैं, जिनका महत्व इन कारणों की अपेक्षा अधिक है। यहाँ पर विनियोग के साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हैं, और न ही देश में बैंकिंग प्रणाली ही प्रचलित है जिसकी वजह से लोगों को बचाने की प्रेरणा नहीं मिलती। बैंकों के बराबर टूटते रहने के कारण लोगों में उनके प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया है और इसलिए वे उनमें रुपया जमा करते भी डरते हैं। हमारे देश में बचत का एक बहुत बड़ा भाग ऐसा है जिसका प्रयोग ही नहीं हो पाता, अर्थात् भारतीय ग्रामों में जो बचत होती है वह जमीन के अन्दर गड़ी पड़ी रहती है, क्योंकि वहाँ पर उनको जमा-करने वाली संस्थाओं की भारी कमी है। आजकल इस ओर काफी ध्यान दिया जा रहा है और राज्य-बैंक की स्थापना भी इसी उद्देश्य से की गयी है।

(५) इसके अतिरिक्त भारत एक कृषिप्रधान देश होने के कारण ब्याज की दरें भी मौसम के परिवर्तन के साथ-साथ बदलती रहती हैं। जिस काल में धन की आवश्यकता अधिक होती है जैसे नवम्बर से जून तक के महीनो मे, उस काल में ब्याज की दरें ऊपर चढ़ जाती हैं, और शेष महीनों में ब्याज की दरें नीची रहती हैं।

(६) भारतीय मुद्रा बाजार लोचपूर्ण नहीं है। रिजर्व बैंक की स्थापना से पहले तो लोच का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था, क्योंकि पहले कोई ऐसी संस्था नहीं थी जो नियन्त्रण कर पाती। अब रिजर्व बैंक ने इस कमी को बहुत कुछ दूर तक कर दिया है फिर भी यह कमी पूर्णरूप से दूर नहीं हो पाई है। आज भी जनता में बैंकों का प्रयोग करने की कम आदत है। बैंको के साधन और उनकी साख-निर्माण-शक्ति बहुत कम है।

(७) आज देश मे आधुनिक बैंकिंग प्रणाली का विकास होते हुए भी देशी बैंकरों का महत्व कम नहीं हुआ है। वे अब भी कृषि-व्यवस्था में उतना ही महत्वपूर्ण भाग ले रहे हैं जितना कि पहले लेते थे। देशी व्यापार में भी उनका महत्व कुछ कम नहीं है। इसका एकमात्र कारण यह है कि भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगो मे सहयोग नहीं है और नियन्त्रण की भी कमी है। इसके अतिरिक्त देशी बैंकरो पर भी नियन्त्रण रखना कठिन हो जाता है, क्योंकि यह बैंकिंग के साथ और भी कार्य करते हैं और इनकी कार्यविधियां भी हर स्थान पर अलग-अलग हैं।

(८) सामान्य रूप से देश में बैंकिंग सुविधाओं का अभाव है। गाँवों में तो ये सुविधाएँ न होने के बराबर हैं, जिसका परिणाम यह है कि न तो देश में बचत हो पाती है और यदि कुछ बचत होती भी है तो जमा नहीं हो पाती। यदि हम अमेरिका से तुलना करे तो ज्ञात होगा कि जब कि अमेरिका में प्रत्येक ३७ व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है तब भारत में १३० हजार व्यक्तियों के पीछे एक बैंक है। इससे सिद्ध हो जाता है कि हमारे देश में बैंकिंग सुविधाओं की कितनी कमी है।

मुद्रा-बाजार के दोषों को दूर करने के उपाय

यद्यपि रिजर्व बैंक के स्थापित होने से और उसके राष्ट्रीयकरण से भारतीय मुद्रा बाजार के दोष बहुत कुछ दूर हो गये हैं, फिर भी रिजर्व बैंक अभी तक मुद्रा बाजार को सुसगठित नहीं कर पाया है। यह केवल उसी समय हो सकता है जब कि रिजर्व बैंक देशी बैंकों पर पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त कर ले। इसके अतिरिक्त देश मे बैंकिंग सुविधाएँ भी जनता को अधिक मात्रा में मिलनी चाहिए और देश में एक अच्छे वित्त-बाजार का विकास भी होना चाहिए। जहाँ तक देशी बैंकों के नियन्त्रण का प्रश्न है यह तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कि देशी बैंकरो की कार्यविधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन न कर दिये जाय। मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगो के दोषो को दूर करना चाहिए और बैंकिंग सुविधाओं के उपलब्ध होने के लिए भी एक निश्चित सुविधा बनाई जानी चाहिए। वित्त बाजार के विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं :—

वित्त-बाजार के विकास सम्बन्धी सुझाव

(१) बिलों के आधार पर ऋण देने से पूर्व, बैंको को ऋणी की आर्थिक स्थिति

का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। इसलिए ऐसी संस्थाओं की आवश्यकता है जो देश के प्रत्येक व्यापारी की आर्थिक स्थिति से बैंकों को परिचित करा सकें।

(२) बिलों के प्रयोग को प्रोत्साहन देने के लिए यह आवश्यक है कि कटौती दर (Discount Rate) कम रक्खी जाय।

(३) बिलों के मुद्राक-कर (Stamp duty) की दर भी कम कर देनी चाहिए।

(४) प्रत्येक राज्य में बिलों के भुगतान के लिए निकास-गृह (Clearing House) को स्थापित किया जाय।

(५) पकी हुई फसलों की जमानत पर बिलों को स्वीकार किया जाय और उन पर ऋण प्रदान किये जाने चाहिए।

(६) समानता प्राप्त करने के लिए बिलों की भाषा और लिपि सम्बन्धी भिन्नताओं को दूर करना चाहिए।

(७) क्योंकि भारतवर्ष एक कृषिप्रधान देश है, इसलिए कृषि की वस्तुओं की जमानत पर लिखे हुए बिलों पर भी व्यापार होना चाहिए।

(८) ऐसे गोदामों को स्थापित करना चाहिए जिनमें माल जमा करने के पश्चात् जो रसीदें मिलें उनको यदि बिलों के साथ लगा दिया जाय तो उनकी साख बढ़ जाने से उन पर ऋण मिल सके।

निकासी गृह (Clearing House)

निकासी-गृह उस संस्था को कहते हैं जो बैंकों के आपसी लेन-देन की सुविधा प्रदान करती है। यह साधारण रूप से एक बड़ी बैंक होती है जो विभिन्न बैंकों का आपसी लेन-देन केवल खातों में घटा-बढ़ी करके करने का प्रयत्न करती है जिससे हिसाब-किताब अथवा लेन-देन में कम-से-कम नकद मुद्रा का प्रयोग हो। अर्थशास्त्री टौजिग ने निकासी-गृह की परिभाषा इस प्रकार की है "निकासी-गृह किसी एक प्रमुख स्थान की समस्त बैंकों की एक सामान्य संस्था है जो बैंकों का आपसी भुगतान अथवा लेन-देन चैक द्वारा करती है।"[१] सबसे पहिले सन् १७७४ में इगलैण्ड में (लन्दन) निकासी-गृह स्थापित हुआ था। तत्पश्चात अमेरिका में सर्वप्रथम यह सन १८५३ में स्थापित किया गया था। निकासी-गृहों का उपयोग संसार के विभिन्न देशों में बैंकिंग के विकास के साथ-ही-साथ बढ़ता गया है। भारत में निकासी-गृहों का इतिहास अधिक पुराना नहीं है, क्योंकि यहाँ पर बैंकिंग प्रणाली का विकास बहुत देर से हुआ और आज भी चैकों का चलन अधिक प्रचलित नहीं है। सन् १९२० में इम्पीरियल बैंक के स्थापित होने के बाद दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास और बम्बई में निकासी-गृह स्थापित हुए जो उक्त बैंक के अन्तर्गत कार्य करते थे। परन्तु रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद

१—Clearing House is a general organisation of banks of a given place having for its main purpose, the off-setting of cross obligations in the form of cheques."—Taussig

अनुसूचित बैंकों को इसके साथ खाते खोलने पड़े। रिज़र्व बैंक को निकासी-गृहों के सचालन-नियम बनाने का कार्य भी सौंपा गया। आज भी भारत के सारे निकासी-गृहों का सचालन व व्यवस्था रिज़र्व बैंक द्वारा ही की जाती है, हालाँकि इनके लिए कोई विशेष विधान अभी तक नही बना है। इस समय देश में २७ निकासी-गृह हैं[1] जो स्वतंत्र रूप से कार्य कर रहे हैं। सभी प्रकार की अनुसूचित बैंक इनकी सदस्य है। नई सदस्यता बड़ी सावधानी से नयी बैंक की जाँच करके स्वीकार की जाती है।

निकासी-गृहों का प्रबन्ध व्यवस्थापक समितियों द्वारा किया जाता है, जिनमे रिज़र्व बैंक और स्टेट बैंक का एक-एक प्रतिनिधि होता है और अन्य सदस्यों के निर्वाचित सदस्य होते हैं। रिज़र्व बैंक की स्थानीय शाखा निकासी-गृहों का निरीक्षण करती है। हर सदस्य-बैंक को निरीक्षक बैंक में एक निश्चित रकम जमा करनी पड़ती है, जिसके ऊपर चैंक द्वारा भुगतान किये जाते हैं। जिन स्थानों पर निकासी-गृह नही हैं, वहाँ यह कार्य स्टेट बैंक द्वारा किया जाता है।

निकासी गृह की कार्य-विधि

अनेक बैंक निकासी-गृह की सदस्य होती है, जिन्हें निकासी बैंक (Clearing Bank) कहते हैं। प्रति दिन निश्चित समय पर प्रत्येक निकासी बैंक के निर्वाचित प्रतिनिधि (Clerk) निकासी-गृह में जमा होते है, और अपनी-अपनी बैंको के लेन-देन का लेखा निकासी-गृह के एक विशेष प्रकार के प्रपत्र पर तैयार करते हैं। प्रपत्रों को आउट बुक (Out Book) तथा उन्हें बनाने वाले क्लर्कों को आउट-क्लीयरर्स (Out clearers) कहते हैं। इनके अतिरिक्त निकासी-गृह मे इन-बुक (In Book) और इन-क्लीयरर्स (In-clearers) भी होते है। कुछ रनर्स (Runners) भी होते है, जो प्रत्येक बैंक के छटे हुए चैंक लाकर व उनका वर्गीकरण करके यथास्थान रखते हैं। आउट बुक और इन-बुक को भरने के बाद इनकी तुलना की जाती है, और प्रत्येक बैंक का लेना-देना निकाला जाता है। जिस बैंक को जितनी रकम देनी होती है वह लेने वाली बंक के नाम उतनी रकम का चैंक निकासी-गृह पर दे देती है जहाँ के खातो में आवश्यक समायोजन (Adjustments) हो जाते हैं। इस प्रकार प्रतिदिन शाम को निकासी गृह के लेखें की लेन-देन सतुलित हो जाती है और सदस्य बैंकों की एक-दूसरे को कुछ नही देना पड़ता।

निकासी-गृह के लाभ

(१) सदस्य बैंकों का लेन-देन सामूहिक रूप मे किये जाने से आपसी भुगतान सरलता से व शीघ्र हो जाते हैं।

१—आजकल भारत में निम्न नगरों में निकासी गृह कार्य कर रहे है:—दिल्ली, नई दिल्ली, आगरा, कानपुर, लखनऊ, इलाहाबाद, देहरादून, शिमला, अमृतसर, राजकोट, गया, मुजफ्फरपुर, बगलौर, जालन्धर, पटना, नागपुर, अहमदाबाद, बम्बई, पूना, बगलौर, मदुरा, मद्रास, कोयमटूर और कलकत्ता।

(२) इस प्रकार की सुविधा कुछ शुल्क देकर गैर-सदस्य बैंकों को भी प्राप्त हो जाती है।

(३) एक बैंक मे दूसरे बैंक पर लिखे गये चैकों का भुगतान नकद रकम से नही करना पड़ता। अन्तर का भुगतान भी देने वाली बैंक लेने वाली बैंक के नाम चैक लिख के कर देती है। इस प्रकार नकदी का उपयोग बच जाता है।

(४) निकासी-गृहों की सुविधा होने से बैंको को अब अधिक मात्रा मे नकदी नहीं रखनी पडती जिससे वे साख का निर्माण अधिक मात्रा मे कर सकती हैं। इस प्रकार अधिक साख बढने से देश वाणिज्य, व्यापार एव उद्योग की अधिक प्रगति हो सकती है।

भारतीय मुद्रा-बाजार के विभिन्न अंगों का विस्तृत अध्ययन अर्थात् भारतीय बैंकिग का एक अध्ययन

अब हम भारतीय मुद्रा बाजार के विभिन्न अगो का अध्ययन विस्तार मे करेंगे।

भारतीय बैंकिग का विकास

भारत में आधुनिक बैंकिंग का उद्गम सर्वप्रथम १८वी शताब्दी में हुआ था, जबकि कलकत्ते और बम्बई मे ऐजेन्सी गृहो (Agency Houses) की स्थापना हुई थी। यह गृह बैंकिग का कार्य भी करते थे, अपने बैंक-नोट भी छापते थे और इंगलैण्ड के व्यापारियों की ओर से भारतवर्ष में उनकी व्यवस्था की देख-भाल भी करते थे। परन्तु यह गृह धीरे-धीरे विलीन हो गये। इसके बाद आधुनिक रूप में बैंको की स्थापना सन् १८०६ मे हुई, जब कि बैंक आफ बगाल (Bank of Bengal) स्थापित हुआ था। इसके बाद बैंक आफ मद्रास (Bank of Madras) और बैंक ऑफ बॉम्बे (Bank of Bombay), यह दो प्रेसीडेन्सी बैंक (Presidency Banks) और स्थापित हुए। इन बैंको को नोट-प्रकाशन का अधिकार सरकार ने सौंप दिया था, परन्तु यह अधिकार सन् १८६२ में सरकार ने वापिस ले लिया। कुछ वर्षों बाद सम्मिलित पूँजी वाले बैंकों की स्थापना हुई और सन् १८८१ मे अवध का सम्मिलित बैंक की स्थापित हुआ, जो कि पूर्णरूप से भारतीय बैंक था। इसके अतिरिक्त इसी शताब्दी में विदेशियों की सहायता से देश मे कई और बैंक खुले, जिसमें कि नेशनल बैंक (National Bank) और इलाहाबाद बैंक (Allahabad Bank) मुख्य थे। बीसवी शताब्दी मे बैंकिग का विकास बहुत तेजी के साथ हुआ, यद्यपि बहुत-से बैंक सन् १९०६–१९०७ मे सकटकाल में टूट गये। फिर भी बैंको की सख्या की वृद्धि न रुकी। भारतीय बैंकिंग प्रणाली को एक और धक्का प्रथम महायुद्ध में लगा, जब कि धन की कमी के कारण बहुत-से बैंक फेल हो गये, क्योंकि वे जमा राशि पर ही निर्भर रहते थे। ये बैंक आपस में प्रतियोगिता करते थे और ऋण भी दीर्घकाल के लिए दे देते थे। इसके अतिरिक्त बैंको के सचालक भी अनुभवी नही थे, जिसकी वजह से प्रथम महायुद्ध मे बहुत-से अच्छे-अच्छे बैंक फेल हो गये थे। बैंकों के फेल हो जाने के सम्बन्ध मे केन्द्रीय बैंक की जाँच समिति का विचार था कि ये सब आपत्तियाँ केन्द्रीय बैंक के न होने के कारण उत्पन्न हुई थी। सन् १९२१ मे तीनो प्रेसीडेन्सी बैंको को मिला दिया गया

—D.A.) और भुगतान पर प्रपत्र (Document on Payment —D.P.) अधिकतर निर्यात करने वाले अपना धन जमा करने के हेतु विनिमय-बैंकों के पास बिल भेज देते हैं। प्रत्येक विदेशी बैंक भारत में निर्यात-बिल खरीदते समय रुपयो में भुगतान करती है, और बाद में विदेशों में बिल को स्वीकार करने वाले व्यापारियों से वहाँ की मुद्रा में भुगतान प्राप्त कर लेती है। इसके अतिरिक्त यह बैंक विदेशी निर्यात करने वालो को भारतीय आयात करने वालो की आर्थिक स्थिति की पूरी सूचना देती रहती है। भारतीय व्यापार की एक अच्छी बात यह है कि विदेशी विनिमय बिल स्टर्लिंग में लिखे जाते हैं, क्योंकि यहाँ पर आज भी व्यापारिक क्षेत्र मे स्टर्लिंग विनिमय-मान है। बिल लिखने की तिथि से लन्दन तक पहुँचने तक के समय का ६ प्रतिशत ब्याज लिया जाता है।

(२) देशी व्यापार का अर्थ-प्रबन्ध—यह विनिमय-बैंक का गौण कार्य है, क्योंकि यह विनिमय बैंक के कार्यक्षेत्र से बाहर पड़ता है, परन्तु बहुत-से विनिमय बैंक देश के आन्तरिक व्यापार में भी सहायता करते हैं। वे बन्दरगाहों पर माल जमा करने, उसको बाँटने और उसको एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजने का प्रबन्ध करते है। उनकी स्थिति इतनी महत्वपूर्ण है कि वे व्यापारिक बैंको से देशी व्यापार में भी प्रतियोगिता करते है, और कहीं कहीं पर तो वे पूर्णरूप से देशी व्यापार को वित्तीय सहायता देते हैं। इस प्रकार विदेशी बैंकों का भारतीय देशी व्यापार में भी महत्व है।

(३) साधारण बैंकिग कार्य—व्यापारिक क्षेत्रो मे वित्तीय व्यवस्था करने के अतिरिक्त, विनिमय बैंक साधारण बैंकिंग कार्यों को भी सम्पन्न करते हैं। वे साधारण बैंको की अपेक्षा जमा पर अधिक ब्याज देते है और गिरवि-पत्रो पर भी ऋण दे देते है।

विनिमय बैंकों की कार्य-विधि की आलोचना

यद्यपि भारत मे विदेशी विनिमय बैंको ने महत्वपूर्ण कार्य किया है, फिर भी इनके प्रति भारतीयों की श्रद्धा नही है। अधिकतर लोगों को इनके विरुद्ध बहुत-सी शिकायते हैं। भारतीय मुद्रा बाज़ार में इन बैंको का महत्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि भारत का लगभग ७० प्रतिशत निर्यात व्यापार और ६० प्रतिशत आयात व्यापार इन्ही बैंको के हाथ में हैं। इस प्रकार इनके पास विदेशी व्यापार का एकाधिकार है, जो तनिक भी आश्चर्य की बात नही है। इन बैंकों को इतना महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त होने के कई कारण है। प्रथम, इन बैंकों के पास पूंजी नही है। द्वितीय, इन बैंको का कार्य बहुत कुशल है क्योंकि इनका सचालन अनुभवी कर्मचारियों द्वारा होता है। तीसरा, ये बैंक काफी समय से इन कार्यो को सम्पन्न कर रही है। इसलिए इन्हें इस व्यवसाय के ऊँच-नीच का पूरा ज्ञान है और अन्त मे इन पर कभी भी किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नहीं लगाए गये, अर्थात् ये सदैव ही अपने कार्यक्षेत्र मे स्वतन्त्र रहे।

इतना सब कुछ होते हुए भी विदेशी बैंको का इतना महत्व होना हमारी बैंकिग प्रणाली का एक बहुत बडा दोष है। इसके अतिरिक्त हमारे देश के व्यापारी भी इनसे

सतुष्ट नही है। ऐसी बैंकों के विरुद्ध बहुत-से आरोप लगाये जाते है। इनमे से मुख्य आरोप निम्न प्रकार के हैं —

(१) ये बैंक ऐसी नीति अपनाती है जो राष्ट्रीय हित में नहीं होती। यही कारण है कि भारतीय बैंको के पास विदेशी व्यापार का केवल १५.२० प्रतिशत भाग ही है। केन्द्रीय-बैंकिंग जाँच समिति के सामने बहुत-से व्यापारियो ने अपने विचार प्रगट करते हुए कहा था कि ये बैंक विदेशियो को भारत के व्यापार-गृहो की आर्थिक स्थिति के बारे में झूठी सूचना देती है। वे भारतीय व्यापार को वे सुविधाएँ प्रदान नही करती, जो कि विदेशी व्यापारियों को करती है।

(२) अधिकतर इन बैंकों का कार्य लन्दन मुद्रा बाजार के अल्पकालीन कोषो से चलता रहा है, परन्तु पिछले कुछ वर्षों में इन बैंको ने काफी धन लोगो से जमा के रूप में प्राप्त कर लिया और अब ये उसी से काम चलाते हैं।

(३) इन बैंको मे ऊँचे स्थान विदेशियो को ही दिये जाते है। भारतवासियो का स्थान केवल क्लर्क के रूप में ही रहा है। इस प्रकार इन बैंको ने भारतवासियो को बैंकिग व्यवसाय सम्बन्धी शिक्षा देने का कोई प्रयत्न नही किया।

(४) ये बैंक भारतीय व्यापार-बैंको से प्रतियोगिता करते है। वे भारतीयो से अधिक व्याज देकर अधिक जमा प्राप्त करते हैं।

(५) यह बैंक भारतीय बीमा कम्पनियो, जलयान-कम्पनियो और दलालो के साथ विवेचनात्मक व्यवहार करती है, और उनका प्रयत्न यही रहता है कि भारतीय व्यापार विदेशी सेवाओ का ही उपयोग करे।

(६) उनके पास इतनी प्रचुर मात्रा मे पूँजी होने के कारण और उनका सबंध लन्दन मुद्रा बाजार से होने के कारण भारतीय मौद्रिक अधिकारी उन पर उपर्युक्त नियंत्रण करने में असफल रहे।

(७) यह बैंक विदेशी व्यापारियो से विनिमय समझौतो के पूरा होने मे यदि देर हो जाय तो अनुचित हरजाना ले लेते है। विनिमय बैंक सघ की हर कार्यवाही को भारतीय व्यापारियो से छपा कर रखा जाता है, जिससे कि भारतीय व्यापारियो को सघ से वर्तने वाले नियमो से कोई खास लाभ प्राप्त नही होता।

(८) कुछ व्यापारियो का यह भी आरोप है कि यह बैंक उन देशो की मुद्रा को बदलने के लिए बहुत समय लेते हैं और अधिक कमीशन भी लेते है जिन देशो की बैंके या बैंको की शाखाएँ भारत मे नही है।

(९) भारतीय व्यापारियो का यह भी कथन है कि यह बैंक भारतीय पूँजी को विदेशी उद्योगो और प्रतिभूतियो मे विनियोग करते है और इस प्रकार भारतीय पूंजी से लाभ विदेशियों को ही होता है।

(१०) अन्त में यह भी कहा जाता है कि इन बैंको की नीति सदैव ही भारत के हित को आघात पहुँचाती रही है।

उपरोक्त दोषों का अध्ययन करने के पश्चात् यह सिद्ध हो जाता है कि इन बैंकों पर नियत्रण रखने की बहुत बड़ी आवश्यकता है। केन्द्रीय बैंकिंग समिति का यह प्रस्ताव

था कि विदेशी विनिमय बैंको को भारत मे व्यापार करने के लिए रिजर्व बैंक से लाइसेंस प्राप्त करना चाहिए, जो कि एक निश्चित काल के लिए हो। लाइसेंस जारी करते समय ऐसी शर्तें ठहरा ली जायें कि जिससे भारतीय व्यापारियों की कठिनाइयाँ दूर हो जाय। सन् १९४९ में बैंकिग कम्पनी एक्ट के पास होने से विनिमय बैंको पर विशेष प्रतिबन्ध लगा दिये गये है, जिनसे इनकी कार्यविधि मे अनेक सुधार हो गये है।

यह हर्ष की बात है कि पिछले कुछ वर्षों से भारतीय बैंकों ने विदेशो में अपनी शाखाएँ खोलनी आरम्भ कर दी है। सन् १९५२ के अन्त में ऐसे २५ सदस्य या १२ असदस्य भारतीय बैंक थे जिन्होंने विदेशो मे क्रमश १११ व १६ कार्यालय स्थापित किये थे। अप्रैल सन् १९५२ के अन्त मे भारतीय बैंको की विदेशी शाखाओं का कुल आदेय १०१ करोड रुपया था, जिसमें ७५ प्रतिशत जमा की राशि थी। ७७ करोड रुपए की जमा में से ६७ करोड रुपया माँग-जमा व १० करोड रुपए मुद्दती-जमा के थे।

परन्तु यह अवस्था भी संतोषजनक नही है, क्योकि भारत जैसे विशाल देश के लिए जिसका कि विदेशी व्यापार इतना उन्नत है, इतने थोडे-से विदेशी बैंक पर्याप्त नही। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष को आय की भी हानि हुई है और साथ-ही-साथ विदेशी व्यापार में भी काफी कठिनाइयो का सामना करना पडा है।

भारत में मिश्रित पूँजी बैंक (Joint Stock Banks in India)

मिश्रित पूजी बैंको को व्यापारिक बैंको के नाम से भी पुकारते है। भारत मे यह बैंक निम्नलिखित कार्य करते हैं —

(१) यह जनता से जमा स्वीकार करते हैं और उन पर ब्याज देते हैं। अधिकतर जमा तीन खातों में होती हैं। प्रथम, निश्चित-कालीन-खाता (Fixed Accounts), जिन पर ब्याज की दर सबसे अधिक होती है और यह जमा की राशि और समय की अवधि के अनुसार बदलती रहती है। द्वितीय, जमा चालू-खातो (Current Accounts) में होती है। ऐसी जमा पर ब्याज नही के बराबर मिलता है। तृतीय, सेविंग-बैंक खाता (Saving Banks Accounts) जिन पर कि ब्याज १ प्रतिशत से २ प्रतिशत तक मिलता है।

(२) यह भारत के विदेशी व्यापार की अर्थ-व्यवस्था मे सहायता देते हैं।

(३) व्यापारिक बैंक व्यापारियो को व्यक्तिगत जमानत और प्रतिज्ञा-पत्रो (Promissory Notes) के हिस्सो, खेती की फसल आदि समुचित प्रतिभूतियो की आड़ पर भी ऋण देते हैं।

(४) यह देश के आन्तरिक व्यापार से सम्बन्धित विनिमय बिलों का क्रय-विक्रय करते है और उनका भुगतान भी करते है।

(५) यह बैंक नकद राशि और अधिक निकासी (Over Draft) की सुविधाएँ भी प्रदान करते हैं।

(६) यह अपने ग्राहको के धन को एक जगह से दूसरी जगह को हस्तान्तरित करते हैं।

(७) व्यापारिक बैंक अपने ग्राहको के अनेको कार्य उनके ऐजेण्ट के रूप मे भी करते हैं।

(८) यह बैंक अपने ग्राहको की आर्थिक स्थिति की अन्य बैंको को गुप्त रूप से सूचना देते हैं।

अधिकतर लेखको ने व्यापारिक बैंको को चार वर्गों मे विभाजित किया है :—

(१) प्रथम श्रेणी मे वे बैंक आते हैं, जिनकी पूंजी और सुरक्षित कोष मिला कर पाँच लाख से अधिक हैं।

(२) द्वितीय श्रेणी मे ऐसे बैंको को सम्मिलित किया जाता है जिनकी पूंजी १ लाख तथा ५ लाख के बीच मे हैं।

(३) तृतीय श्रेणी मे वे बैंके है, जिनकी पूंजी पचास हजार रुपए से अधिक है, परन्तु एक लाख रुपए से कम है।

(४) अन्तिम श्रेणी मे वे बक आते है, जिनकी पूंजी पचास हजार रुपयो से कम है।

अन्तिम प्रकार के बैंको की स्थापना सन् १९२६ से पहले हुई थी, परन्तु आजकल ऐसे बैंक स्थापित नही किये जा सकते। यह बैंक रिज़र्व बैंक के सदस्य नहीं हैं। वे बैंक जिनकी पूंजी पाँच लाख रुपये मे अधिक हैं, रिजर्व बैंक की दूसरी सूची (Second Schedule) मे आते हैं और इसीलिए इन्हे अनुसूचित बैंक (Scheduled Banks) कहा जाता है। यह बैंक अपनी मांग-आदेयों (Demand Liabilities) का ५ प्रतिशत और समय-आदेयों (Time Liabilities) का २ प्रतिशत रिजर्व बैंक के पास जमा कराते हैं। भारतीय व्यापारिक बैंको पर रिजर्व बैंक का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। अनुसूचित बैंको को हर सप्ताह रिजर्व बैंक के पास अपनी आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध मे पूर्ण सूचना देनी पडती है। जब कोई बैंक ऐसा नही करता, तब उसे रिजर्व बैंक को जुर्माना देना पड़ता है। केवल यही नही, बल्कि यदि बैंको की जमा राशि कम हो जाय तो भी रिज़र्व बैंक इनसे जुर्माना ले लेता है। रिजर्व बैंक इन बैंको को कुछ सुविधाएँ भी प्रदान करता है, जैसे—भुनाई हुई हुण्डियों को फिर से भुनाना, ऐसे विनिमय बिलो और प्रतिज्ञा-पत्रो को खरीदना जिनकी परिपक्वता-अवधि ९० दिन से अधिक नहीं हैं, समुचित प्रतिभूतियो की आड पर ऋण देना, और उनका रुपया एक जगह से दूसरी जगह भेजना आदि।

जो बैंक रिजर्व बैंक के पास कम-से-कम दस हजार रुपया जमा कराके खाता खोलते हैं, उन्हे अपरिगणित-बैंक (Non-Scheduled Banks) कहते हैं। इन बैंको को भी रिजर्व बैंक कुछ सुविधाएँ प्रदान करता है।

भारतीय व्यापारिक बैंकों की मुख्य कठिनाइयां (Main difficulties of the Indian Joint Stock Banks)

भारतवर्ष मे व्यापारिक बैंक उपयुक्त प्रगति नही कर पाए है। देश की जनसख्या

और क्षेत्रफल को देखते हुए भारत में बैंकिंग का विकास नही के बराबर है। बैंको की इस धीमी प्रगति के निम्न कारण हैं :—

(१) भारतवर्ष एक निर्धन देश है, और यहाँ के लोगो की आय कम होने के कारण बचत बहुत कम हो पाती है। जो कुछ बचत होती भी है उसको लोग ज़मीन में गाड़ कर या तिजोरियो में बन्द करके रखते है, जिसके फलस्वरूप बैंको की जमा बहुत कम रहती है और बैंक अपने व्यवसाय को भली-भाँति नही चला पाते।

(२) बैंकिंग विकास के प्रारम्भिक काल में बहुत-से बैंक फेल हुए, जिसके कारण जनता का विश्वास बैंको के प्रति दृढ नही हो पाया और वे इसीलिए अपनी बचत को बैंको में जमा नही करते।

(३) विदेशी विनिमय बैंको से प्रतियोगिता के कारण भी भारतीय बैंक पर्याप्त उन्नति नही कर सके।

(४) विदेशियो के हाथो में भारत का विदेशी व्यापार होने से भी भारतीय बैंकिंग को बड़ा आघात पहुँचा है।

(५) भारत सरकार भी बैंकिंग विकास की ओर से काफी उदासीन रही है।

(६) भारतीय व्यापारिक बैंको का एकमात्र उद्देश्य लाभ कमाना रहा है, इसी कारण उन्होने कभी भी सुरक्षित-कोष जमा करके अपनी स्थिति को दृढ बनाने का प्रयत्न नही किया।

(७) देश का अधिकांश बैंकिंग व्यापार देशी बैंकरो के हाथ में होने के कारण व्यापारिक बैंक उन्नति नही कर पाए है। अधिकतर व्यापारी अंग्रेज़ी भाषा से अनभिज्ञ हैं जिसके परिणामस्वरूप वे व्यापारिक बैंको से सम्बन्ध नहीं रखना चाहते। इसीलिए अधिकांश बैंको के पास पूँजी की कमी रहती है।

(८) अधिकतर बैंको का सचालन विदेशियो के हाथ में रहा है, जो जनता में न तो विश्वास ही उत्पन्न कर पाए और न ही उनकी कठिनाइयो को समझ कर उससे निकट सम्बन्ध स्थापित करने में सफल हो सके।

(९) इम्पीरियल बैंक की प्रतियोगिता के कारण भी व्यापारिक बैंक उन्नति नही कर सके।

(१०) देश के क्षेत्रफल के अनुसार देश में बैंको ने अपनी शाखाएँ नहीं बढ़ाई हैं, और इस कारण वे जोखिम का भौगोलिक वितरण नही कर पाए हैं। वे जनता में बैंको को प्रयोग करने की आदत भी नही डाल सके हैं।

(११) वैधानिक प्रतिबन्धो के कारण भी बैंकिंग व्यवसाय को काफी हानि पहुँची है। बैंको को ऋण पर दिया हुआ धन वसूल करने में विशेष कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है, इसलिए वे अचल-सम्पत्ति की आड़ पर भी ऋण बहुत कम देते हैं। इसी कारण बैंकिंग व्यवसाय का समुचित विकास नही हो पाया।

(१२) देश में अविकसित बिल-बाज़ार होने के कारण भी बैंकिंग व्यवसाय ने ठीक प्रगति नही की है।

(१३) देशी बैंकरो की अपेक्षा व्यापारिक बैंको के ज़मानत सम्बन्धी नियम विशेष

रूप से कड़े हैं। यह ही कारण है जिसकी वजह से भारतीय मुद्रा बाजार में देशी बैंकरो के महत्व मे कोई कमी नही आ पाई है।

(१४) देश की सरकार ने भी बैंकिग विकास में सहायता नही पहुँचाई है।

उपरोक्त कठिनाइयो तथा दोषो के कारण भारत मे व्यापारिक बैंको का पूर्ण विकास नही हो पाया है। यह ही नही, बल्कि जो व्यापारिक बैंक कार्य कर भी रहे है वे भी उपरोक्त कठिनाइयो का अनुभव कर रहे है। इन कठिनाइयो और दोषो को दूर करने के लिए सन् १९५१ में संशोधित रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ऐक्ट पास किया गया, जिससे आशा की जाती है कि शीघ्र ही यह सब दोष दूर हो जायेंगे। परन्तु सम्पूर्ण बैंकिग विकास के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये गये हैं।

सुझाव (Remedies)

(१) बैंको की आपसी प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए एक अखिल-भारतीय बैंकिग सघ स्थापित होना चाहिए और प्रत्येक बैंक को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि वह देश के भिन्न-भिन्न भागो मे ऋणलेने वालो के साख के विषय मे पूर्ण ज्ञान प्राप्त करे। प्रत्येक बैंक को इस बात का भी प्रयत्न करना चाहिए कि उनमे आपसी सहयोग रहे, यह कार्य केवल सघ द्वारा ही किया जा सकता है। यदि संघ को इस बात का अनुभव हो कि एक बैंक गलत अफवाहे उडाता है, तो वह उस बैंक के विरुद्ध कार्यवाही करे और उसे उपयुक्त दण्ड दे। यह ही नहीं, बल्कि सघ की सिफारिश पर रिजर्व बैंक को चाहिए कि बैंक और जनता दोनों ही के हित के लिए कुछ विशेष उपयोगी कार्यों को करने के लिए प्रोत्साहन दे। इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि देश में 'एक व्यक्ति एक बैंक' के अभ्यास का विकास हो। इन सब उद्देश्यो की पूर्ति के लिए एक अखिल-भारतीय-सघ का होना परम आवश्यक है।

(२) प्रत्येक विदेशी विनिमय बैंक का कार्यक्षेत्र निश्चित हो जाना चाहिए, ताकि वह अन्य बैंको मे प्रतियोगिता न कर पाए और देश की बैंकिग प्रणाली की उन्नति मे बाधक न हो।

(३) इस सम्बन्ध मे सरकार को भी अपनी नीति को बदलना आवश्यक है। सरकार को ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे बैंको के प्रति जनता का विश्वास दृढ हो जाय। इस विश्वास को अटल बनाने के लिए सरकार कुछ बैंको को म्युनिसिपैलटी, पोर्ट ट्रस्ट (Port Trust), डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, शिक्षण आदि सस्थाओ के कोष जमा करने की प्राथमिकता दे।

(४) सम्पूर्ण बैंकिग विकास के लिए सरकार को यह भी चाहिए कि वह स्टाम्प फीस (Stamp Fee), रजिस्ट्रेशन फीस को कम कर दे और ऐसी सुविधाएँ प्रदान करे जिससे कि बडे-बडे शहरो में गिरवी द्वारा ऋण लिये जा सके।

(५) इस ओर रिजर्व बैंक की भी बड़ी जिम्मेदारी है, उसको भी अपनी नीति बदलनी चाहिए। सर्वप्रथम, उसको ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि देशी बैंक स्थानीय बैंको में बदल दिये जायें ताकि उनकी प्रतियोगिता से व्यापारिक बैंको को आघात

न पहुँचे। इतना ही नही, बल्कि उसको देश के छोटे-छोटे व्यापारिक बैंको का एकीकरण कर देना चाहिए, जिससे उनकी आपसी प्रतियोगिता समाप्त हो जाय। इस के अतिरिक्त देश में निकास-गृहो (Clearing Houses) के बढाने का भी प्रयत्न करना चाहिए।

(६) बैंको को अपनी शाखाओ तथा दफ्तरो मे कर्मचारी ऐसे रखने चाहिएं जो स्थानीय हो, जो कर्मचारी उस स्थान-विशेष की अवस्थाओ से भली-भाति परिचित हो और शिक्षित भी हो।

(७) हमारे देश में आँकडों का बहुत अभाव है, जिसके कारण आर्थिक और बैंकिंग स्थिति का पूर्ण ज्ञान नही मिलता, और बैंको को भी नई शाखाएँ खोलने मे और अपनी साख नीति निर्धारित करने में बडी कठिनाईयाँ होती हैं। इन कठिनाईयो को दूर करने के लिए और बैंकिंग विकास को पर्याप्त सहायता देने के लिए विश्वसनीय आँकडो का मिलना परमावश्यक है। यह केवल उसी समय सम्भव हो सकता है जब कि कुछ बैंक आपस में मिलकर या अखिल-भारतीय बैंक-संघ की ओर से एक आँकडा विभाग, समाचार विभाग, अनुशीलन विभाग (Research Department) और एक प्रचार-विभाग (Publicity Department) खोल दें।

(८) इसके साथ-साथ बैंको को अपनी कार्यविधि मे आवश्यक परिवर्तन करने चाहिए, ताकि अशिक्षित व्यक्तियो को भी बैंको का प्रयोग करने मे कोई कठिनाई न हो।

(९) भारत की लगभग ७०% से अधिक जनसंख्या गाँवो मे रहती है, जिनकी ऋण सम्बन्धी आवश्यकताएँ महाजनो द्वारा पूरी होती हैं। उनकी बचतो का भी सदुपयोग नही हो पाता क्योकि ग्रामीण क्षेत्रो में बैंकिंग सुविधाओं का पूर्ण अभाव है। इसलिए गाँवो व कस्बो मे बैंकों की नई शाखाएँ स्थापित करनी चाहिए।

भारतीय बैंकों का विलीनीकरण (Amalgamation of Indian Banks)

किसी भी संस्था के दूसरी समान संस्था मे मिल जाने को ही विलीनीकरण कहते हैं। जब एक बैंक किसी अन्य बैंक के साथ इस तरह मिल जाय कि दोनो का निजी अस्तित्व समाप्त होकर सामूहिक रूप मे सब काम करने वाली स्वतंत्र बैंक बन जाये, तो इस क्रिया को बैंको की विलीनीकरण कहते हैं। इस प्रकार के विलय से एक तो आपसी प्रतिद्वन्द्विता खतम हो जाती है और दूसरे बडे पैमाने के संगठन के लाभ भी प्राप्त किये जा सकते हैं। आजकल उद्योग और व्यवसाय की भाति बैंको का विलीनीकरण भी काफी प्रचलित हो गया है।

भारतीय बैंको के विलीनीकरण का इतिहास बहुत पुराना नही है। द्वितीय युद्ध के समय मे भारत की अनेक बैंको का विस्तार हुआ। नई-नई बैंको की शाखाएँ बडी संख्या में खुल गई थी, क्योंकि युद्ध काल मे उद्योग और व्यवसाय भी बहुत बढ गये थे। बहुत-सी बैंकों ने प्रतियोगिता के उद्देश्य से अनावश्यक शाखाएँ स्थापित की, जो कुशलतापूर्वक बैंकिंग कार्य न कर सकी थी। बहुत-सी नई बैंको ने योग्य व तजुर्बेकार कर्मचारियो को अधिक वेतन का लोभ देकर अपनी बैंको को छोडकर इनमे आने को आकर्षित किया, जिससे इनके कार्य-व्यय मे बहुत अधिक वृद्धि होने लगी थी। अनेक बैंको ने शीघ्र ही खूब लाभ

कमाने के ध्येय से सट्टेबाजी भी करनी शुरू कर दी थी। परन्तु जैसे ही युद्ध समाप्त होने के लक्षण प्रतीत हुए, वैसे ही बहुत-सी बैंको ने व्यवसाय की कमी अनुभव की और वे बडी सख्या मे अपनी शाखाओ को बन्द करने लगी। अनेक बैंको की आर्थिक स्थिति बहुत खराब हो गई, तो उनका दूसरी बैंको के साथ विलय कर दिया गया। इस प्रकार सन १९५१ तक भारत मे १८३ बैंको का विलीनीकरण हो चुका था। इस क्रिया से कमज़ोर बैंको के फेल होने का भय जाता रहा व आपसी प्रतियोगिता समाप्त हो गई और कार्य-क्षमता में वृद्धि हुई। इन लाभो से प्रभावित होकर सन् १९४९ के बैंकिंग विधान मे भी विलीनीकरण की व्यवस्था कर दी गई थी और सन् १९५० मे ऐसे सशोधन कर दिये गये जिससे इस क्रिया को और प्रोत्साहन मिले। इससे पूर्व रिजर्व बैंक ने भी सन् १९३७ और १९४५ मे इस क्रिया मे सहयोग दिया था। सन् १९५० मे कोमिला बैंकिंग निगम, कोमिला यूनियन बैंक, हुगली बैंक तथा बगाल सेण्ट्रल बैंक को मिला कर यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई। सन १९५१ मे भारत बैंक को पजाब नेशनल बैंक मे मिला दिया गया। इसी प्रकार सरकार की नई योजना के अनुसार राज्य-सम्बन्धी सभी बैंको को स्टेट बैंक के साथ मिलाया जा रहा है।

बैंकों के विलीनीकरण से लाभ (Merits)

(१) विलीनीकरण से पारस्परिक हानिकारक प्रतियोगिता का अन्त हो जाता है।

(२) प्रबन्ध की कार्यक्षमता बढ जाती है और व्यय कम हो जाता है।

(३) बैंको के आर्थिक साधन दृढ हो जाते हैं और सकटो का सामना करने की क्षमता बढ जाती है।

(४) सुयोग्य व पुराने कर्मचारियो की सेवाएँ प्राप्त हो जाती है।

(५) बडे पैमाने के व्यवसाय के सभी लाभ प्राप्त करने मे भी यह क्रिया सहायक होती है।

(६) इस क्रिया से केन्द्रीय बैंक की निरीक्षण तथा नियत्रण-क्षमता बढ जाती है, जिससे मुद्रा बाजार मे समानता और स्थिरता आ जाती है और बैंकिंग व्यवसाय की क्षमता बढती है।

हानियां (Demerits)

(१) विलीनीकरण से एकाधिकार के सभी दोष पैदा हो जाते हैं। इसमे आर्थिक शक्ति थोडे-से व्यक्तियो के पास केन्द्रित हो जाती है जिसका वे दुरुपयोग करके जनता का शोषण कर सकते हैं।

(२) इससे व्यवसाय का क्षेत्र बहुत छोटा हो जाता है और कर्मचारियो की छँटनी होती हैं जिससे वे रोजगारी की समस्या पैदा होती है।

(३) आर्थिक शक्ति के केन्द्रित हो जाने से बहुधा बैंक सट्टे का व्यापार आरम्भ कर देती हैं, जिससे भ्रष्टाचार बढता है।

भारतीय बैंकिंग की वर्तमान स्थिति

सन् १९५६ के आरम्भ में भारत में सभी प्रकार की बैंकों की संख्या ४७२ थी जिनकी पूंजी और निधि १,२४६·६७ करोड रु० थी। इन बैंकों के पास नकदी, ऋण, अग्रिम, विनियोग, बिल आदि के रूप में १,२११ ६३ करोड रु० थे। सन् १९५६–५७ में औद्योगिक विकास कार्य, अत्यधिक आयातों तथा केन्द्रीय व राज्य सरकारों की माँग के कारण बैंकों को अपनी साख का विस्तार करना पड़ा है। निम्नलिखित तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है —

बैंको द्वारा विभिन्न उद्देश्यो से दिया गया धन (करोड रु०)

विभिन्न उद्देश्य	१९५३	१९५५	१९५६
उद्योग ...	१९२ २९	२४१.१९	३०० ३०
व्यापार ..	२७५ ०४	२९२ २८	३५६ ३२
कृषि ...	१५ ७२	१२ ४५	१७ ६२९
निजी कार्य ...	४५ ३२	५४ ७९	५८.३२
अन्य	३५ ५१	२४ ९२	३१ २५
कुल	५६४ ४८	६२५ ६३	७६३.८७

यद्यपि बैंको के डिपाजिटो मे कुल ७९ ४३ करोड रु० की वृद्धि हुई, किन्तु बैंको द्वारा उधार दी गई रकम मे १५८ करोड की वृद्धि हुई। अत बैंको को रिज़र्व बैंक से अधिक ऋण लेने पडे। इस प्रकार सन् १९५६ में बैंको की साख में १५८ करोड रु० की वृद्धि हुई जबकि १९५५ मे केवल २३ ०४ करोड रुपए की वृद्धि हुई थी। जैसा कि पहिले बताया जा चुका है कि अनुसूचित बैंको मे जमा बहुत ही थोडी हुई, जिसके कारण साख के विस्तार के साथ-साथ बैंको के साधनो का विस्तार न हो सका। सन् १९५६ में विशुद्ध जमा की वृद्धि केवल ७९ ४३ करोड रुपया हुई जब कि १९५५ में ९० ०२ करोड रुपये की हुई थी। फलस्वरूप १९५६ मे बैंकों की अग्रिम राशि और जमा राशि का अनुपात ७१ ६ % था जब कि १९५५ मे यह अनुपात ६१ ८ % और १९५३ मे ५५ ४ % था।

इसके अतिरिक्त इस वर्ष में अनुसूचित बैंको ने रिज़र्व बैंक से ९०३.८७ करोड़ रुपये उधार लिये, जो १९५५ के ऋणो के दुगने से भी अधिक थे। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि इस वर्ष सरकारी प्रतिभूतियो की अपेक्षा मियादी बिलो से अधिक ऋण लिया गया क्योकि एक तो १९५६ में बैंक दर ३ % से ३½ % हो गई थी तथा २१ मार्च से मुद्रा शुल्क की रियायतें समाप्त कर दी गई थी। इसीलिए बैंको ने सरकारी सिक्योरिटियो से ऋण नही लिया था। कुछ भी हो, इस वर्ष बैंको के अपने विनियोजन

मे काफी कमी हो गई। सन् १९५६ मे बैंको ने कुल २० ३७ करोड रुपयो का विनियोजन किया, जब कि १९५५ मे विनियोजन की राशि ३७०१ करोड रुपये थी।

इस प्रकार भारतीय बैंकिंग व्यवस्था की प्रगति मे अनेक कठिनाइयाँ है। परन्तु वर्तमान स्थिति मे तो व्यापारिक बैंको की प्रमुख कठिनाई उनके उधार (साख) की बढती हुई माँग को पूरा करने के लिए उचित साधन जुटाना और अपनी तरल पूँजी का दृढ स्तर बनाये रखना है। बैंको ने सावधि जमा (*Fixed Deposits*) और सेविंग बैंक खाते की दरो मे भी वृद्धि की, परन्तु पर्याप्त मे जमा की राशि प्राप्त न हो सकी, जिससे कि उक्त समस्या का सामना किया जा सकता। इस समस्या को हल करने के लिएनिम्नलिखित सुझाव दिये जाते है :—

(१)-देश मे अभी अधिकाश लोग बैंको मे रुपया जमा नही करते है जिससे उनकी बचत का प्राय पूरा भाग उन्हीके पास जमा होता रहता है। अत बैंको को ऐसे लोगो में बैंक में रुपया जमा करने की आदत डालने का प्रयत्न करना चाहिए।

(२) ग्रामीण क्षेत्रो में बैंको को अपनी शाखाएँ स्थापित करनी चाहिए। वहाँ पर बैंको का कार्य केवल रुपया जमा करना व ब्याज देना ही न होकर अन्य द्रव्य-सम्बन्धी कार्यों को जैसे अपने ग्राहको की बीमा पौलिसी का प्रीमियम चुकाना, किराया चुकाना, सस्थाओ का चन्दा देना आदि भी करना चाहिए। इन कार्यों को पश्चिमी देशो में 'स्टैंडिंग आर्डर सिस्टम' कहते है, और यह खूब प्रचलित है। इसी रीति को भारत में भी शीघ्रातिशीघ्र अपनाना चाहिए।

(३) भारत सरकार व रिजर्व बैंक के सहयोग से व्यापारिक बैंको को सहायक सस्था व छोटे बैंकों द्वारा रुपया जमा करना चाहिए।

(४) आजकल सहकारी बैंक केवल सहकारी समितियो को ही धन देता है तथा ग्राम जनता को उनसे रुपया नही मिल सकता। अत रिजर्व बैंक को व्यापारिक बैंको द्वारा गांवो मे रुपया पहुँचाने की पूरी सुविधाएँ प्रदान करनी चाहिए।

(५) प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने हाल ही मे जनता से अपना सोना सरकार को दे देने की अपील की थी, जिससे कि सचित किन्तु बेकार पूँजी देश के काम मे आ सके। अत बैंको द्वारा वित्त मत्रालय को अधिकतम सोना प्राप्त करने के उपाय ढूँढने चाहिएं। इसके अतिरिक्त सरकार को भी साधारण मूल्य से अधिक देकर सोना खरीदना चाहिए ताकि अपनी मुद्रा मजबूत हो सके और विदेशो मे आसानी से रुपया प्राप्त हो सके। इस सौदे से सरकार को जो हानि होगी वह देश की विकास योजनाओ की सफलता से पूरी हो जायेगी।

भारतीय बैंकों का भविष्य

गत वर्षो में बैंकिंग विधान मे आवश्यक सशोधन करके बैंकिंग प्रणाली को सरल बनाने के प्रयत्न किये गये है। बैंकिंग शिक्षा की ओर भी विशेष ध्यान दिया गया है। रिजर्व बैंक द्वारा एक ऐसा विद्यालय स्थापित किया गया है, जहाँ बैंको के कर्मचारियों को आवश्यक सैद्धान्तिक व व्यावहारिक शिक्षा की व्यवस्था है। इससे देश मे सुयोग्य बैंकिंग

कर्मचारियों का अभाव दूर होगा। साथ ही भारतीय बैंकर्स संस्था (Indian Institute of Bankers) के कार्यों का भी विस्तार किया गया है। सन् १९५५ में इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण करके स्टेट बैंक स्थापित किया गया है। इन सब कार्यों से भारतीय बैंकिंग व्यवसाय का भविष्य बहुत अच्छा मालूम होता है। स्टेट बैंक के प्रथम गवर्नर डा० जान मथाई ने कहा था "शक्ति और कार्यक्षमता में भारतीय बैंकिंग प्रणाली इंगलैण्ड व अमरीका से किसी भी तरह कम नहीं है इसकी वर्तमान स्थिति बहुत आशापूर्ण है।" हमारा विश्वास है कि आर्थिक नियोजन काल में बैंकिंग प्रणाली में पर्याप्त सुधार होंगे और इनका विकास हो सकेगा।

भारतीय बैंकिंग के भावी विकास के सम्बन्ध में एक बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि भविष्य में बैंकिंग प्रणाली की रूप-रेखा क्या होगी। इस पर देश में काफी विचार किया जा रहा है। कुछ लोगों का मत है कि इम्पीरियल बैंक की भाँति भारत की समस्त बैंकों का अर्थात् बैंकिंग प्रणाली का राष्ट्रीयकरण कर देना चाहिए। बैंकों के राष्ट्रीयकरण की समस्या का विस्तृत विवरण नीचे दिया जाता है।

बैंकों का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Banks)

आजकल संसार में बैंकिंग प्रणाली के राष्ट्रीयकरण के विचार का सर्वत्र समर्थन होने लगा है। ऐसा कहा जाता है कि बैंक आर्थिक क्षेत्र में बहुत ही महत्वपूर्ण संस्थाएँ हैं। अतः इनका सरकार के अधीन होना आवश्यक है क्योंकि तभी इनका संचालन राष्ट्रीय उन्नति के लिए सरलता से किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त बैंकों का मुख्य कार्य साख का निर्माण करना है। साख नियंत्रण बहुत आवश्यक होता है क्योंकि अन्यथा साख को व्यक्तिगत लाभ कमाने के लिए प्रयोग किया जा सकता है। साख नियन्त्रण भी सरकार द्वारा कुशलतापूर्वक किया जा सकता है, और व्यापार चक्रों के संकटों से भी, जो कि बैंकों की बुद्धिहीनता व स्वार्थपूर्ण नीति के कारण उत्पन्न होते हैं, बैंकों के राष्ट्रीयकरण द्वारा छुटकारा पाया जा सकता है। समाजवादी देशों का अनुभव भी इसी बात की पुष्टि करता है क्योंकि वहाँ तो व्यापार चक्र उत्पन्न ही नहीं होते। अन्त में क्योंकि बैंक जनता के धन व विश्वास से व्यवसाय करती है, अतः उनके लाभ भी व्यक्तियों को न होकर जनता को ही होने चाहिए जो उनके राष्ट्रीयकरण द्वारा ही सम्भव हो सकता है। तो यह सारे तर्क तो सामान्य रूप से बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में दिये जाते हैं।

परन्तु जहाँ तक कि भारतीय बैंकों का सम्बन्ध है, उनका राष्ट्रीयकरण और भी महत्वपूर्ण है। भारत के भावी विकास के लिए भारतीय पूँजी का शर्मीलापन दूर करना है। भारतीय बैंकों का विकास भी स्वार्थ पूर्ण ध्येयों से हुआ है जिससे स्थिति यह है कि कहीं तो आवश्यकता से अधिक बैंकें हैं जिससे उनमें बहुत ही हानिपूर्ण और अनुचित प्रतियोगिता होती है और कहीं एक भी बैंक नहीं है। स्वार्थपूर्ण व संकुचित नीति के कारण ही बैंकों के प्रति जनता में विश्वास नहीं पैदा हुआ है। साथ ही भारतीय बैंकों की यह विशेषता भी महत्वपूर्ण है कि इनका एक दिशा में ही विकास हुआ है अर्थात्

अधिकांश बैंक व्यापारिक बैंक ही हैं तथा औद्योगिक व कृषि बैंकों की बहुत कमी है जिससे देश के आर्थिक विकास में बड़ी अड़चनें पड़ती हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय बैंकों का अधिकांश विदेशियों के हाथ में रहा है और विनिमय बैंक तो आज भी पूर्णतया विदेशियों के अधिकार में हैं जिससे उनका सारा लाभ देश के बाहर चला जाता है। इसलिए भारतीय बैंकिंग के उक्त दोषों को दूर करने के लिए राष्ट्रीयकरण ही आवश्यक प्रतीत होता है। इनके राष्ट्रीयकरण के पक्ष में प्राय निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :—

पक्षीय तर्क

(१) भारत में निजी बैंकों का अब तक का इतिहास बहुत ही निराशा, अव्यवस्था, अकुशलता और धन के दुरुपयोग का इतिहास रहा है। अत. राष्ट्रीयकरण द्वारा ही इनके उक्त दोषों को दूर किया जा सकता है।

(२) भारत सरकार के देश में समाजवादी समाज की स्थापना के ध्येय को कार्यान्वित करने में भी बैंकों का राष्ट्रीयकरण सहायक होगा; क्योंकि तब बैंकों का प्रयोग राष्ट्र की प्रगति के लिए किया जा सकेगा।

(३) सन् १९२६ से १९५२ तक ३२१ बैंकों ने रुपयों का भुगतान बन्द कर दिया था। गत सात वर्षों में लगभग ४२ बैंक फेल हो चुकी हैं। इससे बैंकों में रुपया जमा करने वाली जनता को बहुत हानि उठानी पड़ी। इसके अतिरिक्त, आज भी ४६१ मिश्रित पूंजी वाले बैंकों में से ११६ नुकसान में चल रहे हैं। ऐसी स्थिति में इनका राष्ट्रीयकरण ही हितकर होगा।

(४) यद्यपि बैंकों की कुल पूंजी में जमा करने वालों की पूंजी भागीदार तथा रक्षित कोष की पूंजी से लगभग १५ गुनी से भी अधिक है, फिर भी बैंकों का प्रबन्ध केवल भागीदारों और वास्तव में कुछ परिवारों के, जो बैंकों का नियंत्रण करते हैं, हित से किया जाता है। बैंकों का राष्ट्रीयकरण होने से यह प्रवृत्ति कम हो जायगी तथा यह जनसाधारण के हितों की उन्नति का साधन बन जायेंगी।

(५) अभी तक बैंक केवल लाभ के उद्देश्य से चलाये जाने वाले उद्योगों को ही रुपया प्रदान करती रही है, जिससे देश की आर्थिक आवश्यकताओं की दृष्टि से रुपये का संतुलित वितरण नहीं होता। निश्चित योजनानुसार रुपए का वितरण केवल सरकार द्वारा ही किया जा सकता है।

(६) बैंकों का नियंत्रण कुछ लोगों ही के हाथ में होना सार्वजनिक नीति के विरुद्ध भी है। यही कारण है कि अविकसित क्षेत्रों की उन्नति में रुपया नहीं लगाया जा सका और अधिकतर बैंक कुछ राज्यों के बड़े-बड़े शहरों में ही स्थित हैं। अत पिछड़े हुए क्षेत्रों के विकास के लिए बैंकों का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है।

(७) बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद जमा करने वालों को अपने धन की कोई चिन्ता नहीं रहेगी, क्योंकि उसकी सारी जिम्मेदारी सरकार की होगी।

(८) द्वितीय पंचवर्षीय योजना को सफल बनाने के लिए सरकार को काफी मात्रा में रुपए की आवश्यकता है और यह रुपया बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद ही सरलता से प्राप्त हो सकता है।

(९) अन्य देशों जैसे फ्रांस और आस्ट्रेलिया से जहाँ केन्द्रीय बैंक के अतिरिक्त अन्य निजी बैंकों को भी सरकार ने अपने हाथों मे ले लिया है, भारत को पाठ सीखना चाहिये और यहाँ भी निजी बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लेना चाहिए।

(१०) आजकल बैंक कुछ ऐसे लोगों के हाथों मे है जिनका बहुत-से मिलो व उद्योगों से सीधा सम्बन्ध है। फलत इन बैंको से उन्ही के उद्योगों का पोषण होता है। यह व अन्य व्यक्तिगत बैंकिंग के दोष भी राष्ट्रीयकरण मे दूर किये जा सकते हैं।

(११) देश में साख नियत्रण के लिए व व्यापार चक्रो (Trade cycles) के पैदा होने को रोकने के लिए भी बैंको का राष्ट्रीयकरण आवश्यक है।

विपक्षीय तर्क

(१) एक ओर तो यह कहा जाता है कि अधिकतर बैंक घाटे मे चल रही हैं और दूसरी ओर इनके राष्ट्रीयकरण की माँग की जाती है। इसका तो यह अर्थ हुआ कि राष्ट्रीयकरण के समर्थक सरकार के हाथों में घाटे का काम सौंपना चाहते है जिससे सरकार लगातार घाटा उठाती रहे और देश की गरीब जनता पर, अपने घाटे को दूर करने के लिए नये कर लगाती रहे।

(२) रिजर्व बैंक के अधिकारो व नियत्रण के कारण ही बैंको मे पर्याप्त सुधार हो गया है। अत. उनका राष्ट्रीयकरण करना असगत सा लगता है।

(३) यह कहना कि योजना के लिए, बैंको के राष्ट्रीयकरण के बाद बहुत-सा रुपया मिल जायेगा, बहुत भ्रमपूर्ण है क्योंकि बैंको के पास जमा (Deposits) का जो रुपया होता है वह थोडी अवधि का होता है और उसको दीर्घकालीन योजनाओं के लिए निश्चिन्तता से प्रयोग नही किया जा सकता।

(४) यह कहना भी गलत है कि सरकार के अधिकार मे आने से बैंको के प्रबन्ध व अन्य प्रकार के दोष दूर होकर कार्यकुशलता बढ जायेगी क्योंकि एक तो जिन उद्योगों का भारत मे राष्ट्रीयकरण हो चुका है उनका कार्य व विकास की गति बहुत उत्साह-वर्धक नही है। दूसरे यदि सार्वजनिक क्षेत्र में कोई दोष न होते तो सरकार निजी क्षेत्र को विद्यमान ही क्यो रहने देती ? अत सत्य तो यह है कि योग्य व्यक्ति भी दोनो क्षेत्रो मे होते है और अयोग्य प्रबन्ध भी दोनों ही क्षेत्रो मे देखने को मिलते है।

(५) राष्ट्रीयकरण के बाद बैंक के कर्मचारियो में सरकारी अफसरी की बू आने लगेगी जिससे अन्य विभागो की भाँति लालफीतेशाही बढ जायेगी और कार्यक्षमता भी कम हो जायेगी। फलत बैंको के कार्य-व्यय भी बढ़ जायेंगे।

(६) अन्त मे, बैंको के राष्ट्रीयकरण से बैंकिंग प्रणाली की लोच समाप्त हो जायेगी।

कुछ भी हो बैंको के राष्ट्रीयकरण के विचार को व्यावहारिक रूप देने के लिये भारत सरकार ने १ जनवरी, सन् १९४९ को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण करके प्रथम कदम उठाया था। तत्पश्चात् सन् १९५५ में इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया का भी राष्ट्रीयकरण कर लिया। गतवर्ष जीवन बीमा व्यवसाय के राष्ट्रीयकरण ने

बैंको के राष्ट्रीयकरण की सम्भावना को और भी बढ़ावा दिया है। वास्तव में अभी भारत सरकार सभी बैंको का राष्ट्रीयकरण करने के पक्ष मे प्रतीत नहीं होती। परन्तु आजकल की आर्थिक स्थिति और सरकारी नीति को ध्यान मे रखते हुए यह भी सम्भव है कि जीवन बीमा व्यवसाय की भाँति बैकिंग व्यवस्था को भी सरकार जब चाहे बिना अग्रिम सूचना दिये अपने अधिकार में कर सकती है।

स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया (State Bank of India)

इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया भी एक मिश्रित पूंजी बैंक के रूप मे स्थापित हुई थी। सन् १९२० के इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया एक्ट के अनुसार बगाल, बम्बई तथा मद्रास की तीनो प्रेसीडेन्सी बैंको को मिलाकर यह बैंक आरम्भ की गई थी। भारतीय बैंकिंग के इतिहास मे इम्पीरियल बैंक का प्रमुख स्थान है क्योंकि वास्तव मे इसी बैंक की स्थापना से ही देश में आधुनिक बैंकिंग प्रणाली व केन्द्रीय बैंकिंग का जन्म हुआ था। इस बैंक की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) ११.२५ करोड रुपये थी जिसे २,२५,००० हिस्सो में बाँट दिया गया था। प्रत्येक हिस्से का मूल्य ५०० रु० निर्धारित किया गया था। बैंक का सुरक्षित कोष ६ ३५ करोड रुपये का था। सन् १९५५ में इसका राष्ट्रीयकरण कर लिया गया और १ अप्रैल, १९५५ से इसी बैंक का नाम स्टेट बैंक आफ इडिया हो गया है।

आरम्भ में इम्पीरियल बैंक का प्रबन्ध एक सचालक बोर्ड के अधीन था जिसमें १९ सदस्य थे और वे गवर्नर कहलाते थे। इनमें से ९ तीनो स्थानीय बोर्डों द्वारा निर्वाचित किये जाते थे और १० गवर्नरो की नियुक्ति भारत के गवर्नर-जनरल द्वारा की जाती थी। सन् १९२० के एक्ट के अनुसार सरकार ने इस बैंक पर अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे थे।

इसके ऊपर स्वीकृत प्रतिभूति के आधार पर ऋण प्रदान करने के सम्बन्ध में कुछ नियन्त्रण लगाए गये थे। यह विदेशी विनिमय के व्यवसाय मे भाग नही ले सकता था। प्रारम्भिक काल में इसके ऊपर एक शर्त यह भी लगाई गई थी कि यह देश मे कम-से-कम सौ नई शाखाएँ खोलेगा। इन प्रतिबन्धो के अतिरिक्त इम्पीरियल बैंक बहुत शक्तिशाली था। यह देश की केन्द्रीय बैंक के रूप में सरकारी रोको की रक्षा करता था, लोक-ऋण का प्रबन्ध करता था, निकास-गृहो का प्रबन्ध करता था, बैंको के बैंक का कार्य करता था और सरकार की वित्त नीति को कार्यान्वित करता था। इसका एक दूसरा रूप और भी था। यह साधारण व्यापारिक बैंक के सब कार्य करता था, परन्तु ऊपर बताये गये प्रतिबन्धो के कारण इसका कार्यक्षेत्र सीमित हो गया था।

इसको स्थापित करने में सरकार का मुख्य लक्ष्य यह था कि यह देश के केन्द्रीय बैंक के रूप मे कार्य करेगा। परन्तु इसको केन्द्रीय बैंकिंग कार्यो मे सफलता प्राप्त न हो सकी और सन् १९३५ मे रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् इससे केन्द्रीय बैंक के कार्य छीन लिये गये और यह केवल एक साधारण व्यापारिक बैंक के रूप में रह गया। सरकार ने इसके ऊपर से अपना नियन्त्रण भी हटा लिया और सारे प्रतिबन्ध भी समाप्त कर दिये।

भारतीय बैंकिंग प्रणाली में इम्पीरियल बैंक का स्थान

यद्यपि इम्पीरियल बैंक से केन्द्रीय बैंकिंग कार्य छीन लिये गये हैं परन्तु उन स्थानों पर जहाँ कि रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं हैं, यह आज भी रिजर्व बैंक के एजेण्ट के रूप में कार्य करता है और इसके बदले में उसे एक समझौते के अनुसार कमीशन मिलता है। एक व्यापारिक बैंक के रूप में यह देश का सबसे बड़ा बैंक है। यह अन्य बैंकों को ऋण प्रदान करता है और उनको विनिमय-बिलों को दुबारा भुनाने की सुविधाएँ प्रदान करता है। इसको स्थानीय सरकारों से बिना ब्याज के जमा प्राप्त हो जाती है। इम्पीरियल बैंक पर बहुत-कुछ सीमा तक साख-नियन्त्रण की सफलता निर्भर रहती है।

इम्पीरियल बैंक के कार्य (Functions of Imperial Bank)

इम्पीरियल बैंक के कार्यों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं :

(१) सरकारी बैंक के रूप में।

(२) बैंकों के बैंक के रूप में।

(३) व्यापारिक बैंक के रूप में।

(१) **सरकारी बैंक के रूप में**—रिजर्व बैंक की स्थापना से पूर्व यह बैंक सरकारी बैंक के रूप में कार्य करता था। सरकार की सारी आय को बिना ब्याज के जमा करता था और सरकार के ऋण व अन्य लेन-देनों का हिसाब रखता था। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् भी उन स्थानों पर जहाँ रिजर्व बैंक की शाखाएँ नहीं थीं और जहाँ आज भी नहीं हैं, यह रिजर्व बैंक के एजेण्ट के रूप में कार्य करता था, यद्यपि इस पर से सन् १६२० के एक्ट के अधीन लगाए हुए सारे प्रतिबन्ध अब हटा लिये गये थे।

(२) **बैंकों के बैंक के रूप में**—यह बहुत-से बैंकों को जिनमें विनिमय बैंक भी सम्मिलित थे, जमा स्वीकार करता था। यह उन बैंकों का धन एक जगह से दूसरी जगह हस्तान्तरित करता था और उनके लिए निकास-गृहों का भी प्रबन्ध करता था। इम्पीरियल बैंक की साख बहुत थी इसीलिए द्रव्य बाजार में रुपए की कमी होने की अवस्था में इसे कागजी मुद्रा विभाग से बारह करोड़ रुपए तक का ऋण हुण्डियों और बिलों के आधार पर मिल जाता था जिसमें भारत सरकार पहले चार करोड़ रुपए पर ६% और पिछले आठ करोड़ रुपए पर ८ प्रतिशत ब्याज लेती थी परन्तु उसका यह कार्य रिजर्व बैंक की स्थापना के बाद समाप्त हो गया।

(३) **व्यापारिक बैंक के रूप में**—(१) यह भारत सरकार, स्थानीय सरकार, राज्य सरकार और रेलवे, कार्पोरेशन आदि की प्रतिभूतियों और कोषागार-विपत्रों की आड़ पर ऋण प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त यह बैंक में जमा कराये हुए माल या उनके अधिकार-पत्रों, स्वीकृत प्रतिज्ञा-पत्रों, बौण्ड्स, और विनिमय-बिलों की आड़ पर भी ऋण देता है। इम्पीरियल बैंक अचल सम्पत्ति और सीमित दायित्व वाली कम्पनियों के हिस्सों की आड़ पर भी ऋण देता है। इसके अतिरिक्त यह बैंक राज्य सरकारों की सम्पत्ति पर भी ऋण देता है।

(२) यह ऐसे बिलों को निकालता, स्वीकार करता तथा बेचता है जिनका चलन केवल भारत ही में हो।

(३) यह किसी जायदाद का निबटारे (Winding up) के लिए प्रबन्धक (Administrator) का कार्य करता है।

(४) यह बहुमूल्य धातु, सोने और चांदी के सिक्कों का क्रय-विक्रय करता है।

(५) यह प्रतिभूतियों, सोने और चादी के आभूषण, जवाहरात आदि को धरोहर के रूप में रखता है।

(६) यह जनता से जमा प्राप्त करता है।

(७) यह ऐसी चल और अचल सम्पत्ति को जिस पर बैंक का प्रभुत्व है, बेच सकता है।

(८) यह अपनी लन्दन शाखा से अपनी व्यवसायिक आवश्यकताओं के लिए इगलैण्ड में भी रुपया उधार ले सकता है।

(९) यह विदेशी-विनिमय-सम्बन्धी कार्य भी करता है।

(१०) यह अपने कार्य के लिए भारत में ऋण प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार इम्पीरियल बैंक भारतीय मुद्रा बाजार मे केन्द्रीय बैंक, सरकारी बैंक और व्यापारिक बैंक के रूप मे कार्य करता आ रहा है। सरकारी सरक्षण के कारण अन्य व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा इम्पीरियल बैंक की साख प्रतियोगिता शक्ति बहुत अधिक रही है। इसीलिए इसकी कार्यशक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये। यह प्रतिबन्ध निम्न प्रकार है :—

(१) यह बैंक स्वय अपने हिस्सो या अचल सम्पत्ति की आड पर ऋण नही दे सकता था।

(२) इस बैंक को ६ महीनो से अधिक अवधि के लिए ऋण देने का अधिकार नही था।

(३) विधान द्वारा किसी भी व्यक्ति अथवा सस्था को ऋण देने वाली राशि की अधिकतम सीमा निश्चित कर दी गई थी।

(४) इस बैंक को विदेशी विनिमय व्यवसाय में भाग लेने का भी अधिकार नही था।

(५) इम्पीरियल बैंक ६ महीनो से अधिक परिपक्वता वाले बिलों को न तो भुना सकता था और न उनकी आड पर ऋण ही दे सकता था।

(६) इम्पीरियल बैंक को अचल सम्पत्ति खरीदने पर भी रोक थी।

यद्यपि इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के बहुत-से कार्यों को सम्पन्न करता था, परन्तु इसे पूर्णतया केन्द्रीय-बैंक का स्थान प्राप्त नही हुआ था। इस सम्बन्ध में भी काफी विचार किया गया, परन्तु कुछ कारण वश इसे केन्द्रीय बैंक बनाना उपयुक्त न समझा गया। यह कारण निम्न प्रकार थे —

(१) यदि इसे केन्द्रीय बैंक का स्थान दे दिया जाता तो यह व्यापारिक बैंकों

का कार्य नहीं कर सकता था, जिसके अभाव में न तो इसकी कार्य-प्रणाली इतनी सुरक्षित हो पाती और न इसकी सम्पत्ति ही तरल हो पाती।

(२) केन्द्रीय-बैंक बना दिये जाने की अवस्था में इसको अपनी बहुत-सी शाखाएँ बन्द करनी पड़ती, जिसके कारण देश की बैंकिंग प्रणाली को गहरा आघात पहुँचता जिसको सहन करने के लिए भारतीय बैंकिंग प्रणाली बहुत कमज़ोर थी।

(३) कुछ लोगों का यह भी विचार था कि इसको केन्द्रीय तथा व्यापारिक बैंक दोनों ही के कार्य करने का अधिकार दे दिया जाता, परन्तु वे लोग यह भूल जाते हैं कि ऐसा करने से इसकी प्रतियोगिता शक्ति बहुत बढ़ जाती और देश के छोटे-छोटे बैंकों को बहुत हानि उठानी पड़ती।

(४) केन्द्रीय बैंक होने के रूप में इसको नोट-प्रकाशन का एकाधिकार प्राप्त हो जाता, जिसमें बड़ी भारी शंका यह थी कि उसकी नीति राष्ट्रीय हित में न होकर अपने स्वयं के हित में हो सकती थी।

भारत को इम्पीरियल बैंक से प्राप्त होने वाले लाभ

भारतवर्ष को इम्पीरियल बैंक की स्थापना से निम्न लाभ हुए—

(१) इम्पीरियल बैंक ने देश में बैंकिंग सुविधाओं का विस्तार किया है। इस समय इसकी लगभग ४७२ शाखाएँ देश के कोने-कोने में कार्य कर रही हैं, जिससे स्पष्ट है कि इसने राष्ट्र की व्यापारिक और व्यवसायी क्षेत्र में कितनी सेवा की है।

(२) इतनी अधिक शाखाएँ होने के कारण इसने एक जगह से दूसरी जगह धन भेजने की सस्ती सेवाएँ प्रदान की हैं।

(३) इम्पीरियल बैंक ने अपनी कटौती-दर को स्थिर रख कर देश की अन्य संस्थाओं को भी कटौती-दर स्थिर रखने को भी बाध्य किया है।

(४) इम्पीरियल बैंक के पास पूँजी एक बहुत बड़ी मात्रा में है, इसलिए उसके ब्याज की दर हमेशा न्यून रही है जिसका एक अच्छा प्रभाव यह हुआ कि अन्य बैंकिंग संस्थाओं को भी ब्याज की दरों को कम करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

(५) यह बैंक सहकारी-बैंकों को अधिक-निकासी (Over Draft) की सुविधाएँ प्रदान करके राष्ट्रीय हित में कार्य करती रही है।

(६) इम्पीरियल बैंक खेती की फसलों की जमानत पर भी ऋण प्रदान करती रही है, जिसके कारण उनकी बिक्री और उनके यातायात में काफी सुगमता रही है।

(७) इसने आर्थिक संकटों में बहुत-से बैंकों को सहायता देकर समाप्त होने से बचाया है।

(८) इसने देश में निकास-गृहों का प्रबन्ध करके बैंकिंग प्रणाली के विकास में सहायता पहुँचाई है।

(९) इम्पीरियल बैंक ने देशी बैंकरों और अन्य व्यापारिक बैंकों को ऋण प्राप्त करने में बहुत सुविधाएँ प्रदान की हैं।

इम्पीरियल बैंक की आलोचना

यह सच है कि इम्पीरियल बैंक ने हमारे देश को अनेकों प्रकार से बैंकिंग सुविधाएँ प्रदान की हैं और देश की आर्थिक उन्नति में बड़ी सहायता की है फिर भी इसकी कार्य प्रणाली की कड़ी आलोचना हुई है।

(१) कुछ लोगो का विचार है कि इस बैंक के सचालन में भारतीयों का कोई स्थान नहीं है। इम्पीरियल बैंक की अधिकतर पूंजी विदेशी है और इसके ऊँचे ऊँचे कर्मचारी भी विदेशी हैं। अपनी स्थापना के ३४ वर्षों में इसने भारतीयों को कभी भी ऊँचे स्थान नहीं दिये। इसलिए इसका उद्देश्य सदैव ही विदेशियों के हित को बढ़ाना ही रहा है।

(२) विदेशियो के हाथो मे इसका सचालन होने से इसकी ऋण नीति कभी भी निष्पक्ष नही रही है। इसने भारतीयो को बहुत कम ऋण दिये, जब कि विदेशियो को खूब ऋण दिये और यह सदैव भारतीयो को जमा राशि से विदेशियो के स्वार्थो को पूरा करती रही है।

(३) कुछ लोगों ने यह भी आरोप लगाया है कि इम्पीरियल बैंक ने जो अपनी इतनी शाखाएँ खोल रक्खी है, वे केवल जमा प्राप्त करने के उद्देश्य से ही खोली है न कि राष्ट्रीय हित के लिए।

(४) इम्पीरियल बैंक की कार्यविधि का सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि इसने बिलो के प्रयोग को बढ़ाने के लिए कोई विशेष उपाय नही किया, और इसने केवल व्यक्तिगत साख को ही महत्व दिया है, जिसके कारण भारतीय बिल बाजार आज तक अविकसित रहा है।

(५) भारतीय व्यापारिक बैंको की ओर से भी यह कहा जाता है कि इसको रिज़र्व बैंक के ऐजेण्ट का कार्य सौंप कर अनुचित प्रतियोगिता करने की शक्ति प्रदान कर दी है जिससे उनकी उन्नति मे बाधा पड रही है।

उपरोक्त दोषो के कारण इम्पीरियल बैंक से जनता सन्तुष्ट नही रही है। समय-समय पर देश में इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की चर्चा चलती रही थी।

इम्पीरियल बैंक भारत की सबसे बडी व्यापारिक-बैंक थी। इसकी साख भी बहुत काफी थी, इसलिए इसको स्थानीय सरकारो से बिना ब्याज के जमा पूंजी मिल जाती थी। जुलाई, सन् १९५५ मे इम्पीरियल बैंक की भारत में ४६१ शाखायें थी। इसके अतिरिक्त भारत की कुल बैंको की जमा पूंजी का २३% भाग इसके पास था तथा कुल बैंको द्वारा दिये ऋण और हुण्डियो का २०% और कुल विनियोग का २५% भाग इस बैंक का था। इसके पास ५.६२ करोड रुपये की हिस्सा पूंजी थी और ६३५ करोड रुपए का सुरक्षित कोष था। इन तथ्यो से इस बैंक का भारतीय मुद्रा बाजार में महत्व स्पष्ट हो जाता है।

इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation of Imperial Bank)

सन् १९५१-५२ में इम्पीरियल बैंक की कार्यविधि की पूर्ण जाँच करने के लिए

सरकार ने ग्रामीण-बैंकिंग जाँच समिति (Rural Banking Enquiry Committee) की नियुक्ति की। इस समिति ने राष्ट्रीयकरण के प्रश्न का खूब अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँची कि इसका राष्ट्रीयकरण देश के हित में न होगा, यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से राष्ट्रीयकरण को स्वीकार कर लिया गया था। परन्तु कुछ कारणोवश सरकार ने इसके राष्ट्रीयकरण को कुछ वर्षो के लिए और स्थगित कर दिया था। पहली बात तो यह थी कि इम्पीरियल बैंक की विदेशों में इतनी शाखाएँ थी कि उनसे राष्ट्रीयकरणमें बहुत बाधा पड सकती थी और दूसरे सरकार को यह भी डर था कि राष्ट्रीयकरण के बाद बैंक व्यापारिक कार्य सम्पन्न नहीं कर सकेगा, जिसके अभाव मे राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था को हानि पहुँचने की सम्भावना थी।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर बराबर विचार चलता रहा। अगस्त सन् १९५१ मे रिजर्व बैंक ने 'अखिल भारतीय ग्रामीण साख निरूपण' (All India Rural credit Survey) के लिए एक 'आदेश समिति' (Committee of Direction) की नियुक्ति की। इस समिति का एक सुझाव यह था कि भारतवर्ष मे एक राज्य-बैंक स्थापित किया जाए। यह राज्य-बैंक एक ऐसी व्यापारिक संस्था होनी चाहिए जो सहकारी व अन्य बैंकों को रुपया भेजने की विस्तृत सुविधाएँ प्रदान करे, जो बैंकिंग व्यवसाय के उचित सिद्धान्तों का बिना उल्लंघन किये ऐसी नीति अपनाये जो सरकार की राष्ट्रीय नीति के अनुसार हो। इस प्रकार राज्य बैंक देश की बैंकिंग प्रणाली को प्रोत्साहित करे। यह एक सुदृढ़ व्यापारिक बैंक हो जो सरकार के साझे में स्थापित किया जाए और जिसकी शाखाएँ सारे देश में फैली हो।

उपरोक्त उद्देश्यो की पूर्ति करने वाले एक राज्य-बैंक की स्थापना का सुझाव आदेश समिति (Committee of Direction) ने रक्खा था। समिति के अनुसार राज्य-बैंक की स्थापना भारतीय इम्पीरियल बैंक और भूतपूर्व देशी राज्यों—उदाहरणार्थ, 'सौराष्ट्र का राज्य-बैंक', 'पटियाला का बैंक', बीकानेर बैंक', 'जयपुर बैंक', 'राजस्थान बैंक', 'इन्दौर बैंक', 'बडौदा बैंक', 'मैसूर बैंक', 'हैदराबाद राज्य-बैंक', और 'ट्रावनकोर बैंक' तथा अन्य छोटे-छोटे बैंको को मिलाकर करना निश्चित किया गया था।

समिति का यह भी सुझाव था कि राज्य-बैंक के अधिक-से-अधिक हिस्से भारतीय सरकार और रिजर्व बैंक के पास होने चाहिए।

समिति के अनुसार राज्य-बैंक का सचालन केन्द्रीय बोर्ड (Central Board) द्वारा होगा जिसके कि अधिकाश सचालक केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त किये जाने चाहिए। चेयरमैन की नियुक्ति भी सरकार को बोर्ड के परामर्श से करनी चाहिए। प्रबन्धक-डायरेक्टर (Managing Director), और उप-प्रबन्धक डायरेक्टर (Deputy Managing Director) की नियुक्ति भी सरकार की सम्मति द्वारा होनी चाहिए।

इसके अतिरिक्त राज्य-बैंक के कार्य को ६ उपयुक्त क्षेत्रो मे विभाजित किया जाय, जिनका संचालन स्थानीय-समितियो (Local Committees) द्वारा हो।

इन समितियों के चेयरमैन और अधिकांश सदस्यों की नियुक्ति केन्द्रीय बोर्ड (Central Board) द्वारा होनी चाहिए।

राज्य-बैंक को अपनी शाखाएँ बढ़ाने की नीति को अपनाना चाहिए। समिति के आदेशानुसार ३० दिसम्बर, सन् १९५४ को वित्त मन्त्री ने भारतीय इम्पीरियल बैंक पर सप्रभाविक नियन्त्रण प्राप्त करने के सम्बन्ध में सरकार के निर्णय की घोषणा की। १६ अप्रैल, १९५५ को लोकसभा में भारतीय राज्य-बैंक बिल प्रस्तुत किया गया, जिसने संसद् द्वारा पास हो जाने के बाद ८ मई, सन् १९५५ को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त कर ली थी।

१ जुलाई, सन् १९५५ में भारतीय इम्पीरियल बैंक की कुल सम्पत्ति (Assets) और आदेयों (Liabilities) का हस्तान्तरण भारतीय राज्य-बैंक को कर दिया गया। राज्य-बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) २० करोड़ रुपये है, जो सौ-सौ रुपए के पूर्णतया-मूल्य-प्राप्त (Fully paid-up) २० लाख हिस्सों में बँटी हुई है। यह निर्णय कर लिया गया है कि राज्य-बैंक की मूल्य-प्राप्त पूँजी में से कम-से-कम ५५ प्रतिशत हिस्सा रिजर्व बैंक के पास रहेगा और शेष ४५ प्रतिशत हिस्से अन्य व्यक्तियों को दिये जा सकते हैं जिनमें भूतपूर्व इम्पीरियल बैंक के हिस्सेदारों को पहला नम्बर दिया जायेगा।

रिजर्व बैंक के पास जो ५५ प्रतिशत हिस्से होंगे, उन पर जो लाभांश प्राप्त होगा वह एकत्रित व विकास-कोष (Integration and Development Fund) में जमा किया जायेगा। इस कोष में समय-समय पर केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक विशेष बातों के लिए और रुपया जमा कर सकते हैं। इस कोष के स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि राज्य-बैंक को नई शाखाएँ खोलने में जो घाटा होगा उसको इस कोष से पूरा किया जा सकेगा।

भारतीय राज्य-बैंक के अगले पाँच वर्षों में रिजर्व बैंक के परामर्श और केन्द्रीय सरकार के स्वीकृत कार्यक्रम के अनुसार चार सौ शाखाएँ खोलनी हैं।

हिस्सों की क्षतिपूर्ति

१ जुलाई सन् १९५५ से, जिस दिन राज्य-बैंक की स्थापना हुई, इम्पीरियल बैंक के सारे हिस्से रिज़र्व बैंक के अधिकार में आ गए हैं। रिज़र्व बैंक ने हिस्सेदारों की क्षति-पूर्ति के लिए प्रत्येक पूर्णतया-मूल्य-प्राप्त (Fully-Paid-up) हिस्से के बदले १,७६५ रुपए १० आने और अंशतया-मूल्य-प्राप्त (Partly Paid-up) हिस्से के लिए ४३१ रु० १२ आने ४ पाई देने का निश्चय किया है। यह क्षतिपूर्ति केन्द्रीय सरकार की प्रतिभूतियों के रूप में की जायेगी, परन्तु हिस्सेदारों को पहले दस हज़ार रुपये तक की रकम को नक़दी में लेने का अधिकार होगा।

स्टेट बैंक के कार्य

राज्य-बैंक के सम्पूर्ण कार्य वे ही हैं जो इम्पीरियल बैंक के थे। बैंक के सारे निर्धा-

रित-कार्य अब राज्य-बैंक के निर्धारित कार्य हैं तथा इम्पीरियल बैंक के वर्जित-कार्य अब राज्य-बैंक के निषिद्ध कार्य हैं। राज्य-बैंक अन्य बैंकों के हिस्सों को ले सकता है और उन्हें रख भी सकता है। यह रिज़र्व बैंक की देखभाल में काम कर रहा है और यह उन स्थानों पर जहाँ पर कि रिज़र्व बैंक की शाखाएँ नहीं हैं, रिज़र्व बैंक के ऐजेण्ट के रूप में कार्य करता है। वास्तव में स्टेट बैंक आफ इण्डिया ग्रामीण साख की ही बृहत् योजना का एक हिस्सा है। ग्रामीण बैंकिंग तथा सामान्य बैंकिंग को भी यह बैंक सहयोग प्रदान करेगी। फिर भी एक्ट के अन्तर्गत स्टेट बैंक के निम्नलिखित प्रमुख कार्यों की व्यवस्था की गई है :—

(१) पुरानी इम्पीरियल बैंक की भाँति स्टेट बैंक भी भारतीय उद्योग, व्यापार व वाणिज्य को साख-सुविधा देगी। इसके अतिरिक्त अन्य सभी बैंकों के विकास में भी सहयोग देगी।

(२) प्रथम ५ वर्ष में अर्थात् सन् १९६० तक ४०० नई शाखाएँ खोली जायेंगी।

(३) स्टेट बैंक ग्रामीण क्षेत्रों की बचत के संग्रह का समुचित प्रबन्ध करेगी।

(४) स्टेट बैंक ग्रामीण साख की शक्तिशाली साधन होगी तथा सहकारी बिक्री और गोदाम व्यवस्था को बढ़ाने में सहायता देगी।

स्टेट बैंक के वर्जित कार्य

स्टेट बैंक अपनी हिस्सा पूँजी व स्थायी पूँजी के आधार पर ६ महीने से अधिक के लिए ऋण या अग्रिम नहीं दे सकती। यह बैंक केवल उन्हीं विनिमय-बिलों को भुना सकती है तथा उन्हीं की आड़ पर ऋण व अग्रिम दे सकती है जिनके लिए कम-से-कम दो व्यक्ति या फर्म उत्तरदायी हों। १५ महीनों से अधिक अवधि के कृषि-बिल व ६ महीनों से अधिक के अन्य बिल बैंक द्वारा नहीं भुनाये जा सकते। इसके अतिरिक्त बैंक स्वयं अपनी इमारत के अतिरिक्त कोई अन्य अचल सम्पत्ति प्राप्त नहीं कर सकती है।

राज्य बैंक देश की सबसे बड़ी व्यापारिक बैंक है और यह अन्य अनुसूचित बैंकों की सहायता भी करता है। यह किसानों और छोटे कुटीर-उद्योगों की सहायता भी करता है। यह अपनी शाखाएँ गाँवों में खोलेगा, क्योंकि इसका मुख्य उद्देश्य गाँववालों को ऋण देने और उनकी बचत एकत्रित करना है, जो कि आजकल बैंकिंग सुविधाओं के अभाव में प्राप्त नहीं हो पा रही है।

इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण से लोगों के दिलों में विशेष कर व्यापारिक बैंकिंग क्षेत्र में एक खलबली सी मच गई थी। सरकार इस बात को भली प्रकार जानती थी। इसी कारण बिल प्रस्तुत करते समय वित्तमन्त्री ने कहा था कि सरकार का उद्देश्य व्यक्तिगत व्यापार और व्यवसाय में अनुचित ढंग से हस्तक्षेप करने का नहीं है। इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण का यह अर्थ नहीं कि देश के सारे व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर लिया जायेगा, बल्कि राष्ट्रीयकरण का मुख्य उद्देश्य यही है कि उन सब दोषों को दूर कर दिया जाये जिनसे कि भारतवासियों को बहुत कठिनाइयाँ सहन करनी पड़ रही थीं।

वित्त विभाग के उप-मन्त्री ने अपने विचार प्रगट करते हुए कहा था कि भारत जैसे विशाल देश में जहाँ पर ७० प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है, ग्राम साख का विशेष

अध्याय २२
भारतीय बैंकिंग—(क्रमशः)
औद्योगिक व कृषि (सहकारी) बैंक
Industrial and Agricultural (Co-operative) Bank

औद्योगिक बैंक

औद्योगिक बैंको का प्रमुख कार्य औद्योगिक उन्नति के लिए उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। भारत मे औद्योगिक विकास न होने का एकमात्र कारण यहाँ पर वित्तीय अभाव ही रहा है। यह तो सर्वविदित है कि किसी भी देश की आत्मनिर्भरता के लिए उस देश का उद्योगीकरण बहुत आवश्यक है। देश की औद्योगिक समस्याओ को सुलझाने के सम्बन्ध मे समय-समय पर विभिन्न आयोगो और समितियो ने अनेक सुझाव रखे और उनके आधार पर विभिन्न कानूनो का निर्माण हुआ है। परन्तु उद्योगो को आर्थिक सहायता मिलने की दिशा मे कुछ भी सुधार न हो सका। भारतीय उद्योगो को अल्पकालीन व दीर्घकालीन दोनो ही प्रकार के ऋणो की आवश्यकता होती है। पहले प्रकार के ऋणो की मजदूरी आदि का भुगतान करने, कच्ची सामग्री खरीदने और बने हुए माल की बिक्री करने के लिए आवश्यकता होती है, और दीर्घकालीन ऋण मशीन आदि खरीदने के निमित्त लिए जाते हैं। अल्पकालीन ऋण औद्योगिक कम्पनी के गोदामो में रक्खे हुए माल की जमानत पर व्यापारिक बैंक से ले लिये जाते हैं या मैनेजिंग एजण्टो से प्राप्त कर लिये जाते हैं या जनता से जमा के रूप मे प्राप्त किये जाते हैं। और जहाँ तक दीर्घकालीन ऋणो का सम्बन्ध है वे या तो इनके अपने सुरक्षित कोषो से करते है या ऋण-पत्रो (Debentures) द्वारा प्राप्त धन से करते है।

भारत में अधिकाश दीर्घकालीन ऋण निम्नलिखित सस्थाओं से प्राप्त किया जाता है।

(१) औद्योगिक बैंक।
(२) राज्य-सरकारें।
(३) देशी बैंकर।
(४) औद्योगिक प्रमण्डल।

औद्योगिक बैंक—औद्योगिक दीर्घकालीन वित्त का एक साधन औद्योगिक बैंक भी है। भारतवर्ष में समय-समय पर ऐसे बैंको की स्थापना हुई, परन्तु वह सफलता प्राप्त न कर सके और अन्त में या तो ठप हो गये या वे व्यापारिक बैंको में विलीन कर दिये गये। यह बैंक अधिकतर ऐसे लोगों द्वारा चलाये गये थे जिनको न तो बैंकिंग व्यवसाय का कुछ अनुभव था और न औद्योगिक बैंकिंग सम्बन्धी कुछ ज्ञान ही प्राप्त था। इसके

अतिरिक्त उनके प्रबन्ध में कुशलता का अभाव रहा और इनके सौदो मे बेईमानी थी, जिसके कारण यह बहुत ही थोडे दिनो तक जीवित रहे।

राज्य सरकारें

विभिन्न राज्य सरकारे भी देश के उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन देने के लिए आर्थिक सहायता देती है। परन्तु राजकीय ऋण औद्योगिक कम्पनियो के लिए सुविधाजनक नही होते, क्योंकि एक तो इनको प्राप्त करने मे समय अधिक लगता है, दूसरे यह ऋण केवल छोटे और मध्यम श्रेणी के उद्योगो को मिलते है, तीसरे, यह ऋण एक निश्चित मात्रा में ही दिये जाते हैं जो कि उद्योग-धन्धो की आवश्यकताओ को पूरा नही कर पाते।

देशी बैंकर

कुछ व्यक्तिगत फर्मे, महाजन, साहूकार व अन्य देशी बैंकर भी दीर्घकालीन वित्तीय सहायता प्रदान करते है। परन्तु उनके ब्याज की दर बहुत ऊँची होने के कारण उनका उपयोग बहुत ही कम औद्योगिक कम्पनियाँ करती है।

औद्योगिक प्रमण्डल

भारतवर्ष में औद्योगिक वित्त-प्रमण्डलो की स्थापना सन् १९४८ से आरम्भ हुई। सर्वप्रथम केन्द्रीय बैंकिंग जाँच कमिटी (Central Banking Enquiry Committee) ने यह सुझाव रक्खा था कि एक 'अखिल भारतीय औद्योगिक वित्तीय प्रमण्डल" तथा राज्य-वित्तीय-प्रमण्डलों की स्थापना की जाए, जो देश के विभिन्न उद्योगो को दीर्घकालीन ऋण प्रदान कर सके। भारतीय लोकसभा ने एक कानून पास किया, जिसके अधीन १ जुलाई, सन् १९४८ से एक औद्योगिक वित्त प्रमण्डल (Industrial Finance Corporation) की स्थापना हुई।

पूंजी (Capital)—इस प्रमण्डल की अधिकृत पूंजी १० करोड रुपए है और इसकी हिस्सेवाली पूंजी (Share Capital) ५ करोड रुपए हैं जिसको ५ हजार रुपए के १० हजार हिस्सो मे बांटा गया। प्रमण्डल के हिस्सो को हस्तान्तरित नही किया जा सकता और उन पर सरकार की गारण्टी है अर्थात् प्रमण्डल के फेल होने की स्थिति मे हिस्सो की कीमत सरकार चुकाएगी। सरकार ने यह भी विश्वास दिलाया है कि न्यूनतम लाभाश सवा दो प्रतिशत की दर पर अवश्य मिलेगा। विभिन्न सस्थाओ द्वारा खरीदे गये हिस्से निम्न अनुपात मे हैं—केन्द्रीय सरकार २० प्रतिशत, रिजर्व बैंक २० प्रतिशत, अनुसूचित बैंक २५ प्रतिशत, बीमा कम्पनियाँ, विनियोग ट्रस्ट तथा अन्य सस्थाये २५ प्रतिशत और सहकारी बैंक १० प्रतिशत।

उपरोक्त संस्थाओ मे से केवल सहकारी बैंक अपने कुल हिस्से नही खरीद पाए हैं। बाकी हिस्सो को रिजर्व बैंक ने खरीद लिया है।

कार्य (Functions)—प्रमण्डल के निम्न कार्य हैं :—

(१) यह औद्योगिक कम्पनियो द्वारा लिये गये ऐसे ऋणो की गारण्टी देता है जिनकी अवधि २५ वर्ष की होती है।

(२) औद्योगिक संस्थाओं के स्टाकों, हिस्सों, ऋण-पत्रों आदि का अभिगोपन करना।

(३) उपरोक्त हिस्सों, ऋण-पत्रों आदि को अधिक-से-अधिक सात वर्ष की अवधि के अन्दर जनता को बेचना। प्रमण्डल भारतीय और विदेशी मुद्राओं में ऋण देता है। यह ऋण प्रदान करते समय ऋण प्राप्त करने वाली कम्पनी की सचालक समिति में एक सदस्य की नियुक्ति कर सकता है और किसी भी कम्पनी को ५० लाख से अधिक का ऋण नही दे सकता।

(४) प्रमण्डल स्वय ऋणपत्र जारी करके विश्व-बैंक से ऋण प्राप्त कर सकता है।

(५) यह १० करोड रुपए तक के निश्चित निक्षेप (Fixed Deposits) जनता से प्राप्त कर सकता है।

प्रमण्डल का मुख्य-कार्य विभिन्न औद्योगिक कम्पनियो व सहकारी समितियों को मध्यकालीन व दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है, अर्थात् यह केवल उन्ही संस्थाओं को सहायता देता है जिनको व्यापारिक बैंको से सहायता नही मिलती।

ऋण देने की विधि—ऋण प्रदान करने मे पहले प्रमण्डल विशेष सतर्कता बरतता है। यह अपने ऋणियो से फैक्ट्री की स्थिति, उत्पादन की वस्तु के स्वभाव, भूमि, मकान, बिल्डिंग पर अधिकार, उनके प्रबन्ध, बाजार की आर्थिक अवस्थाये, मशीनो, उत्पादन व्यय, ऋण लेने का उद्देश्य, ऋण वापिस करने की विधि आदि के बारे मे सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अपने एक कर्मचारी को फैक्टरी मे जाँच करने के लिए भेजता है। यह कर्मचारी फैक्टरी सम्बन्धी सभी बातों को मालूम करने के पश्चात् प्रमण्डल को एक रिपोर्ट देता है। प्रमण्डल के लिये हुए ऋण की गारण्टी व्यक्तिगत और सम्मिलित रूप मे देनी पडती है। प्रमण्डल यह पता लगाने के लिए कि उसके ऋण का उचित प्रयोग हो रहा है अथवा नही, कुछ अन्य कार्यवाहियाँ भी करता है। ऋण का भुगतान न करने की स्थिति मे प्रमण्डल ऋणी-कम्पनी का प्रबन्ध अपने हाथों में ले सकता है और गिरवी रक्खे हुए माल को बेच सकता है। वह ऋण के उपयोग के सम्बन्ध मे समय-समय पर रिपोर्ट भी माग सकता है और जाँच भी कर सकता है। वह समय-समय पर सरकार के विभिन्न मन्त्रियो और वैज्ञानिक व औद्योगिक कमेटियो आदि से सलाह लेता रहता है। सन् १९५२ के एक सशोधन के अनुसार प्रमण्डल से सहायता पाने वाले उद्योगो मे जलयान भी सम्मिलित कर दिये गये हैं, परन्तु साझेदारी व लिमिटेड कम्पनियो को सहायता नही दी जा सकती। अधिनियम के अनुसार प्रमण्डल किसी भी कारखाने को उसकी चुकता पूँजी का १०% या ५० लाख रुपयो (जो भी कम हो) की सहायता दे सकता था। परन्तु १९५२ के सशोधन के अनुसार अब यह सहायता १करोड़ रु० तक की दी जा सकती है। सरकार द्वारा गारण्टी देने पर इस सहायता में और भी वृद्धि हो सकती है।

प्रमण्डल के साधन (Sources of the Corporation)

प्रमण्डल बाजार से बौण्ड और ऋणपत्र द्वारा धन जमा कर सकता है। परन्तु इस धन की मात्रा प्रमण्डल द्वारा दी गई गारटी और बीमा के अन्तर्गत देने वाली मात्रा को मिलाकर उसकी चुकता पूँजी और सुरक्षित कोष के पाँच गुने से अधिक नही हो सकती। इस प्रकार जब प्रमण्डल के पास १० करोड की हिस्सा पूंजी और १० करोड का सुरक्षित कोष हो जायेगा तो उस हालत में प्रमण्डल बाजार से १०० करोड बौण्ड और ऋण-पत्रो द्वारा जमा कर सकता है। सन् १९५२ के सशोधन के अनुसार प्रमण्डल को बैंक से १८ महीनो के लिए ३ करोड़ रु० का ऋण लेने का भी अधिकार प्राप्त हो गया है। इसके अतिरिक्त पुनर्निर्माण और विकास कार्यों के लिए प्रमण्डल अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से भी ऋण ले सकता है। इतना सब कुछ होते हुए भी प्रमण्डल के साधन सीमित ही है।

प्रबन्ध (Administration)

प्रमण्डल का प्रबन्ध एक सचालक कमेटी करती है जिसके १२ सदस्य होते हैं, जिनमें से प्रबन्ध-सचालक (Managing Director) और तीन अन्य सचालक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त किये जायेंगे, दो सचालक रिजर्व बैंक नियुक्त करेगा और शेष संचालक प्रमण्डल के हिस्सेदारो द्वारा चुने जायेंगे।

संचालक-समिति की सहायता के लिए एक कार्यकारिणी समिति होती है जिसके ५ सदस्य होते है—दो सदस्य केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती है और दो सदस्य सचालक समिति के चुने हुए सदस्यो द्वारा चुने जाते हैं और प्रबन्धक-सचालक इस समिति का प्रेजीडेण्ट या चेयरमैन होता है। प्रबन्धक-सचालक वेतन पाने वाला सदस्य होता है जो अन्य सचालको की भाँति केवल चार वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है। परन्तु यदि सरकार चाहे तो उसे फिर से नियुक्त कर सकती है। प्रमण्डल का प्रधान कार्यालय देहली में है।

प्रमण्डल की वर्तमान स्थिति (Present Position of the Corporation),—सन् १९५४-५५ में प्रमण्डल ने २३ औद्योगिक संस्थाओं को ५.०८ करोड रुपए के ऋण प्रदान किये थे, जबकि पिछले वर्ष २४ संस्थाओ को केवल २.९३ करोड़ रुपए के ऋण दिये थे। ऋणो की कुल मात्रा जो मार्च सन् १९५४ में ११.२५ करोड़ रुपए थी वह मार्च सन् १९५५ में १२ ७८ करोड रुपए हो गई थी, और ऋणो का प्रतिशत कुल सम्पत्ति की तुलना में ८१ से ९४ हो गया था। ३० जून, सन् १९४८ के पश्चात् प्रमण्डल ने जितना रुपया प्रतिवर्ष ऋण में दिया तथा जितना शेष बच रहा, इसका सक्षिप्त विवरण निम्नलिखित तालिका मे दिया गया है:—

वर्ष जून के अन्त में	३० जून १९४८ के बाद स्वीकृत ऋण (करोड़ रु०)	भुगतान के बाद शेष धन (करोड रु० में)
१९४९	३.४२	१ ३३
१९५०	७.१९	३.४१
१९५१	९.५२	५ ७९
१९५२	१४.०३	७.५७
१९५३	१५.४७	१०.०७
१९५४	२० ७४	१२ ८९
१९५५	२८ ०८	१४.५३

विभिन्न राज्यों में भी वित्त प्रमण्डल स्थापित हो जाने के बाद यह आवश्यक हो गया है कि औद्योगिक वित्तीय प्रमण्डल और राज्य-वित्त-प्रमण्डलों के कार्यक्षेत्रों को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया जाय।

प्रमण्डल की कार्य-विधि की आलोचना—(१) प्रमण्डल के विधान एवं कार्य-विधि के सम्बन्ध में कड़ी आलोचनायें की गई हैं। कुछ लोगों का कहना है कि यह केवल बड़े-बड़े उद्योगों को ही सहायता प्रदान करता है और इस प्रकार एक ओर तो छोटे उद्योग-धन्धों को हानि पहुँचने की सम्भावना दृढ़ हो जाती है दूसरी ओर पूँजी के केन्द्रीयकरण का भय उत्पन्न हो जाता है।

(२) प्रमण्डल एक निजी हिस्सेदारों की संस्था है जिसका उपयोग केवल राज्य अथवा वर्गीय हितों को बढ़ाने के लिए किया जा सकता है। और यह भी सम्भव है कि यह राष्ट्रीय हितों का ध्यान में न रक्खें। यद्यपि यह आलोचना बिल्कुल व्यर्थ है क्योंकि रिजर्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् अब प्रमण्डल के ४० प्रतिशत हिस्से सरकार के पास आ गए है, और इस प्रकार राष्ट्रीय अहित होने की अब आशा नहीं की जा सकती।

(३) प्रमण्डल ने आर्थिक सहायता बहुत कम दी है। यही नहीं, बल्कि एक तो ऋण देने में काफी समय लिया और दूसरे इसने भारतीय बिल-बाजार को विकसित करने में कोई सहायता नहीं पहुँचाई है।

(४) यह भी कहा जाता है कि इसका कार्य करने का ढंग बहुत ही पुराना है और यह प्रार्थना-पत्रों को बहुत ही छोटी-छोटी त्रुटियों पर रद्द कर देता है।

(५) प्रमण्डल के ब्याज की दर भी बहुत ऊँची है।

(६) कुछ लोगों का यह भी आरोप है कि प्रमण्डल ने अर्धविकसित तथा पिछड़े हुए उद्योगों को बिल्कुल सहायता नहीं दी है, बल्कि इसका मुख्य उद्देश्य विभिन्न राज्यों तथा ऐसे उद्योगों को सहायता देना रहा है जिनकी स्थिति पहले से ही अच्छी थी। प्रमण्डल ने सन् १९५५ तक कुल २८ ०८ करोड रु० के ऋण प्रदान किये है जिसमें से ४.४४ करोड रु० चीनी उद्योग को, ४ १२ करोड रु० सूती वस्त्र उद्योग को, ३.१५ करोड रु०

सीमेंट उद्योग को, ३.१२ करोड रु० कागज़ उद्योग को, २.८१ करोड रु० भारी रासायनिक उद्योग को और १.४६ करोड रु० सिरेमिक्स या कॉच उद्योग को मिला है। इसी प्रकार यदि राज्य-वार ऋण के वितरण का व्यौरा देखे तो भी यही ज्ञात होता है कि प्रमण्डल ने अधिक ऋण उन्ही राज्यो को दिये जो पहिले से ही काफी समृद्धिशाली थे। उदाहरणतया बम्बई को ८.६८ करोड रु०, पश्चिमी बगाल को ३.८८ करोड रु०, बिहार को २.६६ करोड रु०, मद्रास को २.३२ करोड रु० और सौराष्ट्र को १.४ करोड़ रु० मिला है।

राज्य-वित्तीय प्रमण्डल (State Finance Corporation)

सितम्बर सन् १९५१ में लोकसभा ने राज्यो को वित्तीय प्रमण्डल स्थापित करने का अधिकार दे दिया था, क्योंकि कुछ ऐसा अनुभव हुआ था कि 'औद्योगिक वित्तीय प्रमण्डल' भारत के समस्त उद्योगो को सहायता नही पहुँचा सकता था। यह केवल उन्ही उद्योगों की सहायता दे सकते हैं जिनको केन्द्रीय प्रमण्डल से सहायता प्राप्त नहीं होती है। 'राज्य प्रमण्डलो' की हिस्सो वाली पूँजी ५० लाख और ५ करोड़ रुपयो के बीच में होगी जिसके ७५ प्रतिशत हिस्से सरकार, रिज़र्व बैंक, अनुसूचित बैंको, सहकारी बैंको, बीमा-कम्पनियो तथा अन्य सस्थाओ द्वारा देने की व्यवस्था की गई है और शेष पूंजी व्यक्तियो द्वारा प्राप्त की जायेगी। यह प्रमण्डल केवल २१ वर्ष के लिए और केवल १० लाख रुपए तक के ही ऋण दे सकते हैं। सन् १९५४-५५ मे ऐसे प्रमण्डलो की सख्या कुल १० थी। इन प्रमण्डलो ने सन् १९५४-५५ मे १.९८ करोड रुपये के ऋण प्रदान किये थे।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास प्रमण्डल (National Industrial Development Corporation Ltd)

यह प्रमण्डल एक व्यक्तिगत सम्मिलित पूँजी कम्पनी है, जिसकी अधिकृत पूँजी १ करोड रुपया है और मूल्य-प्राप्त पूँजी १० लाख रुपया है जो कि पूर्णतया भारतीय सरकार द्वारा प्रदान की गई है। यह प्रमण्डल अपने वित्तीय साधनो को हिस्सो और ऋण-पत्रो की निकासी करके भी बढा सकता है। इस प्रमण्डल की स्थापना २० अक्तूबर सन् १९५४ को हुई थी, जिसका मुख्य उद्देश्य अचल सम्पत्ति की वस्तुओ की उत्पति करना है।

भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग प्रमण्डल (Industrial Credit and Investment Corporation of India Ltd.)

यह प्रमण्डल भी एक व्यक्तिगत सम्मिलित पूँजी सस्था है जिसकी स्थापना ५ जनवरी, सन् १९५५ को हुई थी। इसका मुख्य उद्देश्य व्यक्तिगत पूँजीपतियों के उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान करना है।

(१) साधारणतया यह प्रमण्डल ऐसे उद्योगो के जन्म, बढाने और आधुनिकतम बनाने में सहायता देगा।

(२) अतिरिक्त और बाह्य दोनो प्रकार की व्यक्तिगत पूँजियो को ऐसे उद्योगो के प्रोत्साहित करने मे भाग लेने के लिए प्रयत्न करेगा।

(३) विनियोग बाज़ारो के विस्तार में सहायता देगा।

इस प्रमण्डल की अधिकृत पूंजी २५ करोड रुपए है जिसको कि सौ-सौ रुपए के २५ लाख हिस्सों में बाँटा गया है। ५ करोड रुपयों की पूंजी के हिस्से विभिन्न विदेशी संस्थाओं तथा भारतीय बैंकों द्वारा खरीद लिये गये हैं। भारतीय सरकार ने मार्च सन् १९५५ में ७ करोड रुपए का ऋण इस प्रमण्डल को दिया है जिसका कि भुगतान १५ वर्षों में १५ बराबर किश्तों में किया जायेगा, और सरकार इस पर कोई ब्याज नहीं लेगी। विश्व-बैंक ने भी इस प्रमण्डल को १० लाख डालर का ऋण देना स्वीकार कर लिया है, जिसका भुगतान १५ वर्ष में होगा। इसकी गारण्टी भारतीय सरकार ने दी है।

राष्ट्रीय छोटे उद्योग प्रमण्डल (National Small Industries Corporation Ltd.)

इस प्रमण्डल की स्थापना फरवरी, सन् १९५५ में इस विचार से हुई थी कि यह भारत के छोटे उद्योगों की सहायता करेगा, वित्त प्रदान करेगा, संरक्षण करेगा और उनको प्रोत्साहित करेगा। वे सभी उद्योग, जिनमें ५० व्यक्ति हैं और जो शक्ति से उत्पादन कर रहे हैं या वे उद्योग जिसमें १०० व्यक्तियों से कम बिना शक्ति से काम कर रहे हैं और जिनकी कि सम्पत्ति पूंजी ५ लाख रुपए से अधिक नहीं है, इस प्रमण्डल के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं। यह प्रमण्डल भी एक व्यक्तिगत सम्मिलित पूंजी की संस्था है जिसकी अधिकृत पूंजी १० लाख रुपया है और जो सौ-सौ रुपयों के १० हजार साधारण हिस्सों में बँटी हुई है।

इस प्रकार भारतवर्ष में अब जनता की रुचि उपरोक्त प्रकार के प्रमण्डलों की स्थापना के प्रति दिन-प्रति-दिन बढती जा रही है, जो इस बात की सूचक है कि भारतवर्ष में भविष्य में औद्योगिक वित्त की कमी पूर्णतया समाप्त हो जायगी।

कृषि बैंक (Agricultural Bank)

कृषि-बैंक कृषि की अल्पकालीन और दीर्घकालीन वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। इन बैंकों को दो भागों में विभाजित किया जाता है। एक तो ऐसे बैंक जो कि अल्पकालीन ऋण देते हैं जिनको सहकारी बैंक (Co-operative Bank) कहते हैं, और दूसरे वे बैंक जो दीर्घकालीन ऋण देते हैं जिनको भूमि बन्धक बैंक (Land mortgage Bank) कहते हैं। भारतीय ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था में उपरोक्त संस्थाओं के अतिरिक्त देशी बैंकरों का भी एक महत्वपूर्ण स्थान है। अब हम इन तीनों के विषय में अलग-अलग विस्तार से अध्ययन करेंगे।

सहकारी बैंक (Co-operative Bank)

भारतीय कृषकों की आर्थिक कठिनाइयों को दूर करने के विचार से भारतीय सरकार ने सन् १९०४ में सहकारी आन्दोलन (Co-operative movement) का श्रीगणेश किया। सन् १९०४ के कानून द्वारा जर्मनी की रैफीसन (Raiff-eisen) प्रकार की ग्रामीण सहकारी साख समितियों को स्थापित करने की व्यवस्था की गई। परन्तु कुछ वर्ष बाद ऐसा अनुभव हुआ कि साख के अतिरिक्त अन्य उद्देश्यों की पूर्ति

के लिए भी सहकारी समितियों का स्थापित होना आवश्यक था। इसलिए सन् १६१२ में एक दूसरा कानून बनाया गया, जिसके अधीन भारतवर्ष में हर प्रकार की सहकारी समिति स्थापित की जा सकती थी।

समितियों का संगठन

भारत में सहकारी साख आन्दोलन का ढाँचा इस प्रकार है —

रिजर्व बैंक का कृषि साख विभाग
↓
शीर्ष बैंक (Apex Bank)
↓
केन्द्रीय बैंक (Central Bank)
↓
प्रारम्भिक सहकारी साख समितियाँ
(Primary Co-operative Credit Societies)

हमारे देश में सहकारी आन्दोलन की सबसे पहली सीढ़ी प्रारम्भिक साख समितियाँ जून सन् १६५५ में १,४३,३२० थी। इन समितियों का संगठन इस प्रकार होता है —

(१) एक सहकारी समिति में कम-से-कम १० व्यक्ति तथा अधिक-से-अधिक सौ व्यक्ति हो सकते हैं। अर्थात् १० व्यक्ति मिल कर एक सहकारी समिति खोल सकते हैं।

(२) इन समितियों का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित होता है ताकि सदस्यों में आपस में सहयोग रहे। प्राय एक गाँव में एक समिति होती है।

(३) सहकारी समिति के कर्मचारी वेतनभोगी नहीं होते। इन समितियों का प्रबन्ध प्रजातन्त्रीय (Democratic) है। यह प्रबन्ध दो-मंडलों द्वारा होता है। एक तो साधारण सभा जिसमे कि सभी हिस्सेदार होते हैं और दूसरी प्रबन्धक समिति जिसमें ५ से लेकर ६ सदस्य तक होते हैं। इन सदस्यों का चुनाव साधारण समिति करती है। समिति का सचिव अधिकतर वेतनभोगी कर्मचारी होता है।

(४) इन समितियों के सदस्यों का दायित्व असीमित होता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में सरकार सीमित दायित्व वाली समितियों को स्थापित करने की अनुमति दे देती है।

(५) समिति की पूंजी मुख्यतया दो साधनों से एकत्र होती है—प्रथम आन्तरिक साधन अर्थात् समिति के हिस्से, नये सदस्यों का प्रवेश शुल्क, सदस्यों के निक्षेप तथा सुरक्षित कोष और दूसरे, वाह्य साधन जिनमें सरकारी ऋण, केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों के ऋण और गैर-सदस्यों के निक्षेप शामिल होते हैं।

(६) ये समितियाँ केवल अपने सदस्यों को ही ऋण देती हैं और ये ऋण अधिकतर तीन प्रकार के होते हैं।

(अ) उत्पादक कार्यों के लिए ऋण,

(ब) अनुत्पादक कार्यों के लिए ऋण;

(स) और भूतपूर्व ऋणो को चुकाने के लिए ऋण।
इन ऋणो को किस्तो में चुकाया जा सकता है और ऋण प्रदान करते समय कम-से-कम दो सदस्यो की जमानत ली जाती है और कभी-कभी जमानत के रूप में चल और अचल सम्पत्ति भी ली जाती है।

(७) सभी समितियो को अपने लेखो को रखना पडता है, जिनका अंकेक्षण (Auditing) भी होता है।

(८) प्रारम्भिक समितियो को अपने लाभ का एक निश्चित भाग सुरक्षित कोष में जमा करना पड़ता है, और लाभो का कुछ भाग शिक्षा तथा अन्य परोपकारी कार्यों मे खर्च किया जाता है।

(९) प्रत्येक समिति सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार के पास रजिस्टर्ड होती है। यदि रजिस्ट्रार किसी भी समिति को अकुशल तथा बेईमान पाये तो उसको यह अधिकार होता है कि वह इन समितियो को बन्द कर दे।

केन्द्रीय सहकारी बैंक (Central Co-operative Bank)

एक जिले की प्रारम्भिक समितिया आपस मे मिलकर एक केन्द्रीय सहकारी बैंक बना लेती हैं। ये बैंक प्रारम्भिक समितियों को ऋण प्रदान करती हैं। सन् १९५३ मे इन समितियो की सख्या ५०५ थी और इनके सदस्यो की सख्या २,४८,६५० थी। इनके हिस्से वाली पूंजी और कोषो की मात्रा क्रमश ५ १६ करोड और ५ ४८ करोड रुपए थी। इनकी जमा का ७० प्रतिशत से अधिक भाग व्यक्तियो तथा अन्य गैर-सहकारी सस्थाओ द्वारा प्राप्त हुआ था।

शीर्ष बैंक (Apex Bank)

भारत में 'क' खण्ड के प्रत्येक राज्य मे एक शीर्ष बैंक है और आसाम मे ऐसे बैंक दो हैं, कुल मिलाकर इनकी सख्या १७ है। भारत मे ऐसे बैंक दो प्रकार के हैं।

प्रथम, अमिश्रित (Pure) जिनके सदस्य केवल सहकारी बैंक हैं और दूसरे मिश्रित (Mixed) जिनके सदस्य सहकारी बैंक तथा निजी व्यक्ति दोनों ही हैं। पजाब तथा बगाल राज्यो को छोड कर अन्य राज्यो मे मिश्रित बैंक स्थापित किये गये हैं।

जून, सन् १९५४ मे राज्य सहकारी बैंक या शीर्ष बैंको की सख्या २२ थी जो जून १९५५ मे २४ हो गई थी। सन् १९५४–५५ में जम्मू-काश्मीर व भोपाल मे दो शीर्ष बैंक और खुल गये थे। इस प्रकार इस समय तक सभी राज्यो मे शीर्ष बैंक कार्य करने लग गये हैं। पजाब, हैदराबाद और मैसूर मे स्थापित होने वाले नये शीर्ष बैंको मे राज्य सरकारों ने उनकी हिस्सा पूँजी मे विशेष भाग लिया है।

सन् १९५३-५४ मे २२ शीर्ष बैंको की सदस्य सख्या ९,४४७ व्यक्ति तथा १६,१६४ बैंक और समितियाँ थी। इनकी हिस्सा पूँजी २ ७५ करोड़ रुपये और सुरक्षित कोष मे २ ८५ करोड थे। इस वर्ष मे इन बैंको ने सहकारी बैंको और समितियो को ९ २० और ४२.५७ करोड रुपए के ऋण क्रमश. दिये थे। इन बैंको की कुल कार्यशील पूंजी ५१ ७७

करोड़ रु० थी जिसमें से ११% निजी धन, ६०.३% जमा तथा २४.७% अन्य साधनों से प्राप्त ऋण थे।

भारतवर्ष के सहकारी आन्दोलन को लगभग ५३ वर्ष हो गये हैं, परन्तु इसे कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं हो पायी है। समितियों के बकाया ऋण बहुत अधिक मात्रा में रहते हैं। सम्पूर्ण लेखे भी तैयार नहीं रहते और इनका प्रबन्ध भी कुशल नहीं है। भारतीय आन्दोलन का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह लोगों के दिलों से उत्पन्न नहीं हुआ है, परन्तु सरकार की ओर से जनता के ऊपर थोपा गया है जिसके कारण सरकारी हस्तक्षेप इतना अधिक है कि जनता में इसके प्रति विश्वास उत्पन्न नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त भारतवर्ष की जनता में पारस्परिक सहयोग, ऊँचे चरित्र, ईमानदारी और सहकारी शिक्षण का विशेष रूप से अभाव है। वास्तव में उपरोक्त गुण ही किसी देश में सहकारी आन्दोलन की सफलता के आधारस्तम्भ हैं और इन्हीं का भारत में अभाव है। इसके अतिरिक्त सहकारी समितियों के पास पर्याप्त पूँजी भी नहीं है। उनको ऋण देने में समय भी अधिक लगता है और उनके व्याज की दर भी काफी ऊँची है, जिसके कारण किसान फिर से दौड़ कर महाजन के पास पहुँच जाता है और सबसे अधिक भारत में जनता सहकारिता के सिद्धान्त से अनभिज्ञ है, उसमें सहकारिता की भावना की बहुत कमी है। इसीलिए यह स्पष्ट है कि इन परिस्थितियों में सहकारी आन्दोलन कभी भी उन्नति नहीं कर सकता। तो फिर यदि भारतीय आन्दोलन सफल न हो सका, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

दोषों को सुधारने के उपाय

उपरोक्त दोषों को दूर करने के सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिये गये हैं —

(१) सहकारी समितियों को अपनी सुरक्षित कोषों की मात्रा में वृद्धि करनी चाहिए।

(२) ऋण देने में अधिक सतर्कता से काम लेना चाहिए।

(३) प्रारम्भिक समितियों को बहुमुखी समितियों में बदल देना चाहिए, ताकि वे किसानों की आवश्यकताएँ अधिक मात्रा में पूरी कर सकें और उनकी लोकप्रियता में वृद्धि हो।

(४) समितियों के कर्मचारियों को सहकारी शिक्षण प्रदान करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

(५) बकाया ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों और अल्पकालीन ऋणों से अलग रखना चाहिए। भूतपूर्व ऋणों का भुगतान किस्तों में प्राप्त किया जाय और नये ऋण वस्तुओं के रूप में दिये जायं।

(६) ऋण केवल उत्पादक कार्यों के लिए ही दिये जाने चाहिए।

(७) निजी व्यक्ति केन्द्रीय बैंकों के सदस्य नहीं होने चाहिए।

(८) केन्द्रीय तथा राज्य सहकारी बैंकों का पुनर्संगठन किया जाय।

(९) सहकारी समितियो और सहकारी बैंको को राष्ट्रीय बचत प्रमाण-पत्रो के बेचने के लिए एजेण्ट बना दिया जाय।

(१०) सहकारी समितियाँ जो धन डाकखाना में जमा कराती है उनको जमा करने तथा निकालने के नियमों को ढीला करना चाहिए।

(११) सरकारी हस्तक्षेप को कम करना चाहिए, जिससे कि सदस्यो का विश्वास बढे।

(१२) निरीक्षण और अकेक्षण के लिए एक जिला सघ स्थापित किया जाय।

(१३) ब्याज की दर कम करने के हेतु प्रारम्भिक समितियो को गाव और शहरो से अधिक मात्रा मे धन प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, और केन्द्रीय सहकारी बैंको को भी इन समितियो को कम ब्याज दर पर रुपया देना चाहिए।

पंचवर्षीय आयोजनों में सहकारी साख का विकास

पंचवर्षीय योजनाओ मे सहकारी साख का विकास करने के ठोस कार्य किये जा रहे है, और गत वर्षो मे उन्हे आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। भारतीय साख सर्वेक्षण समिति के सुझावो को भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है और उन्ही के आधार पर नई सहकारी नीति आरम्भ की गई है। अभी तक सहकारी आन्दोलन सरकार द्वारा जनता पर लादा गया था और सरकार केवल ऊपरी देख-रेख करती रही थी। इसलिए यह आन्दोलन निस्तेज व निष्प्राण हो चला था। अब भविष्य में सरकार हर प्रकार से सहकारी आन्दोलन की सहायता करेगी और सहकारी सस्थाओ को वित्तीय सहायता भी प्रदान करेगी। इसके लिए रिजर्व बैंक ने दो कोष स्थापित किये है —

(१) **राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष** (National Agricultural Credit (Long Term) Fund)—आरम्भ में रिजर्व बैंक ने इस कोष में १० करोड रु० की पूंजी दी थी और सन् १९५६ से आगे प्रतिवर्ष ५ करोड रु० इसमे और मिलते जायेंगे, जिससे सन् १९६० तथा इसकी पूंजी ३५ करोड रु० हो जायेगी। इस कोष से राज्य सरकारो को दीर्घकालीन ऋण दिये जायेंगे, जिससे वे सहकारी सस्थाओ की पूंजी में भाग ले सके। भूमि बन्धक बैंको के ऋण पत्र भी इसी कोष से खरीदे जायेंगे।

(२) **राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष** (National Agricultural Credit (Utilization) Fund)—इस कोष में रिजर्व बैंक द्वारा ५ वर्ष तक १ करोड रु० प्रति वर्ष दिया जायेगा। इस कोष से राज्य सम्बन्धी बैंको के अल्पकालीन ऋणों को मध्यकालीन ऋणों में बदला जा सकेगा।

द्वितीय योजनाकाल मे प्राथमिक सहकारी समितियों को सफल बनाने के प्रयत्न किये जा रहे है। नई समितिया बडे आकार की स्थापित की जायेगी। प्रत्येक समिति के ५०० सदस्य होगे और प्रत्येक सदस्य का दायित्व उसके द्वारा लगाई गई पूंजी का पाँच गुना होगा। हर समिति की न्यूनतम हिस्सा पूंजी १५,००० रु० होगी और उसका सालाना व्यापार लगभग १½ लाख रु० का होगा।

सहकारी साख सगठन के विकास के द्वितीय योजना मे निर्धारित लक्ष्य इस प्रकार हैं —

बड़े आकार की समितियाँ	१०,४००
अल्पकालीन साख का लक्ष्य	१५० करोड़ रु०
मध्यकालीन साख का लक्ष्य ...	५०० करोड़ रु०
दीर्घकालीन साख का लक्ष्य	२५ करोड़ रु०

भूमि बन्धक बैंक

भूमि-बधक-बैंक उन बैंको को कहते है जो भूमि को बधक या गिरवी रख कर किसानो को दीर्घकालीन ऋण देते हैं। हम अभी ऊपर बता चुके हैं कि सहकारी साख समितियाँ केवल अल्पकालीन और मध्यकालीन आवश्यकताओ के लिए ऋण प्रदान करती है। भूमि-बन्धक-बैंक किसानो की दीर्घकालीन ऋणो की पूर्ति करती है। अधिकतर दीर्घकालीन ऋण या तो भूमि मे स्थायी सुधार करने के लिए या पुराने ऋणो को चुकाने के लिए लिये जाते है। भारत के कृषिप्रधान देश होने की स्थिति में इन बैंको का एक महत्वपूर्ण स्थान है क्योकि ग्रामीण क्षेत्रों में ब्याज की दर २० % से लेकर ७५ % तक है।

भूमि बन्धक बैंकों में भेद

भारत मे ये बैंक तीन प्रकार के होते है —

(१) सहकारी भूमि-बन्धक-बैंक,

(२) मिश्रित पूंजी भूमि-बन्धक-बैंक,

(३) आभास-सहकारी भूमि-बन्धक-बैंक (Quasi Co-operative Land Mortgage Bank)

(१) सहकारी भूमि-बन्धक-बैंको की पूंजी बन्धक-बॉड (Mortgage Bond) चालू करके प्राप्त की जाती है। ये ऋण केवल अपने सदस्यो को ही देती हैं और उन पर अन्य प्रकार की भूमिबन्धक बैंको की अपेक्षा कम ब्याज की दर लेती हैं, क्योकि इनका उद्देश्य लाभ कमाने का नही होता।

(२) मिश्रित-पूंजी भूमि-बन्धक-बैंक हिस्सेदारी की एकत्रित सम्पत्ति से चलाये जाते हैं। इन बैंको का उद्देश्य लाभ कमाना होता है और ये भूमि की आड पर ऋण देते हैं, ऐसे बैंक अधिकतर पाश्चात्य देशो मे हैं।

(३) आभास सहकारी भूमि-बन्धक-बैंक ऋण लेने वालो के सघ द्वारा स्थापित किये जाते हैं। इनकी पूंजी हिस्सो की बिक्री, ऋण-पत्रो और ऋणो द्वारा प्राप्त की जाती है। इनके सदस्यो का दायित्व सीमित होता है और भारत में इसी प्रकार के बैंक पाए जाते हैं।

भूमि बन्धक बैंकों का इतिहास

भारत में सबसे पहला भूमि-बन्धक-बैंक पजाबमें सन् १९२० मे स्थापित हुआ था। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि के ढगो में सुधार और किसानो के पुराने ऋणो का भुगतान

करना था। इस बैंक के बाद कई और बैंक भी खुले परन्तु वे सब फेल हो गये। सही अर्थ में भूमि-बन्धक बैंक सन् १६२६ में मद्रास में स्थापित हुआ था। उसके पश्चात् सन् १६३५ में बम्बई में और फिर धीरे-धीरे सारे प्रदेशों में ऐसे बैंक स्थापित किये जाने लगे। सन् १६५२–५३ में ऐसे बैंक आसाम में २, बम्बई में १६, मद्रास में १३०, मध्यप्रदेश में १२, उत्तरप्रदेश में ६ और पश्चिमी बंगाल में ६ थी। इस प्रकार समस्त देश में सन् १६५३–५४ में ६ केन्द्रीय व २६१ प्रारम्भिक भूमि-बन्धक-बैंक थी, जिनमें से २११ तो मद्रास, आन्ध्र और मैसूर के तीन राज्यों में ही थी और शेष ८० बैंक और सब राज्यों में थी। *इस वर्ष में भूमि-बन्धक बैंकों की सामान्य स्थिति का ज्ञान निम्नलिखित तालिकाओं* से स्पष्ट हो जाता है :—

तालिका (अ)

भूमि-बन्धक-बैंकों का वितरण

राज्य	केन्द्रीय भूमि-बन्धक-बैंक	प्रारम्भिक भूमि-बन्धक-बैंक
आन्ध्र . .	१	५६
आसाम .	—	२
बम्बई	१	१८
मध्यप्रदेश .	१	१२+(१३ केन्द्रीय सहकारी बैंक)
मद्रास	१	७३
उत्तरप्रदेश	—	६
उड़ीसा ..	१	—
पश्चिमी बंगाल ..	—	६
हैदराबाद	१	१०
मध्यभारत	—	१
मैसूर .	१	८२
सौराष्ट्र ..	१	—
राजस्थान ..	—	१०
त्रिवाकुर कोचीन	१	—
अजमेर . .	१	१२
कुल ..	६	२६१

तालिका (ब)

	केन्द्रीय भूमि-बन्धक-बैंक	प्रारम्भिक भूमि-बन्धक-बैंक
संख्या	६	२६१
सदस्यता	४६,७५३	२,६५,१८६
ऋणदान (करोड़ रु०)	१ ६२	१.४०
कार्यशील पूँजी (करोड़ रु०)	१३ ६२	६.५५

भूमि बन्धक बैंकों के कार्य

(१) यह बैंक अपने सदस्यों को निम्नलिखित कार्यों के लिए ऋण देते हैं —

(१) पुराने ऋणों का भुगतान करने के लिए,
(२) भूमि में सुधार करने के लिए,
(३) औजार मशीन आदि खरीदने के लिए,
(४) खेती के ढंग को सुधारने के हेतु और भूमि खरीदने के लिए।
(५) किसानों की जमीन व मकान आदि गिरवी से छुड़ाने के लिए।

(२) अपने सदस्यों की आर्थिक क्रियाओं को विकसित करते हैं और उनमें आत्मनिर्भरता और सहयोग की भावना उत्पन्न करते हैं और उनमें बचत करने की आदत भी डालते हैं।

(३) ये अपने सदस्यों को भूमि के उपयोग के सम्बन्ध में आवश्यक सलाह देते हैं।

भारतवर्ष में ये बैंक २० साल से अधिक के लिए ऋण नहीं देते और गिरवी रखी हुई भूमि का केवल ५० प्रतिशत मूल्य तक की ऋण देते है, जबकि ऋण का उद्देश्य या तो पुराने ऋणों का भुगतान करना या नई भूमि खरीदना या भूमि में सुधार करना होता है। यदि ऋण किसी और काम के लिए प्राप्त किया जाता है तो ये बैंक भूमि के लगान के तीस गुने तक ऋण देते है। इनकी ब्याज की दर भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न है और अधिकतर ६ से १० प्रतिशत तक होती है। ये बैंक ऋण देने से पहले अपने ऋणी की भूमि, उसके भुगतान करने की शक्ति और ऋण की आवश्यकता आदि की पूरी जाँच पड़-ताल कर लेते हैं।

यद्यपि प्रारम्भिक काल में यह बैंक पुराने ऋण चुकाने के लिए अधिक ऋण देते थे, परन्तु आज कल भूमिसुधार के लिए ऋणों को अधिक प्रोत्साहन दिया जा रहा

है जैसे कि बम्बई राज्य में सरकार ने ऐसे बैंक को सिचाई के लिए कुएँ बनवाने, औजार आदि खरीदने के लिए ऋण प्रदान करने का आदेश दिया है। मद्रास मे भी सरकार ने भूमि-बंधक-बैंको के विधान मे संशोधन कर दिया है और वहाँ पर भी भूमि-बंधक बैंक भूमि-सुधार के लिए अधिक ऋण दे रहे है।

वास्तव मे ऐसे बैंको ने भूमि-सुधार के लिए ऋण प्रदान करने में कुछ अरुचि दिखायी है। इस अरुचि के कई कारण हो सकते है, जैसे अधिक खर्च, शिक्षित कर्मचारियों का अभाव और भूमि का वास्तविक मूल्य जानने की कठिनाइयाँ आदि। इन सब कठिनाईयो को दूर करने के लिए सरकार का सहयोग बहुत ही आवश्यक है। यद्यपि राज्य सरकारो ने इनके लिए कर-सम्बन्धी नियमो को काफी ढीला कर दिया है फिर भी सरकार को और अधिक सहयोग देना चाहिए। उपरोक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भूमि-बन्धक-बैंको ने केवल मद्रास, बम्बई और मैसूर राज्यो मे ही उन्नति की है और अन्य राज्यो में ये बैंक अधिक उन्नति नही कर पाये हैं। इस लिए यह आवश्यक है कि ऐसे बैंकों का अधिक-से-अधिक विकास होना चाहिए क्योंकि कृषि-सम्बन्धी दीर्घकालीन आवश्यकताओ की जितनी पूर्ति ये बैंक कर सकती है, उतनी कोई दूसरी सस्था नही कर सकती है।

सन् १९५४ मे भूमि-बन्धक-बैंको का एक सम्मेलन मार्च के महीने में हुआ। उस सम्मेलन मे भूमि-बन्धक-बैंको की कठिनाइयो पर विशेष रूप से विचार किया गया। मुख्य कठिनाइयाँ सम्मेलन के सदस्यो के अनुसार धन की कमी, ऊँची ब्याज की दर, ऋण देने मे अधिक समय का लगना और ऋण वापसी में अनेकों कठिनाइयों का होना था।

भूमि-बन्धक-बैंको के कार्यो मे सुधार करने के लिए निम्न तीन सुझाव दिये जाते हैं —

(१) पहिले ऋण के बाद दूसरे व अगले ऋणो की ब्याज की दर अधिक कर देनी चाहिए।

(२) ऋण को थोड़े काल के लिए दिया जाना चाहिए, जिससे थोड़े कोषो से अधिक लोगो को ऋण दिये जा सके।

(३) ऋणो के प्रयोग से जो लाभ हो, उसे ऋण के भुगतान के लिए ही उपयोग करना अनिवार्य कर दिया जाना चाहिए।

द्वितीय योजना काल मे भारत सरकार ने भूमि-बन्धक-बैंको के विकास व सुधार के सबंध मे ग्राम्य साख सर्वेक्षण समिति के सुझावो के आधार पर नीति बनाई है। समिति ने सुझाव दिया है कि प्रत्येक राज्य मे एक केन्द्रीय भूमि बन्धक-बैंक होनी चाहिए। भूमि को बन्धक रखने के कानूनी तरीके सस्ते और सरल बनाने चाहिए। बैंको की पूँजी में सरकार का ५१% भाग होना चाहिए। केन्द्रीय-बैंको को प्रारम्भिक बैंको की पूँजी में भाग लेने का अधिकार होना चाहिए। उत्पादन कार्यो के लिए ऋणों को प्राथमिकता देनी चाहिए। इसी प्रकार प्रारम्भिक भूमि-बन्धक-बैंको को बडी सावधानी से पूरी तरह जाँच-पडताल करके स्थापित करना चाहिए। सरकार को इन बैंकों की पूँजी मे साझीदार होना चाहिए।

देशी बैंकर

देशी व्यापार और कृषि की वित्तीय सहायता प्रदान करने में भारत में देशी बैंकरो का विशेष महत्व है। ऐसे बैंकरो का देश की सामान्य बैंकिंग प्रणाली से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नही होता। अधिकतर देशी बैंकरो में दो वर्ग होते हैं। प्रथम, वह वर्ग जो ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था को वित्तीय सहायता प्रदान करते है जिनको महाजन या साहूकार कहा जाता है और द्वितीय वह बैंकर जो शहरी अर्थ-व्यवस्था मे भाग लेते हैं जिनको सर्राफ आदि नामों से पुकारा जाता है। साधारणतया ऐसे बैंकरो के भिन्न-भिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न नाम हैं, जैसे 'बनिया', 'महाजन', 'साहूकार', 'किश्नवाले', 'पठान', 'नानावटी' और 'चेट्टी'। दोनों वर्गों की भिन्नता स्पष्ट करते हुए पंजाब बैंकिंग जाँच समिति ने कहा था कि देशी बैंकर उपभोग की अपेक्षा व्यापार और उद्योग को वित्तीय सहायता पहुँचाता है। महाजन व्यापार की अपेक्षा उपभोग को वित्तीय सहायता देता है। बैंकर और महाजन दोनो ही अशतया जमानत पर और अंशतया बिना जमानत पर उधार देते हैं किन्तु बैंकर जमानत पर अधिक और महाजन बिना जमानत पर अधिक उधार देते हैं। जब कि महाजन लापरवाह होता है, बैंकर साधारणतया ऋण लेने के उद्देश्य पर अधिक ध्यान देता है। एक और भिन्नता है जो कि निसन्देह अन्तिम दोनो भिन्नताओ से उत्पन्न होती है कि बैंकर के ग्राहक ऋण का भुगतान समय पर कर देते हैं और महाजन को अधिकाश ग्राहकों को दबाना पडता है। इसीलिए बैंक मे ६ प्रतिशत से ६ प्रतिशत दर पर उधार देता है और कदाचित ही वह १२ प्रतिशत से अधिक ब्याज लेता हो, परन्तु महाजन साधारणतया ८ से १२ प्रतिशत और १८ प्रतिशत तक ब्याज ले लेता है। केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति ने ग्रामो में महाजनो और देशी बैंकरो के महत्व को समझते हुए यह प्रस्ताव रक्खा था कि वित्तीय व्यवस्था को सुधारने के लिए देशी बैंकरो, व्यापारिक और सहकारी बैंकों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध भारतीय रिजर्व बैंक से स्थापित कर देना चाहिए।

केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति के अनुसार देशी बैंकर उन व्यक्तियो की निजी फर्म को कहते हैं, जो धन जमा पर स्वीकार करते हैं, उधार देते हैं और देशी हुण्डियों में व्यवसाय करते है। इस प्रकार अब हम साहूकार और देशी बैंकरो की भिन्नता को स्पष्ट कर सकते है।

महाजन या साहूकार और देशी बैंकरों में अन्तर

(१) देशी बैंकर धन जमा करते है और हुण्डियो का लेन-देन करते है, परन्तु साहूकार और महाजन बहुत कम ही इन बैंकिग कार्यों को करते है।

(२) देशी बैंकर महाजनों की अपेक्षा ऋण के उद्देश्यो की ओर बहुत अधिक ध्यान देते हैं।

(३) महाजनों की अपेक्षा देशी बैंकरो की ब्याज की दर कम होती है।

(४) देशी बैंकर व्यापार और उद्योग को वित्तीय सहायता देते है, परन्तु महाजन और साहूकार अधिकतर उपभोग के लिए ऋण देते है।

(५) देशी बैंकरो का कार्यक्षेत्र महाजनो की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है। यद्यपि देशी बैंकर बैंकिंग व्यवसाय ही मे भाग लेते हैं और इनको यदि बैंक कहा जाय तो कोई त्रुटि न होगी किन्तु फिर भी इनमे और आधुनिक बैंको मे काफी अन्तर है।

देशी बैंकर और आधुनिक बैंकों में अन्तर

(१) आधुनिक बैंको की पूँजी का अधिकांश भाग हिस्सो और जमा से प्राप्त होता है। परन्तु देशी बैंकरो के सम्बन्ध मे हिस्सों का तो प्रश्न ही नही उठता और जमा से भी यह बहुत कम धन प्राप्त करते है।

(२) जब कि आधुनिक बैंको मे चैंको का प्रयोग होता है, देशी बैंकरो मे लेन-देन नकदी मे होता है।

(३) आधुनिक बैंक केवल बैंकिंग व्यवसाय मे ही भाग लेते है, परन्तु देशी बैंकर बैंकिंग के अतिरिक्त व्यापार, उद्योग आदि मे भी भाग लेते है।

(४) जबकि आधुनिक बैंक अचल सम्पत्ति पर अधिक काल के लिए ऋण नही देते, स्वदेशी बैंकर ऐसा करते हैं और उनकी ब्याज की दर भी अधिक होती है।

(५) स्वदेशी बैंकर दीर्घकालीन ऋण देते हैं, परन्तु आधुनिक बैंक नही।

(६) आधुनिक बैंक का कार्य विधान के अनुसार होता है परन्तु देशी बैंकरो के लिए कोई विधान नही होता।

(७) आधुनिक बैंक विदेशी व्यापार मे भी सहायता देते हैं परन्तु देशी बैंकरो को उससे कोई सम्बन्ध नही होता।

(८) जब कि आधुनिक बैंक रिजर्व बैंक के नियत्रण एव निरीक्षण मे कार्य करते है, देशी बैंकरो का रिजर्व बैंक से बहुत कम सम्पर्क होता है।

देशी बेंकरों के कार्य

अब हम देशी बैंकरो के कार्यो का वर्णन करेंगे। इनके मुख्यत तीन कार्य होते है:—

(१) जमा स्वीकार करना।

(२) ऋण देना।

(३) हुडियो का व्यवसाय करना।

(१) **जमा स्वीकार करना**—देशी बैंकर निश्चित जमा को प्राप्त करते है और ऐसी भी जमा प्राप्त करते हैं जिसका कि भुगतान मागने पर तुरन्त ही कर दिया जाय। इनकी ब्याज की दर प्राय ५ मे ७ प्रतिशत होती है।

(२) **ऋण देना**—यह प्रत्येक प्रकार की प्रतिभूति पर ऋण देती हैं। यदि जमानत अच्छी है तो वे ६ प्रतिशत मे १८ प्रतिशत की दर पर ही ऋण दे देते हैं, अन्यथा उनके ब्याज की दर ४४ प्रतिशत तक होती है। यह कृपकों को उनकी तैयार फसल और कारीगरो को इस वायदे पर ऋण देते हैं कि यह लोग तैयार माल उन्ही को बेचेगे। साराश यह कि ये केवल गोदामो मे रक्खे हुए माल पर ऋण नही देते, वरन प्रत्येक प्रकार की जमानत पर देते हैं।

(३) हुंडियों का व्यवसाय करना—देशी बैंकर हुण्डियो का व्यापार करते हैं और यह हुण्डियो को भुनाते भी हैं।

देशी बेंकरों के दोष

देशी बैंकरो की कार्य-प्रणाली मे कई प्रकार के दोष दृष्टिगोचर होते है, जैसे :—

(१) इनके व्याज की दर बहुत ऊँची होती है।

(२) यह बैंकिंग कार्यो के अतिरिक्त और भी कार्य करते हैं जिससे इनकी उपयोगिता बैंक के रूप मे बहुत कम हो जाती हैं और अनेक प्रकार की समस्याएँ भी उत्पन्न हो जाती हैं।

(३) इनकी जमा कम होने के कारण इनके पास पूंजी की भी बहुत कमी होती है।

(४) यह अधिकतर अपर्याप्त जमानतो पर ऋण दे देते है।

(५) यह अपने लेखो और विवरण-पत्रो का प्रकाशन नही करते, जिसके कारण इनकी आर्थिक स्थिति का पता नहीं लग पाता।

(६) इनकी कार्य-विधियो मे बडी भिन्नता मिलती हैं, और इन का कार्य प्राचीन ढंगो पर होता है जिससे इनका निरीक्षण सम्भव नही होता।

(७) देशी बैंकरो और आधुनिक बैंक में बडी प्रतियोगिता रहती है। यह ही नहीं, बल्कि देशी बैंकरो मे आपस में भी मतभेद रहते हैं।

(८) इनकी कार्यविधि बहुधा बेईमानी और धोखेबाजी से पूर्ण होती है, जिससे सीधे-साधे अनपढ लोगो को जो अधिकतर इनके ग्राहक होते हैं, बडी हानि होती है। यह रसीद नही देते, ऋण की मात्रा भी बढा कर लिख देते हैं और अनेक प्रकार की कटौतियाँ ले लेते हैं। इसी प्रकार की अन्य क्रियाओ से यह जनता को बडी हानि पहुँचाते हैं।

देशी बेंकरों की उन्नति के सुझाव

देशी बैंकरों का भारतीय अर्थ-व्यवस्था मे विशेष महत्व होने के कारण, इन पर न तो किसी प्रकार की रोक लगाना और न ही इनको पूर्णतया समाप्त करना ठीक होगा। इसलिए सबसे उत्तम उपाय इनकी अनुचित क्रियाओ को दूर करना होगा। केन्द्रीय व प्रान्तीय बैंकिंग जाँच-समितियो ने निम्न सुझाव दिये हैं :—

(१) इनकी सट्टेबाजी की क्रियाओ पर रोक लगा देनी चाहिए और इसलिए इनको रिज़र्व बैंक मे मिला देना चाहिए। उन स्थानो पर जहाँ रिज़र्व बैंक की शाखायें नही है, इन्हे उसके एजेण्टो के कार्य दे देने चाहिए।

(२) व्यापारिक बैंक सामान्य रूप से इनकी हुण्डियो को स्वीकार करें और भुनावें।

(३) इनको अन्य व्यापारिक बैंको की भांति धन के हस्तान्तरण की हर सुविधायें रिज़र्व बैंक और राज्य बैंक द्वारा प्राप्त होनी चाहिए।

(४) इनको रिज़र्व बैंक की सदस्यता का अधिकार प्राप्त होना चाहिए और

अनुसूचित बैंकों की सारी शर्ते इन पर लागू होनी चाहिएं और सारे अधिकार इनको मिलने चाहिएं।

(५) इनकी व्यवस्था आधुनिक ढग पर होनी चाहिए, ताकि इनका निरीक्षण और अकेक्षण सम्भव हो जाय।

(६) सरकार और रिज़र्व बैंको को हर सम्भव उपायो मे इनको सहायता देनी चाहिए।

(७) लाइसेस वाले बैंकरों का एक वर्ग अलग बनना चाहिए।

(८) यह आपस में मिलकर एक सम्मिलित पूंजी बैंक बना ले।

(९) ऐसे बैंकरो का एक अखिल भारतीय एसोसियेशन होना चाहिए।

(१०) इन बैंकरो को हुण्डियो और विपत्रो का अधिक प्रयोग करना चाहिए।

देशी बैंकर और रिज़र्व बैंक

देशी बैंकरो को नियत्रित करने की चर्चा काफी लम्बे काल से चल रही है, परन्तु इस ओर कुछ भी न हो पाया है। सन् १९३७ मे केन्द्रीय बैंकिग जाँच समिति के सुझावो के आधार पर रिज़र्व बैंक ने कुछ शर्तों का निर्माण किया था, जिनकी पूर्ति पर देशी बैंकर रिज़र्व बैंक की स्वीकृत सूची में शामिल किये जा सकते थे। यह शर्ते निम्न प्रकार है।

(१) जिन देशी बैंकरो की पूंजी २ लाख या अधिक है, उन्हे पाच साल के अन्दर अपनी पूंजी बढा कर पाच लाख करके बैंकिग कम्पनी बना लेनी चाहिए।

(२) वे केवल बैंकिग कार्य ही करे।

(३) वे अपने लेखो का ठीक हिसाब रक्खे और एक रिपोर्ट रिज़र्व बैंक के पास हर माह भेजे ताकि उनकी आर्थिक स्थिति का ज्ञान रहे।

(४) उनको अपने लेखो का पूर्ण विवरण प्रकाशित करना चाहिए।

(५) वे जनता का धन जमा के रूप मे स्वीकार करे और अपने चालू जमा का ५०% और निश्चित जमा का २०% रिज़र्व बैंक के पास रक्खे।

(६) रिज़र्व बैंक उन्हे दोबारा भुनाने की सुविधाये प्रदान करेगा।

(७) रिज़र्व बैंक जिस समय चाहे उनके हिस्सेदारो की पूंजी आदि के सम्बन्ध मे पूछ-ताछ कर सकता है और पाँच-वर्षों के पश्चात् उन्हे अपना सदस्य बना लेगा।

उपरोक्त शर्तों से देशी बैंकर खुश नही हुए। यद्यपि वे सट्टेबाजी न करने के लिए तैयार थे, परन्तु वे अपने लेखो का विवरण प्रकाशित करने के लिए राजी न थे। वे बैंकिग के साथ अन्य कार्य भी करना चाहते थे और इस प्रकार कुछ भी फल प्राप्त न हो सका। आज भी स्थिति पहले ही जैसी है। रिज़र्व बैंक के राष्ट्रीयकरण के बाद फिर एक बार इस ओर प्रयत्न किया गया। सन् १९५१ मे बम्बई में देशी बैंकरो का एक अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ। इधर रिज़र्व बैंक भी देशी बैंकरो की स्थिति, कार्य-विधि, आर्थिक अवस्था आदि के विषय में पूर्ण जाँच कर रहा है और आशा है कि निकट भविष्य में ही कुछ-न-कुछ फल अवश्य प्राप्त होगा।

तेईसवां अध्याय

भारत का रिज़र्व बैंक

(RESERVE BANK OF INDIA)

सन् १९३४ के रिजर्व बैंक आफ इण्डिया एक्ट के अधीन रिजर्व बैंक की स्थापना सन् १९३५ में एक हिस्सेदारों के बैंक के रूप में हुई। वैसे तो एक केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता सन् १९०६ में ही अनुभव हो रही थी, परन्तु सन् १९२५ में हिल्टन यंग कमीशन के सुझाव के पश्चात् तो इसकी स्थापना निश्चित सी हो गई थी। सन् १९२८ में भारतीय विधान सभा में इस ओर प्रयत्न किया भी गया परन्तु निष्फल रहा। सन् १९३४ में फिर एक बिल प्रस्तुत किया गया जो एक्ट के रूप में पास हो गया, जिसके अनुसार १ अप्रैल सन् १९३५ से रिजर्व बैंक ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया।

रिजर्व बैंक का विधान

रिजर्व बैंक के विधान सम्बन्धी अध्ययन को दो भागोमे विभाजित कर सकते हैं—(अ) सन् १९३४ के एक्ट के अनुसार और (ब) सन १९४८ के एक्ट के अनुसार

(अ) सन् १९३४ के एक्ट के अनुसार रिजर्व बैंक एक हिस्सेदारों का बैंक था। इसकी कुल पूँजी ५ करोड रुपए थी, जो सौ-सौ रुपयो के हिस्सों में बाँटी गई थी। सरकार ने इस डर से कि बैंक की सचालन शक्ति कही थोडे-से हाथो में केन्द्रित न हो जाय बैंक के कार्यक्षेत्र को—बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली तथा रंगून—पाँच क्षेत्रों में बाँट दिया और हर क्षेत्र मे बराबर मूल्य के हिस्से बेचे गये। परन्तु फिर भी धीरे-धीरे बम्बई मे सारे हिस्से जमा होने लगे, जिसको रोकने के लिए सन् १९४० में सरकार ने घोषित किया कि जिस व्यक्ति के पास २० हज़ार रुपए से अधिक के हिस्से हो जायँगे, वह बैंक का हिस्सेदार न होगा। परन्तु अंत मे सरकार का यह प्रयत्न भी असफल रहा।

(ब) सन् १९४८ मे रिज़र्व बैंक इण्डिया एक्ट (सशोधित) के अधीन सन १९४९ में १ जनवरी से रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया। सरकार ने प्रत्येक १०० रु० के हिस्से को ११८ रु० १० आने देकर खरीद लिया। १०० रुपयें का भुगतान ३% सरकारी बॉंड द्वारा किया गया और शेष का नक्दी में। बैंक का राष्ट्रीयकरण के पश्चात् विधान इस प्रकार है :—

(अ) प्रबन्ध—बैंक का प्रबन्ध एक केन्द्रीय सचालक समिति के हाथ मे है। इस समिति के १४ सदस्य हैं, जिनमें से १ गवर्नर, २ उप-गवर्नर, जिनकी नियुक्ति सरकार करती है, ४ सचालक स्थानीय बोर्ड से लिये जाते हैं और ७ संचालक केन्द्रीय सरकार

द्वारा नामजद किये जाते हैं। प्रत्येक स्थानीय बोर्ड के तीन सदस्य हैं, जो विभिन्न प्रादेशिक, आर्थिक, सहकारी और देशी बैंक के हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं।

स्थानीय समितियों के ५ नामजद सदस्य होते है, जो विभिन्न आर्थिक तथा क्षेत्रीय हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमे सहकारी बैंक तथा देशी बैंकर भी सम्मिलित होते हैं।

(ब) **पूंजी**—केन्द्रीय-बैंक की पूंजी आज भी ५ करोड रुपया है, परन्तु वह सब अब सरकार की है।

(स) **विभाग**—रिजर्व बैंक को दो भागो में बाँटा गया है—(१) निकासी विभाग—जो केवल नोट छापने का ही कार्य करता है और (२) बैंकिंग विभाग—जो बैंकिंग सम्बन्धी सारे कार्य करता है। बैंकिंग विभाग के और तीन विभाग हैं: (अ) कृषि साख विभाग—कृषि तथा ग्रामीण वित्त सम्बन्धी सारे कार्य इस विभाग द्वारा सम्पन्न किये जाते है। (ब) विनिमय नियन्त्रण विभाग—विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी सारे कार्य इस विभाग द्वारा किये जाते हैं। और (स) बैंकिंग कार्य विभाग—यह विभाग देश की बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण रखता है। यह कार्य तीन अलग-अलग विभागो द्वारा किये जाते है। (अ) सचालन विभाग (Operation Division,) (ब) निरीक्षण विभाग (Inspection Division), और (स) निस्तारण विभाग (Liquidation Division)।

रिजर्व बैंक के कार्य (Functions of the Reserve Bank)

रिजर्व बैंक, देश के केन्द्रीय बैंक के रूप में, निम्नलिखित कार्य करता है -

(१) नोट प्रकाशन का कार्य,
(२) सरकार का बैंक के कार्य,
(३) विनिमय स्थिरता का कार्य,
(४) बैंको के बैंक का कार्य,
(५) साख नियन्त्रण का कार्य,
(६) साधारण बैंको के कार्य,
(७) कृषि-वित्त व्यवस्था।

(१) **नोट प्रकाशन**—रिजर्व बैंक नोट प्रकाशन का कार्य अपने निकासीविभाग द्वारा करता है। इस विभाग को कागजी मुद्रा की सुरक्षा के लिए एक सुरक्षित कोष रखना पडता है, जिसका ४० % सोने के सिक्को, सोने या विदेशी प्रतिभूतियों मे, रखना पडता है। इसके अतिरिक्त ४० करोड रुपए के मूल्य के सोने के सिक्के, या सोने की छडे अवश्य ही कोष मे होने चाहिए। कोष का ६० % रुपयो, सरकारी प्रतिभूतियो, स्वीकृत व्यापारिक बिलो और प्रतिज्ञा-पत्रो मे होना चाहिए। रिजर्व बैंक के पास २), ५), १०), १००), ५००), १,०००) के नोट छापने का एकाधिकार है। जहाँ तक नोट प्रकाशन का सम्बन्ध है, रिजर्व बैंक का कार्य काफी सतोषजनक रहा है। जैसे कि नीचे की तालिका से विदित है, सोने के सिक्के और सोने की धातु कभी भी ४० करोड रुपये से कम नही हुए हैं।

Reserve Bank of India : Issue Department

Average of Friday Figures	LIABILITIES		Total Liabilities or Assests	ASSETS				4 & 5 as Percentage of (3)
	Notes in Circulation	Notes held in the Banking Deptt		Gold Coin & Bullion†	Foreign Securities	Rupee Coin **	Rupee Securities	
	1*	2	3*	4 †	5	6	7	8
1950-51	1,16,321	17,19	1,180,40	40,02	624,70	57,21	458,47	56.31
1951-52	1,189,14	27,78	1,217,62	40,02	625,27	63,98	488,36	54.64
1952-53	1,114,84	27,87	1,142,72	40,02	564,40	80,22	458,08	52.89
1953-54	1,133,95	23,03	1,156,97	40,02	594,02	92,83	430,11	54 80
1954-55	1,196,19	22,98	1,219,18	40,02	648,81	102,26	428,09	56.50

(In lakhs of Rupees)

(In lakhs of Rupees)

* Including Rs. 43 crores of India notes retired from circulation in Pakistan and awaiting cancellation.
\+ Valued at the Statutory rate of Rs. 21-3-10 per tola.
** Including one Rupee notes.

वास्तव मे सन् १९४७-४८ में सोने के सिक्के, सोने की धातु और विदेशी प्रतिभूतियो का प्रतिशत बहुत ऊँचा था अर्थात् ९३ ८५ था, और रुपयों की प्रतिभूतियो भी २५ प्रतिशत से अधिक नही थी, परन्तु इसी वर्ष के बाद सोने और विदेशी प्रतिभूतियो का प्रतिशत गिरता गया और रुपयो की प्रतिभूतियां बढती गई, फिर भी वह प्रतिशत ४० से ऊपर ही रहा। नोट प्रकाशन के सम्बन्ध में एक बहुत ही गम्भीर दोष यह है कि नोटो की मात्रा सन् १९५२-५३ में गिर कर १९५४-५५ मे फिर बढ गई है।

(२) **सरकार के बैंक के कार्य**—रिजर्व बैंक केन्द्रीय व राज्य सरकारों के बैंकर के कार्य सम्पन्न करता है। सरकार की सभी आय इसी बैंक में जमा की जाती है, परन्तु वह उन पर कुछ भी ब्याज नही देता। भारतीय लोक ऋणों (Public debts) की व्यवस्था भी यह ही करता है। सरकारी कोषो को एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजता है, और सरकार की ओर से भुगतान भी करता है। इस के अतिरिक्त, यह ९० दिन से अधिक अवधि के लिए सरकारो को ऋण नही देता।

(३) **विनिमय दरों की स्थिरता बनाये रखना**—रिजर्व बैंक रुपये के बाह्य मूल्य को स्थिर बनाये रखने का प्रयत्न करता है। स्वतन्त्रता से पूर्व देश मे रुपए की विनिमय दर १ शि० ६ पैंस थी और रिज़र्व बैंक इसी दर को स्थिर रखने का प्रयत्न करता था परन्तु सन् १९४७ के बाद, अब रिजर्व बैंक विदेशी विनिमय-दर को समय-समय पर सरकार के आदेशानुसार निर्धारित करता है।

(४) **बैंकों के बैंक का कार्य**—रिज़र्व बैंक देश का केन्द्रीय बैंक है। यह देश की बैंकिंग प्रणाली पर समुचित नियन्त्रण रखता है। यह जनता के हितो की रक्षा के हेतु देश की सारी अनुसूचित बैंको के माँग-दायित्वो का ५% और समय-दायित्वो का २% अपने पास जमा करवाता है। समय-समय पर उनसे रिपोर्ट माँगता है और उनसे उनके लेखो का पूर्ण विवरण भी माँगता है। यह बैंको के लेखो का निरीक्षण कर सकता है, उन्हे ऋण देता है, उनके साख निर्माण पर उचित आदेश देता है और उनकी अनुचित क्रियाओं को रोक सकता है। यह बैंको के पारस्परिक भुगतानो को सुविधाजनक बनाने के लिए निकास-गृहो का प्रबन्ध करता है।

(५) **साख नियन्त्रण का कार्य**—साख नियन्त्रण के हेतु रिजर्व बैंक लगभग प्रत्येक क्रिया को अपनाता है, परन्तु अधिकतर वह बैंक दर को नीति, खुले बाजार की क्रियाओं और वैधानिक अधिकारो का उपयोग करता है। असाधारण परिस्थितियो मे रिज़र्व बैंक बिलो को बिना अनुसूचित बैंको के हस्ताक्षर के भुनाता, खरीदता और बेचता है, और साख नियन्त्रण की इसी रीति का उसने अधिकतर उपयोग किया है और पूरा-पूरा लाभ भी उठाया है। परन्तु इस नीति का सप्रभाविक उपयोग करने में उसको अनेको बाधाओं का सामना करना पडता है। प्रथम, मुद्रा बाजार अभी एक अविकसित अवस्था मे है, दूसरे, रिज़र्व बैंक केवल कुछ ही प्रकार की प्रतिभूतियो का क्रय-विक्रय कर सकता है और क्योंकि वह अधिकाश मे सरकारी प्रतिभूतियाँ होती है, इसलिए उनका क्रय-विक्रय केवल सीमित मात्रा मे ही करता है क्योंकि उससे सरकार की साख नष्ट होने का डर रहता है।

(६) **साधारण बैंक के कार्य**—रिजर्व बैंक जनता से जमा के रूप में धन प्राप्त करता है और इन पर कोई व्याज नहीं देता। यह विनिमय बिलों और प्रतिज्ञा-पत्रों को दुबारा भुनाने की सुविधाएँ प्रदान करता है, परन्तु केवल इसी शर्त पर कि उनकी परिपक्वता अवधि तीन माह से अधिक न हो और उन पर दो हस्ताक्षर हों, जिनमें एक किसी अनुसूचित बैंक के हस्ताक्षर होना अनिवार्य है। यह उन कृषक बिलों को जिनकी परिपक्वता अवधि १५ माह हो, भुनाता है परन्तु उन पर भी दो हस्ताक्षर होना अनिवार्य है—एक अनुसूचित बैंक के और दूसरा राज्य सहकारी बैंक के। यह बैंक विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय भी करता है। यह विभिन्न सरकारों, राज्य सरकारी बैंकों और अनुसूचित बैंकों को ९० दिन के लिए ऋण देता है।

(७) **कृषि-वित्त व्यवस्था**—रिजर्व बैंक अपने कृषि साख विभाग द्वारा कृषि की उन्नति के हेतु विशेषज्ञों की सेवाएँ और वित्तीय सहायता प्रदान करता है। यह विभिन्न राज्य सरकारों और राज्य सहकारी बैंकों को समय-समय पर सलाह देता है। पिछले तीन वर्षों में यह विभाग कृषि साख की व्यवस्था के लिए कार्य करता है, उससे पहले यह केवल रिपोर्ट ही प्रकाशित करता था।

रिज़र्व बैंक और इम्पीरियल बैंक का सम्बन्ध

सन् १९३४ के रिजर्व बैंक एक्ट के अनुसार, इम्पीरियल बैंक की शाखाओं को जिन-जिन स्थानों पर रिज़र्व बैंक की शाखायें नहीं थीं, रिजर्व बैंक का एजण्ट नियुक्त कर दिया गया था, और इस के बदले में इम्पीरियल बैंक को कुछ कमीशन मिलता था। सन् १९५० के बाद कमीशन की दर इस प्रकार थी—

	करोड रु० में	कमीशन की दर
प्रथम पाँच वर्षों मे	१५० करोड रु० तक	$\frac{1}{16}$%
	१५०–३०० ,,	$\frac{1}{32}$%
	३००–१,२०० ,,	$\frac{1}{64}$%
	१,२०० से ऊपर करोड़	$\frac{1}{128}$%

इम्पीरियल बैंक के सहयोग का ही परिणाम है कि रिजर्व बैंक इतनी सुविधापूर्वक बैंकिंग प्रणाली पर नियन्त्रण कर रहा है। अब इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण हो चुका है, तो यह आशा की जाती है कि अब देश की बैंकिंग प्रणाली भविष्य में और भी अधिक सुसगठित हो जायगी।

रिज़र्व बैंक की साख-नियन्त्रण की व्यावहारिक नीति

पहले ही बताया जा चुका है कि रिज़र्व बैंक साख नियन्त्रण के हेतु उन सभी

रीतियो को अपनाता है जो कि किसी भी देश की केन्द्रीय बैंक को अपनानी चाहिए। इनका विवरण निम्नप्रकार है—

बैंक दर की नीति—भूतकाल मे मुद्रा बाज़ार के सगठित न होने के कारण यह नीति सफल न हो सकी थी और उसको ३ प्रतिशत पर ही स्थिर बनाये रखने के लिए बाध्य होना पड़ा था। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् मुद्रा सकुचन के हेतु ससार के प्रत्येक देश ने बैंक दर की नीति को सामान्य रूप से अपनाया था। १५ नवम्बर सन् १९५१ को रिज़र्व बैंक ने भी बैंक-दर को बढाकर ३% से ३½% कर दिया। इसके अतिरिक्त इस नीति को सफल बनाने के लिए, रिज़र्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को वित्तीय सहायता प्रदान करने की नीति को भी बदल दिया था। पहले बैंक ऋण-पत्र बाजार भाव पर बेचकर और सरकारी प्रतिभूतियो और स्वीकृत बिलो को भुनाकर सस्ती ब्याज की दर पर ऋण प्राप्त कर लेती थी—परन्तु अब बैंक दर बढाने के बाद मे यह घोषित कर दिया कि अब वह ऋण-पत्र नही खरीदेगा और सरकारी प्रतिभूतियो पर भी ऋण बैंक-दर के अनुसार देगा। इस नीति से निम्न लाभ हुए है—पहला, बैंक-दर की सप्रभाविकता बढ गई है। यह इससे स्पष्ट हो जाता है कि इम्पीरियल बैंक ने तुरन्त ही अपनी सभी ब्याज की दरो में ½% की वृद्धि कर दी थी। दूसरे, व्यस्त व्यावसायिक काल के अन्त में प्रतिभूतियाँ वापस आ जायँगी और स्वय ही मुद्रा-सकुचन हो जायगा। तीसरे, इस रीति के प्रयोग से रिज़र्व बैंक ने बैंकिंग प्रणाली पर अच्छा नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है।

परन्तु इतने लाभो के साथ-साथ निम्न हानियाँ भी हुई है —

(१) खुले बाजार की क्रियाओ के सप्रभाविक होने के लिए यह आवश्यक है कि उनको गुप्त रक्खा जाय, परन्तु इस नीति से यह सम्भव नही हो पाता और इस प्रकार खुले बाज़ार की क्रियाओ का प्रभाव समाप्त हो जाता है।

(२) इस रीति के अपनाते ही सरकारी प्रतिभूतियो के मूल्य मे ५ ३% की कमी हो गई थी। इस प्रकार के परिवर्तन सरकारी प्रतिभूतियो के मूल्य में उपयुक्त नही।

(३) इस रीति से बैंको को कष्ट बहुत होता है, जिससे बैंकिंग प्रणाली के विकास में बाधा पडती है।

खुले बाज़ार की क्रियाएँ—इसका विवरण हम पहले दे चुके है।

सीधा लेन-देन—रिज़र्व बैंक एक्ट मे रिज़र्व बैंक को भी यह अधिकार दिया गया है कि वह प्रत्यक्ष रूप से अर्थात् बिना अनुसूचित बैंको के हस्ताक्षर के ही, सरकारी प्रतिभूतियो, बिलो, प्रतिज्ञा-पत्रो और विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय जनता से कर सकता है। इस अधिकार का यद्यपि रिज़र्व बैंक ने अधिक उपयोग नही किया है, परन्तु बैंको पर इसका अच्छा प्रभाव पडता है।

नकद कोष—रिज़र्व बैंक व्यापारिक बैंको के नकद कोषो के प्रतिशत मे भी परिवर्तन करके साख पर नियन्त्रण कर सकता है। परन्तु इसका उपयोग अभी तक नही हुआ है।

प्रत्यक्ष कार्यवाही—रिज़र्व बैंक को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह बैंकिंग कम्पनियो को व्यवसाय करने से रोक सकता है, उनको सलाह दे सकता है और किसी भी

समय निरीक्षण कर सकता तथा अपने सुझावों का पालन करने के लिए आदेश दे सकता है।

साख राशनिंग—जनहित के लिए रिज़र्व बैंक किसी भी समय किसी बैंक की भी ऋण-नीति को निर्धारित कर सकता है, और उसका पालन उसे करना होगा।

प्रचार (Publicity)—क्योंकि भारत में व्यापारिक बैंक रिज़र्व बैंक से बहुत कम मात्रा में ऋण लेते हैं इसलिए इस रीति का बहुत कम क्षेत्र है।

यद्यपि रिज़र्व बैंक के पास साख नियन्त्रण सम्बन्धी सभी हथियार है, फिर भी वह सफल नही हो पाया है। इसके निम्न कारण हैं —

(१) सुव्यवस्थित मुद्रा तथा बिल बाजार की कमी।

(२) मजदूरी, मूल्य आदि के विभिन्न नियन्त्रणों के कारण देश के आर्थिक ढाँचे मे लोच का भारी अभाव है।

(३) भारतीय बैंकिंग प्रणाली सुसगठित नही है और खुले बाजार की क्रियाओं की शक्ति उसके बैंकिंग विभाग की सम्पत्ति द्वारा निर्धारित होती है।

(४) देशी बैंकरो की उपस्थिति।

(५) सरकारी प्रतिभूतियों की दर इतनी नीची है कि बैंक उनको बेचना ऋण लेने की अपेक्षा अधिक अच्छा समझते हैं।

रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण

१ जनवरी, सन् १९४९ को रिज़र्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हो गया था। यह राष्ट्रीयकरण निम्न कारणों के आधार पर किया गया था —

(१) वास्तव मे रिज़र्व बैंक पहले से ही एक सरकारी बैंक का कार्य कर रहा था, और जनता को इसका ज्ञान नही था, परन्तु युद्धकाल में यह छुपा न रह सका। इसलिए सरकार ने इस स्थिति को एक वैधानिक रूप दे दिया, ताकि जनता मे किसी प्रकार का सदेह न उत्पन्न हो।

(२) रिज़र्व बैंक के हिस्सो के बढते हुए केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए राष्ट्रीयकरण किया गया था।

(३) देश की आर्थिक योजनाओं की सफलता भी इसी पर निर्भर रहती है कि सरकार और केन्द्रीय बैंक मे घनिष्ठ सम्पर्क रहे। इस दृष्टिकोण से भी यह उचित था।

(४) अत मे ससार के सभी देशो मे केन्द्रीय बैंकों के राष्ट्रीयकरण की एक लहर सी दौड़ गई थी, इसलिए इसका भी राष्ट्रीयकरण कर लिया गया था।

परन्तु राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में भी बहुत कुछ कहा गया है।

(१) सन् १९४८ मे भारत सरकार ने जो राष्ट्रीयकरण की अपनी नीति घोषित की थी, उसमें अब परिवर्तन हो चुके थे और इस लिए केवल रिज़र्व बैंक का ही राष्ट्रीयकरण करना उचित नही था। सारी बैंकिंग प्रणाली ही आर्थिक नियोजन को सफल बनाने में सहायक होगी, इसलिए सारी बैंकों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए।

(२) रिज़र्व बैंक अब अनुभवी व्यापारियों की सेवाओं से वंचित है क्योंकि अब सभी सदस्यों की नियुक्ति सरकार द्वारा होती है और इन सदस्यों को वित्त-सम्बन्धी समस्याओं का पूर्ण ज्ञान नहीं होता।

(३) सम्भव है कि भविष्य में रिज़र्व बैंक राजनैतिक प्रभावों से न बच सके।

रिज़र्व बैंक के कार्यों पर एक दृष्टि

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि रिज़र्व बैंक ने केन्द्रीय बैंक के सारे कार्यों को सम्पन्न करने का प्रयत्न किया और वह सफल भी हुई। कुछ कार्यों में तो उसको सम्पूर्ण सफलता प्राप्त हुई और कुछ में वह समुचित सफलता प्राप्त न कर सकी। यह कार्य निम्नलिखित हैं —

(१) रिज़र्व बैंक रुपये का आन्तरिक मूल्य स्थिर नहीं रख पाया है। दूसरे, युद्ध में जो मुद्रा प्रसार की नीति उसने अपनाई थी, उसके घातक परिणामों से अभी तक देश को छुटकारा नहीं मिल सका है। परन्तु वास्तव में सारा दोष रिज़र्व बैंक ही का नहीं था। उस समय भारत में विदेशी सरकार थी, जिसने रिज़र्व बैंक एक्ट की सारी धाराओं का दुरुपयोग किया था।

(२) इसके अतिरिक्त रिज़र्व बैंक देश की बैंकिंग प्रणाली को विकसित और सुसंगठित बनाने में भी असमर्थ रहा है। मुद्रा बाजार के विभिन्न अंगों में आज भी सहयोग का भारी अभाव है और आज भी एक-दूसरे से प्रतियोगिता कर रहे हैं। देश में अन्य छोटे-छोटे बैंक, सहकारी साख समितियाँ और देशी बैंकर आज भी हैं, जिन पर यह नियन्त्रण प्राप्त नहीं कर सका है।

(३) रिज़र्व बैंक देश में एक सुव्यवस्थित बिल बाजार को विकसित करने में भी सफल नहीं हो सका है। यह बैंकों को दुबारा भुनाने की सुविधाएँ बहुत थोड़ी ही मात्रा में प्रदान कर सका है।

(४) भारतीय मुद्रा बाजार के ब्याज की दरों की भिन्नता को भी यह दूर नहीं कर सका है।

(५) कृषि-साख की उचित व्यवस्था करने में भी यह असमर्थ रहा है और जो संस्थाएँ देश में कृषि साख प्रदान करती हैं, उन पर भी पूर्ण नियन्त्रण प्राप्त नहीं कर पाया है।

यह सत्य है कि रिज़र्व बैंक कुछ कार्यों में केवल अंशतः सफलता प्राप्त कर सका है, फिर भी उसका कार्य सराहनीय है। रिज़र्व बैंक को अंशतः सफलता उन परिस्थितियों के कारण हैं, जिनमें वह कार्य कर रहा है। उसकी कार्य-विधि में हमको कोई दोष नहीं मिलता और देश के दूषित वातावरण के ही कारण, उसके अनेकों प्रयत्न विफल रहे हैं। इसने देश के विभाजन और रुपए के अवमूल्यन जैसी महान् घटनाओं के दुष्परिणामों से देश को बचाया है। भविष्य में इसके कार्य अधिक सफल हो सकेंगे, क्योंकि अब इसका राष्ट्रीयकरण हो गया है और क्योंकि अब राज्य बैंक (भूतपूर्व इम्पीरियल बैंक) इसी का एक अंग हो गया है, जो कृषि साख व्यवस्था और देश में बैंकिंग प्रणाली को विकसित होने में

सहायता देगा और अब अपनी ही सरकार है, जो रिजर्व बैंक विधान का देश के अहित में प्रयोग नहीं करेगी। इसके अतिरिक्त आर्थिक नियोजन काल में रिजर्व बैंक ने बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य किया है। द्वितीय योजना काल में १,२०० करोड़ रुपया (जो अब ८०० करोड़ रुपए कर दिया गया है) की घाटे की व्यवस्था (Deficit Financing) तथा विदेशी-विनिमय की कमी के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था पर जो खिंचाव पड़ेगा उसमें रिजर्व बैंक को और भी महत्वपूर्ण कार्य करने होंगे। अन्त में ग्राम्य वित्त (Rural Finance) के क्षेत्र में भी रिजर्व बैंक ने बहुत उपयोगी व महत्वपूर्ण कार्य किये हैं।

चौबीसवां अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

(International Trade)

परिचय

पिछले अध्यायों में हमने उन समस्याओं का विवेचन किया है जो एक देश विशेष के अन्तर्गत वस्तुओं और सेवाओं के विनिमय से उत्पन्न होती हैं। अब हम उन समस्याओं का अध्ययन करेंगे, जो दो देशों के विभिन्न मनुष्यों में वस्तुओं और सेवाओं से होने वाले विनिमय मे उत्पन्न होती हैं। साधारणतया, विनिमय के सिद्धान्त हर स्थान पर समान रहते हैं, चाहे विनिमय एक देश की भौगोलिक सीमा के अन्तर्गत हो या दो देशों के बीच। परन्तु आजकल इन सिद्धान्तो में भी अन्तर आ गया है। आजकल यह आवश्यक नही कि विनिमय में दोनो देशो को लाभ हो, बल्कि विनिमय राजनैतिक परिस्थितियों और समझौतो के आधार पर होता है।

देशी और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेद

एक ही देश मे होने वाले विनिमय को आर्थिक शब्दो में देशी व्यापार या अन्तर-स्थानीय व्यापार (Internal or Inter-local trade) कहते हैं, उदाहरणार्थ, यदि बम्बई और मद्रास के रहने वालो के बीच व्यापार हो तो उसे देशी व्यापार कहते हैं। जब व्यापार दो देशो, जैसे, भारतवर्ष और अमेरिका के बीच होता है, तो उसे विदेशी या अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहते हैं। अर्थात् देशी व्यापार एक ही राष्ट्र के विभिन्न स्थानो में होने वाले व्यापार को कहते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, दो राष्ट्रों के बीच होने वाले व्यापार को कहते हैं। राष्ट्र साधारणतया उस क्षेत्र को कहते हैं जहाँ के रहने वालो में बोली, रहन-सहन अथवा धर्म की समानता हो और जो राजनैतिक क्षेत्र मे एक ही राज्य के शासन में रहते हो। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से दोनो प्रकार के व्यापारो मे कोई भिन्नता दृष्टिगोचर नही होती, परन्तु व्यावहारिक जीवन मे इन दोनो मे काफी भेद मिलता है। अर्थशास्त्र का हर विद्यार्थी इस बात को जानता होगा कि विनिमय के दो आधार होते हैं—विशिष्टीकरण और श्रम-विभाजन (Specialisation and Division of Labour)। देशी अथवा विदेशी—दोनों ही व्यापारो का आधार विनिमय है। दूसरे शब्दो में जिस प्रकार विभिन्न व्यक्तियो मे काम करने की शक्ति, क्षमता और रुचि भिन्न-भिन्न होती है, इसी प्रकार भौगोलिक, प्राकृतिक, आर्थिक या राजनैतिक कारणों से विभिन्न देशो की विभिन्न वस्तुओं की उत्पादन-शक्ति भी भिन्न-भिन्न होती है। एक देश एक वस्तु का उत्पादन अधिक अच्छा और सस्ता कर सकता है, जब कि दूसरे देश में शायद उस वस्तु की उत्पत्ति ही न हो सकती हो। इस प्रकार ठीक विनिमय करने वाले

व्यक्तियों की भांति, उपरोक्त उदाहरण में दूसरा देश, पहले देश से उस वस्तु को मँगायगा जिसे वह स्वयं नहीं बना सकता, या जिसकी उत्पत्ति के लिए उसके पास पर्याप्त साधन नहीं है या जिसका उत्पादन राष्ट्रीय हित में नहीं होता। कहने का तात्पर्य यह है कि दोनों प्रकार के व्यापारो में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से कोई अन्तर नही दीखता; परन्तु फिर भी एडम स्मिथ, रिकार्डो और अन्य प्राचीन आंग्ल अर्थ-शास्त्रियों ने दोनों में भेद बताये हैं। यह भेद निम्नप्रकार है :—

(१) **श्रम और पूँजी की गतिशीलता** (Mobility of Labour and Capital)—एक देश में श्रम और पूँजी सुगमता से एक स्थान से दूसरे स्थान को आ-जा सकते हैं, किन्तु भिन्न-भिन्न देशों के बीच यह गतिशीलता इतनी सरल नहीं होती। देश के अन्दर श्रम और पूँजी के गतिशील होने का मुख्य परिणाम यह होता है कि देश में हर स्थान पर मजदूरी और ब्याज की दर समान रहती हैं, जिसके फलस्वरूप उत्पादन-व्यय भी समान रहता है। मजदूरों के भिन्न-भिन्न देशों में गतिशील न होने के कई कारण हो सकते हैं। एडम स्मिथ ने कहा है कि "सभी प्रकार के सामानों में मनुष्य का एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजना सब से अधिक कठिन है।"[१] लोग आसानी से अपने देश को छोड़ कर बाहर जाना नहीं चाहते, चाहे उन्हें कितनी ही अधिक मजदूरी क्यों न मिले। वास्तव में भाषा, रीति-रिवाज, धर्म, सामाजिक और राजनैतिक परिस्थितियों में इतनी भिन्नता होती है कि मनुष्य को अपना घर छोड़ने की रुचि ही नहीं होती। यह सच है कि श्रम-गतिशीलता विभिन्न देशों में बहुत कम होती है, परन्तु पूँजी की गतिशीलता श्रम की अपेक्षा अधिक होती है। लोग पूंजी को भी अपने देशमें ही लगाना अधिक अच्छा समझते हैं और जब तक उन्हें देश में विनियोग के अवसर प्राप्त होते रहते हैं, वे विदेशों में विनियोग करने की सोचते भी नहीं, क्योंकि वे विदेशी विनियोगों की अपेक्षा देशी विनियोगों को अधिक सुरक्षित समझते हैं।

गतिशीलता के इस अभाव के कारण विभिन्न देशों में एक ही वस्तु का उत्पादन-व्यय प्रतिस्पर्धा (competition) के अभाव में भिन्न-भिन्न होता है। जिस देश में वस्तु का उत्पादन व्यय अधिक होता है, वह वस्तु को उस देश से मँगाता है जिसमें उत्पादन-व्यय अपेक्षाकृत कम होता है। इस गतिशीलता के अभाव का एक और परिणाम होता है—एक देश के अन्दर मूल्य दीर्घकाल में उत्पादन-व्यय के बराबर होने की प्रवृत्ति रखता है, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में ऐसा नहीं होता।

कुछ अर्थशास्त्री इस मत से सहमत नहीं हैं, क्योंकि उनका विचार है कि जिस प्रकार श्रम और पूँजी एक देश के अन्दर पूर्णतया गतिशील नहीं होते, उसी प्रकार विभिन्न देशों में यह पूर्णतया अगतिशील भी नहीं होते। दूसरे शब्दों में प्रतियोगिता-रहित समूह (non-competing groups) जैसे विभिन्न देशों में होते हैं, उसी प्रकार एक देश में भी होते हैं, परन्तु एक देशमें श्रम और पूँजी के गतिशील होने के कारण ऐसे समूह नष्ट हो

१—"Of all sorts of luggage, man is the most difficult to be transported." —Adam Smith

जाते हैं, जब कि विभिन्न देशों में वे शक्तिमान होते जाते हैं। इसलिए इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार दोनों प्रकार के व्यापारों में केवल अंश का ही भेद है।

(२) **भौगोलिक स्थिति तथा प्राकृतिक साधनों की भिन्नता**—जब कि एक देश की जलवायु, खनिज पदार्थ, भूमि की बनावट आदि लगभग समान रहते हैं, विभिन्न देशों में इनमें भारी भिन्नता रहती है। यदि किसी देश में जलवायु और भूमि की बनावट अच्छी है तो वह कृषिप्रधान देश हो जाता है और किसी देश में जब खनिज पदार्थों की मात्रा अधिक होती है, तो वह औद्योगिक देश बन जाने की प्रवृत्ति रखता है। इस प्रकार भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक साधनों का किसी भी देश की उत्पादन-शक्ति पर बहुत गम्भीर प्रभाव पड़ता है। इन्ही पर उद्योगों का केन्द्रीयकरण (Localisation of Industries) और भौगोलिक श्रम-विभाजन (Geographical Division of Labour) निर्भर रहते हैं और यह ही मनुष्यों की कार्यक्षमता भी कुछ सीमा तक निर्धारित करते हैं, इन्ही पर देश का उद्योगीकरण और श्रम और पूंजी की गतिशीलता निर्भर होती है। परन्तु यह गतिशील नही है, अर्थात् यदि किसी देश की भौगोलिक स्थिति अच्छी है तो उसको किसी खराब भौगोलिक स्थिति वाले देश में नही ले जाया जा सकता। इसी प्रकार प्राकृतिक साधनों को भी हस्तान्तरित नही किया किया जा सकता। इनकी भिन्नता भी एक ही वस्तु के उत्पादन व्यय में विभिन्न देशों में भिन्नता उत्पन्न कर देती है।

(३) **उत्पादन अवस्थाओं की भिन्नता**—विभिन्न देशो में उत्पादन की अवस्थाएँ भी भिन्न-भिन्न होती हैं। यद्यपि प्रत्येक देश में उत्पादन सम्बन्धी आर्थिक नियम एक ही रहते हैं और उत्पादन के उद्देश्यो में भी कोई विशेष अन्तर नही आता, परन्तु फिर भी हर देश में सरकार स्वतन्त्र नीति का निर्माण करती है, भिन्न-भिन्न नियमों और कानूनो को बनाती है, यद्यपि इन नीति और कानूनो की प्रकृति और स्वभाव में कोई अन्तर नही होता। फिर भी उनको कार्यान्वित करने के ढग और परिस्थितियो में भारी भिन्नता होती है। परन्तु एक ही देश के अन्दर इस प्रकार की भिन्नता नही पाई जाती। सभी स्थानों पर और सभी मनुष्यों के लिए कानून समान होते हैं। सरकार की उत्पादन नीति भी एक ही रहती है, कर-नीति भी सब के लिए समान होती है, काम करने की अवस्थाओं में भी भिन्नता नही पाई जाती, सामाजिक सुरक्षा सम्बन्धी नियम, यातायात व अन्य लोक-सेवाओं की पूर्ति, व्यावसायिक कार्य-प्रणाली, आर्थिक व सामाजिक सस्थाएँ भी लगभग भिन्न नही होती। इसीलिए एक देश के भीतर उत्पादन व्यय भी समान रहता है, परन्तु विभिन्न देशो में आर्थिक शक्तियो की भिन्नता के कारण उत्पादन व्यय भी भिन्न हो जाता है।

(४) **मुद्रा-प्रणाली की भिन्नता**—भिन्न-भिन्न देशो में मुद्रा-प्रणाली भी भिन्न-भिन्न होती है। मुद्रा प्रणाली का देश की आर्थिक परिस्थितियों पर गहरा प्रभाव पडता है। देशी व्यापार में मुद्रा की समानता के कारण कोई भी समस्या उत्पन्न नही होती, परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में मुद्रा की असमानता अनेको कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देती है। प्रमुख समस्या एक देश की मुद्रा को दूसरे देश की मुद्रा के बदलने में उत्पन्न होती है,

अर्थात् मुद्राओं की विनिमय-दर कैसे निश्चित की जाय, फिर यह दर देश के मूल्य-स्तर के परिवर्तनों से भी प्रभावित होती है और इस पर देश के शोधनाधिक्य (Balance of Payment) की स्थिति का भी प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जटिल हो जाता है। केवल यह ही नहीं, हर देश अपनी आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ देख कर एक स्वतन्त्र मुद्रा-नीति अपनाता है और सामान्य मूल्य-स्तर को प्रभावित करता रहता है। मूल्यों के इन परिवर्तनों से ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की सम्भावना उत्पन्न हो जाती है और यह परिवर्तन अन्त में आयातों और निर्यातों की मात्रा को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार मुद्रा-प्रणाली की भिन्नता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेकों समस्यायें उत्पन्न कर देती है।

(५) **आयात और निर्यात व्यापार की बाधाएँ**—प्रत्येक देश अपने औद्योगिक व्यापारिक व विनिमय नियन्त्रण सम्बन्धी नीति को स्वतन्त्र रूप से निर्माण करता है और उसी के अनुसार कार्य करता है। इसलिए हर देश वस्तुओं और सेवाओं के निर्यात और आयात पर भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रतिबन्ध लगाता है। परन्तु देशी व्यापार में इस प्रकार के कोई भी प्रतिबन्ध नहीं होते। इस प्रकार आयात और निर्यात व्यापार स्वतन्त्रापूर्वक नहीं होता।

उक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की अपनी अनोखी समस्याएँ हैं और वे देशी या आन्तरिक व्यापार से बिल्कुल भिन्न हैं। इसीलिए अर्थशास्त्रियों का विचार है कि साधारण विनिमय सिद्धान्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए ठीक नहीं है। यद्यपि यह सच है कि श्रम और पूंजी गतिशील नहीं होते, उत्पादन-सम्बन्धी नियमों में भी अन्तर होता है, प्राकृतिक साधन और भौगोलिक दशाएँ भी एक नहीं होतीं और मुद्रा-प्रणाली में भी भिन्नता पाई जाती है, परन्तु यह सब दशाएँ आन्तरिक व्यापार में भी कभी-कभी उत्पन्न हो जाती हैं, इस लिए दोनों प्रकार के व्यापारों में केवल अंश का भेद है, कोई मौलिक भेद नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि ये दशायें अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अधिकता से मिलती हैं। इसलिए वह देशी व्यापार से भिन्न तो नहीं हो जाता, बल्कि उसका एक विशिष्ट रूप अवश्य हो जाता है जैसा कि ओहलिन (Ohlin) ने कहा है कि "अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल एक विशिष्ट दशा है, अन्तरस्थानीय व्यापार की।"[१]

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशायें

अब प्रश्न यह उठता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार किन दशाओं में होता है? यह सभी जानते हैं कि साधारण विनिमय का सिद्धान्त यह बताता है कि विनिमय में दोनों पक्षों को लाभ होता है। ठीक उसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भी दोनों पक्षों को लाभ होता है। परन्तु यह लाभ क्यों और किन दशाओं में होता है और लाभ की सीमा क्या होती है, इस सम्बन्ध में ये बड़े महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। यह लाभ इस कारण होता है कि

१—"International trade is only a special case of the inter-regional trade."—Inter-regional and International Trade by Ohlin P. 3.

विभिन्न देशो मे एक-सी ही वस्तुओ का उत्पादन-व्यय भिन्न-भिन्न होता है। एक देश केवल उन्ही वस्तुओ का उत्पादन करता है, जिनकी लागत दूसरे देशो की तुलना मे कम होती है और वह उसी वस्तु के उत्पादन मे विशिष्ट हो जाता है और अन्य वस्तुओ को वह दूसरे देशो से मंगाता है। इस प्रकार भौगोलिक श्रम-विभाजन और विशिष्टीकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दशायें उत्पन्न होती हैं और उत्पादन-व्यय के अन्तरों के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे लाभ होता है। सारांश में, उत्पादन व्यय या लागत के तुलनात्मक अन्तर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देते हैं।

रिकार्डो (Ricardo) और एडम स्मिथ (Adam Smith) ने इस विचार का प्रतिपादन किया था कि लागतो के तुलनात्मक अन्तर ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देते हैं। इन लेखको ने लागत को श्रम की इकाइयो से मापा था। उत्पादन-व्यय के अन्तर तीन प्रकार के होते हैं :—

(१) लागतो का पूर्ण अन्तर (Absolute Difference in Costs)।

(२) लागतों का समान अन्तर (Equal Difference in Costs)।

(३) लागतो का तुलनात्मक अन्तर (Comparative Difference in Costs)।

(१) लागतों का पूर्ण अन्तर (Absolute Difference in Costs)—लागतों के पूर्ण अन्तर से अभिप्राय उस स्थिति से है जब कि किसी देश को प्रत्येक वस्तु का उत्पादन-व्यय कम पड़ता है और उनका उत्पादन करना लाभदायक है। इस प्रकार उसे अन्य देशो की तुलना मे या देश की तुलना मे पूर्ण लाभ प्राप्त होता है। यह स्थिति उस समय उत्पन्न हो सकती है जब कि किसी देश-विशेष को या तो प्राकृतिक साधन, या प्रचुर मात्रा में अच्छा जलवायु, या भूमि की बनावट किसी वस्तु-विशेष के उत्पादन के लिए प्राप्त हो, और दूसरे देशो मे इन सब बातो का अभाव हो। ससार के सब देशों में भारत ही को पटसन के उत्पादन मे एकाधिकार, विभाजन से पहले प्राप्त था या अफ्रीका (Africa) को हीरो का या ब्राजील को कहवा का एकाधिकार प्राप्त है। इन देशो में अन्य देशो की तुलना में इन वस्तुओं का उत्पादन-व्यय कम होगा और इस लिए इन देशो को इन्ही वस्तुओ का उत्पादन लाभप्रद होगा और दूसरे देशो को इन देशो से इन वस्तुओ का मँगाना लाभप्रद होगा। दूसरे शब्दो मे इसको इस प्रकार स्पष्ट कर सकते है—जैसे, अफ्रीका मे हीरो का एकाधिकार है, इसका अर्थ यह नही कि भारत, अमेरिका आदि देशो में हीरे होते ही नही या भारत के अतिरिक्त पटसन, ब्राजील के अतिरिक्त कहवा और दूसरे देश उत्पन्न ही नही कर सकते। दूसरे देश भी इनका उत्पादन कर सकते हैं, परन्तु वह अधिक लागत पर होगा, क्योंकि उनके पास उत्पादन के साधनों की वह स्थिति नही है जो भारत और ब्राजील मे है। एक उदाहरण से यह स्पष्ट किया जा सकता है।

मान लिया कि भारत और पाकिस्तान दोनो ही देशो में पटसन और कपास उत्पन्न किया जा सकता है और उनका उत्पादन एक दिन के श्रम मे निम्न प्रकार है.

	पटसन	कपास
भारत मे	४ रु० मन	८ रु० मन
पाकिस्तान में	८ रु० मन	४ रु० मन

इस प्रकार भारत में पटसन का एक मन = कपास के दो मन के, और पाकिस्तान मे पटसन के दो मन = कपास के १ मन के। अर्थात्, यह व्यापार नही होता, तो भारत जितने श्रम से १ मन पटसन उत्पन्न करता है, उतने ही में २ मन कपास उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार पाकिस्तान जितने श्रम से २ मन पटसन उत्पन्न करेगा, उतने ही में १ मन कपास उत्पन्न करेगा। इस लिए श्रम लागत के अनुपात के आधार पर विनिमय-दर भारत में १ २ है और पाकिस्तान मे २ १ है। परन्तु व्यापार होने की दशा मे भारत और पाकिस्तान दोनो एक-एक वस्तु मे विशिष्टता प्राप्त कर लेगें—भारत कपास मे और पाकिस्तान पटसन में, इसलिए दोनों देशों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल तभी तक लाभ-प्रद होगा, जब कि भारत को २ मन कपास के बदले १ मन पटसन से अधिक और पाकिस्तान को २ मन कपास के बदले १ मन पटसन से अधिक मिलता रहेगा।

(२) **लागतो का समान अन्तर** (Relative difference in costs)—वास्तव मे व्यावहारिक जीवन मे लागत का पूर्ण अन्तर कम ही मिलते है, अधिकतर सापेक्षिक अन्तर मिलते हैं। पूर्ण अन्तर में तो देश उसी वस्तु का निर्यात करेगा जिसकी उत्पत्ति मे उसे पूर्ण लाभ प्राप्त है, और उन वस्तुओंका आयात करेगा जिनका उत्पादन व्यय अधिक होता है। साधारणत, हर देश सब वस्तुओं का उत्पादन कर सकता है, परन्तु कभी-कभी उत्पादन-व्यय इतना अधिक हो जाता है कि उसका उत्पादन लाभप्रद नही होता और तभी वे ऐसी वस्तुओं को विदेशों से मँगाते हैं। परन्तु ऐसा भी होता है कि किसी देश में एक वस्तु का उत्पादन-व्यय कम होते हुए भी उसका आयात करना लाभप्रद होता है। क्योंकि वह अन्य वस्तुओं मे विशिष्टता प्राप्त करके और भी अधिक लाभ उठा सकता है, अर्थात् उस वस्तु की उत्पत्ति न करने से जो साधनों की बचत होती है, उनका अन्य वस्तुओं के उत्पादन करने में उस वस्तु से भी अधिक लाभप्रद उपयोग कर सकता है। लागत के यह सापेक्षिक अन्तर या तो समान होते है या तुलनात्मक कम और अधिक होते हैं। समान अन्तर में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का होना असम्भव ही रहता है, क्योंकि किसी भी देश को व्यापार से लाभ नही होता। जैसे, भारत और पाकिस्तान के उदाहरण में एक दिन का श्रम लगाने पर

	पटसन	कपास
भारत मे	३ मन	६ मन
पाकिस्तान में	५ मन	१० मन

उक्त उदाहरण में भारत की पाकिस्तान की तुलना मे दोनों ही वस्तुओं की श्रम लागत अधिक है, फिर भी दोनों देशों के बीच व्यापार नही होगा, क्योंकि दोनो वस्तुओं का विनिमय अनुपात दोनों देशों मे समान है, अर्थात् १ : २। यदि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार हुआ भी, तो हानि होने की सम्भावना अधिक रहती है, क्योंकि माल के आने-

जाने का खर्चा और जुड जायगा। इस प्रकार लागतों के समान अन्तर की दशा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नही होगा।

(३) **लागतों का तुलनात्मक अन्तर** (Comparative difference in costs)—व्यावहारिक जीवन मे लागतों के तुलनात्मक अन्तर ही सम्भव होते है और वे ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को जन्म देते है। इसी दशा में व्यापार लाभदायक भी होता है। जैसे यदि भारत और पाकिस्तान मे एक दिन के श्रम मे पटसन और कपास के उत्पादन की मात्रा निम्न प्रकार है तो :

	पटसन	कपास
भारत मे	२० मन	१० मन
पाकिस्तान मे	४ मन	४ मन

अर्थात् दोनो देशो मे पटसन और कपास के अनुपात यों होंगे

भारत मे	१ : ½
पाकिस्तान मे	१ : १

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे यदि भारत पटसन और पाकिस्तान कपास के उत्पादन मे विशिष्ट हो जाते है, तो दोनो देशो को व्यापार लाभप्रद होगा। जबकि भारत मे १ मन पटसन के बदले ½ मन कपास मिलती है और पाकिस्तान मे १ मन पटसन के बदले १ मन कपास मिलती है, तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे भारत को १ मन पटसन के बदले पाकिस्तान से ½ मन कपास से अधिक मिल सकता है, जिससे पाकिस्तान को भी कम कपास देकर उतना ही पटसन मिल सकता है जितना कि उसे घर पर मिलता है अर्थात् विनिमय अनुपात यों हो सकता है :

१ मन पटसन = ¾ मन कपास

अर्थात्, भारत को १ मन पटसन देने से ½ मन कपास से अधिक यानी ¾ मन कपास मिल जाता है—उधर पाकिस्तान को भी केवल ¾ मन कपास देने से १ मन पटसन भी मिल जाता है और ¼ मन कपास भी बच जाता है।

इस प्रकार लागत के तुलनात्मक अन्तर से व्यापार मे दोनो देशो को लाभ प्राप्त होता है, इसलिए भारत केवल पटसन का उत्पादन करेगा और निर्यात करेगा, और पाकिस्तान से कपास का आयात करेगा। पाकिस्तान केवल कपास का उत्पादन करेगा और पटसन का भारत से आयात करेगा और कपास का निर्यात करेगा। व्यवहार में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। इसको अर्थशास्त्रियो ने तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त के नाम से पुकारा है। अब हम इस सिद्धान्त की विवेचना तनिक विस्तार में करेंगे।

तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त (Law of comparative costs)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सम्बन्ध में तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त की व्याख्या सर्वप्रथम रिकार्डो ने की थी। उसके बाद अन्य प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने इसमे संशोधन किये, परन्तु वे भी इस सिद्धान्त का मूल आधार न बदल पाये थे। आधुनिक अर्थशास्त्रियो

ने अब इसमे बहुत सुधार कर दिये है। प्राचीन आंग्ल अर्थशास्त्रियों ने इस सिद्धान्त की रचना इस मान्यता पर की थी, कि देशी तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भारी अन्तर है। रिकार्डो का विचार था कि एक देश की भौगोलिक सीमाओ मे श्रम और पूँजी पूर्णरूप से गतिशील है, जिसके कारण लाभ की दर की प्रवृत्ति समान होने की रहती है। मजदूरी और ब्याज की दरो मे भी भिन्नता नही रहती, परन्तु दो देशो मे ब्याज, मजदूरी, लाभ, हरएक की दरो मे भिन्नता रहती है। इसको सिद्ध करने के लिए उसने एक उदाहरण दिया है—यद्यपि इगलैण्ड की अपेक्षा पुर्तगाल (Portugal) कपड़ा और शराब दोनो ही कम कीमत पर उत्पन्न कर सकता था, फिर भी पुर्तगाल के लिए तुलनात्मक लाभ अधिक होने के कारण शराब के उत्पादन पर ध्यान देना और इगलैण्ड से कपडे का आयात करना ही आवश्यक था। रिकार्डो का यह भी विचार था कि तुलनात्मक लागत केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को ही जन्म नही देती, बल्कि विदेशी विनिमय की दरो को भी निश्चित करती है।

रिकार्डो ने केवल उन्ही सीमाओ को बताया है, जिनमे व्यापार दोनो पक्षो को लाभदायक होता है। परन्तु मिल (Mill) ने इस विचार मे सशोधन किया और बताया कि जो सीमाएँ तुलनात्मक लागत द्वारा निश्चित होती हैं उनके बीच विनिमय की शर्तें एक देश की दूसरे देश की वस्तुओ की माँग की सापेक्षिक शक्ति द्वारा निर्धारित होती हैं, परन्तु उस समय, जब कि साम्य की स्थिति पर आयात निर्यात का भुगतान करते हैं, अर्थात्, जब आयात और निर्यात मे सतुलन होता है। यह सतुलन उसी समय स्थापित होता है जब कि सतुलन के अभाव मे सोने का प्रवाह एक स्थान से दूसरे स्थान को होने लगता है। परन्तु मिल का ध्यान इस ओर नही गया कि आयात और निर्यात का संतुलन एक से अधिक विनिमय-दर पर हो सकता है। कैरेन्स (Cairnes) ने रिकार्डो के विचार का खण्डन किया है। वह रिकार्डो के इस मत से सहमत नही कि श्रम और पूँजी एक देश के अन्दर गतिशील होते है। न तो वह उत्पादन के साधनो को एक देश के अन्दर पूर्ण रूप से गतिशील ही मानता है और न वह उनको विभिन्न देशो मे पूर्णरूप से अगतिशील ही मानता है। वह केवल देश के अन्दर और देश के बाहर श्रम और पूँजी की गतिशीलता मे केवल अशमात्र का अन्तर मानता है, अर्थात् बाहर की अपेक्षा देश के अन्दर गतिशीलता अधिक होती है। उसके अनुसार यदि इस मान्यता को हटा भी दिया जाय, तो तुलनात्मक लागत का सिद्धान्त तब भी अपने स्थान पर रहेगा। उसके अनुसार दो देशो के बीच विनिमय अनुपात उत्पादन-व्यय द्वारा निर्धारित होता है, जो वस्तुओं की सापेक्षिक माँग की शक्ति द्वारा निर्धारित होता है। इस प्रकार कैरन्स (Cairnes) ने भी तुलनात्मक लागत के सिद्धान्त को माना है।

आधुनिक मत

आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने इस सिद्धान्त मे कुछ सशोधन करके सुधारने का प्रयत्न किया है। यह सुधार निम्न प्रकार है :—

(१) रिकार्डो ने उत्पादन लागत की माप श्रम की इकाइयो मे की थी, परन्तु

आधुनिक अर्थशास्त्री इसकी माप मुद्रा में करते हैं। वे श्रम सिद्धान्त को न मान कर मूल्य के सामान्य सिद्धान्त को मानते हैं। वे तुलनात्मक लागत के स्थान पर सीमात लागत का प्रयोग करते हैं और उनका मत है कि जिन वस्तुओं का सीमात उत्पादन व्यय अन्य देशो की तुलना मे कम होता है, एक देश उन्ही वस्तुओ का निर्यात करता है, और उन वस्तुओ का आयात करता है जिनका सीमात उत्पादन व्यय अधिक होता है। दूसरे शब्दो मे एक देश ऐसी वस्तुओ का निर्यात करेगा, जिनकी उत्पत्ति के लिए प्रचुर मात्रा मे साधन उपलब्ध हैं और जिन वस्तुओ के उत्पादन के लिए साधन सीमित है, उनको आयात करेगा।

(२) प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन इस आधार पर किया था कि उत्पादन सदैव क्रमागत उत्पत्ति समानता नियम (Law of Constant Returns) के अन्तर्गत होता है और यातायात व्यय का कोई महत्व नही है। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियो ने इन मान्यताओं का खण्डन करते हुए इस बात पर भी ध्यान दिया है कि उत्पादन पर उत्पत्ति ह्रास नियम और वृद्धि नियम का भी प्रभाव पड़ता है और यातायात व्यय का भी।

(३) प्राचीन अर्थशास्त्रियो ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की केवल उन सीमाओ का उल्लेख किया था, जिनके अन्तर्गत व्यापार लाभदायक होगा। परन्तु वे यह नही बता सके कि निर्यात की वस्तुओ की कितनी इकाईयाँ आयात की वस्तुओं की कितनी इकाईयो के बदले मे दी जायँगी। रिकार्डो आदि लेखको का यह भी विचार था कि विनिमय दर देशो के मोल-भाव करने की शक्ति द्वारा निर्धारित होती है, परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्रियों के अनुसार विनिमय दर या व्यापार की शर्तें एक देश की वस्तुओं की दूसरे देश में कितनी माँग की लोच है, इस बात पर निर्भर रहती है।

(४) प्राचीन सिद्धान्त मे हाल ही मे एक और सशोधन हुआ है। आधुनिक लेखको ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के सिद्धान्त को अवसर-लागत (Opportunity cost) के सिद्धान्त पर आधारित करने का प्रयत्न किया है। तुलनात्मक लागत सिद्धान्त के अनुसार वस्तुओं की उत्पादन-लागत द्रव्य से सम्बन्धित नही होती, बल्कि वस्तुओ के उत्पादन में जिन साधनो का प्रयोग होता है उनकी मात्रा से सम्बन्धित होती है। प्रत्येक देश में किसी भी वस्तु का उत्पादन उससे सम्बन्धित साधनो की मात्रा पर निर्भर होता है, अर्थात् हर देश को यह मालूम करना पड़ता है, कि वह अपने साधनो से किस वस्तु की कितनी मात्रा का उत्पादन कर सकता है। यदि भारत पटसन की उत्पत्ति अन्य वस्तुओ की अपेक्षा अधिक लाभप्रद समझता है तो वह पटसन का उत्पादन बढाने के लिए अन्य वस्तुओं का उत्पादन कम करके उत्पत्ति के साधनो को पटसन के उत्पादन मे हस्तान्तरित करेगा। इस प्रकार अवसर लागत (Opportunity cost) या प्रतिस्थापन (Substitution) लागत के अनुपात का अन्तर ही एक देश को वस्तु-विशेष का उत्पादन करने और विशेषीकरण प्राप्त करके लाभ उठाने और परस्पर व्यापार करने के लिए बाध्य करता है। यदि भारत मे पटसन की एक मन की उत्पत्ति की अवसर लागत $\frac{1}{2}$ मन कपास के बराबर है और पाकिस्तान मे १ मन कपास की अवसर लागत $\frac{1}{2}$ मन पटसन

के बराबर है तो ऐसी स्थिति में दोनों देशों को व्यापार करने से लाभ होगा।

आधुनिक संशोधनों का उल्लेख प्रो० मीड (Prof. Meade) ने अपनी पुस्तक 'आर्थिक विवेचना और नीति' (Economic Analysis and Policy) में बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है, जिसका हिन्दी रूपान्तर निम्नलिखित है :—

"हमें देखना है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से कोई भी देश किस प्रकार अधिकतम लाभ प्राप्त करता है। मान लो कि इंगलैण्ड में एक डबल रोटी को बनाने की सीमान्त लागत ६ पैंस है और एक पौंड चाय उत्पादन करने की सीमान्त लागत २ शिलिंग है। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि इंगलैण्ड एक पौंड चाय कम पैदा करे, तो २ शिलिंग के मूल्य के उत्पादन के साधन खाली हो जायेंगे जिनसे ४ डबल रोटी का उत्पादन किया जा सकता है। इसी प्रकार मान लो कि फ्रांस में एक डबल रोटी का मूल्य ४ फ्रैंक है और १ पौंड चाय का मूल्य भी ४ फ्रैंक है। इसका अर्थ यह है कि फ्रांस में एक डबल रोटी बेच कर इतना पैसा मिल जाता है जिससे १ पौंड चाय खरीदी जा सके। अब यदि इंगलैण्ड १ पौंड चाय की जगह ४ डबल रोटी का उत्पादन करे, तो वह इन रोटियों को फ्रांस में बेच कर ४ पौंड चाय खरीद सकने योग्य पैसा प्राप्त कर लेगा। इस तरह इंगलैण्ड अपने यहाँ १ पौंड चाय कम पैदा करके ३ पौंड चाय अधिक प्राप्त कर सकता है। ऐसी हालत में इंगलैण्ड केवल डबल रोटी के उत्पादन में विशेष ध्यान देगा और विशेषीकरण प्राप्त करेगा और इसको फ्रांस में निर्यात करके वहाँ से इसके बदले चाय का आयात करेगा, क्योंकि इस प्रकार के व्यापार से वह अधिक चाय प्राप्त कर सकता है बजाय इसके कि वह अपने ही देश में उत्पादन के साधनों के कुछ भाग को डबल रोटी की जगह चाय के उत्पादन में लगाये।

"परन्तु इन परिस्थितियों में यह आवश्यक नहीं है कि इंगलैण्ड चाय का उत्पादन बिलकुल ही समाप्त कर दे। इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे इंगलैण्ड चाय का उत्पादन कम करके डबल रोटी का उत्पादन बढ़ायेगा, वैसे ही वैसे डबल रोटी का सीमांत उत्पादन मूल्य बढ़ेगा और चाय के उत्पादन की सीमान्त लागत कम होती जायेगी। इस तरह यदि ऐसी परिस्थिति आ जाय कि इंगलैण्ड में डबल रोटी के उत्पादन में सीमान्त लागत बढ़ कर १ शिलिंग हो जाय और चाय का सीमान्त उत्पादन मूल्य घटते-घटते १ शिलिंग हो जाय, तो १ पौंड चाय कम उत्पादित करने पर वह केवल १ डबल रोटी ही अधिक बना सकता है। और यदि फ्रांस में अब भी १ पौंड चाय और १ डबल रोटी का मूल्य ४ फ्रैंक है तो इंगलैण्ड अब प्रत्येक डबल रोटी के निर्यात के बदले १ पौंड चाय ही प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में इंगलैण्ड को चाय के बदले रोटी के उत्पादन में अधिक साधन जुटाने से कुछ भी लाभ नहीं होगा। इंगलैण्ड को तो डबल रोटी के निर्यात और चाय के आयात से तभी तक लाभ होगा, जब तक कि वहाँ पर चाय का सीमान्त उत्पादन मूल्य और डबल रोटी के मूल्य का अनुपात फ्रांस की चाय और डबल रोटी के सीमान्त उत्पादन मूल्य के अनुपात से अधिक होगा. . .।

"यहाँ पर एक नया प्रश्न यह उठता है कि इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किस देश को अधिक लाभ प्राप्त होगा? उक्त दोनों देशों के बीच होने वाले व्यापार

से जो लाभ होगा उसका विभाजन तो दोनो देशों की पारस्परिक व्यापार शर्तों (Terms of Trade) पर ही निर्भर करेगा, अर्थात्, इस बात पर कि इगलैण्ड अपनी प्रत्येक इकाई के निर्यात के बदले कितना आयात कर सकता है। दोनो देशो मे व्यापार सम्बन्ध स्थापित होने से पूर्व फ्रास में १ पौंड चाय का उत्पादन मूल्य १ डबल रोटी के उत्पादन मूल्य के बराबर था जबकि इगलैण्ड मे १ पौंड चाय का उत्पादन मूल्य ४ डबल रोटी के उत्पादन मूल्य के बराबर था। अब फ्रास और इगलैण्ड में व्यापार सम्बन्ध स्थापित होने से इंगलैण्ड डबल रोटी का निर्यात और चाय का आयात करने लगेगा तो इसमें उसको तब तक लाभ होगा जब तक कि वह प्रत्येक १ पौंड चाय के आयात में ४ डबल रोटी से कम निर्यात करेगा। इसी प्रकार फ्रास को भी तब तक लाभ होता रहेगा जब तक कि वह १ पौंड चाय के बदले मे १ डबल रोटी से अधिक प्राप्त करता रहेगा। इन देशों की पारस्परिक व्यापार की शर्ते (Terms of Trade) जिनके आधार पर उनको लाभ होगा, दो सीमाओ के बीच ही हो सकती है—१ डबल रोटी के बदले १ पौंड चाय और ४ डबल रोटी के बदले १ पौंड चाय। यदि १ पौंड चाय के बदले १ डबल रोटी प्राप्त हो जाती है तो इगलैण्ड को अधिक और फ्रास को कम लाभ होगा। दूसरी ओर यदि व्यापार की शर्ते इस तरह की है कि १ पौंड चाय के बदले ३½ डबल रोटी—तो फ्रास को इगलैण्ड की अपेक्षा अधिक लाभ होगा।

"इगलैण्ड और फ्रास के बीच व्यापार शुरू होने पर इगलैण्ड फ्रास को डबल रोटी का निर्यात करेगा और फ्रास इगलैण्ड को चाय का निर्यात करेगा। इगलैण्ड में जैसे-जैसे चाय की मात्रा बढेगी, वैसे-ही-वैसे उसका मूल्य गिरेगा, इसी प्रकार फ्रास मे डबल रोटी का आयात होने से इसका मूल्य गिरेगा। अब यदि जैसे-जैसे फ्रास मे डबल रोटी अधिक होती जाती है, तो फ्रास के लोग इसके लिए थोडा ही कम मूल्य देने को तैयार रहते हैं और यदि इगलैण्ड मे चाय अधिक होती जाती है तो अग्रेज चाय के लिए बहुत कम कीमत देने को तैयार रहते हैं—ऐसी परिस्थिति मे व्यापार की शर्ते इगलैंड के पक्ष मे होगी क्योकि यदि फ्रास मे डबल रोटी का मूल्य बहुत धीरे-धीरे कम होता हो और इगलैण्ड मे चाय का मूल्य बहुत तेजी से गिरता हो, इगलैण्ड प्रत्येक डबल रोटी फ्रास को निर्यात करने के बदले अधिक मात्रा मे चाय प्राप्त कर सकेगा।"

तुलनात्मक लागत सिद्धान्त का आधुनिक रूप

अब आधुनिक विचार-प्रणाली के आधार पर लागतो के अन्तर के उदाहरणो मे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन किया जायगा।

यह पहले ही बताया जा चुका है कि लागतो के अन्तर तीन प्रकार के होते है—(१) पूर्ण अन्तर, (२) समान अन्तर, और (३) तुलनात्मक अन्तर।

समान अन्तर मे तो व्यापार होगा ही नही, क्योकि इस दशा मे किसी भी देश को लाभ नहीं होगा, जैसा कि पहले बता चुके है। व्यापार केवल लागतो के पूर्ण और तुलनात्मक अन्तर की दशा मे ही लाभदायक होगा।

लागतों का पूर्ण अन्तर

भारत और पाकिस्तान पटसन और कपास उत्पन्न कर रहे हैं और उनकी सीमांत लागत इस प्रकार है

	पटसन	कपास
भारत	५ रु० मन	१० रु० मन
पाकिस्तान	१० रु० मन	५ रु० मन

मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार क्योंकि मूल्य, सीमान्त लागत के बराबर होता है, इसलिए भारत मे १ मन पटसन ½ मन कपास के बराबर होगा और पाकिस्तान में १ मन पटसन २ मन कपास के बराबर होगा, अर्थात् भारत में १ मन पटसन, ½ मन कपास के बदले में और पाकिस्तान में १ मन पटसन २ मन कपास के बदले में प्राप्त होगा। इस प्रकार भारत और पाकिस्तान मे क्रमश पटसन और कपास की लागत का अनुपात १ २ और १ ½ है। इस प्रकार भारत को पटसन और पाकिस्तान को कपास के उत्पादन करने में पूर्ण लाभ होगा। भारत, कपास पाकिस्तान से मँगायगा और पाकिस्तान, पटसन भारत से मँगायगा। इस प्रकार विनिमय उसी समय होगा, जब कि भारत को १ मन पटसन के बदले पाकिस्तान से १ मन कपास से अधिक मिलेगा और पाकिस्तान को १ मन कपास के बदले भारत से ½ मन पटसन से अधिक मिलेगा और तब ही यह विनिमय लाभप्रद होगा।

लाभ की मात्रा

हम उपरोक्त उदाहरण से अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभो को अब निश्चित कर सक्ते है। उस दशा में जब कि व्यापार नही होता और भारत और पाकिस्तान यदि उत्पत्ति के साधनो की दो-दो इकाइयाँ लगाते हैं तो

भारत में	१ मन पटसन + ½ मन कपास होगा
पाकिस्तान मे	१ मन पटसन + २ मन कपास होगा
दोनों देशो की कुल उत्पत्ति	२ मन पटसन + २½ मन कपास होगी

अब व्यापार की स्थिति मे भारत केवल पटसन और पाकिस्तान केवल कपास की उत्पत्ति मे विशिष्टता प्राप्त करेंगे, इसलिए साधनो की यदि दोनों इकाइयाँ एक ही वस्तु के उत्पादन के काम में लाये, तो,

भारत मे	—	२ मन पटसन
पाकिस्तान मे	—	४ मन कपास

दोनों देशो की कुल उत्पत्ति = २ मन पटसन + ४ मन कपास।

इस प्रकार व्यापार होने की दशा में (४ − २½) = १½ मन कपास का लाभ होगा। यह ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का लाभ होगा।

लागतों का तुलनात्मक अन्तर

व्यापार न होने की दशा में भारत और पाकिस्तान मे उत्पत्ति के साधनो की दो-

दो इकाइयाँ लगाने पर उत्पत्ति की लागत निम्न है :—

	पटसन	कपास
भारत मे	४ रु० मन	८ रु० मन
पाकिस्तान मे	२ रु० मन	३ रु० मन

कभी-कभी ऐसा होता है कि एक देश दूसरे देशो की तुलना मे कम उत्पादन व्यय पर भी वस्तुएँ उत्पन्न कर सकता है, फिर भी किसी एक वस्तु का उत्पादन दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा, अधिक सस्ता हो सकता है अर्थात् किसी एक वस्तु के उत्पादन से दूसरी वस्तुओ की अपेक्षा तुलनात्मक लाभ अधिक प्राप्त हो सकता है। इसी प्रकार दूसरे देश में सभी वस्तुएँ अधिक उत्पादन व्यय पर उत्पन्न होते हुए भी किसी एक वस्तु का उत्पादन अन्य वस्तुओं की अपेक्षा उसके लिए कम तुलनात्मक हानि प्रदान कर सकता है—इस प्रकार पहले देश को, (जो प्रत्येक वस्तु सस्ती उत्पन्न करता है) किसी एक वस्तु के उत्पादन से और वस्तुओ की तुलना मे अधिक तुलनात्मक लाभ प्राप्त होता है और दूसरे देश को (जो प्रत्येक वस्तु महँगी उत्पन्न करता है) किसी एक वस्तु के उत्पादन से, दूसरी वस्तुओ की तुलना मे कम तुलनात्मक हानि होती है। यह ही उक्त उदाहरण से स्पष्ट होता है। भारत की अपेक्षा पाकिस्तान मे पटसन और कपास दोनो ही वस्तुए सस्ती उत्पन्न होती हैं, फिर भी दोनो को किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करने से लाभ होगा।

उक्त उदाहरण मे यदि व्यापार नही होता तो :—

भारत में पटसन और कपास की विनिमय दर १ मन पटसन $\frac{१}{२}$ मन कपास के और पाकिस्तान में १ मन पटसन $\frac{२}{३}$ मन कपास के बदले में होगी। भारत और पाकिस्तान में पटसन और कपास की लागत का अनुपात क्रमश १ : २ और १ : १$\frac{१}{३}$ है। यद्यपि पाकिस्तान मे दोनो ही वस्तुए भारत की तुलना मे कम लागत पर उत्पन्न होती हैं किन्तु तुलनात्मक लाभ कपास की उत्पत्ति मे अधिक है और भारत में पाकिस्तान की अपेक्षा दोनो ही वस्तुएँ अधिक लागत पर उत्पन्न होती हैं, फिर भी तुलनात्मक हानि पटसन के उत्पादन मे कम है। अत भारत पटसन के उत्पादन में और पाकिस्तान कपास के उत्पादन में विशिष्टता प्राप्त करेगे और भारत, पाकिस्तान से कपास लेगा और पटसन पाकिस्तान को देगा। परन्तु यह व्यापार उसी समय तक लाभदायक होगा जब कि भारत को १ मन पटसन के बदले $\frac{१}{२}$ मन कपास से अधिक मिलता है और पाकिस्तान को $\frac{२}{३}$ मन कपास के बदले १ मन पटसन से अधिक मिलता है। यह ही भारत और पाकिस्तान के बीच विनिमय की सीमाएँ हैं और इन्ही के बीच विनिमय दर निर्धारित होगी, जिस पर एक-दूसरे देश की वस्तुओ की सापेक्षिक माँग और उत्पादन व्यय का प्रभाव पड़ेगा।

लाभ की मात्रा—जब व्यापार नही होता और दोनो देशो में से कोई भी किसी एक वस्तु में विशिष्टता प्राप्त नही करते, बल्कि दोनो वस्तुएं उत्पन्न करते हैं तो साधनों की दो-दो इकाई लगाने पर उत्पत्ति निम्न प्रकार है —

भारत में	१ मन पटसन + ० ५० मन कपास ($\frac{५}{१०}$)
पाकिस्तान में	१ मन पटसन + ०.६६ मन कपास ($\frac{४}{६}$)
दोनो देशों की कुल उत्पत्ति	२ मन पटसन + १.१६ मन कपास

यदि व्यापार होना है और भारत पटसन और पाकिस्तान कपास के उत्पादन में विशिष्ट हो जायँ तब साधनों की दोनों इकाइयाँ भारत केवल पटसन की उत्पत्ति पर और पाकिस्तान केवल कपास की उत्पत्ति पर लगाये तब उत्पत्ति इस प्रकार होगी —

भारत में २ मन पटसन

पाकिस्तान में १ ३२ मन कपास

दोनों देशों की कुल उत्पत्ति—२ मन पटसन+१ ३२ मन कपास होगी। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विशिष्टता के कारण १ ३२–१ १६=०.१६ मन कपास का लाभ होगा।

लाभ की मात्रा को प्रभावित करने वाली मुख्य बातें (Main Factors Affecting the Extent of Gain)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभ पर कई बातों का प्रभाव पड़ता है। मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं —

(१) **लागत के अनुपात का अन्तर**—ऊपर हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि लागत के अनुपातों के अन्तर पर ही लाभ की मात्रा निर्भर होती है। हैरोड (Harrod) का कथन है कि "एक देश को विदेशी व्यापार से उस समय लाभ होता है जबकि व्यापारियों को यह ज्ञान हो कि विदेशों में मूल्यों का एक ऐसा अनुपात प्रचलित है जो कि उनके देश के अनुपात से बहुत भिन्न है। वे वह खरीदते हैं जो कि उन्हें सस्ता लगता है और वह बेचते हैं जो उन्हें महँगा लगता है। जो उन्हें ऊँचे और नीचे चिह्न प्रतीत होते हैं, इनमें जितना अधिक अन्तर होगा और प्रभावित होने वाली वस्तुएँ जितनी अधिक महत्वपूर्ण होंगी, उतना ही व्यापार से लाभ अधिक होगा।"[१] अत लाभ का क्षेत्र उतना ही व्यापक होगा जितना कि लागतों के अनुपात का अन्तर अधिक होगा।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभ की मात्रा पर केवल वस्तुओं की तुलनात्मक लागत के अन्तर का प्रभाव ही नहीं पड़ता, बल्कि व्यापार की शर्तें भी उसको काफी सीमा तक प्रभावित करती हैं। व्यापार की शर्तों से हमारा अभिप्राय उन दरों से है, जिन पर कि एक देश दूसरे देश की वस्तुओं का आयात-निर्यात करता है। व्यापार की शर्तों पर एक देश की दूसरे देश की माँग की लोच का प्रभाव पड़ता है। दूसरे शब्दों में एक-दूसरे की वस्तुओं की सापेक्षिक माँग का प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि भारत पाकिस्तान से कपास मँगाता है और पाकिस्तान को पटसन भेजता है और भारत

१ "A country gains by foreign trade if and when the traders find that there exists abroad a ratio of prices very different from that to which they are accustomed at home They buy what to them seems cheap and sell what to them seems dear. The bigger the gap between what to them seems low point and high point and more important the articles affected, the greater will the gain from trade be"—vide International Economics by Harrod, p 34

की कपास के लिए माँग अधिक बेलोचदार (Inelastic) है, तब वह कपास प्राप्त करने के लिए पटसन की अधिक मात्रा भी देने को तैयार हो जायेगा और यदि माँग लोचदार है तो भारत पटसन की अधिक मात्रा देने को तैयार नहीं होगा। ठीक इसी प्रकार पाकिस्तान भी करेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि वस्तुओं की माँग बेलोचदार होने की अवस्था में व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होंगी और लोचदार होने की अवस्था में अनुकूल होंगी। व्यापार की शर्तें जितनी अनुकूल होंगी उतना ही देश को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से लाभ होगा, अर्थात् जिस देश की वस्तुओं की माँग विदेशों में बेलोचदार होगी।

टॉजिग (Taussig) के कथनानुसार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से किसी भी देश को होने वाला लाभ निम्नलिखित दो बातों पर निर्भर करता है —

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की शर्तें।

(२) निर्यात की वस्तुएँ उत्पन्न करने में देश की उत्पादन क्षमता।

व्यापार की शर्तें

व्यापार की शर्तों का अर्थ दो देशों में उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के विनिमय के अनुपात से होता है। यह विनिमय अनुपात दोनों देशों में एक-दूसरे की उत्पत्ति की प्रति-माँग (Reciprocal Demand) पर निर्भर होता है। इसी प्रति-माँग में होने वाले परिवर्तनों के साथ व्यापार की शर्तों में भी परिवर्तन होते रहते हैं और प्रति-माँग की सामान्य अथवा तुलनात्मक लोच ही व्यापार की शर्तों अथवा व्यापार के लाभ की मात्रा निश्चित करती है। टॉजिग (Taussig) के अनुसार "जिस देश के निर्यातों की माँग सबसे अधिक होती है और आयातों की माँग थोड़ी होती है, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उसी देश को सबसे अधिक लाभ होता है तथा जिस देश में दूसरे देशों की वस्तुओं की बहुत अधिक माँग रहती है, उसे सबसे कम लाभ होता है।"

निर्यातों की उत्पादन क्षमता

वास्तव में देशों के श्रम की कुशलता के अन्तर में ही दो व्यापारी देशों में विभिन्न उत्पादन की लागतों के अनुपात में अन्तर होता है। किसी भी देश में श्रम की कुशलता बढ़ने से सापेक्ष व तुलनात्मक लागतों का अन्तर भी बढ़ जाता है तथा लाभ पूर्ण व्यापार का क्षेत्र भी अधिक हो जाता है। अब जिस देश के श्रमिकों की कार्यक्षमता अधिक होगी, उसके निर्यातों की माँग भी अधिक होगी क्योंकि वहाँ पर उत्पादित वस्तुओं की तुलनात्मक लागत अन्य देशों की अपेक्षा कम होगी। इसलिए व्यापार में भी इसी देश को अधिक लाभ होगा क्योंकि वह निर्यात वस्तुओं का अधिक उत्पादन करके बदले में बहुत अधिक वस्तुओं का आयात करेगा।

लाभ की मात्रा का ज्ञान किस प्रकार प्राप्त हो

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले लाभ की मात्रा का ज्ञान देश के मुद्रा-आय के स्तर से किया जा सकता है। जब मुद्रा-आय का स्तर ऊँचा होता है तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक होता है और जब मुद्रा-आय का स्तर नीचा होता है, तब अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार हानिकारक होता है। मुद्रा आय ही देश को होने वाले लाभ की मात्रा को सूचित करती है क्योंकि यह लाभ मुद्रा-आय के रूप में ही प्राप्त किया जाता है। यदि किसी देश की वस्तुओं की माँग विदेशों में बराबर बढ़ती जा रही है, तब निर्यात वस्तुओं के उद्योग अधिक उन्नतिशील होंगे, क्योंकि निर्यात वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाने के लिए अधिक उत्पत्ति की जायेगी। देश में मजदूरी की दर ऊँची हो जायेगी अर्थात् मजदूरों को पहले से अधिक मुद्रा प्राप्त होगी। अर्थात् देश में मुद्रा-आय का स्तर ऊँचा हो जायेगा क्योंकि मजदूरी की दर बढ़ने के साथ-साथ विदेशों में निर्यात करने वाले देश की वस्तुओं का मूल्य कम रहता है जिससे विदेशी उपभोक्ताओं को वस्तुओं का उपभोग करने में लाभ रहता है। ठीक इसके विपरीत जिस देश में आयात बढ़ते जाते हैं, उस देश में उद्योग-धन्धे अवनति करते जाते हैं और देश में मुद्रा-आय कम हो जाती है जो इस बात की सूचक है कि आयात करने वाले देश की हानि हो रही है। इस प्रकार मुद्रा-आय का स्तर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से होने वाले लाभ की मात्रा को सूचित करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ (Advantages of International Trade)

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार भौगोलिक श्रम-विभाजन को जन्म देता है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार केवल उसी दशा में सम्भव होता है जब कि एक देश साधनों की प्रचुरता या अन्य कारणों से किसी एक वस्तु के उत्पादन में विशिष्टीकरण प्राप्त करता है। इस प्रकार एक वस्तु का उत्पादन केवल एक ही देश में होने से भौगोलिक श्रम-विभाजन को प्रोत्साहन मिलता है और उत्पादन अधिक कुशल हो जाता है और मानव हित में होता है।

(२) आर्थिक सकटों को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार द्वारा दूर किया जा सकता है। सकट के काल में एक देश विदेशों से वस्तुओं का आयात करके अपनी कठिनाइयों को दूर कर सकता है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से उपभोक्ताओं को विशेष लाभ होते हैं। उनके वस्तुएँ खरीदने का क्षेत्र व्यापक हो जाता है और वे अच्छी वस्तुओं को सस्ते दामों पर चुनने में समर्थ हो जाते हैं। उपभोक्ताओं को इस प्रकार अपने देश की तुलना में केवल वस्तुएँ ही सस्ती प्राप्त नहीं होतीं, बल्कि वह वस्तुएँ भी प्राप्त हो जाती हैं जो कि उनके देश में उत्पन्न ही नहीं होतीं।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देशों के औद्योगीकरण में काफी सहायता मिलती है। एक देश अपनी औद्योगीकरण की हर योजना को विदेशों से आवश्यक कच्चा माल, मशीनें और विशेषज्ञों की सेवाएँ प्राप्त करके सफल बना सकता है, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अभाव में सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार केवल व्यक्तिगत देशों को ही लाभ प्राप्त नहीं होता बल्कि प्रत्येक देश को लाभ होता है, क्योंकि व्यापार करने वाले देशों के साधनों का अधिकतम प्रयोग सम्भव हो जाता है।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से प्रत्येक देश के उत्पादकों को अपनी उत्पादन विधि में समय-समय पर सुधार करने के लिए बाध्य होना पड़ता है, क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय

व्यापार मे विदेशी प्रतियोगिता को प्रोत्साहन मिलता है और कोई भी देश दूसरे देशो की तुलना मे पीछे नही रहना चाहता, इसलिए इस भय से कि कही प्रतियोगिता में पीछे न रह जाएँ, वे अन्य देशो की देखा-देखी अपनी उत्पादन विधि मे ऐसे सुधार करते रहते है जिससे वस्तुओ का उत्पादन व्यय कम-से-कम रहे। इस प्रतियोगिता से उत्पादन अधिक कुशल हो जाता है और उपभोक्ताओ को अच्छी वस्तुएँ सस्ती कीमत पर प्राप्त हो जाती है।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से विभिन्न देशों के बीच सम्पर्क बढता है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन मिलता है।

(७) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सभी देशो में वस्तुओ और सेवाओ के मूल्यो मे समानता आ जाती है। सभी देशों का आर्थिक विकास होने लगता है और मनुष्यो के जीवन-स्तर मे वृद्धि हो जाती है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियां (Disadvantages of International Trade)

उपरोक्त लाभो के साथ-साथ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से निम्न हानियाँ भी है —

(१) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देश की कच्ची सामग्री बाहर जाने के कारण देश खोखला होता जाता है। बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ होती है, जिनके स्थान पर दूसरी वस्तुएँ प्रयोग ही नही की जा सकती है और उन वस्तुओं के निर्यात से स्वय निर्यात करने वाले देश को भारी कष्ट उठाने पडते है। इसके अतिरिक्त यदि बाहर भेजने के स्थान पर, देश स्वय उन वस्तुओं का उपयोग करे, तो देश निर्यात की अपेक्षा अधिक लाभ प्राप्त कर सकता है। भारत को,ही देखिये, भूतकाल में कच्चा माल बाहर जाने से उसका औद्योगीकरण नही हो सका, जिसके कारण आजकल उसे अन्य देशो पर निर्भर होना पडा है, और जनता को भी कष्ट उठाने पडे और आजकल भी कष्ट सहन कर रही है। लगा

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे विदेशी प्रतियोगिता के कारण देश के [illegible]गो धन्धों को भारी कठिनाइयो का सामना करना पडता है। इस प्रतियोगिता से [illegible]निर्यात को लाभ होता है जहाँ पर कि उद्योग-धन्धे उन्नत है, परन्तु ऐसे देशो में जहाँ [illegible] है और धन्धे या तो बाल्यावस्था मे है, या विदेशी सहायता पर निर्भर है, उन[illegible]हायता प्रदान योगिता से भारी हानि उठानी पडती है क्योकि वे विदेशी प्रतियोगि[illegible]सका प्रयोग एक और शीघ्र ही ठप्प हो जाते है। [illegible]धाएँ जो अन्तर्राष्ट्रीय

(३) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे एक देश की [illegible] चाहे उन का उद्देश्य निर्भर हो जाती है जो कि देश के हित मे नही होता क्यों[illegible] प्रभाव पड़ते है। जैसे कि युद्धकाल मे अन्तर[illegible] [illegible]तियो मे कौन-सी नीति अधिक लाभ- देशो की आर्थिक व्यवस्था मे उथल[illegible] [illegible]ल मे काफी चर्चा रही है और यह एक अच्छा सहन करने पड़ते हैं। [illegible] । यद्यपि प्राचीन अर्थशास्त्री और स्वय तुलना-

(४) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार[illegible] नीति को सरक्षण की अपेक्षा अधिक लाभ- होता है क्योकि जिस वस्तु म कोई देश [illegible] देश सरक्षण की नीति को ही अपनाते करता है। इसका बहु[illegible] बुरा [illegible]

है, उनको अन्य देशों पर अवलम्बित होना पड़ता है। देश में पूर्ण-रोजगार (Full Employment) की स्थिति स्थापित नहीं होती। देश के साधनों का उपयोग देश के हित में नहीं हो पाता और देश में आर्थिक स्थिरता स्थापित नहीं हो पाती।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से देश में ऐसी हानिकारक वस्तुओं का भी आयात होने लगता है जिससे लोगों की कार्य क्षमता पर बुरा असर पड़ता है। जैसे कि चीन में अफीम का उत्पादन न होते हुए भी चीन के निवासी बहुत लम्बे समय तक अफीम खाने के आदि बने रहे, क्योंकि चीन में अफीम का आयात भारत से होता था।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ तथा हानियों के विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार लाभदायक होने के साथ-साथ हानिकारक भी है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लाभ केवल स्वतन्त्र व्यापार की स्थिति में ही प्राप्त होते हैं यह बात बीसवीं शताब्दी के इतिहास से सिद्ध हो जाती है, जबकि देशों के आपसी द्वेष और झगड़ों को प्रोत्साहन मिला है, जबकि देशों का आर्थिक और राजनैतिक शोषण हुआ है, और जब कि देशों की दासता बढ़ गई है। फिर भी यह कहना अनुचित न होगा कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की हानियों की अपेक्षा उसके लाभ कहीं अधिक हैं।

पच्चीसवां अध्याय

स्वतन्त्र व्यापार एवं संरक्षण

(Free Trade and Protection)

व्यापारिक नीतियां

पिछले अध्याय में हमने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का अध्ययन सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से किया था। परन्तु इस अध्याय में हम अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भाग लेने वाले देशों द्वारा अपनाई जाने वाली व्यावहारिक नीतियों का अध्ययन करेंगे।

व्यापारिक नीतियों के अन्तर्गत वह सभी कार्य सम्मिलित हो जाते हैं जो एक देश अपने विदेशी आर्थिक सम्बन्धों की व्यवस्था करने के हेतु सम्पन्न करता है। हम इन्हीं विभिन्न नीतियों के दोष अथवा गुणों का उल्लेख करेंगे। विभिन्न देशों ने अधिकतर दो प्रकार की व्यापारिक नीतियों का उपयोग किया है। एक तो स्वतन्त्र व्यापार की नीति (Policy of Free Trade) और दूसरे संरक्षण की नीति (Policy of Protection)। स्वतन्त्र व्यापार से हमारा अभिप्राय एक ऐसी व्यवस्था से है जिसमें विभिन्न देशों के बीच होने वाले आयातों और निर्यातों पर किसी प्रकार के भी प्रतिबन्ध नहीं होते अर्थात् व्यापार बिल्कुल स्वतन्त्र होता है चाहे कोई देश किसी भी देश से किसी भी वस्तु की कितनी ही मात्रा का आयात और निर्यात करे। परन्तु संरक्षण की नीति के अन्तर्गत व्यापार स्वतन्त्रतापूर्वक न होकर उस पर कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं जिनका कि मुख्य उद्देश्य देश की आर्थिक व्यवस्था को बाहरी आर्थिक प्रभावों से बचाने का होता है। संरक्षण से वस्तुओं, पूंजी और कच्चे माल के आयात-निर्यात पर रोक लगा कर देश के उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाया जाता है और साथ-ही-साथ गृह-उद्योगों को उन्नति करने और विकसित होने में पूर्ण सहायता प्रदान की जाती है। संरक्षण का वास्तविक उद्देश्य तो यही है परन्तु आजकल इसका प्रयोग एक अधिक विस्तृत अर्थ में किया जाता है जिसके अनुसार वे सभी बाधाएँ जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उत्पन्न की जाती हैं, संरक्षण के अन्तर्गत आ जाती हैं, चाहे उन का उद्देश्य कुछ भी हो।

संरक्षण एवं स्वतन्त्र व्यापार—इन दोनों नीतियों में कौन-सी नीति अधिक लाभदायक है, इस समस्या पर लगभग प्रत्येक काल में काफी चर्चा रही है और यह एक अच्छा भला वाद-विवाद का विषय बन गया है। यद्यपि प्राचीन अर्थशास्त्री और स्वयं तुलनात्मक-लागत का सिद्धान्त भी स्वतन्त्र व्यापार की नीति को संरक्षण की अपेक्षा अधिक लाभप्रद बताते हैं फिर भी आधुनिक काल में अधिकतर देश संरक्षण की नीति को ही अपनाते हैं।

स्वतन्त्र-व्यापार के लाभ (Advantages of Free Trade)

प्राचीन अर्थशास्त्री तथा उनके अनुयायियों ने स्वतन्त्र व्यापार को अधिक लाभप्रद बताया है और उसके पक्ष मे निम्न तर्क दिये है।

(१) स्वतन्त्र व्यापार में विदेशी प्रतियोगिता स्वतन्त्र होने के कारण केवल कुशल उद्योग ही पनप सकते है अर्थात् केवल वे ही उद्योग उन्नति कर सकते है जो वस्तु का उत्पादन कम-से-कम लागत पर करते हैं और वे उद्योग जो अकुशल है, जिनकी वस्तुओं का उत्पादन व्यय कम होता है वे समाप्त हो जाते हैं जिससे उपभोक्ताओ को सस्ती वस्तुएँ प्राप्त हो जाती है और इस प्रकार उनकी वास्तविक आय अधिक हो जाती है। स्वतन्त्र व्यापार मे एक लाभ और भी होता है, इससे एकाधिकारी के स्थापित होने की सम्भावना नही रहती और न ही औद्योगिक सघ ही बन पाते है।

(२) स्वतन्त्र व्यापार से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढता है और देशो मे एक दूसरे के लिए सहानुभूति उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि वे एक दूसरे पर अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए निर्भर रहते हैं।

(३) अनियन्त्रित व्यापार मे समस्त ससार के साधनो का विभिन्न देशो में समान वितरण हो जाता है और उनका अधिकतम प्रयोग किया जा सकता है।

संरक्षण के पक्ष में तर्क

संरक्षण के पक्षपातियो ने उसके पक्ष में बहुत-से तर्क दिये है। यह तर्क बहुधा स्वतन्त्र व्यापार की आलोचना करते हुए दिये जाते है। वास्तव मे स्वतन्त्र व्यापार से देशो को अनेकों कठिनाइयों का सामना करना पडा और इसीलिए प्रथम महायुद्ध के बाद तो प्रत्येक देश ने इस नीति का परित्याग कर दिया और सरक्षण ही आजकल की प्रथा हो गई है। यद्यपि सरक्षण का प्रमुख उद्देश्य देश के हित के लिए उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना है, परन्तु आजकल सरक्षण आर्थिक और राजनैतिक दोनों ही कारणो से दिया जाता है। सरक्षण के पक्ष मे दिये गये तर्क निम्न प्रकार है —

(१) **शिशु-उद्योग सम्बन्धी तर्क** (Infant Industries Argument)— ससार के सभी देशो की औद्योगिक अवस्था समान नही है। किसी देश मे औद्योगिक विकास अपने शिखर पर पहुँच चुका है, कुछ देशो में औद्योगीकरण आरम्भ ही हुआ है, और कुछ देशो मे औद्योगीकरण का नाम भी नही मिलता। जिन देशो में उद्योग-धन्धे शिशु-अवस्था में होते है, उनको स्वतन्त्र व्यापार मे भारी कठिनाइयां सहन करनी पडती हैं, क्योकि ऐसे देशो के उद्योगों की प्रतियोगिता-शक्ति उन देशो की अपेक्षा कम होती है, जिन देशो मे कि औद्योगिक विकास काफी हो चुका है। अनियन्त्रित प्रतियोगिता के कारण उद्योग शिशु-अवस्था मे ही मर जाते हैं। यह भी सत्य है कि यदि इन शिशु-उद्योगो को उन्नति और विकास का अवसर दिया जाय तो कुछ समय पश्चात् इनमे भी प्रतियोगिता शक्ति आ जायेगी, परन्तु स्वतन्त्र-व्यापार की नीति के अन्तर्गत विकसित देशो के उद्योग उन्हें नष्ट कर देते है। इसलिए यह आवश्यक है कि शिशु-उद्योगो को विकसित उद्योगो की प्रतियोगिता से बचाया जाय और उनको रक्षा प्रदान की जाए। यदि ऐसा नही होता तो

जो देश औद्योगीकरण आरम्भ करने जा रहे है, उनमे औद्योगीकरण कभी भी नही हो सकेगा और विकसित देशों के उद्योग दिन-प्रति-दिन उन्नत होते जायेगे। इसलिए एक पिछडे हुए देश को अपने शिशु उद्योगों की रक्षा के लिए संरक्षण की नीति अपनानी चाहिए।

उपरोक्त तर्क प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री फ्रेडरिक लिस्ट (Frederick List) ने प्रस्तुत किया था और अंग्रेज अर्थशास्त्री स्टूअर्ट मिल (Stuart Mill) ने भी इसका समर्थन किया है। इस तर्क का इतना महत्व है कि सरक्षण नीति का विरोध करने वालो तर्क ने इसको स्वीकार किया है और आधुनिक समय मे संसार के अधिकाश अर्थशास्त्री इसी तर्क के आधार पर संसार के प्रत्येक देश को संरक्षण की नीति अपनाने का आदेश देते है।

परन्तु इस तर्क को स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयाँ अनुभव की गई है। सर्वप्रथम ऐसा देखा गया है कि सरक्षण की अवस्था मे उपभोक्ताओ को बडी हानि होती है, उन्हे वस्तुओ का मूल्य अधिक देना पडता है। उनकी वास्तविक आय गिर जाती है और जीवन-स्तर भी गिरने लगता है। परन्तु इस दोष के विरुद्ध लोगो का कहना है कि यह अवस्था केवल अस्थायी ही होती है क्योकि सरक्षण प्राप्त होने के कुछ समय बाद ही उद्योग उन्नति करने लगता है और वस्तुओ का मूल्य फिर से बहुत नीचा हो जाता है। दूसरे, यदि संरक्षण अल्पकालीन होता है तब तो देश के लिए लाभदायक होता है और यदि इसमे स्थायी होने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है तब यह देश के लिए बहुत ही हानिकारक सिद्ध होता है। व्यवहार मे यही अनुभव किया गया है कि एक बार सरक्षण प्राप्त हो जाने के बाद उद्योग उसको छोडना नही चाहता, क्योकि वे या तो यह अनुभव ही नही करते है कि अब उन्होंने शक्ति प्राप्त कर ली है, क्योकि जैसा बेवरिज (Beveridge) ने कहा है कि, "शिशु-उद्योग यह कभी अनुभव नही करते कि उनमें शक्ति आ गई है, यदि वे शक्तिशाली हो भी जाते है, तब वे अपनी युवा-शक्ति का प्रयोग अधिक बडी मात्रा मे और लम्बे समय तक सरक्षण प्राप्त करने मे करते है।"[1] तीसरे, अक्सर ऐसा अनुभव किया गया है कि जब एक उद्योग को उपरोक्त तर्क पर संरक्षण प्राप्त हो जाता है तब दूसरे उद्योग भी सरक्षण की माँग करने लगते है जिससे देश मे बेईमानी की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाती है। अन्त मे, यह निश्चित करना कि कौन-सा उद्योग शिशु है और कौन-सा नही? एक कठिन कार्य है। बहुत-से देशों ने इस तर्क का बहुत ही अनुचित प्रयोग किया है। आधुनिक अर्थशास्त्रियो के अनुसार शिशु-उद्योग की पहचान यह होती है कि उसे आन्तरिक बचत प्राप्त होती है, परन्तु बाह्य बचत नही। इस प्रकार इस सम्बन्ध मे बड़ा मतभेद है। लिस्ट ने शिशु-उद्योग को पहचानने के लिए तीन बातें बताई है—

(क) उसके अनुसार सरक्षण का प्रमुख उद्देश्य देश को औद्योगिक उन्नति प्रदान करना है, जिन देशो का औद्योगीकरण पहले से हो चुका है, उन देशो मे सरक्षण की नीति का प्रयोग नही होना चाहिए।

---

१ "The infant industries never feel themselves grown up, if they grow up at all they devote their manly strength to fighting for bigger and longer protection"—Beveridge—Tariffs P. 103.

(ख) संरक्षण केवल अल्पकालीन होना चाहिए। यह नीति केवल उन्हीं देशों को अपनानी चाहिए जिनके उद्योग विदेशी प्रतियोगिता के कारण उन्नति नहीं कर पा रहे हैं। उद्योगों के विकसित होने के बाद तुरन्त ही संरक्षण हटा लेना चाहिए।

(ग) कृषि-व्यवसाय को संरक्षण नहीं मिलना चाहिए, क्योंकि देश की औद्योगिक उन्नति स्वत ही उसको सहायता देगी।

(२) **उद्योगों की विविधता सम्बन्धी तर्क (Diversification of Industries Argument)**—फ्रेडरिक लिस्ट (Frederick List) ने इस तर्क के आधार पर भी इस तर्क को उपयुक्त ठहराया था। उसका कहना था कि किसी देश को भी एक उद्योग पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिए। यदि कोई देश ऐसा करता है तब उसे असाधारण परिस्थितियों या अन्य सकटकाल में घोर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त आर्थिक दृष्टिकोण से भी यह उचित नहीं है, क्योंकि यदि किसी समय में इस उद्योग में मन्दी आ जाए, तब समस्त देश की सारी आर्थिक व्यवस्था उलट-पुलट हो जायेगी। देश में बेरोजगारी आदि फैलने लगेगी। जिन देशों में कृषि ही मुख्य उद्देश्य है, उनमें भी अन्य उद्योगों को विकसित करने की आवश्यकता होती है, क्योंकि कृषि की उन्नति उन्हीं पर निर्भर करती है। इसी प्रकार जिन देशों में औद्योगीकरण हो चुका है, उन में कृषि व्यवसाय को उन्नत करना परमावश्यक हो जाता है, ताकि उनको पर्याप्त मात्रा में कच्ची सामग्री मिल सके। इस प्रकार देश को कदापि एक उद्योग पर निर्भर नहीं रहना चाहिए, इससे देश का आर्थिक विकास असन्तुलित होता है। इस उद्देश्य से कि देश की आर्थिक उन्नति चारों ओर हो, यह आवश्यक हो जाता है कि विभिन्न उद्योगों को संरक्षण दिया जाय। तभी देश की आर्थिक प्रणाली भी सतुलित हो सकती है।

इस तर्क पर संरक्षण की नीति अपनाने में एक सबसे बड़ी कमी यह उत्पन्न हो जाती है कि देश को विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त नहीं होते।

(३) **आधारित उद्योग सम्बन्धी तर्क (Key Industries Argument)**—कुछ लोगों का विचार है कि यदि देश का औद्योगीकरण दृढ आधार पर करना है, तो देश में आधार उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। यह सत्य भी है कि देश की आर्थिक उन्नति आधार उद्योगों के विकास और उन्नति पर निर्भर होती है, क्योंकि आधार उद्योग, जैसे, लोहा, रासायनिक पदार्थ उद्योग आदि, ही अन्य उद्योगों की कच्ची सामग्री प्रदान करते हैं। इस लिए इन उद्योगों के पूर्ण विकास के लिए संरक्षण मिलना चाहिए।

(४) **प्राकृतिक साधनों का उचित उपयोग सम्बन्धी तर्क (Argument concerning the proper Utilisation of Natural Resources)**—संरक्षण के पक्ष में अधिकतर यह भी तर्क रक्खा जाता है। इस तर्क के समर्थकों का कथन है कि देश के प्राकृतिक साधनों को बेकार रखने या, निर्यात करने के स्थान पर उनका उपयोग देश के हित में होना चाहिए, ताकि देश समृद्धिशाली हो और मनुष्यों का आर्थिक उत्थान हो। इसलिए ऐसे साधनों का उचित उपयोग होने के लिए उनसे सम्बन्धित उद्योगों को संरक्षण देना चाहिए। स्वतन्त्र व्यापार की नीति के अन्तर्गत

अधिकतर देश की कच्ची सामग्री का निर्यात हो जाता है, जिससे विदेश शक्तिशाली होते जाते हैं। यह निर्यात केवल सरक्षण की नीति द्वारा ही रोका जा सकता है। क्योंकि प्रकृति की हर देन सीमित मात्रा में होती है, इसलिए यदि उसका निर्यात रोका न गया तो एक दिन देश इन साधनो से खोखला हो जायगा और उसकी प्रगति सदैव के लिए रुक जायगी।

(५) व्यापार संतुलन को अनुकूल रखने का तर्क (Favourable Balance of Trade Argument)—देश को धनी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देश में बनी हुई वस्तुओ का निर्यात हो। जितने अधिक निर्यात होंगे, उतना ही अधिक देश धनी होगा। निर्यात बढ़ाने का एकमात्र उपाय यह है कि देश के उद्योगो को विदेशी प्रतियोगिता से बचाया जाय, अर्थात् उन्हे सरक्षण दिया जाय। विदेशी वस्तुओ पर सरक्षण लगाकर उनका आयात रोक देना चाहिए और अपनी वस्तुओ का मूल्य कम करके उनका निर्यात करना चाहिए।

यह तर्क मर्कनटिलिस्टस (Mercantilists) द्वारा प्रस्तुत किया गया था, परन्तु यह पूर्णतया भ्रमपूर्ण है। इस विचार के निर्माणकर्ताओं ने यह नही सोचा कि यदि संसार के सभी देश अपनी वस्तुओ का निर्यात करने का निर्णय करेंगे, तो फिर आयात कौन करेगा? इसके अतिरिक्त एक देश केवल सोना जमा करने से धनी और शक्तिशाली नही हो जाता, वास्तविक उन्नति उसी समय होती है जब कि उपभोक्ताओं को सस्ते मूल्य पर वस्तुएँ प्राप्त होती है, जो केवल स्वतंत्र व्यापार मे ही सम्भव हो सकता है। इसीलिए एडम स्मिथ (Adam Smith) ने इस तर्क की आलोचना करते हुए स्वतन्त्र व्यापार की नीति का समर्थन किया था।

(६) सुरक्षा-सम्बन्धी तर्क (Argument Concerning Defence)—संरक्षण के पक्ष में यह तर्क रक्खा जाता है कि आजकल जब कि ससार के देशो मे राजनैतिक क्षेत्र में इतनी द्वेष भावना है, तब प्रत्येक देश को अपनी सुरक्षा की पूर्ण व्यवस्था करनी चाहिए। सुरक्षा सम्बन्धी सभी उद्योगो को सरक्षण मिलना आवश्यक हो जाता है ताकि देश की सैनिक शक्ति को बढाया जा सके, इसलिए देश को सरक्षण की नीति का पालन करना चाहिए।

(७) मजदूरी-सम्बन्धी तर्क (Argument Concerning Wages)—यह स्वाभाविक है कि जिस देश में मजदूरियो की दर ऊँची है, उस देश मे वस्तुओ का उत्पादन-व्यय अधिक होने के कारण उनका मूल्य भी ऊँचा होगा, उन देशो की अपेक्षा जहाँ पर कि मजदूरियो की दर नीची है। ऐसी अवस्था में ऊँची मजदूरीवाले देश की वस्तुएँ नीची मजदूरी वाले देशो की अपेक्षा कम बिकेंगी, और ऊँची मजदूरी वाले देश की मजदूरी की दर अन्त में गिर जायेगी। इसलिए मजदूरी की दर को गिरने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि सस्ती मजदूरी वाले देश के आयातो पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाएँ या देश में उद्योगो को संरक्षण दे दिया जाय।

परन्तु यह तर्क भी संतोषजनक नही है, क्योंकि किसी भी देश मे मजदूरी की दर दो कारणो से ऊँची हो सकती है, या तो देश में श्रमिको की कार्यक्षमता अधिक होने

के कारण या अनुकूल व्यापारिक सतुलन होने के कार। इसीलिए मजदूरी की दर ऊँची करने में सरक्षण किसी प्रकार भी महायक नही हो सकता।

(८) **रोजगार-सम्बन्धी तर्क** (Arguments Concerning Employment)—सरक्षण के पक्षपाती सरक्षण का पक्ष इस तर्क पर भी लेते है कि सरक्षण देश मे बेकारी दूर करने के लिए बहुत लाभदायक होता है, अर्थात् देश में बेरोजगारी दूर करने के लिए नये-नये उद्योगो का विकास होना चाहिए। और यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि आयातो पर प्रतिबन्ध लगाकर देश के उद्योगो की रक्षा की जाए।

परन्तु यह तर्क भी पूर्णरूपेण सच नही है। प्रथम, देश के आयात कम होने से उसके निर्यात भी कम होने लगते हैं और इस प्रकार निर्यात उद्योगो मे बेरोजगारी बढने लगती है। दूसरी ओर यदि रोजगार में वृद्धि होती है, तो वह केवल सरक्षित उद्योगो मे ही और वह भी देश के अन्य उद्योगो को हानि पहुँचा कर क्योकि जब सरक्षण की नीति का पालन होगा, तब आयात बन्द होगे और उनका प्रभाव निर्यातो पर भी पडेगा। इसलिए जो लोग निर्यात उद्योगो के बन्द होने से बेकार होगे, उनकी खपत सरक्षित, उद्योगो मे हो जायेगी। इस प्रकार देश मे कुल रोजगारी की अवस्था पहले ही जैसी रहेगी और सरक्षण अधिक नौकरियाँ प्रदान करने मे सहायक नही हो सकेगा। दूसरे, इस तर्क के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि स्वतन्त्र व्यापार मे कम-से-कम निर्यात उद्योगो का पूर्ण विकास हो जाता है जिससे उसमें नौकरियाँ मिलने की अधिक सम्भावना हो जाती है, जो कि संरक्षण की अवस्था में नही होगी।

लॉर्ड कीन्स ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि संरक्षण द्वारा भी देश म रोजगारी की वृद्धि हो सकती है। उनके अनुसार यह दो प्रकार मे हो सकती है।

(क) देश मे जब आयातो पर सरक्षण-कर लगाये जाएँ, तब यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार विदेशो को ऋण देकर निर्यातो पर प्रभाव न पडने दे। विदेशी उस धन से ऋणदाता देश की वस्तुएँ पहले ही जैसी मँगाते रहेंगे, जिससे देश में बेरोजगारी भी नही फैलेगी और सरक्षण करो के लागू करने से देश मे कुल रोजगारी भी बढ जायेगी।

(ख) सरकार जो धन सरक्षण-करो द्वारा प्राप्त करती है, उसमे से यदि कुछ आर्थिक सहायता के रूप में निर्यात उद्योगो को दे दे, तब यह उद्योग अपनी वस्तुओ को विदेशो मे सस्ता बेच सकेंगे और इस प्रकार सरक्षित उद्योगो मे रोजगारी बढने के साथ-साथ इन उद्योगो में बेकारी भी नही फैलेगी।

परन्तु कीन्स का यह विचार भी ठीक नही है, क्योकि एक देश कब तक विदेशो को ऋण देकर अपनी स्थिति को सुधार सकता है। इसके अतिरिक्त अधिक ऋण देने से देश में पूँजी की भी कमी हो सकती है और कभी-न-कभी हमें अपने ऋण के भुगतान के रूप में उनकी वस्तुएँ लेनी ही पडेगी, दूसरे जिस देश मे उद्योगो को आर्थिक सहायता दी जायेगी, उसका माल विदेशो में सस्ता बिकेगा जिससे आयात-कर्ता देश भी अपने उद्योगो की रक्षा करने के लिए सरक्षण की नीति का पालन करेंगे। इसलिए ऐसा सोचना बिल्कुल भ्रमपूर्ण होगा कि सरक्षण से देश मे रोजगारी की वृद्धि हो जाती है।

(९) **देशी तथा विदेशी लागतों की समता सम्बन्धी तर्क** (Arguments

Concerning the Equalization of the home and Foreign cost of Production)—कुछ लोगो का विचार है कि विदेशी प्रतियोगिता से अपने उद्योगो को बचाने के लिए एक देश को विदेशी वस्तुओ पर सरक्षण कर लगा देना चाहिए, ताकि देशी व विदेशी लागतो में समता आ जाए। जब मूल्यो मे अन्तर नही होगा तब विदेशी प्रतियोगिता भी समाप्त हो जायेगी।

परन्तु यह तर्क भी उचित प्रतीत नही होता, क्योंकि इसका उद्देश्य तो यह हुआ कि अकुशल उद्योगो को भी सरक्षण मिलेगा और फिर जब कि देशी तथा विदेशी लागतो को सरक्षण-कर द्वारा बराबर करना है तब फिर अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की आवश्यकता ही क्या है। व्यापार तो केवल इसीलिए किया जाता है कि देश में उपभोक्ता को अच्छी और सस्ती वस्तुएँ प्राप्त हो सके।

(१०) **राशिपातन सम्बन्धी तर्क** (Argument Concerning Dumping)—यदि कोई देश राशिपातन की नीति अपना कर दूसरे देश के उद्योगो को नष्ट करना चाहे, तब वह सरक्षण की नीति को अपना कर अपने उद्योगो की रक्षा कर सकता है। इस तर्क पर तो स्वतंत्र व्यापार के समर्थक भी सरक्षण को ठीक समझते हैं।

(११) **देश की मुद्रा को घर पर रखने का तर्क** (Keeping Money at Home Argument)—आधुनिक समय मे सरक्षण का पक्ष इस तर्क से भी लिया जाता है कि इसके द्वारा घर की मुद्रा घर पर ही रहती है, अर्थात्, सरक्षण द्वारा विदेशी वस्तुओ का बिकना बन्द हो जायगा और न विदेशी वस्तुएँ खरीदी जायेंगी न देश का धन बाहर जायगा। इसलिए सरक्षण ही उचित नीति है।

इस तर्क के मानने वालो ने यह नही सोचा कि यदि हम आयात नही करेंगे, तो निर्यात किसे करेंगे। इसके अतिरिक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार मे धन का कोई महत्व नही होता, क्योकि अन्त में आयात सदैव निर्यातो के बराबर हो जाते है।

(१२) **स्वदेशी बाजार का तर्क** (Home Market Argument)—कुछ लोगो का विचार है कि जब देश के उद्योगो को सरक्षण मिलता है, तब देश के उद्योगो को प्रोत्साहन मिलता है, अर्थात्, लोगो को अधिक रोजगार मिलता है और वह पहले से अधिक वस्तुओ का उपभोग करते है, जिससे घर की बनी हुई वस्तुओ का बाजार घर मे ही उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार सरक्षण से देश के उद्योगो को प्रोत्साहन मिलता है और देश की बनी हुई वस्तुओ का बाजार घर पर ही उत्पन्न हो जाता है।

(१३) **आय तर्क** (Revenue Argument)—संरक्षण करो से देश की राष्ट्रीय आय भी बढती है, इस कारण भी संरक्षण की नीति उचित है।

परन्तु उचित सरक्षण की नीति का उद्देश्य देश के उद्योगो को प्रोत्साहन देना है, न कि आय प्राप्त करना। सरक्षण से देश को प्रारम्भिक अवस्था में आय की हानि ही होती है न कि प्राप्ति। इसलिए यह तर्क भी दोषरहित नही है।

संरक्षण के विपक्ष मे तर्क

परन्तु सरक्षण दोषरहित नहीं है। जिन-जिन देशो ने सरक्षण की नीति को

अपनाया है, उन देशो में इसके भयंकर परिणाम दृष्टिगोचर हुए है। भारत के चीनी उद्योग (Sugar Industry) का उदाहरण इस सम्बन्ध में उत्तम है। इस नीति में सरकार को हर समय सतर्क रहना पडता है। सरक्षण के विपक्ष में निम्न तर्क दिये जाते हैं —

(१) सरक्षण से साधनो का समान वितरण नही हो पाता। इससे विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त नही होते और भौगोलिक श्रम-विभाजन भी रुक जाता है। इस प्रकार साधनों का अधिकतम प्रयोग भी नही हो सकता।

(२) सरक्षण के अन्तर्गत विदेशी प्रतियोगिता का अन्त हो जाता है, जिससे उपभोक्ताओ को भारी हानि उठनी पडती है। प्रतियोगिता के अभाव में उद्योग-संघ और एकाधिकार स्थापित होने की सम्भावना हो जाती है।[१]

(३) सरक्षण से धनी वर्ग और अधिक धनी और निर्धन वर्ग और अधिक निर्धन हो जाते हैं। धनी वर्ग के लाभ के हेतु, निर्धन वर्ग को कर देने पड़ते हैं। इस प्रकार यह धन के वितरण में अत्यधिक असमानता उत्पन्न कर देता है।

(४) अनुभव बताता है कि जिन उद्योगों को एक बार सरक्षण प्राप्त हो जाता है, वह उद्योग कभी भी उसको छोडना नही चाहते।

(५) सरक्षण को बनाये रखने के लिए उद्योगपति अधिकारियो को घूँस आदि देते है, जिस से देश में बेईमानी की भावना उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार संरक्षण राजनैतिक भ्रष्टाचार को जन्म देता है।

(६) सरक्षण की छत्रछाया में ऐसे उद्योगो को प्रोत्साहन मिल जाता है जो अनार्थिक होते हैं, जिनके लिए न देश में पर्याप्त साधन ही उपलब्ध होते हैं और न पूँजी हीं। यह उद्योग अपने पैरो पर कभी भी खडे नही होते, बल्कि सरक्षण की लकडी के सहारे चलते रहते है, और जब भी इनसे सरक्षण हटाया गया, यह तुरन्त ही मुंह के बल गिर पडते हैं और यदि सरक्षण को चालू रक्खे तो यह देश के कन्धो का भार बन जाते हैं, जिससे देश को भारी हानि उठानी पड़ती है।

(७) सरक्षण प्राप्त होने के बाद बहुधा यह देखा गया है, कि सरक्षित उद्योग अपने पैरो पर खडे होने का प्रयत्न नहीं करते। वे विदेशी प्रतियोगिता के अभाव में चैन की वशी बजाते है, न तो किसी प्रकार का सुधार ही करते है और न ही वैज्ञानिक प्रबन्ध की ओर प्रयत्न करते है।

(८) सरक्षण से अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को भारी धक्का पहुँचता है। देशो में आपसी द्वेष उत्पन्न हो जाता है जो कभी-कभी युद्ध का रूप धारण कर लेता है।

सरक्षण के लाभ तथा हानियो की विवेचना से स्पष्ट है, कि सरक्षण की नीति बडी सावधानी और सतर्कता से अपनानी चहिए। बिना सोचे समझे सरक्षण की नीति

१ "Tariff is the mother of all Trusts"

का पालन करने से केवल देश में ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी भारी समस्याओं के उत्पन्न होने का भय रहता है।

संरक्षण सम्बन्धी रीतियाँ (Methods of Protection)

निम्न प्रकार की रीतियाँ संरक्षण प्रदान करते समय अधिकतर अपनाई गई हैं। इन रीतियों को दूसरे शब्दों में विदेशी व्यापार की बाधाएँ भी कह सकते हैं —

(१) **वैधानिक निषेध** (Legislative Prohibition)—अधिकतर देशों ने विदेशी प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए गिनी चुनी वस्तुओं के आयात-निर्यात को विधान द्वारा वर्जित कर दिया है। यह नीति काफी लम्बे काल से प्रचलित है।

(२) **संरक्षण कर** (Protective Duties)—कभी-कभी सरकार वस्तुओं के आयात को रोकने के लिए आयातों पर संरक्षण-कर अर्थात् आयात-कर लगा देती है। यह कर या तो वस्तुओं के परिमाण के अनुसार होते हैं, जिसे निश्चित कर (Specific Tax) कहते हैं या मूल्य के अनुसार जिसे मूल्य-कर (Advalorem Tax) कहते हैं। इन करों के लग जाने से विदेशी वस्तुओं का मूल्य देश की वस्तुओं की तुलना में अधिक हो जाता है। देश वासी उनका उपभोग बन्द कर देते हैं, और उनके स्थान पर देशी वस्तुओं का उपभोग आरम्भ कर देते हैं।

(३) **आर्थिक सहायता** (Economic Aid)—सरकार उद्योगों को आर्थिक सहायता के रूप में संरक्षण प्रदान करती है। आर्थिक सहायता के अनेकों रूप हो सकते हैं, जैसे करों में छूट, बिना ब्याज या कम ब्याज पर ऋण, अर्थात् प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक सहायता देना।

(४) **अवमूल्यन** (Devaluation)—देश की मुद्रा का अवमूल्यन करके सरकार देशी वस्तुओं का मूल्य विदेशों में सस्ता कर देती है, जिससे निर्यातों को प्रोत्साहन मिल जाता है। दूसरी ओर घरेलू वस्तुओं के दाम आयात-वस्तुओं की अपेक्षा कम होने से देश में आयात हतोत्साहित हो जाते हैं।

(५) **विनिमय नियन्त्रण** (Exchange Control)—इस नीति के अन्तर्गत विदेशी विनिमय पर विभिन्न प्रतिबन्ध लगाकर देश के आयातों को कम किया जाता है। इसकी पूर्ण विवेचना 'विदेशी विनिमय' का अध्ययन करते समय की जायगी।

(६) **पक्षपातपूर्ण व्यवहार** (Preferential Treatment)—कभी-कभी विदेशी वस्तुओं के साथ भेदभाव का व्यवहार किया जाता है। कभी-कभी भिन्न-भिन्न देशों की वस्तुओं के साथ पक्षपात पूर्ण व्यवहार किया जाता है। दूसरे शब्दों में कुछ देशों की वस्तुओं पर संरक्षण कर अधिक लगा दिये जाते हैं और कुछ पर कम। यह व्यवहार कभी-कभी सरकार की स्वतन्त्र नीति के कारण किया जाता है और कभी-कभी समझौतों के अधीन, जैसे भारत और इंगलैण्ड के बीच सन् १९३२ में ओटावा पैक्ट (Ottawa Pact) द्वारा हुआ था।

(७) **आयात और निर्यात अभ्यंश** (Import and Export Quotas)—इस रीति के अनुसार देश की सरकार एक निश्चित समय के लिए, विभिन्न वस्तुओं के

आयात और निर्यात का परिमाण निश्चित कर देती है। कभी कभी यह अभ्यंश देशों के अनुसार निश्चित किया जाता है। सरकार सरक्षण को लगाते समय भी इस रीति का प्रयोग करती है। वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा तक, कर की दर कुछ कम होती है, और उस मात्रा के बाद कर की दर बढ जाती है। इसका प्रभाव यह होता है कि आयात की मात्रा के बढने के साथ-साथ उसका मूल्य भी बढ जाता है, जिससे उसका उपभोग हतोत्साहित हो जाता है। आयात अभ्यंश कई प्रकार के होते हैं। मुख्य निम्न है :—

लाभ—कोटा रीति के निम्न लाभ हैं —

(अ) इस रीति से विभिन्न देशों से पृथक्-पृथक् सौदे हो सकते हैं जिन्हें सरकार देश के हित को ध्यान में रख कर तय कर सकती है।

(ब) इस रीति से उत्पादकों को भी बड़ा लाभ होता है, वे अपने उत्पादन को अभ्यंश के अनुसार निर्धारित कर सकते हैं।

(स) यह रीति लोचपूर्ण है. आवश्यकता के अनुसार इन अभ्यंशों में परिवर्तन किये जा सकते हैं।

इस रीति के कुछ दोष भी है —

(अ) आयात करों की रीति की तुलना में इस रीति से सरकार को आय कम प्राप्त होती है। परन्तु यह दोष निराधार है, क्योंकि सरकार का उद्देश्य आय कमाना नहीं होता, बल्कि देश के उद्योगों को प्रोत्साहित करना होता है।

(ब) कभी-कभी देश में विदेशों की तुलना में आयातों का मूल्य अधिक हो सकता है, क्योंकि आयातकर्ता देश तो अभ्यंश की शर्तों के अनुसार मूल्य देगा चाहे विदेशों में बाद में उसका मूल्य कितना ही कम क्यों न हो जाय। यह दोष भी केवल एक भय है, इसका कोई व्यावहारिक महत्व नहीं।

निष्कर्ष—उपरोक्त अध्ययन में हमने देखा कि सरक्षण की विभिन्न रीतियों के अपने-अपने गुण और दोष हैं। किसी एक रीति को उचित कहना और दूसरी को अनुचित बिल्कुल असम्भव है। अधिकतर देशों ने सरक्षण-करों का प्रयोग किया है और अभ्यंश रीति का भी। इन रीतियों में से दूसरी रीति पहली की अपेक्षा अधिक उदार है, परन्तु यह राजनीतिक क्षेत्र में द्वेष भावना उत्पन्न कर देती है, जो केवल इसी रीति से नहीं, बल्कि संरक्षण की प्रत्येक रीति से ही ऐसी भावना उत्पन्न होती है। फिर किस रीति को अपनाया जाय? यह प्रश्न काफी टेढा है। किसी भी रीति को अपनाया जा सकता है, परन्तु देश की आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन करने के पश्चात् इस सम्बन्ध में निर्णय सरकार को बड़े सोच-विचार के बाद करना चाहिए।

छब्बीसवाँ अध्याय

व्यापारिक सन्तुलन एवं भुगतान सन्तुलन

(Balance of Trade and Balance of Payment)

व्यापारिक सतुलन (Balance of Trade) से हमारा अभिप्राय किसी देश के वस्तुओ की आयात और निर्यात के विवरण से है। जब देश के आयात, उसके निर्यात के बराबर होते हैं, तब व्यापार सतुलित कहा जाता है या व्यापारिक सतुलन साम्य पर होता है। जब आयात निर्यात से अधिक होते है, तब व्यापारिक सतुलन प्रतिकूल (Unfavourable or Adverse) होता है, और जब आयात मे निर्यात अधिक है तब व्यापारिक सतुलन अनुकूल (Favourable) होता है । व्यापारिक संतुलन के साम्य होने की दशा में, किसी भी देश को कुछ नही लेना-देना पडता, परन्तु जब संतुलन प्रतिकूल होता है, तब देश दूसरे देशो को उनके माल के मूल्य का भुगतान करता है, और जब सतुलन अनुकूल होता है, तब वह अन्य देशो से भुगतान प्राप्त करता है।

देशो को केवल वस्तुओ के आयातों और निर्यातो के सम्बन्ध में ही भुगतान नही करना पडता, बल्कि देशों के बीच सेवाओ आदि का भी आयात-निर्यात होता है, और उनका भी भुगतान करना होता है। जितनी भी मदो पर एक देश को भुगतान लेना या करना होता है उसके विवरण को भुगतान सतुलन (Balance of Payment) कहते है। इस प्रकार जब व्यापारिक सतुलन में केवल आयात-निर्यात सम्बन्धी भुगतान ही शामिल होते है, भुगतान संतुलन में व्यापारिक संतुलन के अतिरिक्त और भी अनेकों प्रकार के भुगतान शामिल होते हैं। हम भुगतान संतुलन में दो तरह के आयात-निर्यात शामिल करते है। एक, तो दृश्य (Visible) और दूसरे, अदृश्य (Invisible)। दृश्य आयात निर्यात से हमारा आशय उन वस्तुओ और धनराशियो के चलन से है, जिनका पूरा लेखा-जोखा रक्खा जाता है और अदृश्य आयात-निर्यात में ऐसे मद होते हैं जिनका कोई लेखा-जोखा नही रक्खा जाता। अदृश्य आयात-निर्यात में निम्न मद शामिल होते है :—

(१) ऋण राशि;
(२) ऋण पर दिया गया या प्राप्त किये हुए व्याज की राशि;
(३) विनियोगों पर व्यापारिक लाभ;
(४) ऋण-पत्रों की विक्रय से प्राप्त राशि;
(५) बैंको का कमीशन;
(६) जहाजों का किराया;
(७) बीमा आदि के प्रीमियम की राशि;

(८) यात्रियों और विद्यार्थियों द्वारा विदेशों में किये गए खर्चे,
(९) दान और चन्दों आदि की राशि, इत्यादि।

इस प्रकार दृश्य और अदृश्य मदों का पूरे लेन-देन का हिसाब लगाने के बाद जो कुछ एक दूसरे देश को देना होता है, उसे ऋणों का समीकरण (Equation of Indebtedness) कहते हैं।

इस प्रकार भुगतान संतुलन निम्न प्रकार बनता है।

लेन	देन
(१) वस्तुओं का निर्यात	(१) वस्तुओं के आयात
(२) सेवाओं का निर्यात	(२) सेवाओं का आयात
(३) ऋणों तथा विनियोगों सम्बन्धी राशि अर्थात् ब्याज तथा लाभ की राशि	(३) ऋण तथा विनियोगों सम्बन्धी राशि का—ब्याज, लाभ आदि—विदेशियों को भुगतान।
(४) विदेशों से प्राप्त होने वाले मुआवजे	(४) विदेशों को दिये जाने वाले मुआवजों का भुगतान।
(५) विदेशी विद्यार्थियों या जातियों द्वारा किया गया खर्चा	(५) देश के विद्यार्थियों और जातियों द्वारा विदेशों में किये गए खर्चों का भुगतान।
(६) विदेशों से प्राप्त होने वाले पचमेल भुगतान।	(६) विदेशों को किये जाने वाले पचमेल भुगतान।

भुगतान संतुलन के मद (Items of Balance of Payment)

अब हम भुगतान संतुलन के अन्तर्गत आने वाली विभिन्न मदों का तनिक विस्तार में उल्लेख करेंगे, ताकि इन मदों का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाय। भुगतान संतुलन में मुख्यतया निम्न मदें ली जाती हैं —

(१) **व्यापारिक संतुलन** (Balance of Trade)—इस मद के अन्तर्गत द्रव्य आयात-निर्यात शामिल की जाती हैं। अर्थात्, वे सभी वस्तुएँ और बहुमूल्य धातुएं, जिनका मूल्य विदेशों को निर्यात या विदेशों से आयात हुआ है। दूसरे शब्दों में देश के आयात-निर्यात का पूर्ण लेखा-जोखा रक्खा जाता है और इस मद से एक देश के लेन-देन का हिसाब लगाया जाता है।

(२) **सेवाएं** (Services)—देश एक दूसरे की सेवाएं भी करते हैं, और इन सेवाओं का मूल्य लेते हैं। जो देश सेवाएँ प्राप्त करता है वह आयातकर्ता और जो सेवायें प्रदान करता है वह निर्यातकर्ता देश होता है। यह सेवायें कई प्रकार की हो सकती हैं, जैसे विशेषज्ञों की सेवायें, और व्यापारिक कम्पनियों की सेवायें। यह सब सेवायें अदृश्य आयात-निर्यात के अन्तर्गत आती हैं।

(क) **विशेषज्ञों की सेवाएँ**—बहुत-से देश दूसरे देशों से अनेक प्रकार के विशेषज्ञों की सेवायें प्राप्त करते हैं, जैसे डाक्टरों, इंजीनियरों, अध्यापकों आदि की सेवायें और इन सेवाओं के बदले में सेवा करने वालों को वेतन दिया जाता है। यह लोग अपने वेतन में से बची हुई राशि को अपने अपने देशों को भेजते हैं, जिसके लिए उन्हें अपने देश की मुद्रा चाहिए। इस प्रकार सेवा प्राप्त करने वाला देश सेवा करने वालों के देशों की मुद्रा खरीदेगा या विनिमय करेगा, यह ही भुगतान होता है। इस प्रकार सेवायें देने वाले देश के लिए यह अदृश्य निर्यात हुई और सेवायें लेनेवाले देश के लिए अदृश्य आयात।

(ख) **व्यापारिक कम्पनियों की सेवाएँ**—एक देश में बहुत-सी विदेशी व्यापारिक कम्पनियाँ व्यापार करती हैं और अपनी सेवाओं के बदले कमीशन लेती हैं। यह कम्पनियाँ अनेकों प्रकार की होती हैं, जैसे, बैंकिंग, बीमा, जहाजी कम्पनियाँ आदि। इन कम्पनियों की सेवायें प्राप्त करने वाले देशों के लिए यह अदृश्य आयात हुई, और जिस देश की कम्पनियां सेवायें करती है, उनके लिए यह अदृश्य निर्यात हुई।

(३) **ऋणों पर ब्याज, विनियोगों पर लाभ आदि का भुगतान** (Payments regarding Interest on Debt, Profits on Investment etc)—संसार के सभी देश एक-दूसरे से ऋण लेते रहते हैं। यह ऋण दीर्घकालीन भी होते हैं और अल्पकालीन भी। क्योंकि विभिन्न देशों की मुद्राओं में अन्तर होता है, इसलिए हर देश भुगतान अपनी ही मुद्रा में स्वीकार करता है। ऋण देने वाले देश को ऋण देते समय ऋणी की मुद्रा की आवश्यकता होती है। इसलिए, जो देश ऋण देता है, उसके लिए अदृश्य आयात और ऋण लेने वाले के लिए यह अदृश्य निर्यात हुई। परन्तु, ठीक इसके विपरीत स्थिति ऋण या उसके ब्याज का भुगतान करते समय होती है—अर्थात्, ऋण, मूलधन या ब्याज की राशि देने वाला देश आयात-कर्ता होगा और पाने वाला देश निर्यात कर्ता होगा। इसी प्रकार विनियोग करते समय विनियोगी देश आयात-कर्ता होगा और लाभ पाते समय निर्यात कर्ता होगा और जिस देश में विनियोग हो रहे है, वह निर्यात-कर्ता है और जो विनियोगी पर लाभ दे रहा है, वह देश आयात कर्ता होगा।

(४) **विद्यार्थियों और यात्रियोंके खर्चों का भुगतान** (Payments regarding the expenses of students & travellers)—एक देश के विद्यार्थी शिक्षा पाने के लिए दूसरे देशों को जाते हैं। इसी प्रकार भ्रमण करने के लिए एक देश के निवासी दूसरे देशों को जाते हैं। जिन देशों को जाते हैं वहाँ पर वे खर्चा करते हैं और इस प्रकार उस देश की मुद्रा की उन्हें आवश्यकता होती हैं। जिस देश में लोग जाते हैं, वह आयात-कर्ता देश हुआ और जिस देश में जाते हैं, वह निर्यात-कर्ता देश हुआ। यह केवल यात्रियों के सम्बन्ध में ही लागू नहीं होता, बल्कि कोई भी व्यक्ति क्यों न हो, चाहे जनता का एक भाग देश को छोड़ कर ही क्यों न दूसरे देश में जाये, तब भी यह ही स्थिति रहेगी।

(५) **सरकारी लेन-देन** (Payments for Governmental Transactions)—एक देश की सरकार दूसरे देशों में अपने दूत रखती है और दूतावास (Embassies) पर खर्चा करती है। युद्ध में विजयी होने वाला देश पराजित देश से क्षति-पूर्ति

(Reparations) लेता है। इस प्रकार भुगतान करने वाले देश के लिए यह अदृश्य आयात हुई और भुगतान प्राप्त करने वाले के लिए यह अदृश्य निर्यात हुई।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भुगतान सतुलन की सही स्थिति का पता लगाने के लिए उक्त मदों को सम्मिलित करना चाहिए।

व्यापारिक सन्तुलन और भुगतान सन्तुलन का सापेक्षिक महत्व (Relative Importance of Balance of Trade and Balance of Payments)—किसी भी देश की अर्थ-व्यवस्था मे व्यापारिक सतुलन की अपेक्षा भुगतान सतुलन का अधिक महत्व होता है। व्यापारिक सतुलन के अनुकूल और प्रतिकूल होने से देश की अर्थ-व्यवस्था पर कोई विशेष प्रभाव नही पडता है, परन्तु भुगतान सतुलन के अनुकूल और प्रतिकूल होने से देश की अर्थ-व्यवस्था मे उथल-पुथल मच जाती है और यदि यह संतुलन लम्बे काल तक प्रतिकूल चलता रहे, तो इस बात का घोषक होता है कि देश की आर्थिक स्थिति दिन-प्रति-दिन खराब होती जा रही है। यदि व्यापारिक सतुलन प्रतिकूल है तो इसका अर्थ यह है कि देश की व्यापारिक स्थिति ठीक नही है, जो कि निर्यातो को प्रोत्साहन देकर ठीक की जा सकती है। भुगतान सतुलन प्रतिकूल होने का अभिप्राय यह होता है कि देश किसी ओर भी समृद्धिशाली नही है। व्यापारिक सतुलन प्रतिकूल होते हुए भी भुगतान सतुलन अनुकूल हो सकता है, क्योकि देश के अदृश्य निर्यात अधिक हो सकते हैं। प्राचीन अर्थशास्त्री मर्केनटिलिस्टस का विचार था कि यदि देश का व्यापारिक सतुलन अनुकूल है तो देश धनी होगा, क्योकि देश में सोने का आयात होगा। परन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इस मत से सहमत नही है। वे अनुकूल व्यापारिक सतुलन को सदैव ही आर्थिक स्वावलम्बिता का द्योतक नहीं मानते, क्योकि अनुभव बताता है कि देशो का व्यापारिक सतुलन प्रतिकूल होते हुए भी वे आर्थिक क्षेत्र मे उन्नत रहे। इसका कारण यह है कि इन देशो ने अपनी पूंजी दूसरे देशो मे विनियोगो में लगा रक्खी है, विशेषज्ञो की सेवायें उधार दे रक्खी हैं, दूसरे देशो को ऋण दे रक्खे हैं, जिनके लाभ, वेतन और सूद आदि से न केवल देश के आयातो का भुगतान हो जाता है, बल्कि देश मे और अधिक धन आ जाता है और उनकी अर्थ-व्यवस्था दिन-प्रति-दिन दृढ होती जाती है। इसलिए व्यापारिक सतुलन की अपेक्षा भुगतान सतुलन का अधिक महत्व होता है। इसके अतिरिक्त, व्यापारिक सतुलन भुगतान सतुलन का केवल एक भाग है, जिसके प्रतिकूल होने से कोई अन्तर नही पडता यदि भुगतान सतुलन अनुकूल है।

भुगतान सतुलन का अनुकूल होना सदैव ही सम्भव नही होता, परन्तु इसको साम्य पर रखना अनिवार्य है और प्रत्येक देश इसी बात का प्रयत्न करता है कि भुगतान संतुलन साम्य पर रहे, क्योंकि व्यापार सतुलन की असमता देश की अर्थ-व्यवस्था के बिगडने का द्योतक होती है। भुगतान सतुलन के साम्य पर रहने का अभिप्राय यह होता है कि देश के सम्पूर्ण आदेय देश की सम्पूर्ण सम्पत्ति के बराबर होते हैं, अर्थात् जितना भुगतान देश मे दूसरे देशो को पाना है, उतना ही भुगतान देश को दूसरे देशो में मिलना भी है। ऐसा भी हो सकता है कि एक देश के भुगतान सतुलन दो देशो से प्रतिकूल हो और दस या अधिक देशो से अनुकूल। इस दशा मे देश का कुल भुगतान सतुलन अनुकूल

हुआ। इसलिए यह आवश्यक नही कि एक देश का भुगतान संतुलन अलग-अलग देशो से साम्य पर रहे। इस प्रकार एक देश के भुगतान सतुलन की समता और असमता का ज्ञान करने के लिए उस देश के आर्थिक सम्बन्ध जितने भी देशो से है, उन सब का लेखा-जोखा एक साथ तैयार करना पड़ेगा। इस प्रकार भुगतान-संतुलन की असमता के कई कारण हो सकते हैं। यह असमता या तो व्यापार सतुलन के प्रतिकूल होने के कारण हो सकती है या अदृश्य आयात-निर्यात की मदो मे असमता के कारण हो सकती है। व्यापारिक सतुलन भी प्रतिकूल कई कारणों मे हो सकता है जैसे निर्यात-कर्ता देश का उत्पादन गिर जाना, या आयात कर्ता देश का उत्पादन बढ जाना, या विनिमय दर का प्रतिकूल हो जाना, या निर्यात वस्तुओ के स्थापन प्राप्त हो जाने से, या अन्य किसी कारण से व्यापारिक सतुलन में असमता हो सकती है। अत दृश्य और अदृश्य आयात निर्यात मे किसी प्रकार की भी असमता आ जाने मे भुगतान सतुलन में असमता आ जायेगी। अब क्योकि प्रत्येक देश के लिए भुगतान सतुलन साम्य की अवस्था पर रखना आवश्यक होता है, इसलिए हर देश इस असमता को दूर करने के लिए विभिन्न रीतियों का प्रयोग करते है। यह रीतियां निम्न प्रकार है —

(१) **निर्यातों को प्रोत्साहन देना तथा आयातों पर प्रतिबन्ध लगाना** (Stimulating Export and Restricting Imports)—भुगतान सतुलन की असमता दूर करने की यह सबसे सरल विधि है। देश के आयातो पर प्रतिबन्ध लगा कर उन्हें कम किया जाता है, और देश के निर्यात-सम्बन्धी उद्योगो को आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है। यह आर्थिक सहायता इसलिए दी जाती है कि उद्योगपति अपने घाटे को पूरा कर ले जो कि उनको अपने माल को सस्ता बेचने के कारण होता है। आयातो को रोकने के लिए कई रीतियाँ अपनाई जा सकती है, जैसे आयात-कर लागू करना या अभ्यश निर्धारित करके। निर्यात उद्योगो को आर्थिक सहायता भी कई प्रकार से दी जा सकती है, जैसे ऋण द्वारा, निर्यात करने की छूट देकर, इत्यादि।

(२) **देश की मुद्रा का बाह्य मूल्य कम करके**—किसी भी देश की सरकार भुगतान सतुलन की असमता को दूर करने के लिए देश के चलन का बाह्य मूल्य कम कर सकती है। यह दो प्रकार से हो सकता है, एक तो मुद्रा का वास्तविक मूल्य कम करके और दूसरे मुद्रा अवमूल्यन द्वारा। पहली रीति के अन्तर्गत सरकार मुद्रा के धातु-मूल्य मे कमी कर देती है जिससे देशी वस्तुओ का मूल्य विदेशो में गिर जाता है और निर्यातो को प्रोत्साहन मिलने लगता है। देश में भी निर्यातो की अपेक्षा आयातों का मूल्य बढ जाता है, जिसकी खपत देश में कम होने लगती है, व्यापारिक सतुलन अनुकूल होकर भुगतान सतुलन को साम्य पर ले आता है। मुद्रा अवमूल्यन की रीति के अनुसार सरकार देश के चलन का बाह्य मूल्य कम कर देती है और उसकी घोषित कर दिया जाता है। बाह्य मूल्य कम करने का अभिप्राय यह है कि देशी मुद्रा की विदेशी विनिमय शक्ति कम कर दी जाती है जिससे विदेशी विनिमय दर अनुकूल होने लगती है।

(३) **मुद्रा संकुचन** (Deflation)—सरकार जानबूझ कर मुद्रा-सकुचन

की रीति अपनाती है ताकि देश मे वस्तुओ और सेवाओ का मन्य विदेशी वस्तुओ की अपेक्षा गिर जाय जिसके कारण निर्यात बढ़ जायेंगे और आयात गिर जायेंगे।

परन्तु यह रीति अधिक लाभप्रद नही है, क्योकि दीर्घकाल मे देश की अर्थ-व्यवस्था को इससे भारी धक्का पहुँचता है।

(४) **विनिमय-नियन्त्रण** (Exchange Control)—यदि कोई देश अपने सम्मान और प्रतिष्ठा को अवमूल्यन और मूल्य ह्रास द्वारा ठेस पहुचाना नही चाहता है या मुद्रा सकुचन द्वारा देश को जो आर्थिक सकट होते हैं उनसे देश को बचाना चाहता है, तब वह विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियों को अपनाता है।[१]

क्या निर्यात आयातों का मूल्य चुकाते हे ? (Do Exports pay for Imports)

अक्सर यह कहा जाता है कि एक देश के निर्यात उसके आयातो का मूल्य चुकाते है।[२] वास्तव मे यह बात सही भी है। यदि किसी देश के सभी प्रकार के आयातो और निर्यातो, दृश्य और अदृश्य के पूर्ण विवरण का अध्ययन करें, तो इस वाक्य की सत्यता सिद्ध हो जायेगी। वास्तव में कोई भी देश अपने आयातो को निर्यातो से अधिक नही रख सकता। अल्पकाल मे तो यह सम्भव हो सकता है कि देश के आयात निर्यातो से अधिक हो या कम। परन्तु दीर्घकाल में यह असमता सम्भव नही है। क्योकि यदि यह असमता अधिक समय तक चलती रहेगी, तो देश के बहुमूल्य धातु विदेशो को जाते रहेगे। जिन देशो में यह धातु पहुँचते हैं वहाँ मुद्रा का परिमाण बढने से मूल्य-स्तर ऊँचा होने लगता है, और जिस देश से सोना बाहर जाता है, वहाँ पर मुद्रा का परिमाण कम होने से सामान्य मूल्य-स्तर नीचा गिरने लगता है, जिसका परिणाम यह होता है कि देश के आयात निर्यात के बराबर होने लगते हैं। इसी लिए यह कहा गया है कि आयातो और निर्यातो के बराबर होने की प्रवृत्ति होती है।[३] इस सम्बन्ध मे टौजिक का विचार दोहराने योग्य है। वह कहते है कि "व्यापार की लहर समुद्र के ज्वार-भाटे की भांति एक लम्बे काल तक एक ही दशा मे नही रह सकती। जल्दी या देर मे उसे बदलना पडेगा और देश से धात्विक द्रव्य निकल जाने के पश्चात् ऐसी प्राकृतिक शक्तियाँ है जो कि उसको फिर से वापिस लाने का प्रयत्न करती हैं ?"[४]

यह स्मरण रहे कि हमे केवल दो देशो के आयातो-निर्यातो के बराबर होने को ही नहीं देखना है, बल्कि एक देश के लगभग सभी देशो के साथ आयातो और निर्यातो को देखना है जो कि अवश्य ही एक दूसरे के बराबर होंगे।

---

१ विनिमय नियन्त्रण की विभिन्न रीतियो का अध्ययन आगे चल कर दिया गया है।

२ "Exports Pay for Imports."

३ "Imports and Exports tend to be equal"

४. "The current of trade cannot for ever continue in one direction any more than the tide of the sea , sooner or later it must change, and after metallic money has been taken out of a country, there are natural forces which tend to bring it back again."—Taussig.

सत्ताईसवां अध्याय

भारत का विदेशी व्यापार

भारत के विदेशी व्यापार को अध्ययन की सुविधा के लिए हम दो भागों में बांट सकते हैं। प्रथम, भारतीय व्यापार स्वतन्त्रता से पूर्व और दूसरे, भारतीय व्यापार स्वतन्त्रता के पश्चात्। यह विभाजन इस दृष्टिकोण से किया गया है कि स्वतन्त्रता से पहले भारतवर्ष एक गुलाम देश था, कोई भी नीति उसकी अपनी न थी। प्रत्येक नीति विदेशी अंग्रेज सरकार द्वारा निर्मित की जाती थी, जिसका मुख्य ध्येय विदेशियों के हितों को बढ़ाना होता था। परन्तु स्वतन्त्रता के बाद भारत में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई जो स्वतन्त्रता-पूर्वक एक ऐसी नीति का निर्माण कर सकी जो देशवासियों के हित में रही। यद्यपि विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता की बात करना कुछ अजीब-सा लगता है क्योंकि विदेशी व्यापार में अधिकतर एक देश को स्वतन्त्र नीति अपनाने के लिए बहुत सीमित क्षेत्र होता है। एक देश को, विशेष कर भारत को जैसी की उसकी अवस्था थी, स्वतंत्रता के बाद भी विदेशों द्वारा निर्मित अधिकांश शर्तों को स्वीकार करना पड़ता है। परन्तु फिर भी विदेशी व्यापार में राजनीतिक स्वतन्त्रता का अपना एक अलग स्थान है।

स्वतन्त्रता से पहले भारत का विदेशी व्यापार

भारतीय विदेशी व्यापार का इतिहास बहुत पुराना है। ईसा से ३,००० वर्ष पूर्व ही भारत की बनी हुई वस्तुएं मिस्र, रोम, अरब आदि देशों को भेजी जाती थीं। अधिकतर ढाका की मलमल तथा अन्य प्रकार के बढ़िया सूती कपड़े, हाथी दाँत, मसाले, इत्र, बर्तन आदि वस्तुओं का निर्यात होता था और इनके बदले घोड़े, शराब, बहुत-से धातु सोना, टीन, ताँबा आदि वस्तुओं का आयात होता था। रेशम चीन से और मोती लंका से आते थे। मुस्लिम काल में बहुत-सी ऐश्वर्यशाली वस्तुओं की आयात होती थी। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आरम्भ में भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन दिया, भारतीय रेशमी और सुन्दर कपड़ों को इंगलैण्ड भेजा, परन्तु अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ होते ही भारतीय निर्यातों पर प्रतिबन्ध लगा दिये गए, और जैसे-जैसे औद्योगिक क्रान्ति बढ़ने लगी, भारतवर्ष ब्रिटिश उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए कच्ची सामग्री का निर्यात करने लगा। सन् १८६६ में स्वेज नहर के खुलने से भारत और इगलैण्ड की दूरी और भी कम हो गई और साथ-ही-साथ भारतवर्ष में रेल बन जाने से भारतीय विदेशी व्यापार का रुख ही बदल गया। इधर ब्रिटिश सरकार ने स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाई। इन सब कारणों से भारतीय विदेशी व्यापार का आश्चर्यजनक विस्तार हो गया था। सन् १८६६ में जब हमारा व्यापार ८६ करोड़ रुपये का था, सन् १९१४ में ३७६ करोड़ रुपए का हो गया था।

प्रथम महायुद्ध में भारत के आयात और निर्यात दोनों ही कम हो गए। यह कमी कई कारणों वश थी। जैसे, जहाजों का न मिलना, विदेशी विनिमय प्राप्त करने की कठिनाई, शत्रु देशों में व्यापार का स्थगित हो जाना, व्यापार पर प्रतिबन्ध लग जाना और बीमे और किराये की दरों का बढ़ जाना आदि-आदि। युद्ध के बाद हमारा विदेशी व्यापार दिन-प्रति-दिन बढ़ता गया, परन्तु यातायात की कठिनाइयों और भारतीय रुपए की ऊँची विदेशी विनिमय-दर होने के कारण भारतीय निर्यात हतोत्साहित होने लगे और आयातों को प्रोत्साहन मिला, जिसके कारण सन् १९२०–२१ में भारत का व्यापारिक सतुलन ८० करोड़ रुपयों से उसके विपक्ष में हो गया था। सन् १९२२–२३ में भारतीय व्यापार फिर बढ़ा और व्यापारिक सतुलन ७० करोड़ रुपयों मे भारत के पक्ष में हो गया। सन् १९२९–३० में भारतीय विदेशी व्यापार की स्थिति निम्न प्रकार थी :

तालिका न० १

करोड़ रुपयों में

वर्ष	आयात	निर्यात	सतुलन
१९१९–२०	२२२	३३६	+ ११४
१९२०–२१	३४७	२६७	— ८०
१९२१–२२	२८२	२४८	— ३४
१९२२–२३	२४६	३१६	+ ७०
१९२९–३०	२४९	३१८	+ ६९

सन् १९२९-३० की मन्दी ने भारतीय व्यापार पर बहुत बुरा प्रभाव डाला। उसके कच्चे माल के दाम तेजी से गिरने लगे और व्यापारिक सतुलन उसके विपक्ष में हो गया, जिसके कारण सन् १९३०–३८ के बीच ३८२ करोड़ रुपयों का सोने का निर्यात करना पड़ा।

सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध आरम्भ हो गया। द्वितीय महायुद्ध के प्रभावों की विवेचना करने से पूर्व सक्षेप में भारतीय विदेशी-व्यापार की द्वितीय महायुद्ध से पहले की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है। यह विशेषतायें निम्न प्रकार हैं:—

(१) युद्ध से पहले हमारे निर्यात अधिकतर कृषि-उत्पादक वस्तुओं और कच्ची सामग्री के हुआ करते थे और निर्मित वस्तुएं बहुत ही थोड़ी मात्रा में बाहर भेजी जाती थी। सन् १९३८–३९ में कच्ची सामग्री का निर्यात, कुल भारतीय निर्यात व्यापार का ७०% था। इन वस्तुओं में जूट, तिलहन, चाय, कपास इत्यादि थीं। यह इस बात का द्योतक है कि हमारे देश में उद्योगीकरण नहीं था, इसीलिए कच्चे माल का निर्यात किया जाता था।

(२) भारत में अधिकतर विदेशों से बनी हुई वस्तुएँ आया करती थी। सन् १९३८–३९ में भारतीय आयात में इनका अनुपात ६३% था और यह वस्तुएँ मुख्यत उपभोग की वस्तुएँ हुआ करती थी, जैसे, साईकिलें, मोटरकार, फैशन का सामान इत्यादि।

(३) भारत का व्यापारिक संतुलन, युद्ध से पहले, अधिकतर भारत के पक्ष में रहता था। हमारा अधिकतर विदेशी व्यापार यूनाइटेड किङ्गडम (United Kingdom) से हुआ करता था। सन् १९३८–३९ में यह केवल ३३% रह गया था। केवल निर्यात व्यापार सन् १९३८–३९ में ही ४४% था, जबकि, जर्मनी को ६६%, अमेरिका को ८% और जापान को ९% निर्यात किया जाता था।

इस प्रकार उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि हमारा विदेशी व्यापार इस ढग का था कि उससे देश के औद्योगीकरण में बहुत बाधाएँ पड़ी। हमारे देश का कच्चा माल, विदेशों को भेज दिया जाता था, जो उसका पूर्ण लाभ उठाते थे। बने हुए माल के लिए हमारी निर्भरता विदेशों पर बढती गई, जिससे देश को इतनी हानि हुई कि आज तक उससे मुक्त नही हो पाया है। यद्यपि हमारे देश का व्यापारिक सतुलन हमारे पक्ष में था, परन्तु उससे देश की अर्थ-व्यवस्था को बहुत ठेस पहुँची। इसी कारण आज हम आर्थिक दृष्टिकोण से पिछड़े हुए हैं।

द्वितीय महायुद्ध और उसके प्रभाव

द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ होते ही व्यापार पर सरकारी नियन्त्रण बढने लगा और हमारे विदेशी व्यापार में विशेष परिवर्तन हुए। पूरा चित्र ही बदल गया। भारत ने युद्धकाल में युद्धक्षेत्रों को अनाज भेजा, एशिया के अनेक देशों को तैयार माल का निर्यात किया। युद्ध से पहले, ईरान, ईराक, मिस्र, आदि देश जापान और जर्मनी से आयात किया करते थे, परन्तु युद्धकाल में इन देशों ने माल भारत से लेना शुरू कर दिया। भारत का व्यापार, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि देशों में भी बढ गया। इस प्रकार युद्धकाल में भारत ने मुख्यत बने हुए माल का निर्यात किया। इधर भारतीय आयात निरंतर गिरते गये। जबकि सन् १९३८–१९३९ में भारत १६८५ करोड रुपयों का निर्यात करता था, सन १९४४ में यह निर्यात बढ कर २१० करोड हो गये थे। पूर्ण स्थिति नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जाती है।

तालिका न० ७

करोड़ रुपयों में

वर्ष	आयात	निर्यात	सतुलन
१९४०–४१ . . .	१५७	१८७	+३०
१९४१–४२ .	१७३	२३७	+६४
१९४२–४३ . ..	११०	१८७	+७७
१९४३–४४	११८	१९९	+८१
१९४४–४५ . ..	२०४	२१०	+ ६

परन्तु सन् १९५०–५१ में बढ़ कर यह क्रमशः ११,७८७ लाख रुपए और ११,५३८ लाख रुपए हो गई थी। यह स्थिति केवल अवमूल्यन के कारण ही नहीं उत्पन्न हुई थी, बल्कि इस काल में सरकार ने आयातों पर बहुत प्रतिबन्ध लगाए थे। उधर कोरिया युद्ध के छिड़ जाने से अमेरिका ने बहुत-सी युद्ध-सामग्री भारत से खरीदी थी। इन सभी कारणों से हमारे व्यापारिक संतुलन की स्थिति कुछ सुधर गई थी।

पर प्रथम योजना के आरम्भ होने से भारत के आयातों में वृद्धि होने लगी। इस प्रकार सन् १९५०–५१ से योजना के अन्त तक अर्थात् सन् १९५५–५६ तक भारतीय व्यापार का संतुलन प्रतिकूल ही होता गया और १९५५–५६ में यह १०५ ५ करोड़ रु० हो गया था जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है —[१]

तालिका न० ३

(करोड़ रु० में)

वर्ष	कुल आयात	कुल निर्यात	व्यापार का संतुलन
१९५०–५१	६५० ३	६४६ ८	— ३ ५
१९५१–५२	९६२ ९	७३० १	—२३२ ८
१९५२–५३	६३३.०	६०१ ९	— ३१ १
१९५३–५४	४९१ ८	४३९ ७	— ५२ १
१९५४–५५	६४१ ६	५५६ ६	— ८५ ०
१९५५–५६	७४७ ७	६४२ २	—१०५ ५
प्रथम योजना काल में	३,६१७ ०	३,११० ५	—५०६ ५

उक्त तालिका से यह स्पष्ट है कि प्रथम योजना के अन्तिम दो वर्षों में सन् १९५१-५२ के बाद भारत के आयात और निर्यात में सबसे अधिक वृद्धि हुई है। भारत में विकास योजनाओं को कार्यान्वित किया गया तथा इसके लिए करोड़ों रुपये की मशीनों, लोहा व इस्पात का सामान और कुछ उद्योगों के कच्चे माल भी आयात करने पड़े। साथ ही, पश्चिमी औद्योगिक देशों में भी आर्थिक विकास होने से हमारे निर्यात भी बढ़े, परन्तु आयात की अपेक्षा बहुत कम वृद्धि हुई। सन् १९५६–५७ में अनुमानतः १,००० करोड़ से अधिक का माल विदेशों से आयात हुआ और लगभग ६५० करोड़ रुपयों के माल का निर्यात हुआ। इस प्रकार इस वर्ष लगभग ३५० करोड़ रुपए का घाटा रहा और व्यापार संतुलन और अधिक प्रतिकूल हो गया। इस समस्या को हल करने के लिए सरकार हर प्रकार के उपाय कर रही है, जिनका विवरण आगे दिया गया है।

अब हम स्वतन्त्रता के बाद भारतीय विदेशी व्यापार की स्थिति का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

---

१. Report on Currency and Finance by Reserve Bank of India P. 10.

व्यापारिक संतुलन (Balance of Trade)

द्वितीय महायुद्ध काल म भारत का व्यापारिक सतुलन अनुकूल था, परन्तु युद्ध के बाद केवल सन् १६५०–५१ को छोड कर यह लगातार प्रतिकूल होता गया, जैसा कि तालिका नम्बर ३ से स्पष्ट होता है। वास्तविकता यह है कि युद्ध से पहले और युद्ध के काल में व्यापारिक सतुलन का अनकूल होना स्वाभाविक ही था, परन्तु युद्ध के बाद ऐसा होना आवश्यक नही था। इसके कई कारण है —

(१) देश मे आर्थिक नियोजन सम्बन्धी कार्यों के लिए विदेशो से बडी मात्रा म आयात किये गए। प्रथम पचवर्षीय योजना को सफल बनाने के हेतु वड़ी सख्या में मशीनें और कच्चा माल बाहर से मँगाना पडा।

(२) युद्धकाल मे भारत के नाम मे कुल १,७३३ करोड़ रुपए के पौंड पावने इगलैण्ड मे जमा हो गए थे, जिससे व्यापारिक सतुलन प्रतिकूल होने की दशा में भी भारत को विदेशी विनिमय सम्बन्धी किसी प्रकार भी कठिनाई का सामना नही करना पड़ा।

(३) भारत ने अमेरिका और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से जो ऋण प्राप्त किये है, उनसे भी व्यापारिक सतुलन के घाटे की राशि का भुगतान कर दिया जाता है।

परन्तु इसका यह अर्थ नही कि भारत का व्यापारिक संतुलन प्रतिकूल रहते हुए भी भारत की आर्थिक दशा सतोषजनक है। यदि यह प्रतिकूलता अधिक समय तक चलती रही तो यह देश के आर्थिक विकास के लिए एक केन्सर बन जायेगी। एक नये समझौते के अनुसार ब्रिटेन ने भारत के पौड पावनो में से केवल ३ करोड़ ५० लाख पौंड प्रतिवर्ष देने का वायदा किया है। इसलिए यह ध्यान रखना पड़ेगा कि विदेशी व्यापार का घाटा इस राशि से अधिक न हो।

भारत के व्यापारिक सतुलन की प्रतिकूलता का एक कारण यह भी था कि सन् १६४८ मे सरकार ने देश में मुद्रा-स्फीति को समाप्त करने के लिए और देश की माँगों को पूरा करने के लिए एक उदार आयात-नीति अपनाई, जिसके कारण हमारे आयात सन् १६४८–४६ मे बहुत बढ गए थे, जैसा कि तालिका न० ३ से स्पष्ट होता है। दूसरी ओर हम अपने निर्यातो में वृद्धि न कर सके, क्योकि कच्चे माल की कमी थी और देश मे औद्योगिक उत्पादन भी नही बढ रहा था। इस कारण हमारा व्यापारिक संतुलन प्रतिकूल होता गया। भारतीय रुपए के अवमूल्यन, कोरिया का युद्ध और सरकार की निर्यातों को प्रोत्साहन देने की नीति के कारण सन् १६५०–५१ मे हमारा व्यापारिक सतुलन अनुकूल हो गया था, परन्तु यह अनुकूलता अधिक समय तक न रह सकी। सर्व-प्रथम अवमूल्यन के लाभ स्थायी न रहे, सन् १६५१ के आरम्भ में ही भारतीय सरकार ने वस्तुओ का प्रयोग निर्यात की अपेक्षा घरेलू माँगो को पूरा करने के लिए किया। कच्चे माल का निर्यात बिल्कुल बन्द कर दिया और कुछ वस्तुओ पर निर्यात-कर लगा दिये गए। इधर विश्व-शान्ति के स्थापित होने की आशा से देशो की शस्त्रीकरण की गति भी मन्द पड़ गई थी। इन सब कारणो से भारतीय निर्यात व्यापार बहुत घट गया था। सन् १६५२ के आरम्भ मे देश का मूल्य-स्तर गिरने लगा, जिससे व्यापारिक सतुलन की

स्थिति और भी बिगड़ गई जैसा कि तालिका न० ४ मे विदित होता है। सन् १९५२–५३ मे स्थिति कुछ सुधर गई थी। हमारे आयातो मे बहुत कमी हो गई थी और अब व्यापालिक संतुलन केवल ३१.१ करोड रुपये से ही प्रतिकूल था, जबकि १९५५–५६ में यह प्रतिकूलता १०५ ५ करोड रुपयो की हो गई, जैसा कि उक्त तालिका मे दिखाया गया है।

भुगतान संतुलन

वास्तव मे प्रत्यक्ष आयात और निर्यात के आधार पर ही सन्तुलन निकाला जाता है। इसके अन्तर्गत वस्तुओं का आयात-निर्यात, अप्रत्यक्ष आयात व निर्यात (Invisible Imports and Exports) जैसे ऋण, दान, यातायात का व्यय, डाक, बीमा तथा अन्य कार्यो का व्यय, मुसाफिरो (Tourists) तथा विदेशी यात्रियो द्वारा व्यय की गई मुद्रा आदि मदे होती हैं। इन अप्रत्यक्ष मदो मे द्वितीय युद्ध के पश्चात् कुछ वृद्धि हुई थी जिससे भुगतान के संतुलन मे भी कुछ कमी हुई। प्रथम योजना काल मे भारत मे अप्रत्यक्ष मदों से बचत मे वृद्धि हुई है क्योकि सरकारी आधार पर कोलम्बो योजना व इडो-अमेरिकन टैक्नीकल सहयोग समझौते के अन्तर्गत भारत को पर्याप्त सहायता मिली। सन १९५५–५६ तक भारतीय भुगतान के सन्तुलन की स्थिति इस प्रकार थी —

तालिका न० ४

करोड रु० मे

	१९५०-५१	५१–५२	५२–५३	५३–५४	५४–५५	५५–५६
व्यापारिक सतुलन	— ३ ५	—२३२ ८	—३१ १	—५२ १	—८५ ०	—१०५ ०
अदृश्य मदों से बचत	+३० ७	+६४.२	+४९ ६	+८३ १	+६७ ८	+९० ०
वर्तमान भुगतान का सतुलन	+२७.२	—१६८ ६	+१८ ५	+३१.०	—१७ २	+१५.०

स्वतन्त्रता के बाद भारतीय निर्यातो मे वृद्धि होने लगी थी। सन् १९५०–५१ मे ६४६.८ करोड रुपए का माल निर्यात हुआ था। सन् १९५१–५२ मे ७३०.१ करोड रु० का सामान विदेशो को भेजा गया था। प्रथम योजना काल में यह निर्यात की मात्रा सबसे अधिक थी। अगले वर्षों में स्थिति बदली और निर्यात में कमी होकर सन् १९५२–'५३ मे ६०१.९ करोड रु० और १९५३–५४ मे केवल ४३९ ७ करोड रु० ही रह गये थे। इन वर्षो में निर्यात मे कमी होने का कारण यह था कि एक तो देश मे निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का उत्पादन कम हुआ था और दूसरे भारत सरकार ने निर्यात पर अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये थे। परन्तु बाद में सरकार ने स्वय नीति बदली और अनेक वस्तुओ पर निर्यात-कर की दर को घटा दिया। फलस्वरुप निर्यात फिर बढने लगे और सन् १९५४–

५५ में ५९६ ६ करोड और १९५५–५६ में ६४३ २ करोड़ रु० का निर्यात हुआ। परन्तु सन् १९५६–५७ मे फिर निर्यात मे ३ करोड रु० कमी हुई है और अनुमानतः केवल ६३६ २ करोड रु० का सामान ही बाहर भेजा गया है। कपास, सनी व जूट के सामान के निर्यात म इस वर्ष कमी हुई है। परन्तु अब सरकार विदेशी मुद्रा को अधिकतम कमाने के लिए निर्यात बढाने के अनेक उपाय कर रही है, जैसे निर्यात प्रतिबन्धो मे ढील देना, निर्यात बढाने वाली समितियों की स्थापना करना, दूसरे देशो के साथ व्यापारिक समझौतो में आवश्यक संशोधन करना आदि। सन् १९५४ और १९५५ मे भारत मे विभिन्न वस्तुओ के निर्यात और द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष में अर्थात् १९६०–६१ में विभिन्न वस्तुओ के अनुमानित निर्यात का विवरण निम्नलिखित तालिका मे दिया गया है :—

तालिका नं० ५

(करोड रु०)

निर्यात की जानेवाली वस्तुएँ	१९५४	१९५५	१९६०–६१
चाय	१३१	११२	१२३
सन व जूट का सामान	१२२	१२६	११८
सूत व सूती वस्त्र	७२	६३	८४
तेल (खनिज तेल के अतिरिक्त)	११	३९	७४
तम्बाकू	१२	११	१७
खाल व चमडा (कच्चा व पक्का)	२६	२७	२८
कच्ची व बेकार (Waste) रुई	१६	३५	२२
कच्चा धातु व कच्चा लोहा व इस्पात	२३	२०	२७
कोयला व कोक	६	४	३
रसायन, दवाइयाँ व ड्रग्स (Drugs)	५	४	५
कटलरी, बर्तन, मशीनें, बिजली का सामान आदि	३	४	४
अन्य	१३०	१५१	१५०
कुल योग	५६३	५९६	६१५

जूट का सामान—भारतीय निर्यात व्यापार मे सदैव ही जूट के सामान का प्रमुख स्थान रहा है पर पिछले कुछ वर्षों मे इसके निर्यात मे कुछ कमी हो गई है। जबकि सन् १९४८–४९ में ९३ लाख टन का निर्यात हुआ था, सन् १९५०–५१ में यह घट कर ६९ लाख टन रह गया था। यद्यपि तालिका नम्बर ६ मे यह स्पष्ट है कि १९५१–५२ में जूट का निर्यात बढ गया, परन्तु वास्तविकता यह है कि जूट की मात्रा तो कम हो गई है, परन्तु उसके मूल्य में अवश्य वृद्धि हो गई है, क्योंकि निर्यात-कर भी मूल्य के साथ जोड दिया गया था। फिर भी सन् १९५४–५५ जूट के सामान के निर्यात मे वृद्धि होगई क्योंकि जूट के सामान पर निर्यात-कर हटा दिया गया था और अर्जेण्टाइना, बर्मा पश्चिमी अफ्रीका तथा मध्यपूर्वी देशो ने भी पर्याप्त मात्रा मे भारत से जूट का सामान

खरीदा था। सन् १९५४ में ८.४१ लाख टन और १९५५ में ८.९३ लाख टन जूट व जूट के सामान का निर्यात हुआ। परन्तु द्वितीय योजना काल में जूट उत्पादन करने वाले अन्य देशों की प्रतिस्पर्धा के कारण केवल ८.७५ लाख टन के निर्यात होने का अनुमान लगाया गया है।

इसके भी कई कारण हैं :

(१) सरकार ने निर्यात-कर की मात्रा अधिक कर दी थी, परन्तु हाल ही में इसमें कमी कर दी है।

(२) जूट के माल का उत्पादन व्यय बहुत बढ़ गया है।

(३) भारतवर्ष के पास अब जूट के उत्पादन का एकाधिकार नहीं है। संसार के और भी देश जूट का सामान बना रहे हैं, जिनसे भारतीय उत्पादकों को कड़ी प्रतियोगिता करनी पड़ती है। इसके अतिरिक्त इसकी स्थानापन्न वस्तुएँ भी खोज निकाली गई हैं। फिर भी जूट-उद्योग का विश्व बाजार में भारत का प्रमुख स्थान है। यदि इस उद्योग के प्रति सरकार सतर्कता बरते और इसके विकास में सहायता दे, तो उद्योग में वृद्धि होगी जिससे उत्पादन-व्यय और उत्पादित माल की किस्म में काफी सुधार हो जायेगा और भारत सफलतापूर्वक विदेशों की प्रतिस्पर्धा का सामना करके अपना एकाधिकार बनाये रखेगा।

चाय—परन्तु फिर भी चाय के निर्यात का मूल्य कुल निर्यात के मूल्य के ४०% से भी अधिक रहता है। इसके निर्यात से भारत को लगभग १०० करोड रु० से अधिक विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। गत तीन वर्षों में ३५९ करोड रु० चाय के निर्यात से मिले हैं, जबकि जूट व वस्त्र उद्योग के निर्यात से क्रमश: ३५६ और २०२ करोड रु० ही प्राप्त हुए थे। यह भी महत्वपूर्ण बात है कि जूट और वस्त्र के निर्माण में तो भारत को विदेशों से कच्चा माल, जूट और कपास के रूप में मँगाना पडता है जबकि चाय के उत्पादन में विदेशों पर तनिक भी निर्भर नहीं रहना पड़ता। गत दो वर्षों में चाय के निर्यात की मात्रा व मूल्य निम्न तालिका में दिखा गया है —

भारत से चाय का निर्यात

देश	(मात्रा लाख पौंड में)		(मूल्य करोड रु० में)	
	१९५४–५५	१९५५–५६	१९५४–५५	१९५५–५६
ब्रिटेन	३,३००	२,८०९	१०१ ८३	७३.९५
अमेरिका	३०३	२५४	१० ३८	६.७८
कनाडा	२०३	१७३	७ ३८	४ ७२
ईराक गणतंत्र राज्य	२३२	१९७	७ ३४	५ ६१
ईरान	८५	८३	४.२९	३ ९७
मिस्र	९२	१४७	३ ४१	४ १२
आस्ट्रेलिया	७८	६२	२ ७४	१.५५
नीदरलैण्ड	४०	४१	१ ५१	१ ०४
सूडान	४८	३०	१ २९	०.६९
नवेट	३०	२८	१.१९	०.७३
पश्चिमी जर्मनी	२६	४२	१.०५	१.२९
बहीती	२५	२६	० ९४	० ६२
टर्की	२१	५४	०.८३	१ ७२
कुल योग	४,४८३	३,९४६	१४४.१४	१०६ ७९

उक्त तालिका से यह स्पष्ट होता है कि ब्रिटेन के बाद अमरीका ही भारतीय चाय का सबसे बड़ा ग्राहक है और वहाँ को चाय का निर्यात करने की ओर भारत सरकार ने ध्यान दिया है। इसी प्रकार कनाडा, आस्ट्रेलिया और मिस्र आदि देशों में जो भारत की अपेक्षा अन्य देशों से अधिक चाय मँगवाते हैं, भी निर्यात बढ़ाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

सूत और सूती सामान—सन् १६४८–४६ में जो निर्यात ३४ करोड़ दस लाख गज कपड़े का था, वह सन् १६५०–५१ में १ अरब २७ करोड़ गज हो गया था। इस प्रकार सूती सामान के निर्यात में वृद्धि हुई है। यद्यपि निर्यात-प्रोत्साहन कमेटी (Exports Promotion Committee) ने प्रति वर्ष ८० करोड़ गज़ कपड़े का निर्यात करने का सुझाव दिया था, परन्तु सन् १६५०–५१ में भारत ने इस आशा में कि शायद भारत का इस सम्बन्ध में प्रमुख स्थान हो जाय, एक उदार नीति अपनाई, जिसका परिणाम यह हुआ कि देश में कपड़े की माँग बढ़ने लगी और कपड़े के मूल्य बहुत चढ़ गए। इस स्थिति में सरकार ने चिन्तित होकर सन् १६५१–५२ में निर्यात व्यापार को हतोत्साह करके केवल ४२ करोड़ ४० लाख गज कपड़े का निर्यात किया। इसके अतिरिक्त सूती सामान के निर्यात घटने का एक महत्वपूर्ण कारण यह भी रहा है कि भारतीय माल अपेक्षाकृत घटिया था। पैकिंग अच्छी नहीं थी, भारतीय उत्पादक नमूने के अनुसार कपड़ा नहीं भेजते थे और उत्पादन-व्यय अधिक होने के कारण भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता-शक्ति भी कम थी। सन् १६५३–५४ में ७४ करोड़ गज और सन् १६५४–५५ में ७६.१ करोड़ गज वस्त्र का निर्यात हुआ था, जबकि सन् १६५५–५६ में केवल ६८ करोड़ गज के निर्यात होने का अनुमान है। दूसरे शब्दों में सन् १६५५–५६ में उत्पादित प्रति १,००० गज वस्त्र में से केवल १२७ गज़ कपड़ा निर्यात होने का अनुमान है, जबकि १६५४–५६ में १५१ गज का निर्यात हुआ था। इस प्रकार कुछ दिनों से वस्त्र का निर्यात घट रहा है, जबकि इसके बढ़ने की अत्यन्त आवश्यकता है। इसके घटने का कारण एक तो यह है कि देश के अन्दर ही कपड़े की माँग बहुत बढ़ गई जिससे मिलों को यहीं कपड़ा बेचने में अधिक लाभ होने लगा है और दूसरा यह कि सरकार ने मिलों में कपड़ा उत्पादन की मात्रा में प्रतिबन्ध लगा दिये हैं, जिससे माँग के अनुसार मिलों में कपड़ा नहीं बन पाता और मूल्य में बहुत अधिक वृद्धि होने लगती है। इसका फल यह होता है कि भारत अपने कपड़े के विदेशी बाजारों को खोता जा रहा है। द्वितीय योजना काल में विदेशी मुद्रा अर्जन करने की आवश्यकता के बढ़ जाने से इस उद्योग का, सबसे पुराना होने के कारण और भी अधिक दायित्व हो जाता है कि वह अपने निर्यात बढ़ाने की चेष्टा करे। इस सम्बन्ध में सरकार को भी ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिससे उद्योग की उत्पादन-लागत कम हो और वह विदेशों में अपनी प्रतिस्पर्धा शक्ति को बनाये रखे। दूसरी ओर हाथ कर्घा उद्योग के वस्त्र, जिनको विदेशों में बहुत पसन्द किया जाने लगा है, का उत्पादन और अधिक बढ़ाना चाहिए।

कपास (कच्ची रुई) और तेल (वनस्पति तेल के अतिरिक्त) के निर्यात में भी गत वर्षों में बड़ी तेज़ी से वृद्धि हुई है। सन् १६५४ में २६,००० टन कच्ची रुई का निर्यात हुआ था, जबकि सन् १६५५ में ६३,००० टन का निर्यात हुआ। इसी प्रकार

तेल का निर्यात सन १९५४ और १९५५ में क्रमश. १६८ लाख गैलन और ७५७ लाख गैलन का हुआ था। इनके अतिरिक्त तमाम अन्य चीजों का थोडी-थोड़ी मात्रा में निर्यात किया जाता है, जिसके भविष्य में बढ़ाने की कोई संभावना नही है।

निर्यात-व्यापार का संगठन

भारत के निर्यात व्यापार मे कोई विशेष परिवर्तन नही हुए है। पिछले वर्षो के भारतीय विदेशी व्यापार के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत के निर्यात व्यापार मे सदैव ही जूट के सामान और चाय का प्रमुख स्थान रहा है। इसके अतिरिक्त कपास और कच्ची जूट का निर्यात व्यापार मे कोई महत्व नही रहा है, बल्कि स्वय भारत को विदेशी आयातो पर निर्भर रहना पडता है। सूत और सूती सामान, चमडा और तेल का महत्व हमारे निर्यात व्यापार मे दिन-प्रति-दिन बढता जा रहा है। हमारे निर्यात व्यापार की एक महत्व पूर्ण विशेषता यह भी है कि युद्ध के पश्चात् से हमारे निर्यात व्यापार मे तैयार माल का स्थान ऊंचा होता जा रहा है जिससे स्पष्ट है कि देश का अधिक औद्योगीकरण हो रहा है। पहले की भाति अब कच्चे माल का निर्यात नहीं होता, बल्कि अब तैयार माल और आधे तैयार माल के रूप मे वस्तुओ का निर्यात किया जाता है।

निर्यात व्यापार देशो के अनुसार—ब्रिटेन और अन्य कामनवेल्थ देशो का हमार निर्यात व्यापार मे विशेष स्थान रहा है। इन देशो का सन् १९३८–३९ मे कुल निर्यात व्यापार का ५२.३ प्रतिशत भाग था, परन्तु यह घट कर सन् १९४७–४८ मे ५१.३ प्रतिशत और १९५१-५२ मे ५१ ७ प्रतिशत हो गया था। इसके अतिरिक्त १९५२–५३ मे २९४ करोड रुपए का निर्यात किया गया था। सन् १९५३–५४ मे कुल निर्यात का ५१ ३% भाग कामनवैल्थ देशो को भेजा गया था। इन सब आँकडो से यह स्पष्ट है कि हमारा निर्यात कामनवेल्थ देशो से अब काफी गिर गया है। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो, इन देशो द्वारा आयात पर लगाये हुए प्रतिबन्ध और दूसरे, विदेशी प्रतियोगिता।

भारतीय आयात

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् विनिमय-नियन्त्रण की कठोर नीति अपना कर आयातों की मात्रा को बहुत कम कर दिया गया। हमारे आयात इस कारण से भी कम हो गए थे कि निर्यातों के लिए भारत के पास कुछ नहीं बचता था, यात यात की सुविधाएँ भी कम होने के कारण भारतीय यातायात काफी घट गया था। युद्ध समाप्त होते ही भारत सरकार ने मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए एक उदार आयात नीति अपनाई और निर्यातो पर प्रतिबन्ध लगा दिये। इसके फलस्वरूप सन् १९४८–४९ में भारत ने ९४३ ८५ करोड रु० का आयात किया और सन् १९५१–५२ मे वह ९६२.९ करोड़ रु० तक पहुँच गया। प्रथम योजना काल में इसी वर्ष सब से अधिक मात्रा मे आयात हुए थे। इसके बाद स्थिति कुछ सुधरी और सन् १९५३–५४ और १९५३–५४ मे आयात की मात्रा मे कमी होकर क्रमश. ६०१.९ करोड़ रु० और ५३९ ७ करोड रु० के आयात रह गये थे,

क्योंकि इन वर्षों मे खाद्यान्न और अन्य वस्तुओं के आयात मे बहुत कमी हो गई थी। परन्तु सन् १९५४–५५ और १९५५–५६ मे विकास योजनाओं को अधिक तेजी से कार्यान्वित करने के कारण विदेशों से भारी मात्रा मे मशीनो व अन्य सामानों का आयात करना पडा, जिससे इनमे फिर वृद्धि हो गई। सन् १९५४–५५ मे ५९६ ६ और ५५–५६ में ६४२ २ करोड रु० के मूल्य के आयात किये गये। सन् १९५६–५७, अर्थात् द्वितीय योजना के प्रथम वर्ष में विकास सबन्धी प्रयोजनो के लिए और भी अधिक माल मँगाया गया है और अनुमानत १,००० करोड रु० से भी अधिक का आयात किया गया है, और यह आशा की जाती है कि १९६०–६१ तक योजना सम्बन्धी प्रयोजनों के लिए भारत बराबर विदेशों से आयात करता रहेगा। निम्नलिखित तालिका में सन् १९५४– और १९५५ मे किये गये आयातों का व द्वितीय योजना मे आवश्यक आयातों का विवरण दिया गया है —

तालिका नं० ७

भारतीय आयात[१]

(करोड रु०)

आयात की जाने वाली वस्तुएँ	१९५४	१९५५	द्वितीय योजना का अंतिम वर्ष १९६०–६१	द्वितीय योजना काल में कुल आयात १९५६–६१
मशीनें व गाड़ियाँ	१२१	१९५	२५०	१,५००
लोहा व इस्पात	२७	५०	६०	४३०
अन्य धातुएँ	२४	२५	४०	२३०
खाद्यान्न	४९	३५	४०	२४०
चीनी	३१	२०	७	३५
तेल	९४	९३	९०	४१०
रसायन, औषधि व ड्रग्स ..	३१	३४	३३	१६०
रग	१९	१८	१५	८५
कागज, दफ्ती व अन्य स्टेशनरी	१३	१४	१०	५५
बिजली का सामान, कटलरी, औजार आदि	२८	३६	२९	१४५
कच्ची रुई	५८	५४	५४	२७०
कच्ची जूट	१२	१७	१८	९०
अन्य	११३	१३०	१४०	७००
कुल	६२०	६५५	७८६	४,३४०

खाद्यान्न—देश के विभाजन से पूर्व खाद्यान्न के लिए हमारी निर्भरता केवल एक थोडी-सी मात्रा के लिए वर्मा और अन्य देशों पर थी, परन्तु विभाजन के बाद यह निर्भरता और भी बढ गई। सन् १९४८ में यह आयात २७ लाख ५० हजार टन था.

१. Second Five Year Plan 1956, p. 99.

परन्तु यह आयात प्रतिवर्ष १० हजार टन बढता चला गया। सन् १९५१ में योजना आयोग (Planning Commission) का विचार था कि देश की जनता १½ प्रतिशत की दर से बढ रही है, जिसको खिलाने के लिए ३० लाख टन प्रति वर्ष आयात करना पड़ेगा। परन्तु क्योंकि खाद्यान्न के आयात से हमारे विदेशी विनिमय साधनों पर आवश्यकता से अधिक दबाव पडता है, इसलिए सरकार ने इसको कम करने की नीति अपनाई।

कपास और उत्पादित माल—विभाजन का एक दुष्ट परिणाम यह भी हुआ कि हमारे देश में कपास की कमी हो गई, जबकि भारतीय मिलो ने सन् १९४९ में ४३ लाख गाँठें और सन् १९५१ में २८ लाख गाठो की खपत की। हमारे देश मे क्रमश २५ और ३० लाख गाठो का ही उत्पादन हो सका, जिसके कारण भारत को कपास बाहर से मँगाना पडा। इसके अतिरिक्त भारत मे घटिया किस्म की कपास का उत्पादन होता है, जबकि भारतीय मिलो मे अच्छे किस्म की कपास की आवश्यकता है। इसलिए यह आवश्यक है कि भारत को अच्छे किस्म की कपास का उत्पादन बढाना चाहिए। गत वर्षों में कच्ची रुई के आयात में कमी व जूट के आयात मे वृद्धि हुई है। सन् १९५४ मे १,२३,००० टन कच्ची रुई मँगाई गई, जबकि १९५५ मे कुल १,०६,००० टन का ही आयात हुआ था। इसके विपरीत कच्ची जूट का सन् १९५४ मे २,१२,००० टन और १९५५ में २,४८,००० टन आयात हुआ था।

मशीनें—सदैव से ही भारत मशीनो के लिए विदेशो पर निर्भर रहा है, परन्तु प्रथम पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित करने के लिए हमारे मशीनो के आयात दिन-प्रति-दिन बढते गए, जैसा कि नीचे की तालिका से विदित है।

तालिका न० ८

	(करोड रु० मे)
१९५०–५१	८७.५२
१९५१–५२	१०५ १९
१९५२–५३	८५ ३०
१९५३–५४	८३ ५१
१९५४–५५	८२.८२
१९५५–५६	११४ ५१

सन् १९५२–५३ में और १९५४–५५ मे यह आयात गिर गया, जिसका प्रथम कारण मशीनो के ऊँचे दाम, वित्त की कमी और उनके नियत स्थान पर पहुँचने मे अधिक समय लगना था। दूसरे, भारत स्वयं भी कुछ मशीनों का उत्पादन करने लगा था। इसमे कोई सन्देह नही कि देश मे तेजी से औद्योगिक विकास करने के लिए मशीनों का उत्पादन करने वाले उद्योग का विकास बहुत जरूरी है और गत वर्षों मे इस उद्योग की स्थापना भी हो चुकी है और निरन्तर इसका विकास करने की भी योजना है। परन्तु फिर भी अपने बुनियादी उद्योगों का विकास करने के लिए भारत को द्वितीय योजनाकाल मे भारी मशीनो का आयात करना ही पडेगा। इसीलिए योजना आयोग

ने १९६०-६१ तक १५०० करोड़ रु० की मशीनें आयात करने का लक्ष्य बनाया है, जिसमें से १०५० करोड़ रु० की मशीनें तो सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के लिए ही होंगी। १०५० करोड़ रु० में से ४२५ करोड़ रु० की मशीनें यातायात व संचार साधनों के विकास के लिए, २६० करोड़ रु० की खनिज उद्योगों के लिए, १७० करोड़ रु० की सिंचाई व शक्ति योजनाओं के लिए व १६५ करोड़ रु० अन्य सरकारी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मशीनों का आयात करना होगा।

इसी प्रकार लोहा व इस्पात व अन्य धातुओं के आयात में प्रथम योजनाकाल में बराबर वृद्धि हुई है। सन् १९५०-५१ में केवल १४.३१ करोड़ रु० का लोहा व इस्पात विदेशों से मँगाया गया था, जबकि सन् १९५३-५४ में २२.६७, १९५४-५५ में २८.६१ और योजना के अन्तिम वर्ष १९५५-५६ में सर्वाधिक ५४.१४ करोड़ रु० का लोहा व इस्पात बाहर से मँगाया गया था। द्वितीय योजनाकाल में भी लगभग ७० लाख टन लोहा व इस्पात मँगाना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त अल्मूनियम व अन्य धातुओं का भी आयात करना होगा। सन् १९६०-६१ तक १३० करोड़ रु० प्रति वर्ष के हिसाब से कुल ६५० करोड़ रु० की धातुओं का आयात करने का अनुमान लगाया गया है।

आयात व्यापार का संगठन

हमारे आयात व्यापार में सन् १९३८-३९ में मशीनें, तेल, सूत और सूती कपड़ा, कपास और खाद्यान्न का प्रमुख स्थान था। इनमें भी मशीनों का पहला स्थान था, परन्तु सन् १९४८-४९ के बाद मशीनों का स्थान खाद्यान्न के बाद हो गया और कपास और कच्चे जूट का महत्व बढ़ गया। सन् १९५१-५२ में मशीनों का तीसरा तथा कपास का दूसरा नम्बर था, परन्तु सन् १९५२-५३ में स्थिति बिल्कुल बदल गई। सन् १९५३-५४ में खाद्यान्न अधिक उत्पन्न होने से इनका आयात बहुत कम कर दिया गया। वर्तमान स्थिति में भारत के आयात व्यापार में मशीनों का सर्वाधिक महत्व है। इनके बाद धातु (Metals) और तेलों का स्थान आता है।

दूसरी विशेषता हमारे आयात व्यापार की यह है कि कच्चे माल का आयात बढ़ गया और तैयार माल का आयात गिर गया, जबकि युद्ध से पहले स्थिति बिल्कुल उल्टी थी। इससे यह भी विदित होता है कि हमारे देश के औद्योगीकरण में वृद्धि हो रही है।

विभिन्न देशों के साथ हमारा आयात व्यापार—युद्ध से पूर्व हमारे आयात व्यापार में ब्रिटेन का प्रमुख स्थान था, परन्तु युद्धकाल में अमेरिका ने एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। सन् १९४८-४९ में ब्रिटेन ने फिर से प्रथम स्थान ले लिया और आजकल फिर अमेरिका का प्रथम स्थान है। जबकि हमने अमेरिका से सन् १९५१-५२ और १९५२-५३ में क्रमशः २८८.७ और १८१.३८ करोड़ रुपयों का माल मंगाया था। इन्हीं वर्षों में हमने ब्रिटेन से क्रमशः १५८.१३ करोड़ और १३८.५७ करोड़ रुपयों का माल मँगाया। कामनवेल्थ देशों से हमारा आयात गिरने का प्रमुख कारण यह है कि भारत के खाद्यान्न, कपास, मशीनों, तेल आदि की आवश्यकताएँ यह देश पूरी नहीं कर सकते हैं। दूसरे ब्रिटेन के पास निर्यात करने योग्य सामान की कमी है और तीसरे, कामनवेल्थ देशों की नीति भी डालर क्षेत्र से व्यापार बढ़ाने की है।

भारत-पाकिस्तान व्यापार (Indo-Pakistan Trade)

भारत पाकिस्तान को सूती सामान, जूट का सामान, सिल्क का सामान, वोल्ट-नट, स्क्रू, तम्बाकू, वनस्पति तेल, लोहा और इस्पात, रासायनिक वस्तुएँ और दवाइयाँ आदि भेजता है, और पाकिस्तान से कच्ची जूट, कपास, खाल और चमड़ा, सीमेंट, सुपारी, बिनौला, नमक, फल और सब्जियां मँगाता है। परन्तु इस व्यापार में सन् १९४९ में जबकि भारत ने रुपए का अवमूल्यन किया, तब से बहुत अड़चनें पड़ने लगी। यद्यपि बहुत-से समझौते हुए, फिर भी व्यापार में काफी रुकावटे आई। भारत और पाकिस्तान के व्यापार की आजतक की सम्पूर्ण स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाती है :—

तालिका न० ९

भारत और पाकिस्तान का भुगतान संतुलन

(करोड़ रुपयो में)

	जुलाई सन् १९४८ से जुलाई १९४९ तक	जुलाई सन् १९४९ से दिसम्बर १९४९ तक	१९५०-५१	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
आयात	११७ १५	३४ ९१	३३ ०	७९ ३	२७ ३	१४ १	१२.७
निर्यात	८३ ०९	२६ ४१	३१ ०	२६ २	५७ ५	७ ४	११.०
व्यापारिक सतुलन	—३४ ०६	— ८ ५०	—२.०	—५३.१	+३० २	—६ ७	—१ ७
वास्तविक अदृश्य	—	—	—	+ ६ ५	+ ९ १	+४.५	+६ ४
सतुलन	—३४ ०६	— ८ ५०	—२ ०	—४६ ६	+३९ ३	—२.२	+४.७

सन् १९४८ का समझौता—मई सन् १९४८ मे भारत और पाकिस्तान के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ था, जो १८ महीने तक चला। इस अवधि में जैसा कि तालिका न० ९ से स्पष्ट है, भारत को घाटा रहा, क्योंकि भारत समझौते की शर्तों के अनुसार पाकिस्तान को तैयार माल नही दे सका। दोनो देशों के बीच व्यापार स्तर इतना नीचा रहा कि यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। परन्तु पाकिस्तान ने कच्चे माल के ऊपर निर्यात कर लगा दिया और आयातो पर बहुत-से प्रतिबन्ध लगा दिये। इसके अतिरिक्त पाकिस्तानी उपभोक्ताओं ने भारतीय सामान का उपभोग भी बन्द कर दिया और फिर भारत ने भी अपने निर्यातों पर कड़े नियन्त्रण लगा दिये, विशेष कर उन निर्यातो पर जिनकी स्टर्लिंग,डालर क्षेत्रों मे थी। परिणामस्वरूप, भारतीय निर्यात बहुत गिर गए।

यद्यपि सन् १९४९ में जून और दिसम्बर के महीनों में दो समझौते किये गए, परन्तु (१) सितम्बर में भारत के रुपए का अवमूल्यन करने से और पाकिस्तान के न करने से दोनों देशों के बीच व्यापारिक सम्बन्ध बने न रह सके। अर्थात् दोनों देशों के बीच व्यापार घटने लगा, क्योंकि अवमूल्यन के बाद कच्चे जूट का मूल्य चढ़ गया था जिसके कारण भारतीय उत्पादकों ने कच्चा जूट खरीदना बन्द कर दिया। (२) सरकार ने पाकिस्तान के आयातों पर प्रतिबन्ध लगा दिये, (३) भारतीय सरकार ने पाकिस्तान को जाने वाली वस्तुओं पर जैसे तेल, लोहा और इस्पात पर निर्यात कर लगा दिये, (४) पाकिस्तानी सरकार ने भारतीय आयातों पर आयात-कर लगा दिये और आयात लाइसेंस की शर्तें और कड़ी कर दीं। (५) क्योंकि भारतीय और पाकिस्तानी रुपयों की निश्चित दर नहीं थी, इसलिए भुगतान करने में बड़ी कठिनाइयाँ हुई। इन सब कारणों से भारत और पाकिस्तान के बीच का व्यापार गिरता चला गया।

सन् १९५०-५१ के समझौते—अप्रैल, सन् १९५० में एक और समझौता हुआ, जिसके अन्तर्गत यह तय हुआ कि पाकिस्तान भारत को जूट की ८ लाख गाठें देगा जिसका मूल्य रुपयों में ही चुकाया जायेगा और पाकिस्तान भारत से २० हजार टन जूट का माल, ४५ हजार सूती कपड़े की गाँठें, ७ हजार टन सरसों का तेल और ५ हजार टन इस्पात खरीदेगा। इसके अतिरिक्त कुछ वस्तुओं का स्वतन्त्रतापूर्वक व्यापार करने की भी बात तय हुई, परन्तु कुछ व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण यह समझौता सफल न हो सका और दिसम्बर सन् १९५० में समाप्त हो गया।

लगभग ४ महीने तक दोनों देशों के बीच व्यापार बन्द रहा। इसी बीच में पाकिस्तान ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता ग्रहण कर ली थी। कोरिया का युद्ध छिड़ जाने के कारण भी पाकिस्तान के कच्चे माल की माग बहुत बढ़ गई थी। फरवरी सन् १९५१ में फिर से एक समझौता हुआ। इस समझौते के अनुसार पाकिस्तानी रुपए की सरकारी दर को भारत ने स्वीकार कर लिया, और सभी महत्वपूर्ण वस्तुओं को सम्मिलित कर लिया गया था जिनकी दोनों देशों को आवश्यकता थी हालांकि व्यापार की मात्रा निश्चित नहीं की गई थी। परन्तु इस समझौते से भी सफलता प्राप्त न हो सकी जैसा कि तालिका नं० ६ से विदित होता है, भारत के आयात सन् १९५१-५२ में बढ़ गए और निर्यातों में कमी हो गई जिसके कारण व्यापारिक सतुलन प्रतिकूल हो गया। सन् १९५२ में कुछ स्थिति फिर बदली और पाकिस्तान ने भारत से बहुत-सा सामान मँगाया जिसके फलस्वरूप हमारा व्यापारिक सतुलन अनुकूल हो गया।

सन् १९५३ का समझौता—सन् १९५१ का जो समझौता जून सन् १९५२ में समाप्त होने वाला था, उसको अगस्त १९५२ तक बढ़ा दिया गया। अगस्त सन् १९५१ में कोयले और जूट के सम्बन्ध में एक नया समझौता हुआ। मार्च, सन् १९५३ में इसी समझौते को चालू रखने के लिए एक और समझौता किया गया, जिसके अनुसार भारत पाकिस्तान को १० लाख टन कोयला प्रतिवर्ष देगा और पाकिस्तान भारत को १८ लाख जूट की गाँठें प्रतिवर्ष देगा। आवश्यकता पड़ने पर जूट की मात्रा २५ लाख गाँठों तक बढ़ाई जा सकती है। यह भी तय हुआ कि दोनों देश एक दूसरे के माल पर

किसी प्रकार का भी विवेचनात्मक (Discriminatory) कर नही लगायेंगे।

सन् १९५५ का समझौता—भारत और पाकिस्तान में व्यापार सम्बन्धी एक समझौता १६ जुलाई, सन् १९५५ को दिल्ली में हुआ था, जो सितम्बर सन् १९५५ से सितम्बर सन् १९५६ तक लागू रहा। इसके अनुसार भारत ने पाकिस्तान से कच्ची जूट, खाल व चमडा, पान, कच्ची रुई और लाहौरी नमक (Rock Salt) आयात करने का फैसला किया और इन चीजों के बदले पाकिस्तान को कोयला, अभ्रक (Mica), तम्बाकू व बीडी भेजना तय किया था।

भारतीय सरकार की आयात और निर्यात नीतियाँ

भारतीय आयात नीति—भारत सरकार की आयात नीति पर कई बातों का प्रभाव पडा है, जैसे :—

(१) सरकार ने इस बात का प्रयत्न किया है कि देश के आयात केवल विदेशी विनिमय के उपलब्ध साधनों तक ही सीमित रहें।

(२) सरकार ने मुद्रा-स्फीति की स्थिति पर काबू पाने के लिए एक उदार आयात नीति को अपनाया।

(३) भारतीय सरकार ने देश के औद्योगिक तथा कृषि विकास के लिए औजारों, मशीनों, कच्चे माल और रासायनिक पदार्थों को आयात किया।

(४) भारतीय उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के हेतु आयातों को प्रोत्साहन दिया।

उपरोक्त कारणों से भारत सरकार की आयात-नीति प्रभावित होती रही है। इसीलिए उसमें समय-समय पर काफी उतार-चढ़ाव रहे हैं। सर्वप्रथम एक उदार नीति अपनाई गई, उसके बाद आयातों पर प्रतिबन्ध लगाए गये, और फिर आजकल उदार नीति अपनाई जा रही है। सन् १९४८ में सामान्य लाईसेंस (Open General Licence) लागू किया गया जिसके अनुसार केवल सुलभ मुद्रा के देशों से ही आयात किये जा सकते थे। इस नीति को सरकार ने मुद्रा-स्फीति को रोकने के लिए और भी उदार कर दिया था। सन् १९४९ में संशोधित सामान्य-लाइसेंस-प्रणाली लागू की गई, जिसके अनुसार केवल कुछ ही वस्तुओं का आयात सुलभ मुद्रा के देशों से बिना लाइसेंस के किये जा सकते थे। अगस्त, सन् १९४९ में पौंड पावनों की समीक्षा के पश्चात् यह निश्चित किया गया कि भारतीय आयात का मूल्य भारतीय निर्यात और उस रकम से जो ब्रिटेन भारत को पौंड पावनों के हिसाब से दे, अधिक न हो। इसलिए भारतीय आयात पर बहुत कडे प्रतिबन्ध लगा दिये गए।

परन्तु इस प्रकार की नियन्त्रित आयात-नीति से देश को भारी हानि पहुच रही थी, इसलिए फिर से एक उदार आयात-नीति अपनाई गई ताकि पाकिस्तान से कच्चा माल मँगाया जा सके। इस उद्देश्य से कि भारतीय उद्योगपति वस्तुओं के उत्पादन-व्यय को कम करने और उनकी किस्म को सुधारने की ओर अधिक ध्यान दें, भारतीय सरकार ने

"लाक्षणिक आयात" (Token Imports) की नीति अपनाई, परन्तु इस नीति का कोई लाभ नहीं हुआ।

आयात नियन्त्रण जाचसमिति के अनुसार आयात नियन्त्रण के निम्न उद्देश्य होने चाहिए —

(१) आयात व्यापार विदेशी मुद्रा के अनुसार किया जाना चाहिए।

(२) विदेशी विनिमय मुद्रा का उपयोग उद्योग और कृषि विकास के लिए और उपभोक्ताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बराबर-बराबर होना चाहिए।

(३) विशेष वस्तुओं के मूल्यों को स्थिर रखने का प्रयत्न करना चाहिए।

समिति ने और भी बहुत-से सुझाव दिये, परन्तु सरकार ने सारे सुझावों को नहीं अपनाया, केवल थोड़े-से ही सुझावों की ओर ध्यान दिया और आयात लाइसेंस प्रणाली को बहुत सरल बना दिया।

अब सन् १९५४ के अन्त से 'एकाधिकार आयात' (Monopoly Imports) की नीति अपनाई जा रही है जिसके अनुसार सरकार द्वारा चुनी हुई वस्तुओं का विशेष मात्रा में आयात किया जाता है।

सन् १९५५-५६ की आयात नीति—भारत सरकार ने नई नीति में देश की आर्थिक विकास योजनाओं की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए बहुत उदारतापूर्ण नीति अपनाई। इसके अन्तर्गत विभिन्न विशाल उद्योगों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कुछ वस्तुओं के आयात बढ़ा दिये गये तथा विदेशी मुद्रा अर्जित करने के ध्येय से ऐसी वस्तुओं, जिनका उत्पादन देश में ही होने लगा है जैसे, ब्लेड, लोहे और इस्पात की कुछ किस्मों की जंजीरें, टार्च के बल्ब, कुछ रासायनिक पदार्थ आदि के आयात को कम कर दिया गया। इसके अतिरिक्त छोटे उद्योगों के विकास के लिए आवश्यक औजारों को आयात करने की अनुमति दे दी गयी।

जुलाई, सन् १९५७ की आयात नीति—इस नीति के अनुसार जुलाई सन् १९५७ से सामान्य लाइसेन्स प्रणाली (Open General License—O.G.L.) को तीन महीनों के लिए रद्द कर दिया गया है। स्थायी आयात-कर्ताओं को आगामी ३ महीनों में आयात के नये लाइसेंस नहीं दिये जायेंगे क्योंकि इस काल के लिए पहिले ही भारी मात्रा में मशीनें, धातुएँ और कच्चे माल को आयात करने के लाइसेंस दिये जा चुके हैं। ऐसी वस्तुओं का, जो विभिन्न उद्योगों के काम आती हैं, और जो देश में ही बनती हैं, आयात नहीं किया जा सकेगा। भविष्य में उन्हीं देशों से आयात किया जा सकेगा, जिनको तुरन्त भुगतान न करना पड़े और जहाँ से कम मूल्य में वस्तुएँ मिल सकें जिससे विदेशी मुद्रा में बचत हो। निर्यात का सामान बनाने वाले उद्योगों की आवश्यकता की चीजों के आयात को प्राथमिकता दी जायेगी। इस नीति का फल यह होगा कि देश में उत्पादक वस्तुओं (Capital Goods) और कच्चे माल का ही आयात अधिक हो सकेगा।

आलोचना—सामान्य रूप में सरकार की आयात-नीति की निम्न आलोचनाएँ की जाती हैं—

(१) सरकार की आयात-नीति में बहुत थोड़े-थोड़े समय के बाद परिवर्तन होते रहे हैं। इससे सिद्ध होता है कि सरकार की नीति अनिश्चित और दुर्बल रही है। यह तो उचित है कि विश्व की परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ हर देश की व्यापारी नीति में परिवर्तन आने चाहिए, परन्तु इतनी अनिश्चितता भी ठीक नहीं। वास्तव में केवल एक दीर्घकालीन व्यापारिक नीति ही उत्पादकों और उपभोक्ताओं—दोनों ही के हितों की रक्षा कर सकती है।

(२) सरकार ने अपनी आयात-नीति का निर्माण देश के आर्थिक और औद्योगिक आधार पर नहीं किया है, बल्कि विदेशी मुद्राओं के उपलब्ध साधनों के आधार पर उसका निर्माण हुआ है। परन्तु देश को इस समय ऐसी नीति की आवश्यकता नहीं है। एक ऐसी आयात नीति का निर्माण होना चाहिए जिससे देश का औद्योगिक विकास हो सके।

(३) हमारे देश के आयात नियन्त्रणों की कार्य-विधि अब भी जटिल और अवैज्ञानिक है। इसके अतिरिक्त जनता में भी बेईमानी की भावना है। अपने खर्चे में लाने के लिए जिन आयातों के लिए लाइसेंस दिये जाते हैं, आयातकर्ता उस माल को बाजार में बेच देता है। नये आयातकर्ता भी लाइसेंसों का दुरुपयोग करते हैं। यद्यपि लाइसेन्स प्रणाली में काफी सुधार कर दिये गये हैं, फिर भी वह सतोषजनक नहीं है और सुधार के लिए अभी काफी गुञ्जाइश है।

भारतीय निर्यात नीति—भारतीय सरकार की निर्यात नीति भी अनिश्चित रही है। इसके अतिरिक्त हमारे निर्यात की एक प्रमुख विशेषता यह रही है कि इसमें केवल तीन-चार वस्तुओं का ही प्रमुख स्थान रहा है जिसके कारण जब कभी किसी एक वस्तु का भी निर्यात गिर गया, तभी देश को हानि उठानी पड़ी। इसलिए सर्वप्रथम हमें अपने निर्यात सूची में वस्तुओं की संख्या बढ़ानी चाहिए और इसमें तम्बाकू, कालीन, सीमेंट, नारियल की जटा का सामान इत्यादि वस्तुओं को सम्मिलित करना चाहिए। यद्यपि इन वस्तुओं के सम्बन्ध में विदेशी प्रतियोगिता का काफी सामना करना पड़ेगा, परन्तु सावधानी बरतने से इन वस्तुओं का निर्यात बढ़ सकता है।

भूतकाल में वस्तुओं का अधिक उत्पादन व्यय, घटिया किस्म का पैकिंग, घटिया किस्म की वस्तुएँ और नमूने के अनुसार वस्तुएँ न भेजने के कारण हमारा निर्यात व्यापार गिरता रहा है। हमें निर्यात बढ़ाने के लिए विदेशी उपभोक्ताओं की माँगों तथा विदेशी बाजार की परिस्थितियों का गहरा अध्ययन करना पड़ेगा। सरकार और उत्पादकों, दोनों ही को चाहिए कि 'गोरवाला समिति' द्वारा दिये गए प्रस्तावों के अनुसार काम करें। कुछ लोगों का विचार है कि निर्यात सम्बन्धी मामलों की देख-रेख करने के लिए ब्रिटिश-निर्यात-व्यापार खोज-कार्य सगठन (British Export Trade Research organisation) के आधार पर भारत में भी एक निर्यात प्रवर्त्तक-सचालकमण्डल (Export Promotion Directorate) स्थापित किया जाए। 'गोरवाला समिति' इससे सहमत नहीं थी, यद्यपि ऐसे सगठन की भारत में बहुत आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त भारतीय सरकार ने भी निर्यातों को प्रोत्साहन देने के लिए कोई विशेष कदम नहीं उठाये है। विदेशो मे सरकार निर्यातो को प्रोत्साहन देने के लिए आर्थिक सहायता देती है और आयात-कर तक वापिस दे देती है। परन्तु भारतवर्ष में कपास के अतिरिक्त और किसी भी वस्तु के सम्बन्ध में इस नीति को नही अपनाया गयाहै। गोरवाला समिति ने यह भी सुझाव दिया था कि आयात किये गए कच्चे माल से तैयार किये हुए माल का यदि फिर से निर्यात किया जाय, तो सरकार को आयात-कर वापिस कर देने चाहिए। उसकी यह भी राय थी कि निर्यात करो को सरकारी आय का स्थायी साधन नही बनाना चाहिए, बल्कि उनका प्रयोग देश के हितो की रक्षा के लिए किया जाना चाहिए।

मई, सन् १९५३ में निर्यात सलाहकार परिषद् (Export Advisory Council) की बैठक मे भाषण देते हुए सरकार के वाणिज्य मन्त्री ने घोषणा की, कि :—

(१) सरकार ने गोरवाला समिति के सुझाव के आधार पर एक संस्था की स्थापना करने का विचार कर लिया है जिसका कार्य देश के निर्यात को प्रोत्साहित करना होगा।

(२) आयात किये गए कच्चे माल से तैयार की गई वस्तुओ का यदि निर्यात होगा, तो सरकार आयात-कर वापिस करने के लिए कानून बनायेगी।

(३) भारतीय उद्योगपति और व्यापारियो को विदेशी बाजार सम्बन्धी सूचनाएँ देने के लिए उचित व्यवस्था की जायेगी।

(४) भारत मे किये गए निर्यातो पर जो सरकारें आयात-कर लगा देती हैं, उनसे भी सरकार उन आयात-करो की दरो को कम करने के लिए प्रार्थना करेगी।

(५) आवश्यक वस्तुओ (जैसे सूती कपडा) के लिए सरकार फ्री लाइसेंस प्रणाली का निर्माण करेगी।

(६) निर्यात सम्बन्धी कठिनाइयो को दूर करने के लिए सरकार समय-समय पर व्यापार तथा उद्योग के प्रतिनिधियो और सरकारी अधिकारियो के बीच बैठको की व्यवस्था करेगी।

सन् १९५४ मे सूती वस्त्र व सिल्क-रेयन निर्यात प्रोत्साहन समितियो की स्थापना हो गई थी। सन् १९५५ मे प्लास्टिक, इजिनियरिंग, तम्बाकू, फल और काली मिर्च के निर्यात बढाने के लिए भी समितियाँ स्थापित कर दी गई थी। इन समितियो ने अपने-अपने क्षेत्र मे अच्छा कार्य किया है, जिससे विभिन्न वस्तुओं के निर्यात में वृद्धि हुई है। सन् १९५५–५६ में बहुत-सी वस्तुओं जैसे कच्ची रुई, तिल का तेल, जूट का सामान, काली मिर्च, काफी आदि के निर्यात-करो मे या तो पर्याप्त कमी कर दी गई थी या वे समाप्त ही कर दिये थे, जिससे इनका निर्यात बढ सके। इसके अतिरिक्त गत वर्ष में सूती वस्त्र, मूँगफली की फली, बिनौले का तेल तथा चमडे आदि के निर्यात के लिए खूब नये लाइसेंस दिये गये तथा कच्ची ऊन, रुई, मूँगफली का तेल, मूँगफली और चाय के निर्यात कोटाओ को काफी बढा दिया गया था।

इस प्रकार आजकल विदेशी मुद्रा को अधिकतम अर्जित करने के लिए भारत

सरकार अपने निर्यातों को अधिक-से-अधिक बढाने और आयात पर अधिकतम प्रति-बन्ध लगाने की नीति अपना रही है।

सन् १९५६ के व्यापारिक समझौते (Trade Agreements during 1955-56)

इस वर्ष में भारत सरकार ने इटली, रूमानिया, चेकोस्लोवाकिया, ऑस्ट्रिया, इंडोनेशिया, रूस, पोलैण्ड, ईराक, हंगरी, फिनलैण्ड, नार्वे, स्वीडन आदि देशों से पुराने व्यापारिक समझौते की अवधि को बढा दिया था और पाकिस्तान व यूगोस्लाविया से नए समझौते किये थे। पाकिस्तान से जो समझौता हुआ उसके अनुसार भारत से कोयला और पाकिस्तान से जूट का निर्यात तो जारी रहा ही, इसके अतिरिक्त अन्य वस्तुओं के आयात-निर्यात का भी मार्ग खुल गया। इस समझौते की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि दोनो देशों की सीमा पर रहने वाले लोगो को आपस मे छोटा व्यापार-सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा प्रदान कर दी गई थी। अन्य देशों से उत्पादन-वस्तुओं और विकास की वस्तुओं का अधिकतम मात्रा मे आयात करने का निश्चय किया गया। रूस ने सन् १९५६ से १९५९ तक भारत को १० लाख टन इस्पात देना स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त रूस भारत को और भी आवश्यक औद्योगिक सामग्री प्रदान करेगा और बदले मे भारत से अपनी खरीद भी बढायेगा। इन समझौतों के अनुसार सन् १९५६–५७ के प्रथम नौ महीनो मे भारत से १० करोड ९५ लाख रु० का माल रूस को भेजा गया और इसी अवधि मे १० करोड ८० लाख रु० का माल वहाँ से मँगाया जा चुका है। भारत ने हाल ही मे रूस से ३७ लाख २४ हजार रु० के तेल के कुएँ खोदने के यंत्र खरीदना निश्चय किया है, जिन्हे रूस ६ महीनो के अन्दर ही भारत को भेज देगा।

योजना में विदेशी व्यापार

द्वितीय योजनाकाल मे किये जाने वाले निर्यात और आयातों का विवरण पहिले ही दिया जा चुका है, जिससे यह स्पष्ट है कि आगामी वर्षों में विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए भारी आयात करने पडेंगे और उनमें प्रति वर्ष वृद्धि ही होती जायेगी। जहाँ तक निर्यात व्यापार का सम्बन्ध है, योजनाकाल मे इसमें कोई वृद्धि होने की आशा नही है। निर्यात व्यापार थोडी-सी वस्तुओं पर निर्भर है। केवल तीन वस्तुओं, जैसे चाय, जूट का सामान व सूती वस्त्र, का निर्यात मूल्य ही कुल निर्यात मूल्य का लगभग ५०% होता है। इन वस्तुओं के निर्यात मे भी आजकल बहुत अधिक विदेशी प्रतिस्पर्धा (Competition) का सामना करना पड रहा है, जिससे निकट भविष्य मे इन के निर्यात में अधिक वृद्धि होने की कोई आशा नही है। परन्तु इस काल मे नई वस्तुओं का, जिनका उत्पादन कुछ समय से भारत मे ही होने लगा है, निर्यात बढ़ाया जा सकता है, किन्तु वह भी बहुत सीमित मात्रा मे।

अत द्वितीय योजनाकाल मे निम्न दो बातों को मान कर कि, (१) योजनाकाल मे व्यापार की शर्तें वही रहेंगी जो सन् १९५५–५६ के प्रथम नौ महीनो में रही थी तथा, (२) मुद्रा-स्फीति पर पूर्ण नियंत्रण रखा जा सकेगा—यह अनुमान लगाया गया है

आगामी पाँच वर्षों मे भारत के निर्यात में तो केवल ४२ करोड़ रु० की वृद्धि होगी, जब कि आयातों में इतनी वृद्धि होती रहेगी जिसमे कि योजना के अन्त में कुल १,३७५ करोड़ रु० का घाटा होगा जो लगभग २७५ करोड रु० प्रति वर्ष होगा। इसमें मे अनुमानत. ५१ करोड रु० की अदृश्य बचत प्रतिवर्ष के औसत से कम करने पर भी लगभग १,१२० करोड रु० का घाटा होने का अनुमान है। योजना के अनुसार सन् १९६०-६१ तक ३०० करोड रु० भारत को पौंड पावने के स्रोत से प्राप्त हो जायेगा। फिर भी योजना के वित्तीय साधनों में विदेशी विनिमय मे लगभग ८२० करोड रु० की कमी का अनुमान है' निम्नलिखित तालिका मे द्वितीय योजना काल मे भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है —

भारत का विदेशी व्यापार[1] (१९५६-५७—१९६०-६१)

(करोड़ रु०)

	१९५६-५७	५७-५८	५८-५९	५९-६०	६०-६१	पाँच वर्षों का वार्षिक औसत ६०-६१	पाँच वर्षों का कुल योग
निर्यात (f.o.b.)	५७३	५८३	५९२	६०२	६१५	५९३	२९६५
आयात (c.i.f)	७८३	८८६	९९०	८८५	७८६	८६८	४३४०
व्यापार सन्तुलन	—२१०	—३०३	—३९८	—२८३	—१७१	—२७५	—१३७५
अदृश्य बचत (सरकारी अनुदान को छोडकर)	+६२	+५५	+५१	+४६	+४१	+५१	+२५५
भुगतान सन्तुलन	—१४८	—२४८	—३४७	—२४७	—१३०	—२२४	—११२०

१. Second Five Year Plan P.15

अट्ठाईसवां अध्याय

भारतीय तट-कर नीति

(Indian Tariff-Policy)

प्रथम महायुद्ध के छिड़ने के पहले तक भारतवर्ष में स्वतन्त्र व्यापार की नीति अपनाई गई थी। यद्यपि भारतवर्ष में आयात-कर लागू किये गए थे, परन्तु उनका ध्येय आय प्राप्ति था। इस नीति का सबसे बुरा परिणाम यह हुआ कि भारतवर्ष कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश बन गया, तथा बने हुए माल के लिए उसे विदेशों पर निर्भर रहना पड़ा। इस काल में केवल रुई और पटसन के ही उद्योगों का विकास हुआ और वह भी इस कारण कि भारत के पास इनके लिए प्राकृतिक सुविधाएँ उपलब्ध थीं। प्रो० बी० पी० आदारकर ने सरकार की वित्त-नीति (Fiscal Policy) के सम्बन्ध में लिखा है कि "सन् १९२३ तक सरकार की वित्त-नीति विशेष रूप से स्वतन्त्र व्यापार करने की रही, और तट कर (Tariff) की दर जनता की सम्पत्ति के आधार पर नहीं बल्कि सरकार की आय के आधार पर निर्धारित की जाती थी। पर जब इस कारण उद्योग आरम्भ हुए और इनके फलस्वरूप आय की मात्रा गिरने लगी तो इस प्रवृत्ति को दूर करने के लिए तुरन्त ही तट-कर कम कर दिया गया, बिना यह सोचे हुए कि इस नीति का उद्योगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा"।[1]

देश के उद्योगीकरण की सम्भावनाओं का ज्ञान प्राप्त करने के लिए सरकार ने सन् १९१६ में औद्योगिक-आयोग (Industrial Commission) की नियुक्ति की, जिसका सुझाव था कि "सरकार को देश के औद्योगिक विकास में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए।" सन् १९१९ के राजनैतिक सुधारों के साथ-साथ यह भी तय हुआ कि भारतीय सरकार की वित्तीय नीति में ब्रिटिश सरकार हस्तक्षेप नहीं करेगी। और इस

---

१ "The fiscal policy of the Government of India upto 1923 remained largely free-trade in its orientation, and revenue of the Government rather than the wealth of the people was the dominating consideration in deciding upon the rates of Tariff to be levied. Nay, if industries arose as a result of such revenue tariffs and consequently the revenue collections fell off, it was regarded as an undesirable tendency and the tariff was immediately reduced with a view to correct such a tendency notwithstanding the effects of such action on the industries concerned."—'The Indian Fiscal Policy.'

—B P. Adarkar, 1941 ed.—Page 421

प्रकार सन् १९२१ में वित्तीय-स्वतन्त्रीय-कन्वेंशन (Fiscal Autonomy Convention) को ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार कर लिया और भारत सरकार ने सन् १९२१ में वित्त-आयोग (Fiscal Commission) की नियुक्ति सर इब्राहीम रहीमतुल्ला की अध्यक्षता में की, जिसका कि मुख्य कार्य सरकार की तटकर नीति (Tariff-Policy) और इम्पीरियल प्रिफरेन्स (Imperial Preference) के सिद्धान्त को लागू करने की सम्भावनाओं की जाँच करना था। आयोग का विचार था कि देश का औद्योगिक विकास देश की जनसख्या, साधनों और आकार के अनुरूप नही हुआ था, इसलिए आयोग का प्रस्ताव था कि कुछ परिस्थितियों में भारतीय उद्योगों को सरक्षण दिया जाना चाहिए। आयोग का एक प्रस्ताव यह भी था कि सामान्य रूप से उपभोक्ताओं के लिए और विशेष कर जनसाधारण के हित में, कृषि और औद्योगिक विकास के हित मे और व्यापारिक संतुलन को अनुकूल बनाए रखने के लिए कुछ चुने हुए उद्योगो को संरक्षण दिया जाए, जिससे जनता पर कम-से-कम भार पडे और जिससे औद्योगिक तथा वाणिज्य की अवस्थाओ में गडबडी न पैदा होने पाये। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए उद्योग ने त्रिसूत्र (Triple Formula) निर्धारित करते हुए विवेचनात्मक-सरक्षण (Discriminating Protection) की सिफारिश की। त्रि-सूत्र (Triple Formula) मे निम्न लिखित तीन सुझाव थे

(१) उद्योग ऐसा होना चाहिए जिसके लिए देश मे कच्चा माल, सस्ती शक्ति, श्रम की पर्याप्त पूर्ति हो और विस्तृत देशीय बाजार उपलब्ध हो, जिससे यह विश्वास रहेगा कि कोई भी संरक्षित-उद्योग समाज पर स्थायी रूप से भार नही बनेगा।

(२) उद्योग ऐसा होना चाहिए जिसका विकास संरक्षण के बिना तीव्र गति से नही हो रहा है या बिल्कुल भी नही हो सकता, परन्तु जिसका विकास देश हित के लिए आवश्यक है।

(३) सरक्षण केवल ऐसे उद्योग को दिया जाय जो अन्त में संरक्षण के बिना विश्व-प्रतियोगिता का सामना कर सके।

उपरोक्त सुझावो के अतिरिक्त इस सम्बन्ध में आयोग ने कुछ और भी सुझाव दिये। उन उद्योगो को संरक्षण देना चाहिए, जिनका उत्पादन-व्यय कम हो सकता है और या जिनका उत्पादन बडे पैमाने पर किया जा सकता है, या उद्योग ऐसे हों जो देश की पूरी आवश्यकता की पूर्ति एक निश्चित समय में कर सकने में समर्थ हों। यदि त्रिसूत्र को तीनो सिफारिशो की पूर्ति न भी हो, तो भी राष्ट्रीय सुरक्षा और आधारभूत उद्योगों (Key-Industries) को सरक्षण मिलना चाहिए। उक्त लिखित नीति की सफलता के लिए एक स्थायी तटकर-बोर्ड की स्थापना की भी सिफारिश की गई।

आलोचना (Criticism)

विवेचनात्मक संरक्षण की नीति की कडी आलोचना की गई है, विशेष कर उन शर्तों की जो कि आयोग ने त्रिसूत्र में रक्खी है।

(१) यदि कोई उद्योग पहली शर्त को पूरा करता है, तब ऐसा भी हो सकता

है कि साथ ही साथ उस पर दूसरी शर्त न लागू होती हो। यदि दोनों शर्तें लागू होती हों तो ऐसा उद्योग संरक्षण के बिना ही उन्नति कर सकता है। इसके अतिरिक्त जिन प्राकृतिक सुविधाओं का वर्णन आयोग ने पहली शर्त में किया है, यदि वे सभी किसी उद्योग को प्राप्त हैं, तो भी वह बिना संरक्षण के विकास कर सकता है। जहाँ तक दूसरी शर्त का प्रश्न है, यदि कोई उद्योग उसको पूरी भी करता हो, तो यह आवश्यक नहीं कि उस पर पहली शर्त भी लागू होती हो। इस प्रकार आयोग पहली और दूसरी शर्त का भेद स्पष्ट नहीं कर सका है। इसीलिए उन शर्तों को केवल सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है, क्योंकि यदि उनको कड़ी तौर से स्वीकार किया जाता, तो शायद किसी भी भारतीय उद्योग को संरक्षण प्राप्त न होता।

(२) जहाँ तक तीसरी शर्त का सम्बन्ध है, वह या तो बिल्कुल व्यर्थ है या निराधार है। यदि पहली शर्त को उद्योग पूरा करता है, तब तीसरी शर्त बिल्कुल व्यर्थ हो जाती है। और यदि उद्योग दूसरी शर्त को पूरा करता है तब किसी उद्योग के सम्बन्ध में यह घोषित करना कि एक निश्चित अवधि के बाद वह उद्योग बिना संरक्षण के चल सकेगा, केवल भविष्यवाणी ही हो सकती है, वास्तविकता नहीं।

(३) आयोग का ध्यान उन उद्योगों की तरफ गया ही नहीं, जिनका या तो जन्म नहीं हो पाया है या जो बिल्कुल प्रारम्भिक अवस्था में हैं। संरक्षण का उद्देश्य केवल उन्हीं उद्योगों को विकसित करना होना चाहिए, जो कि पहले से स्थित हैं, बल्कि ऐसे उद्योगों का भी विकास करना है जो अभी तक चालू नहीं हुए हैं और जिनको चालू किया जा सकता है। इसलिए नए उद्योगों को छोड़ कर आयोग ने संरक्षण के कार्यक्षेत्र को बहुत सीमित कर दिया।

(४) वित्त आयोग ने केवल अस्थायी तौर पर तट-कर बोर्डों की स्थापना की सिफारिश की है।

सरकार का कार्य (Government Action)

सरकार ने सन् १९२३ में वित्त-आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए तटकर-बोर्ड (Tariff Board) की स्थापना की, जिसने विभिन्न उद्योगों के संरक्षण प्राप्त करने के दावों की जाँच की, और इसकी सिफारिशों के आधार पर लोहे और इस्पात, सूती कपड़ा, रेशम के कीड़े पालने के उद्योग, बाँस, कागज, दियासलाई, चीनी, रसायनिक पदार्थों और सोने के तार खींचने वाले उद्योगों को संरक्षण प्रदान किया गया।

विवेचनात्मक-संरक्षण की नीति से कई प्रतिबन्धों में काम करते हुए भी भारतीय उद्योगों को काफी लाभ पहुँचा है। इन उद्योगों की जो आज की स्थिति है, वह केवल संरक्षण के कारण ही है। इस नीति की सफलता इस बात से स्पष्ट होती है कि उनका उत्पादन-व्यय भी गिरा और साथ-साथ उत्पादन भी बढ़ा, जिसके कारण सन् १९४१ में लोहा तथा इस्पात उद्योग पर से, सन् १९४७ में कागज उद्योग पर से तथा १९५० में चीनी तथा सूती कपड़ा उद्योग पर से संरक्षण हटा लिया गया। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि आयोग के सारे प्रस्ताव सफल रहे। वास्तविकता यह है कि

इनको व्यावहारिक रूप देने के पश्चात् ही उनके दोष विदित हुए और बहुत-से उद्योग ऐसे रह गए (जैसे काँच, कोयला, सीमेंट आदि) जिनका विकास सरक्षण के बिना नहीं हो सकता था और जिनको सरक्षण नही दिया गया। इसके अतिरिक्त रासायनिक उद्योगो को सरक्षण केवल थोडे समय के लिए ही दिया गया, जो उसके लिए ठीक नही था। लोहे और इस्पात के उद्योग को छोड़ कर बाकी सभी उद्योगो को आयात-करो के रूप मे सरक्षण दिया गया। अन्य उद्योगो को आर्थिक सहायता देने या रेलो का भाड़ा कम करने के टटकर-बोर्ड द्वारा दिये गए प्रस्तावो को सरकार ने बिल्कुल नही माना। यही नही, सरकार ने ओटावा-समझौते के अन्तर्गत इम्पीरियल प्रिफरेन्स को स्वीकार कर लिया। इन सब कारणो से तटकर सरक्षण का क्षेत्र बहुत ही सीमित हो गया था।

सन् १९३२ के ओटावा-समझौते (Ottawa Agreement) के अनुसार ब्रिटेन तथा साम्राज्य देशो में बनने वाले माल पर कम आयात-कर लगाने की व्यवस्था की गई, जिसको कि इम्पीरियल प्रिफरेन्स (Imperial Preference) के नाम से पुकारते है। इस नीति की कडी आलोचना हुई, परन्तु सरकार ने इस ओर ध्यान न देते हुए ब्रिटेन से सन् १९३९ में एक नया समझौता कर लिया। इस नीति की आलोचना निम्न आधारो पर की गई है :—

(१) इस नीति को स्वीकार करके भारतवर्ष ने ब्रिटेन तथा अन्य साम्राज्य देशो को बहुत लाभ पहुँचाया है।
(२) इस नीति को स्वीकार करने से भारत साम्राज्य के बाहर वाले देशो से अपना व्यापार बढाने में असमर्थ रहा है।
(३) भारतीय सरकार को आय की भी भारी हानि उठानी पड़ी है।

यह खेद का विषय है कि इम्पीरियल प्रिफरेन्स के परिणामो का आंकड़ो के आधार पर अध्ययन नही किया जा सकता, क्योकि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बडे तीव्र परिवर्तन हुए हैं।

संरक्षण का भार

बहुधा संरक्षण की नीति की आलोचना इस आधार पर की गई है कि :—

(१) सरकार की आय कम हो गई है।
(२) अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि होने से भारतीय कर-प्रणाली प्रतिगामी (Regressive) हो गई है।
(३) उपभोक्ताओं को बहुत हानि हुई है।

आयात-करो के लागू होने से जनता की वास्तविक आय कम हो गई और धन का वितरण भी असमान हो गया। वास्तव में इस तर्क के पक्ष और विपक्ष दोनो ही के सम्बन्ध मे बहुत-कुछ कहा जा सकता है। जहाँ तक गरीब जनता का प्रश्न है, विशेषकर ग्रामीण जनता का उसको इस नीति ने अधिक निर्धन नही बनाया, क्योकि वह अपनी आय का बहुत कम भाग ही आयात-माल पर खर्च करती है। उपभोक्ताओ को अवश्य हानि उठानी पडी है, परन्तु इससे धन का वितरण और अधिक असमान नहीं हुआ।

आलोचको का यह विचार कि सरकार की आय घट गई है और कर-प्रणाली प्रतिगामी हो गई है, उचित नही है, क्योंकि अन्त मे जाकर यह देश के आर्थिक विकास में सहायक होती है। सरक्षण से औद्योगिक विकास होता है, जो रोजगार बढाता है। इससे राष्ट्रीय आय बढती है और अन्त में सरकार की आय बढती है। यह अवश्य है कि संरक्षण नीति से अल्पकालीन हानि होती है, परन्तु देश के विकास के लिए सरकार तथा उपभोक्ताओं को यह त्याग अवश्य करना पडता है।

अस्थाई तट कर-बोर्ड (The Interim Tariff Board)

३ नवम्बर, सन् १६४५ को अस्थायी तटकर-बोर्डों की स्थापना हुई। युद्ध के आरम्भकाल में भारत में अनेक महत्वपूर्ण उद्योगो के अभाव का अनुभव हुआ। सरकार ने ऐसे उद्योगो को आवश्यक समझ कर इस बात की घोषणा की कि वह उन उद्योगो को संरक्षण देगी जो कि ठोस व्यावसायिक आधार पर स्थापित किये जायेंगे। इस प्रकार तटकर-संरक्षण का कार्यक्षेत्र काफी विकसित हो गया, क्योंकि एक स्थायी नीति के निर्धारित करने और उसको कार्यान्वित करने के लिए एक अस्थाई संस्था की आवश्यकता थी। इसलिए सरकार ने कुछ समय के लिए इस अस्थायी तटकर-बोर्ड की स्थापना की, जिसका कि प्रमुख कार्य युद्धकालीन उद्योगो के सरक्षण प्राप्त करने के दावो की जाँच-पडताल करना था। यह बोर्ड किसी भी उद्योग को तीन वर्ष तक संरक्षण देने की सिफारिश कर सकता था। संरक्षण देने के सम्बन्ध में कुछ शर्तें निर्धारित कर दी गई थी। यह शर्तें निम्न प्रकार थी —

(१) उद्योग व्यावसायिक आधार पर स्थापित किया गया हो और इसी दृष्टि से कार्य करता हो।

(२) (अ) ऐसे उद्योगों को सरक्षण दिया जाय जिनकी प्राकृतिक एव आर्थिक स्थिति तथा उत्पादन व्यय के आधार पर यह निश्चित हो सके कि वे निश्चित समय के बाद अपने पैरो पर खडे हो जायेंगे।

(ब) यदि उद्योग ऐसा है जिसे सरक्षण देना राष्ट्रीय हित में है और जिसका भार जनता पर नही पड़ता।

यदि उपरोक्त दोनो शर्तें पूरी हो जाएँ तब बोर्ड यह सिफारिश करेगा कि, (१) उद्योग को किस वस्तु और किस दर पर सरक्षण दिया जाना चाहिए। (२) उद्योग को आर्थिक सहायता देने के लिए और क्या उपाय किया जा सकता है। (३) सरक्षण की अवधि क्या होगी।

यद्यपि तटकर-सरक्षण नीति के सम्बन्ध में सरकार ने जो नया सूत्र निकाला था, वह काफी व्यापक था और उसमें राष्ट्रीय हित को प्रमुख स्थान दिया गया था, परन्तु फिर भी वह न्यायपूर्ण नही था, क्योंकि

(१) सरक्षण केवल विकसित उद्योगों पर ही दिया जाना था और जो उद्योग अभी स्थापित नही हो पाए थे, वे बोर्ड के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नही आते थे। परन्तु यह आरोप उचित नही है, क्योंकि सरकार ने कहीं भी इस प्रकार की कोई शर्त नही

लगाई कि ऐसे उद्योगों को जो बिल्कुल नये स्थापित हुए हो, सरक्षण न दिये जाएँ।

(२) दूसरी शर्त के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यह स्पष्ट नही है, क्योंकि एक निश्चित अवधि, जिसमें कि उद्योग अपने पैरों पर खडा हो जायेगा, का बताना कठिन है।

(३) बोर्ड के ऊपर एक यह भी प्रतिबन्ध लगा दिया था कि वह केवल तीन वर्ष तक सरक्षण देने की सिफारिश कर सकता था।

इस प्रकार तटकर-बोर्ड की सहायता के लिए सरकार ने जो सूत्र निकाला था, वह वित्त आयोग के सुझावो की तरह अस्पष्ट और अनिश्चित था। तटकर-बोर्ड के पास आए हुए ४६ मामलों में बोर्ड ने केवल ४२ मामलों को अपनी सिफारिश के साथ सरकार के पास भेजा।

नवम्बर सन् १६४७ मे तटकर-बोर्ड का सगठन फिर से किया गया और इसको अस्थायी तटकर-बोर्ड के कार्यो के अतिरिक्त कुछ नए कार्य भी सौंप दिये गए। इस बोर्ड का कार्य काफी सराहनीय था। इसने अनेक नये उद्योगो को सरक्षण देने की सिफारिश की, अनेक उद्योगो को सरक्षण देने मे इन्कार कर दिया और बहुत-से उद्योगो को जिन्हे पहले सरक्षण दिया गया था, उनसे वापिस लेने का प्रस्ताव रक्खा और सरक्षण देने के अन्य उपायो की भी बोर्ड ने सिफारिश की और अनेक उद्योगों मे जाँच-पड़ताल की और औद्योगिक उत्पादन बढाने, औद्योगिक विकास करने, व भ्रष्टाचार को रोकने के लिए अनेको सुझाव दिये। बोर्ड ने शूगर-सिंडीकेट (Sugar Syndicate) की कडी आलोचना की और साथ ही सरक्षण खत्म करने की सिफारिश की। बोर्ड ने आर्थिक सहायता देने के लिए एक विकास-कोष का निर्माण करने की भी सिफारिश की।

वित्त आयोग (Fiscal Commission)

सन् १६५० मे एक नये वित्त-आयोग को नियुक्त किया गया। इस आयोग का विचार था कि तट कर-सरक्षण की समस्या का व्यक्तिगत रूप मे अध्ययन नही किया जा सकता,क्योंकि वह कृषि और उद्योग-नियोजन का एक भागहै और इसीलिए अन्य समस्याओ के साथ ही इस पर भी विचार किया जा सकता है। आयोग का मत है कि सरक्षण व्यवसायिक नीति का दूसरा रूप नहीं है, बल्कि आर्थिक विकास के लिए सरकार द्वारा निर्धारित नीति के अग के रूप में ही इसका उपयोग होना चाहिए। सर्वप्रथम आयोग ने रक्षा-सम्बन्धी उद्योगो, युद्ध सम्बन्धी उद्योगो, आधारभूत उद्योगो तथा अन्य ऐसे उद्योगो का जो स्वीकृत योजना में हैं, अध्ययन किया। आयोग के अनुसार रक्षा और युद्ध-सम्बन्धी उद्योगो को, चाहे कितना भी खर्चा हो राष्ट्रीय हित के विचार से सरक्षण देना ही चाहिए या जिस प्रकार की आर्थिक सहायता की उन्हें आवश्यकता हो, प्रदान करनी चाहिए। जहाँ तक आधारभूत उद्योगो का सम्बन्ध है, आयोग का विचार है कि उनको

पंचवर्षीय योजना मे शामिल कर देना चाहिए। तटकर-अधिकारी (Tariff Authority) संरक्षण के स्वरूप और उसकी मात्रा का निर्णय करेगा और (१) संरक्षण या आर्थिक सहायता देने के लिए शर्तें निर्धारित करेगा। (२) समय-समय पर वह उद्योग की देख-रेख भी करेगा। इसके अतिरिक्त अन्य उद्योगों को आयोग ने तीन भागो में बाँटा है :—

(क) वह उद्योग जिनके विकास के लिए योजना मे प्रमुख स्थान दिया गया है।

(ख) वह उद्योग जो आधारभूत उद्योगों के सहायक उद्योग हों।

(ग) अन्य उद्योग—इसके लिए निम्नलिखित प्रमाप निश्चित किये गए है—

(१) उद्योग को दिये जाने वाले आर्थिक लाभ और उसकी वास्तविक लागत पर ध्यान दिया जाय। इसके पश्चात् यह पता लगाया जाय कि उचित समय में इसका कितना विकास हो सकता है, और यह बिना संरक्षण या आर्थिक सहायता के सफलता-पूर्वक चल भी सकता है या नही।

(२) यदि उद्योग का विकास राष्ट्रीय हित मे है या यह विचार करना कि ऐसे संरक्षण का समाज को अधिक मूल्य तो नही देना पड़ेगा।

. अन्य उद्योगो के संरक्षण की माँग का निरीक्षण टैरिफ अधिकारी ऊपर लिखे परिमापो के अनुसार करके अपने सुझाव सरकार को देगा।

कुछ और बातो पर भी आयोग ने अपने सुझाव दिये हैं। यह सुझाव निम्न प्रकार है :—

(१) यदि उद्योग को कच्चे माल के अतिरिक्त अन्य आर्थिक सुविधाएँ, जैसे स्वदेशी बाजार, श्रम आदि उपलब्ध हों तो भी उसे संरक्षण दे देना चाहिए।

(२) यह स्वाभाविक है कि एक संरक्षित उद्योग अपने देश की सारी आवश्यकताओं को पूरा कर सकने में समर्थ हो, परन्तु इसे संरक्षण देने के लिए एक आवश्यक शर्त नहीं बनानी चाहिए। अधिकारियो को केवल इस बात की ओर ही ध्यान देना चाहिए कि उद्योग के बढने की संभावना कैसी है, जिससे कि वह एक निश्चित समय बाद देश की माँग पूरी कर सके।

(३) यदि कच्चे माल का उत्पादन करने वाले उद्योगो को संरक्षण प्रदान करने से, अन्य संरक्षित उद्योगो को हानि होती है तो इस हानि को दूर करने के लिए संरक्षित उद्योगो को संरक्षण के अतिरिक्त 'पूरक संरक्षण' दिया जा सकता है।

(४) जो उद्योग आरम्भिक अवस्था में है, उनको भी संरक्षण की वह ही सुविधाएँ मिलनी चाहिएं जो कि पहले से स्थापित उद्योगो को मिल रही है।

वित्त-आयोग का यह भी सुझाव है कि स्थायी रूप से एक 'तटकर आयोग' की स्थापना की जाय, जिसका संगठन बिल्कुल अलग होगा और जिसका मुख्य कार्य संरक्षित उद्योगो की देख-भाल करना व सरकार की संरक्षण नीति के संचालन में सलाह देना होगा।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आयोग की सिफारिशें काफी व्यापक है। उसने सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगो और आधारभूत उद्योगों को देश के आर्थिक विकास के लिए बहुत अधिक महत्व दिया है। साथ-ही-साथ आयोग ने उन उद्योगों को भी संरक्षण

देने की आवश्यकता पर ज़ोर दिया है जो या तो आरंभिक अवस्था में हैं या जो अभी आरम्भ नहीं हुए हैं, परन्तु जिनका देश की अर्थ-व्यवस्था में विशेष महत्व है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अब वह उद्योग स्थापित किये जा सकते हैं, जो संरक्षण के अभाव में अभी तक स्थापित नहीं हो सके हैं। आयोग ने केवल सरक्षण देने पर ही ज़ोर नहीं दिया, बल्कि यह भी बताया कि संरक्षण देने के बाद उन उद्योगों की उन्नति पर पूरी आँख रखी जाय।

तटकर आयोग--सन् १९५१

सन् १९५१ के तट-कर आयोग कानून के अधीन एक तटकर-आयोग स्थायी रूप से स्थापित किया गया। इस आयोग ने २१ जनवरी, सन् १९५२ से अपना कार्य आरम्भ किया। आयोग के विशेष रूप से निम्न अधिकार होंगे :—

(१) तटकर आयोग पहले से ही स्थापित उद्योगों के अतिरिक्त उन उद्योगों के सरक्षण की माँग पर विचार कर सकता है जिनमे अभी उत्पादन शुरू नहीं हुआ है, परन्तु भविष्य में सरक्षण मिलने पर उत्पादन की सभावना अवश्य है।

(२) सरक्षण कार्य का निरीक्षण करेगा और सरकार को सूचना देगा।

(३) प्राथमिक सरक्षण और विशेष वस्तुओं के मूल्यों पर केवल सरकार के कहने पर ही आयोग जाँच करेगा, परन्तु अन्य उद्योगों की जाँच वह स्वयं कर सकता है।

(४) सरक्षण सम्बन्धी नियमों को बनाने और उनमें सशोधन करने की आयोग को पूर्ण स्वतन्त्रता है।

(५) आयोग को सरक्षण की अवधि निश्चित करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

(६) टेरिफ कमीशन एक्ट (१९५१) के अनुसार तीन महीने के अन्दर सरकार आयोग की रिपोर्ट पर जो कार्यवाही करेगी, उसे वह ससद् को सूचित करेगी। यदि कोई कार्यवाही नहीं की गई है, तो सरकार उसका कारण बतायेगी।

तटकर आयोग एक शक्तिशाली सस्था है। सरकार उपरोक्त बातों के अतिरिक्त निम्न मामलों को भी जाँच करने के लिए आयोग को दे सकती है।

(१) उद्योग विशेष को प्रोत्साहन देने के लिए सरक्षण।

(२) आयात-निर्यात पर चुंगी तथा अन्य करों में भेद।

(३) सरक्षण के दुरुपयोग के विरुद्ध कार्यवाही करने और सस्ते मूल्य पर माल में बाज़ार पाट देने के विरुद्ध कार्यवाही करना।

(४) सरक्षण का मूल्य-स्तर और जीवन-स्तर पर प्रभाव।

(५) तटकर एव वाणिज्य समझौतों के अधीन दी गई रियायतों के उद्योगों पर प्रभाव।

(६) सरक्षण प्रदान करने से उत्पन्न कठिनाइयां।

सन् १९५४-५५ में आयोग का कार्य

सन् १९५४–५५ में तटकर आयोग ने २२ तटकर-सम्बन्धी मामलों की और एक मूल्य-सम्बन्धी मामले की जाँच की। तटकर मामलों में से ५ ऐसे थे, जो उद्योगों से सम्बन्धित थे और जिन्होंने सर्वप्रथम सरक्षण की माँग की थी। १७ ऐसे थे जो संरक्षण

जारी रखना चाहते थे। सरकार ने केवल चार उद्योगो को छोड़ कर (जो संरक्षण जारी रखना चाहते थे) आयोग की सारी सिफारिशो को मान लिया।

बिल्कुल नयी जांचो में से अधिक महत्वपूर्ण जाँच उन उद्योगो को संरक्षण प्रदान करने के सम्बन्ध में थी, जो मोटरगाड़ियो के हिस्से बनाने से सम्बन्धित हैं। सरकार ने इसको स्वीकार कर लिया और आयात वस्तुओं पर संरक्षण-कर लागू कर दिये। इसके अतिरिक्त सरकार ने रगाई सम्बन्धी उद्योग को संरक्षण देने का प्रस्ताव भी स्वीकार कर लिया। सरकार ने लालटैनो, सिलाई की मशीनो, पिकर्स (Pickers) और जिप फासनर्स (Zip Fasteners) के उद्यागो पर से, आयोग की सिफारिश पर संरक्षण हटा लिया।

इसके अतिरिक्त, भारतीय टिन प्लेट कम्पनी (Tinplate Company of India Ltd.) द्वारा बनाई गई टिन प्लेट और काली चादरो के मूल्यो को निर्धारित करने के सम्बन्ध में भी सरकार ने आयोग की सिफारिश स्वीकार की।

इस वर्ष आयोग ने २० तटकर सम्बन्धी तथा २ मूल्य सम्बन्धी मामलों की जाँच की थी। तीन ऐसे उद्योगों की, जिन्होने प्रथम बार संरक्षण प्राप्त करने की प्रार्थना की थी और शेष १७ ऐसे उद्योग जिन्होंने मिले हुए संरक्षण की अवधि को बढाने की प्रार्थना की, जाँच की गई। भारत सरकार ने तीन नये उद्योगो को तटकर आयोग की सिफारिश पर सरक्षण प्रदान कर दिया। मोटर गाड़ियो के भाग बनाने वाले उद्योगो जैसे डिजिल फ्यूल इन्जेक्शन का सामान बनाने वाले उद्योग और पिस्टन को बनाने के उद्योग को क्रमश ३१ दिसम्बर, १९५६ और ३१ दिसम्बर, १९५७ तक सरक्षण प्रदान कर दिया। इसके अतिरिक्त तीसरे इजीनियर्स स्टील फाइल्स उद्योग को भी ३१ दिसम्बर, १९५६ तक सरक्षण दे दिया। सरक्षण प्राप्त १७ उद्योगो में से ९ उद्योगो के सरक्षण की अवधि को भारत सरकार ने आयोग की सिफारिश पर बढ़ा दिया गया।

रबड के ट्यूब, टायरो और टाटा आयरन एण्ड स्टील क० और इण्डियन आयरन एण्ड स्टील क० के स्टील के मूल्य-सम्बन्धी जाँच के पश्चात् तटकर आयोग ने यह सिफारिश की थी कि यदि रबड के ट्यूब और टायरो पर उत्पादन कर मे कोई परिवर्तन न हो तो इनके वर्तमान मूल्यो में ११ प्रतिशत कमी कर देनी चाहिए और उक्त दोनों स्टील कम्पनियो द्वारा उत्पादित इस्पात का मूल्य सन् १९५९–६० मे समाप्त होने वाले ५ वर्षों के लिए ३९३ रु० प्रति टन स्थिर रूप से नियत कर देना चाहिए।

हवाना चार्टर (Havana Charter)

वित्त आयोग ने भारत सरकार द्वारा हवाना चार्टर की पुष्टि करने के प्रश्न पर भी विचार किया, जिसके बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँची कि भारत को चार्टर की पुष्टि उसी समय करनी चाहिए जब कि अमेरिका और इगलैण्ड दोनो उसकी पुष्टि कर लें और जब यह समझौता देश की स्थिति के अनुकूल हो।

भारत ने, अन्य देशों के साथ, हवाना चार्टर और तटकर व्यापार के सामान्य

समझौते पर (General Agreeement on Tariff and Trade—G.A.T.T.), जो कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ (International Trade Organisation) के अन्तर्गत स्थापित किये गये हैं, हस्ताक्षर किये हैं। इस समझौते का मुख्य ध्येय स्वतन्त्र व्यापार का विकास करना और व्यापार के भेदभाव को दूर करना है। इस समझौते के अनुसार यदि कोई सदस्य देश, किसी एक देश के साथ जो रियायत करेगा, वह रियायत उसे सब सदस्यो को देनी होगी। इम्पीरियल प्रिफरेन्स की प्रणाली को समझौते के अन्तर्गत नहीं शामिल किया गया है।

हवाना चार्टर और व्यापार-समझौता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्वतन्त्र विकास की ओर एक ऐसा प्रयत्न है, कि इसकी जितनी प्रशसा की जाय, कम है। इसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लगे हुए प्रतिबन्धो को दूर करके संसार का सतुलित आर्थिक विकास करना है। यद्यपि देशो ने तटकर कुछ कम कर दिये है, परन्तु उन्हे पूर्णरूप से नही हटाया है। ऐसा करने से देश की अर्थ-व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते है और फिर विभिन्न देशो के बीच अब भी अविश्वास है। तटकर एवं व्यापार समझौते का प्रथम सम्मेलन सन् १६४७ मे जेनेवा मे, द्वितीय सम्मेलन फ्रास मे एनेसी नामक स्थान पर सन् १६४६ में हुआ था। समझौते का तीसरा सम्मेलन इंगलैण्ड के टोरक्वे (Torquay) मे सन् १६५० में हुआ था। इन तीन सम्मेलनो में भारत ने भी भाग लिया था। सन् १६४७ के सम्मेलन में भारत को सर्वाधिक ११ मदो पर सुविधायें प्राप्त हुई थी। बाद के दो सम्मेलनो में ५० मदो पर और सुविधाएँ प्रदान कर दी गई थी।

अप्रैल, मई सन् १६५४ में भारत सरकार द्वारा कुछ वस्तुओ पर से लगे हुए प्रतिबन्धो को हटाने की प्रार्थना पर समझौते के अधिकारियो ने केवल शराब, नारकोल मे बने रग, शीशे के दाने (Glass beads), नकली मोती और सेफ्टी रेजर, ब्लेड आदि वस्तुओ पर ही सुविधाये प्रदान की थी। इनके बदले भारत को भी कुछ वस्तुओ के लिए छूट देनी पडी। परन्तु इसमे कोई सन्देह नही है कि समझौते के अन्तर्गत भारत को मिली हुई सुविधाए यहाँ के उद्योगो के विकास की आवश्यकता से भी कम थी।

जून, सन् १६५३ में भारतीय वाणिज्य एव उद्योग मण्डल सघ (Federation of Indian Chamber of Commerce & Industry) ने इस समझौते की कडी आलोचना की और भारत सरकार को अलग होने की सिफारिश की, परन्तु भारतीय सरकार ने इस ओर विशेष ध्यान नही दिया, क्योंकि वह जानती थी कि उसे समझौते से अलग होने मे हानि ही होगी।

७ मार्च, सन् १६५५ को जेनेवा (Geneva) मे तटकर एव व्यापार के सामान्य समझौते (G. A T. T) पर हस्ताक्षर करने वाले सदस्यो ने मिलकर पिछले सात वर्षो के तजुर्बे के आधार पर समझौते के विस्तारपूर्वक निरीक्षण को पूरा किया। उन लोगो ने समझौते के प्राथमिक उद्देश्यो को फिर से स्वीकार किया और समझौते की शर्तो में आवश्यक परिवर्तन भी किये, ताकि वह बदली हुई आर्थिक परिस्थितियो के अनुकूल हो जाय। इसके अतिरिक्त समझौते के संचालन के लिए एक व्यापार सहयोग

सघ (Organisation for Trade Cooperation) के उद्देश्य और ढाचे (Objectives and Structure) को भी विस्तृत कर दिया है। स्वीकार किये गए प्रस्तावो मे से कुछ महत्वपूर्ण प्रस्ताव निम्न प्रकार है —

(१) वर्तमान तटकर सूची के लागू होने की अवधि ३१ दिसम्बर, सन् १९५७ तक बढा दी गई, और यह भी तय हुआ कि एक ऐसे नये सिद्धान्त का प्रतिपादन हो, जो स्वय ही न केवल तटकर सूची (Tariff Schedules) की अवधि को तीन वर्ष के लिए बढा देगा, अपितु जिससे सौदा करने वाले दोनो पक्षो को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी, कि वे अधिकार प्राप्त करके निर्धारित समय और निर्धारित तटकर की दरो को फिर से आपस में समझौता करके, यदि उचित समझें, तो उनमे सशोधन कर दे या उनमें से कुछ को न अपनाये।

(२) सौदा करने वाले पक्षो मे विकास की प्राथमिक अवस्था मे अतिरिक्त सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए ताकि वह इस योग्य हो जाये कि (क) वह अपने तटकर ढाचे को काफी लोचपूर्ण बनाए रक्खे ताकि विशेष उद्योगो की स्थापना के लिए तटकर-सरक्षण प्रदान कर सकें। (ख) अपने आर्थिक विकास द्वारा उत्पन्न हुई आयातों की माँग के ऊँचे स्तर को ध्यान मे रखते हुए व अपने भुगतान सतुलन के बचाने के हेतु आयातो पर मात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगा सकें।

१९ सितम्बर, १९५५ को लोकसभा मे G. A. T. T. के सशोधनो को स्वीकार करने के सम्बन्ध मे भाषण देते हुए भारतीय व्यापार और वाणिज्य मन्त्री ने कहा—"यद्यपि दुहराया हुआ G. A. T. T., पूर्ण पत्र नही, फिर भी यह पहले समझौते से अच्छा था।" उन्होने कहा कि, "हमे हमारे वायदे भार प्रतीत हो सकते है, परन्तु यह ही वायदे जो अन्य देशो ने किये है, हमारी सम्पत्ति है।" उनका विचार था कि अविकसित देशो के पक्ष मे जो व्यवस्था की गई है, उसका मुख्य उद्देश्य उन रुकावटों को दूर करना है, जिनसे कि देशो ने अब तक नुकसान भुगता है। G. A. T. T. द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, जो प्रोत्साहित होगा, वह स्वय साध्य नही है, बल्कि अधिक समृद्धि का एक साधन है। इसलिए यदि लोगो का जीवन-स्तर ऊँचा होता है, और देश की उन्नति होती है, तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर लगे हुए प्रतिबन्ध बुरे नही हैं। इसके अतिरिक्त उन्होने बताया कि यह समझौता लोचपूर्ण भी है, क्योंकि यह व्यवस्था की गई है कि प्रतिवर्ष सदस्यों की एक बैठक होगी, जिसमे बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार समझौते मे सशोधन किये जायेंगे।

समझौते का पिछला सम्मेलन सन् १९५६ मे जेनेवा मे हुआ था, जिसमे भारत ने भाग नही लिया था क्योंकि उस समय और किसी अन्य वस्तु पर छूट दे सकना सभव नही था। इस सम्मेलन मे स्वीकृत सुविधाओ की अवधि १ जनवरी, सन् १९५८ को समाप्त होने वाली है। इसलिए भारत सरकार ने भारतीय वाणिज्य एव उद्योग मडल से इस समझौते के सम्बन्ध मे निम्नलिखित बातो पर सलाह माँगी है —

(१) समझौते के अन्तर्गत ऐसी मदे, जिनकी तटकर सुविधाओ मे परिवर्तन करना अथवा उनको समाप्त करना आवश्यक है।

(२) ऐसी वस्तुएँ जिनके आयात-कर घटाये जा सके, अथवा उनकी वृद्धि पर नियन्त्रण हो सके परन्तु इस कमी से तटकरों में होने वाली आय पर व किसी स्वदेशी उद्योग पर बुरा प्रभाव न पडे।

(३) ऐसी मदें जिन पर छूट देने से भारतीय निर्यात व्यापार में वृद्धि हो सके।

अब क्योंकि पिछले समझौते की अवधि १ जनवरी, १६५८ को समाप्त होने वाली है, इसलिए समझौते का प्रत्येक सदस्य देश वर्तमान समझौते की शर्तों पर विचार कर रहा है कि भविष्य में उनमें क्या परिवर्तन किये जाने चाहिएं। नये परिवर्तित समझौते की शर्तें अगले तीन वर्षों तक लागू रहेंगी।

गतवर्षों में तटकर व्यापार समझौते ने काफी प्रगति की है और आज सारे विश्व के व्यापार का $\frac{4}{5}$ भाग इसी समझौते के अन्तर्गत किया जाता है। वास्तव में यह समझौता व्यापार पर लगे हुए प्रतिबन्धों को समाप्त करके इसे स्वतंत्र बनाने में बहुत कुछ सफल हो चुका है और फलस्वरूप गत वर्षों में खाद्यान्न के आयात में काफी कमी हुई है। सन् १६५३–५४ में ही खाद्यान्न उत्पादन का प्रथम योजना के अन्तर्गत निर्धारित लक्ष्य प्राप्त हो गया और ६८७ लाख टन खाद्यान्न उत्पन्न हुआ था। इस प्रकार खाद्यान्न का आयात कम हो गया। सन् १६५४–५५ में ६८.५७ करोड़ रु० के खाद्यान्न भारत ने विदेशों से मँगवाये थे, किन्तु इनकी माँग सन् १६५५–५६ में केवल १७.६८ करोड़ रु० की ही रह गई। परन्तु सन् १६५६–५७ में भारत में बाढ़, सूखा आदि प्राकृतिक प्रकोपों के कारण कृषि, फसलें नष्ट हो जाने से खाद्यान्न की कमी हो गई और विदेशों से आयात करने की स्थिति फिर पैदा हो गई है। इसके अतिरिक्त भविष्य में जनसंख्या और आय में वृद्धि होने से खाद्यान्न का उपभोग भी बढ़ेगा। सरकार के पास खाद्यान्न का भंडार भी बहुत कम है। इसको भी भविष्य में बढ़ाना ही पड़ेगा। इसीलिए योजना आयोग ने द्वितीय योजना काल में ६० लाख टन खाद्यान्न आयात करना आवश्यक समझा है और इसमें से अधिकांश योजना के प्रथम तीन वर्षों में ही आयात करना पड़ेगा। परन्तु वर्तमान स्थिति को देखते हुए खाद्यान्न के आयात को बढ़ाना आवश्यक हो गया है।

इस प्रकार हम यह आशा कर सकते हैं कि भारतीय विदेशी व्यापार का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। परन्तु यह अधिकतर दुहराये हुए समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले सदस्यों के आपसी सहयोग पर निर्भर करता है। इस समझौते को कहाँ तक सफलता प्राप्त होगी, यह भविष्य ही बता सकेगा।

उन्तीसवां अध्याय

विदेशी विनिमय

(Foreign Exchange)

'विदेशी विनिमय' शब्द का प्रयोग अर्थशास्त्र में भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है। कोई अर्थ अधिक व्यापक है, तो कोई बहुत सकुचित। व्यापक अर्थ में विदेशी विनिमय शब्द से अभिप्राय उन सारी क्रियाओं से होता है, जिनका प्रयोग विभिन्न देशों के व्यापारियों द्वारा भुगतान करते समय किया जाता है, अर्थात् इसके अन्तर्गत उन सारी रीतियो को जिनके द्वारा भुगतान चुकाये जाते हैं और उन सभी संस्थाओं को जो इन भुगतानों में सहायता करती हैं, सम्मिलित किया जाता है। कुछ लेखकों ने इस शब्द का प्रयोग सकुचित अर्थ में भी किया है। कुछ लेखक इसका अर्थ विदेशी मुद्राओं के क्रय-विक्रय से लगाते हैं और कुछ उन सारी सुविधाओं मे अर्थ लगाते हैं, जो विदेशी भुगतान चुकाने मे प्रदान की जाती हैं। अधिकांश लेखकों ने इसका अर्थ उस दर को माना है, जिस पर एक देश की मुद्रा अन्य देशों की मुद्राओं से बदली जाती है। वास्तव में विदेशी-विनिमय के अन्तर्गत वे समस्त रीतियाँ और साधन आ जाते हैं जिनका प्रयोग विदेशी भुगतान चुकाने में किया जाता है। चेपमैन (Chapman) के शब्दों में "विदेशी विनिमय का अभिप्राय उस मशीनरी से है, जिसके द्वारा विदेशी वाणिज्य में भुगतान किये जाते हैं।"[१] विदर्स के अनुसार "विदेशी विनिमय अन्तर्राष्ट्रीय-विनिमय मुद्रा-परिवर्तन का विज्ञान और कला है।"[२] सारांश मे विदेशी विनिमय शब्द का प्रयोग तीन अर्थों मे किया जाता है। प्रथम, वह वस्तु (यानी विदेशी विनिमय बिल) जो कि खरीदी और बेची जाती है, द्वितीय, वह मूल्य जिस पर उसका क्रय-विक्रय होता है और तृतीय वह संस्थाएँ एवं मशीनरी जिसके द्वारा वस्तु का क्रय-विक्रय होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ही विदेशी विनिमय को जन्म देता है। क्योंकि विभिन्न देशों की मुद्राएँ एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न होती है, इसीलिए जिस समय एक देश का व्यापारी दूसरे देश के व्यापारी को भुगतान करता है, तो वह विशेष कठिनाइयों का अनुभव करता है। यदि सारे विश्व के लिए एक सामान्य मुद्रा होती तो विदेशी विनिमय की कोई समस्या न होती। यह मुद्राओं की भिन्नता के कारण ही विदेशी विनिमय की

१—"The machinery whereby payments are effected in foreign commerce is known that of the Foreign Exchanges"—Chapman.

२—"Foreign Exchange is the Science and Art of international money changing." Withers—Money changing.

समस्या उत्पन्न होती है। यह स्पष्ट भी है कि आधुनिक कालमे प्रत्येक देशमे एक अपरिमित-कानूनी-मुद्रा (Unlimited Legal Tender) होती है, जिसका उपयोग देशवासी अपने विनिमय कार्यों को सम्पन्न करने में करते हैं और यह मुद्रा केवल एक देश के भौगोलिक सीमा में समीप सीमाओं के भीतर ही चलती है विदेशों द्वारा यह स्वीकार नहीं की जाती। आधुनिक काल में कोई भी देश बिना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के काम नहीं चला सकता। उसको अपने आयातों और निर्यातों के भुगतान का लेन-देन करना होता है। जब तक संसार स्वर्ण-मान पर था, तब तक भुगतान सम्बन्धी समस्याएँ कम थी। इसके अतिरिक्त सोने को परखना, भेजना और मँगाना खर्चीला भी था और असुविधाजनक भी था। इसीलिए सभी देशों ने इसका प्रयोग बन्द कर दिया। अब क्योंकि हर देश की मुद्रा का वजन, विशुद्धता और रूप अलग-अलग होते हैं। इसीलिए विदेशी व्यापार में भुगतान करते समय एक देश को अपनी मुद्रा, दूसरे देश की मुद्रा से बदलने मे बडी कठिनाई होती है, अर्थात् एक देश को भुगतान किस मुद्रा में किया जाए? किन संस्थाओ द्वारा यह भुगतान किया जाय? या अपनी मुद्रा के बदले में विदेशी मुद्रा कितनी मिलनी चाहिए? यह सब समस्याएँ, एक देश के सम्मुख भुगतान करते समय उपस्थित हो जाती हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान की रीतियां (Methods of International Payments)

अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान करते समय कई रीतियो का प्रयोग किया जाता है। यह रीतियाँ निम्न प्रकार हैं :—

(१) एक देश अपने भुगतान को वस्तुओ का निर्यात करके चुका सकता है। आधुनिक काल में इस विधि का प्रयोग नही होता, क्योकि इसमे वस्तु-विनिमय की सारी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(२) एक देश अपने आयात का भुगतान सोने के सिक्को मे कर सकता है या स्वर्ण के निर्यात द्वारा भी कर सकता है। परन्तु यह विधि खर्चीली और असुविधाजनक दोनो ही हैं।

(३) आधुनिक काल मे विदेशी भुगतान, विदेशी विनिमय के स्वत्वो (Titles of Foreign Exchange) द्वारा किया जाता है। यह स्वत्व तीन प्रकार के होते है :—

(क) विनिमय बिल (Bill of Exchange)।

(ख) बैंकर ड्राफ्ट (Banker's Draft)।

(ग) टेलीग्राफिक ट्रान्सफर (Telegraphic Transfer)।

विनिमय बिल

देश के आतरिक व्यापार मे तो साख पत्रो का प्रयोग होता ही है और धातु मुद्रा के प्रयोग मे काफी सीमा तक मितव्ययिता लाने का प्रयत्न किया गया है और वह सफल भी हुआ है। देशी व्यापार की भाँति विदेशी व्यापार मे भी साख पत्रो का चलन एक पुरानी-सी बात हो गई है। अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में धातु-मुद्रा को एक देश से

दूसरे देश के खर्चे और असुविधाओं ने धातु-मुद्रा के प्रयोग को मितव्ययी बनाने में एक आश्चर्यजनक कार्य किया है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में विनिमय की गई वस्तुओं के भारी मूल्यों की तुलना में मुद्रा की एक बहुत थोड़ी-सी मात्रा ही प्रयोग में आती है। भुगतानों का अधिकांश भाग तो केवल साख-पत्रों द्वारा दायित्वों को हस्तान्तरित करके चुका दिया जाता है और मुद्रा का प्रयोग केवल लेन-देन की बाकी को चुकाने में किया जाता है। अब हम उपरोक्त स्वत्वों की कार्य-विधि का विस्तार में उल्लेख करेंगे। मान लिया कि भारत और अमेरिका के बीच व्यापार हो रहा है। 'अ' और 'ब' अमेरिका के दो व्यापारी हैं और 'क' और 'ख' भारत के दो व्यापारी हैं। 'अ' ने १०० डालर के मूल्य का माल 'क' को बेचा और १०० डालर का एक विनिमय बिल 'क' पर लिख दिया। 'अ' अमेरिकन निर्यात कर्ता है और अमेरिका में 'क' का १०० डालर तक का ऋण दाता है।

यह भी मान लिया कि 'ख' ने जो भारतीय आयातकर्ता है, १०० डालर के मूल्य की वस्तुएँ 'ब' को अमेरिका भेजी। 'ख' इस प्रकार का १०० डालर तक का 'ब' का ऋण-दाता है। इस प्रकार विनिमय बिल निम्न प्रकार से भुनाया जायेगा।

अमेरिका भारत

अ (निर्यात कर्ता—ऋणदाता) क (आयात कर्ता—ऋणी) ←——

↓ ↑

ब (आयात कर्ता—ऋणी) ——→ ख (निर्यात कर्ता—ऋणदाता) ——→
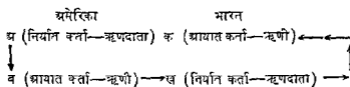
जैसा कि ऊपर के चित्र में दिखाया गया है 'अ' (अमेरिकन निर्यात कर्ता) 'ब' (अमेरिकन आयात कर्ता) को बिल बेच देगा। 'ब' इस बिल को खरीद कर 'ख' को भेज देगा। 'ख' (भारतीय निर्यात कर्ता) इस बिल का भुगतान 'क' (भारतीय आयात कर्ता) से प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार इस बिल के उपयोग से 'अ' और 'ख' दोनों का ही भुगतान बिना मुद्रा के हस्तान्तरण के सरलतापूर्वक हो गया। यदि विनिमय बिल न होते तो 'क,' 'अ' को भुगतान करता और 'ब', 'ख' को भुगतान करता और इस तरह दो बार मुद्रा भारत से अमेरिका को आती जाती, जिसमें खर्चा और असुविधा दोनों ही होती, जिनको कि बिल के प्रयोग ने बचा दिया। इस प्रकार प्रत्येक बिल दो ऋणों का भुगतान करता है।

परन्तु व्यवहार में बिल इस प्रकार कार्य नहीं करते। अमेरिका में हजारों आयातकर्ता और निर्यातकर्ता हैं और भारतवर्ष में भी हजारों आयात कर्ता और निर्यात-कर्ता हैं। सैकड़ों की संख्या में अमेरिकन निर्यातकर्ता भारतीय आयात कर्ता पर बिल लिखेंगे और वे बिल अमेरिकन आयातकर्ता द्वारा खरीद लिये जायेंगे, ताकि वे भारतीय ऋणदाताओं अथवा निर्यातकर्ताओं का भुगतान कर सकें। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान में बिल के प्रयोग से धातु-मुद्रा के प्रयोग में एक बड़ी सीमा तक मितव्ययिता आ गई है।

इस स्थान पर एक बात और ध्यान में रखनी आवश्यक है वह यह कि यदि विनिमय बिल की परिपक्वता अवधि काफी है, और यदि निर्यातकर्ता उस बिल के

भुगतान को तुरन्त ही प्राप्त करना चाहता है, तब बिल द्वारा भुगतान करने में विनिमय-बैंक एक बहुत बड़ा भाग लेते हैं। बिल प्रत्यक्ष रूप से एक व्यापारी से दूसरे व्यापारी को न जाकर बैंक के द्वारा बेचा और खरीदा जायेगा। आधुनिक काल में बिलो का प्रयोग इसी प्रकार होता है। निम्न चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है।
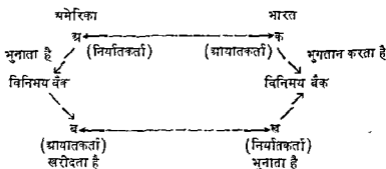
अमेरिका के निर्यातकर्ता 'अ' ने माल भेजते समय १०० डालर का एक बिल लिख कर भारतीय आयातकर्ता 'क' के पास भेजा दिया। 'क' ने उस बिल को स्वीकार (accepted लिखकर) कर के 'अ' के पास वापिस भेज दिया। 'अ' ने उस बिल को एक विनिमय बैंक से भुना लिया। बैंक ने 'अ' की राशि में से परिपक्वता अवधि तक का सूद काट कर उसको दे दिया। अब क्योकि अमेरिकन आयातकर्ता 'ब' को भी भारतीय आयातकर्ता 'ख' को भी भुगतान करना है, इसलिए वह इस बिल को विनिमय बैंक से खरीद कर 'ख' को भेज देता है। 'ख' इस बिल को भारतीय विनिमय बैंक से भुना लेता है, जो परिपक्वता अवधि के समाप्त होने पर 'क' से भुगतान वापस ले लेता है।

उपरोक्त उदाहरण में यह मान लिया है कि जितने मूल्य का माल 'अ' ने 'क' को भेजा है, उतने ही मूल्य का माल 'ख' ने 'ब' को भेजा है, परन्तु वास्तविक जीवन में ऐसा बहुत कम होता है। अधिकतर किसी-न-किसी देश का आयात का भुगतान चुकाने के बाद भी कुछ-न-कुछ लेना होता है। इस राशि का भुगतान तो भुगतान-बिलों द्वारा नही बल्कि बैंकर्स ड्राफ्ट द्वारा किया जाता है।

बैंकर्स ड्राफ्ट (Bankers' Draft)

अधिकतर विनिमय-बैंकों की शाखाएँ भिन्न-भिन्न देशो मे होती है। वास्तव में शाखाओ की संख्या मे ही विनिमय-बैंक की व्यावसायिक शक्ति का पता चलता है। इन बैंको की उपस्थिति से व्यापारियों को विदेशी विनिमय के क्षेत्र में बड़ा लाभ हुआ। आजकल व्यापारियो को भुगतान चुकाने के लिए मुद्रा का हस्तान्तरण नही करना पड़ता। वैसे तो यह भुगतान विदेशी विनिमय-बिलों के क्रय-विक्रय द्वारा हो ही जाता है, परन्तु यदि लेन-देन की बाकी किसी व्यापारी के विपक्ष मे है, तब वह व्यापारी अपने देश की विनिमय-बैंक में भुगतान की राशि जमा कराके एक बैंकर्स-ड्राफ्ट प्राप्त कर लेगा।

और इस ड्राफ्ट को भुगतान लेने वाले व्यापारी को भेज देगा। यह ड्राफ्ट बैंक या तो अपनी शाखा के या किसी दूसरी बैंक के नाम लिख देगी, जिसको दिखा कर भुगतान लेने वाला व्यापारी बैंक विशेष से भुगतान प्राप्त कर लेगा।

उपरोक्त उदाहरण में यदि अमेरिकन निर्यात कर्ता 'अ' भारतीय आयात कर्ता 'क' को १०० डालर का माल बेचता है और भारतीय निर्यात कर्ता 'ख' अमेरिकन निर्यात कर्ता 'ब' को १५० डालर का माल भेजता है, अब यदि १०० डालर के मूल्य के बिल द्वारा भुगतान होता है, तो भी 'ख' को 'ब' से ५० डालर और अधिक लेने हैं। इस भुगतान को चुकाने के लिए 'ब' अमेरिकन विनिमय बैंक में ५० डालर जमा कर देगा और एक बैंकर ड्राफ्ट प्राप्त कर लेगा जो कि बैंक ने अपनी भारतीय शाखा या अन्य किसी बैंक के नाम लिखा हैं। 'ब' इस ड्राफ्ट को 'ख' के पास भेज देगा जिसका भुगतान 'ख' भारतीय बैंक से रुपयों में प्राप्त कर लेगा। इस प्रकार न तो भुगतान करने में परेशानी ही होती है, और न एक देश को दूसरे देश की मुद्रा स्वीकार करने या न करने का प्रश्न नहीं उठता है।

टेलीग्राफीक ट्रान्सफर (Telegraphic Transfer or T. T.)

यदि एक देश का व्यापारी अपने माल का भुगतान तुरन्त ही प्राप्त करना चाहता है, तब यह भुगतान T. T. द्वारा किया जाता है। T. T. एक प्रकार का आदेश है जो कि एक बैंक तार द्वारा अपनी विदेशी शाखा को एक विशेष राशि का विशेष व्यक्ति को भुगतान करने को देता है।

विनिमय दर (Rate of Exchange)

विनिमय दर से हमारा अभिप्राय उस दर से है जिस पर एक देश की मुद्रा दूसरे देश की मुद्रा से बदली जाती है। अर्थात्, यह किसी भी देश की मुद्रा का विदेशी-मूल्य अथवा बाह्य-मूल्य होता है, और इस प्रकार विदेशी विनिमय दर दो देशों की मुद्राओं के विनिमय अनुपात की सूचक होती हैं। यदि एक पौन्ड के बदले में ४.८६६५ डालर प्राप्त होते हैं, तब पौंड और डालर की विनिमय दर निम्न होगी :—

१ पौंड = ४.८६६५ डालर

विदेशी विनिमय-दर का निर्धारण मूल्य के सामान्य सिद्धान्त (General Theory of Value) द्वारा ही होता है। जिस प्रकार किसी वस्तु का मूल्य बाजार में उसकी माग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है, ठीक उसी प्रकार विदेशी मुद्रा का मूल्य भी उसकी माँग और पूर्ति पर निर्भर करता है, अर्थात् विदेशी विनिमय-दर विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति द्वारा निश्चित होती हैं। यह पहले ही बताया जा चुका है कि भुगतान मुद्रा में न होकर विनिमय बिलों द्वारा होता है, इसलिए विदेशी विनिमय-दर, विदेशी विनिमय बिलों की माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होती है। यहाँ पर विदेशी विनिमय की माँग और पूर्ति का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है।

प्रत्येक देश में सैकड़ों आयात कर्ता और सैकड़ों निर्यात कर्ता होते हैं, जो विभिन्न

देशों को माल भेजते हैं और वहाँ से माल मँगाते हैं और माल के बदले में भुगतान करते और भुगतान लेते हैं। परन्तु हर देश का व्यापारी अपने ही देश की मुद्रा में भुगतान लेना चाहता है। इस प्रकार भारतीय आयातकर्ताओं को भिन्न-भिन्न देशों के व्यापारियों का भुगतान करने के लिए उनके देश की मुद्रा की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार भारतीय निर्यातकर्ताओं का भुगतान करने के लिए विभिन्न देशों के व्यापारियों को भारतीय मुद्रा की आवश्यकता होगी। इस प्रकार प्रत्येक देश में एक निश्चित समय में विभिन्न देशों की मुद्राओं की माँग के साथ-साथ पूर्ति भी रहती है, जिसके फलस्वरूप एक देश विशेष के आयातकर्ता उसी देश के निर्यातकर्ताओं से भुगतान पाने वाले देश की मुद्रा के स्वत्व (Titles to the Creditors money) अर्थात् बिल आफ एक्सचेंज खरीद कर भुगतान पाने वाले देश के निर्यात कर्ताओं को भेज देते हैं और उनके माल का भुगतान कर देते हैं। इसी तरह हर समय प्रत्येक देश में विदेशी मुद्रा या उनके स्वत्वों का क्रय-विक्रय करने वाले व्यक्ति होते हैं जिनकी माँग और पूर्ति द्वारा विनिमय-दर निर्धारित होती है। इस प्रकार विदेशी-विनिमय का भी अन्य वस्तुओं की भाँति एक बाज़ार होता है और विदेशी मुद्रा के खरीदने और बेचने वाले इस बाज़ार के मुख्य अंग होते हैं, जिनके आपसी सौदे विनिमय बैंकों द्वारा तय होते हैं।

विदेशी मुद्रा का क्रय-विक्रय करने वाले दोनों पक्षों की ही पारस्परिक शक्ति द्वारा विदेशी विनिमय-दर निर्धारित होती है। जब विदेशी मुद्रा की या उनके स्वत्वों की माँग उनकी पूर्ति के बराबर होती है, तब विनिमय-दर साम्य पर होती है, अर्थात् विनिमय दर सममान (Rate of Exchange at Par) होती है। जब विदेशी मुद्रा की माँग पूर्ति से अधिक होती है, तब विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र से ऊँचा (Above the Par) उठ जाता है। और जब विदेशी मुद्रा की पूर्ति माँग से अधिक होती है, तब विदेशी मुद्रा का मूल्य सममान से नीचा (Below the Par) गिर जाता है। देशी मुद्रा के शब्दों में विनिमय दर की स्थिति बिल्कुल विपरीत होती है। अर्थात्, इसको स्पष्ट करने के लिए यह कह सकते हैं कि विदेशी मुद्रा की पूर्ति माँग से अधिक होने का अभिप्राय यह होता है कि देशी मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक है। और इस स्थिति में जब विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र (Par) से नीचा गिरता है, तब इसका अभिप्राय यह होता है कि विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र से ऊँचा (Above the Par) उठ गया है अर्थात् विदेशी विनिमय-दर गिर गई है या विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए अब देशी मुद्रा की मात्रा पहले की अपेक्षा कम देनी पड़ेगी। इसी प्रकार विदेशी मुद्रा की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होने का अभिप्राय यह है कि देशी मुद्रा की पूर्ति उसकी माँग से अधिक हो गई है। इस स्थिति में जब विदेशी मुद्रा का मूल्य सममात्र (Par) से ऊँचा उठ जाता है तब इसका अभिप्राय यह हुआ कि देशी मुद्रा का मूल्य सममात्र से नीचे (Below the Par) गिर गया है अर्थात्, विदेशी विनिमय-दर ऊँची हो गई या विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए अब पहले की अपेक्षा देशी मुद्रा की मात्रा अधिक देनी होगी।

विदेशी-विनिमय दरों का निर्धारण भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न

होता है। मुख्य परिस्थितियाँ चार हैं :—

(१) समान धातु-मान वाले देशों के बीच अर्थात्, स्वर्णमान पर आधारित देशों के बीच या रजतमान पर आधारित दोनों देशों के बीच।

(२) भिन्न धातु-मान वाले देशों के बीच, इसमें दो परिस्थितियाँ हो सकती हैं :

(क) जब दो देशों में से एक देश स्वर्णमान पर है और दूसरा रजतमान पर। और

(ख) जब एक देश स्वर्णमान पर है और दूसरा देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा पर।

(३) जब दोनों देश अपरिवर्तनीय-कागजी-मुद्रा पर आधारित होते हैं।

स्वर्णमान वाले देशों के बीच विनिमय दर (Mint-par…)

जब दो देश स्वर्णमान पर होते हैं, तब विनिमय दरों का निर्धारण अन्य परिस्थितियों की अपेक्षा अधिक सरल होता है। स्वर्णमान के अन्तर्गत सोने का आयात निर्यात स्वतन्त्र होता है, देश में सोने के सिक्के चलते हैं या सोने के सिक्कों में या धातु की एक निश्चित मात्रा में देश की मुद्रा परिवर्तनीय होती है, सोने के आयात और निर्यात के अनुसार देश की मुद्रा का परिमाण घटता बढ़ता है और इस प्रकार देश के मूल्य-स्तर पर सोने के आयात व निर्यात का प्रभाव पड़ता है। ऐसे देशों के बीच विनिमय दर उन देशों की मुद्रा की सोना खरीदने की शक्ति में समानता स्थापित करके निश्चित की जा सकती है। या यदि देशों में सोने के सिक्कों का चलन है, तब दोनों देशों की मुद्राओं में सोने की मात्रा को बराबर करके विनिमय-दर मालूम की जाती है। इसका एक साधारण-सा उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है कि यदि इंगलैण्ड में एक औंस सोने का मूल्य १५ पौंड है और अमेरिका में १ औंस सोने का मूल्य ७५ डालर है, तो पौंड और डालर की विनिमय दर १५ पौंड = ७५ डालर अथवा १ पौंड = ५ डालर के होगी। इसी प्रकार यदि भारतवर्ष में एक औंस सोना १९५ रुपए में मिलता है, तो पौण्ड और रुपए की विनिमय दर १ पौंड = १३ रुपए होगी। यहाँ पर एक ध्यान देने योग्य बात यह है कि विनिमय दर निर्धारित करते समय हर देश की मुद्रा की अपने देश में सोना खरीदने की शक्ति से समानता स्थापित की जाती है। उपरोक्त उदाहरण में इंगलैण्ड में जितना सोना १ पौंड खरीद सकता है, उतना ही सोना भारत में १३ रुपए खरीद सकते हैं। मुद्राओं की सोने खरीदने की शक्ति की समानता द्वारा जो दर निश्चित की जाती है, उसे विनिमय की टकसाली दर (Mint Par of Exchange) या सोने की समानता दर (Gold Par of Exchange) कहते हैं। इस प्रकार भारत और इंगलैण्ड के बीच सामान्य विनिमय दर १३ रु० = १ पौंड हुई।

स्वर्णाङ्क (Specie Points)—व्यावहारिक जीवन में, विदेशी विनिमय दर में व्यापारिक सतुलन के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। कभी वास्तविक दर टकसाली विनिमय दर (Mint Par of Exchange) से ऊँची हो जाती है तो कभी नीची। मान लिया, भारतवर्ष और इंगलैण्ड में व्यापार हो रहा है। किसी एक वर्ष में भारत का

व्यापारिक संतुलन प्रतिकूल है, अर्थात्, भारत इंगलैण्ड से निर्यातो की अपेक्षा अधिक आयात करता है। भारत को, इगलैंड को उसके माल के बदले में भुगतान करना है। अब या तो भारत सोना भेज सकता है, या पौण्ड या उसके स्वत्व खरीद कर भुगतान कर सकता है। मान लिया, भारत पौड मे भुगतान करता है, तो भारत के लिए पौड की माँग बढ जायगी। मूल्य के सामान्य सिद्धान्त के अनुसार पौड की माँग बढते ही पौड का मूल्य बढ जायगा और पौड के शब्दो मे रुपया का मूल्य गिर जायगा। अर्थात्, पौड खरीदने के लिए अब १३ रुपए से अधिक देने पडेगे। दूसरे शब्दो मे पौंड के स्वत्वों के लिए अब पहले से अधिक मूल्य देना पडेगा। उदाहरणार्थ, यदि एक पौड का स्वत्व पहले १३ रु० मे मिलता था, तो अब १३ रु० से अधिक में मिलेगा। इसी प्रकार सामान्य रूप से, प्रत्येक देश को जिसका व्यापारिक सतुलन प्रतिकूल हो, भुगतान पाने वाले देश की मुद्रा खरीदने के लिए अधिक मुद्रा देनी पडेगी। परन्तु, यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि कोई देश, दूसरे देश की मुद्रा इकाई प्राप्त करने के लिए, अपनी मुद्रा कितनी अधिक देने को तैयार होगा? अर्थात् भारतवर्ष का व्यापारी इगलैण्ड के व्यापारी को कितनी मुद्रा अधिक देने को तैयार होगा? इसका निर्णय वह सोने के मूल्य और उसको भेजने के खर्चे और स्वत्वों के मूल्य की तुलना करने के बाद करेगा, दूसरे शब्दो मे यदि भारतीय व्यापारी १३ रु० के मूल्य का सोना खरीद कर इगलैण्ड को भेजना चाहे, तो उसे जहाज की बीमा, किराया, ब्याज आदि का भुगतान करना होगा। मान लिया, यह खर्चा १ रुपया पडता है। इस खर्चे के अतिरिक्त भेजने वाले को असुविधाएँ भी होती है। इस प्रकार १ पौड का भुगतान करने के लिए भारतीय व्यापारी को १३ रु० (सोने का मूल्य) + १ रु० (भेजने का खर्चा) = १४ रु० देना होगा। अब यदि १ पौड का स्वत्व भारत मे खरीदने मे व्यापारी को १४ रु० से अधिक देना पडे, तो उसे सोना भेजना लाभप्रद होगा और वह १ पौड का स्वत्व खरीदने की अपेक्षा १ पौड के मूल्य का सोना खरीद कर भेज देगा। इस प्रकार इस स्थिति मे सोने का निर्यात करना लाभदायक होगा। भारत के दृष्टिकोण से यह बिन्दु स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) हुआ अर्थात् यह वह बिन्दु हुआ, जिस पर व्यापारी विनिमय बिल को खरीदने की अपेक्षा सोने का निर्यात करना आरम्भ कर देते है। और यह ही बिन्दु इगलैण्ड के लिए स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point) हुआ, क्योकि इस बिन्दु के बाद सोने का आयात आरम्भ हो जाता है। कोई भी व्यापारी सोने के मूल्य और उसको भेजने के खर्चे से अधिक कभी भी देने को तैयार नहीं होगा, इसीलिए स्वर्ण निर्यात बिन्दु (Gold Export Point) को उच्चतम स्वर्ण-बिन्दु (Upper Gold Point) भी कहते हैं, और स्वर्ण आयात बिन्दु को (Lower Gold Point या Lower Specie Point) भी कहते हैं। इस प्रकार स्वर्ण निर्यात बिन्दु वह बिन्दु है, जहाँ पर विनिमय की दर अपनी अधिकतम सीमा पर पहुँच जाती है। अर्थात् सोने का मूल्य + उसको भेजने के खर्चा से अधिक विनिमय दर हो जाने पर एक देश (भारत) से सोने का निर्यात दूसरे देश (इगलैण्ड) को होना आरम्भ हो जायगा।

यदि उपरोक्त परिस्थिति के बिल्कुल विपरीत परिस्थिति मे, अर्थात् व्यापारिक

संतुलन भारत के पक्ष में और इंगलैण्ड के विपक्ष में है, तो इंगलैण्ड के व्यापारियों की भारत के व्यापारियों का भुगतान करने के लिए रुपए की माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगी। इस परिस्थिति में उन्हें १३ रुपए का भुगतान करने के लिए एक पौंड से अधिक खर्च करना पड़ेगा, क्योंकि भारतीय रुपए की माँग बढ़ने से उसका मूल्य बढ़ जायेगा। परन्तु यहाँ भी वही प्रश्न उठता है कि इंगलैण्ड के व्यापारी को कितना अधिक देना होगा? यह वह १३ रुपए के स्वत्वों के मूल्य और १३ रुपए के सोने को भेजने का खर्च आदि मिला कर कुल राशि की तुलना करने के बाद ही पता लगा सकेगा। यदि वह १३ रुपए के मूल्य का सोना भेजना चाहे तो उसे १ शि० ६ पैंस का खर्चा करना पड़ता है। और यदि उसे इंगलैण्ड में ही १३ रुपए का भुगतान करने के लिए १ पौंड+१ शि० ६ पैंस से अधिक देना पड़े, तब वह रुपयों के स्वत्वों को खरीद कर भुगतान करने की अपेक्षा सोना खरीद कर भारत को भेजेगा। इसका अभिप्राय यह हुआ कि रुपया और पौंड की दर १३ रु०=१ पौंड+१ शि० ६ पैंस या १ पौंड=१३—१ रु०=१२ रुपए। अब यदि इंगलैण्ड के व्यापारी को १३ रुपए का भुगतान करने के लिए १४ रु० से अधिक देने पड़ें, तो वह सोना भेजेगा, अर्थात् यह वह बिन्दु है कि जिससे वास्तविक दर कम होने पर इंगलैण्ड से भारत को सोना जाने लगेगा। इसे भारत के लिए स्वर्ण आयात बिन्दु (Gold Import Point) कहते हैं। इस प्रकार स्वर्ण आयात बिन्दु वह बिन्दु है जहाँ पर विनिमय की दर अपनी न्यूनतम सीमा पर पहुँच जाती है, अर्थात् यह वह बिन्दु है, जहाँ पर वास्तविक दर यदि सोने के मूल्य में से उसे भेजने के खर्चे को घटा कर मिलने वाली राशि से भी कम हो जाती है, तो एक देश से (इंगलैण्ड) से दूसरे देश (भारत) में सोना आने लगता है, अर्थात् न्यूनतम स्वर्णबिन्दु (Lower Specie Point या Gold Point)=सोने का मूल्य—सोने को भेजने का खर्चा के बराबर है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वास्तविक या व्यावहारिक या दैनिक विनिमय दर विनिमय की टकसाली दर के ऊपर-नीचे चढ़ती-उतरती रहती है, परन्तु इस उतार चढ़ाव की सीमायें स्वर्ण निर्यात और आयात बिन्दुओं के द्वारा निर्धारित की जाती है। नीचे का चित्र इस प्रवृत्ति को भली-भाँति स्पष्ट कर देता है —

उच्चतम स्वर्ण बिन्दु (UPPER SPECIE POINT)
व्यावहारिक दर अ ———————— ब
स व्यावहारिक दर
म ———————— प
विनिमय की टकसाली दर (MINT PAR OF EXCHANGE)
स
अ' ———————— ब'
निम्नतम स्वर्ण बिन्दु (LOWER SPECIE POINT)
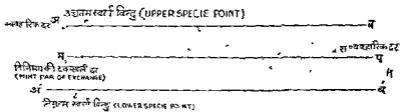
उपरोक्त चित्र में उच्च अ ब रेखा पर हर बिन्दु उच्चतमस्वर्ण बिन्दु को दिखाता है और अ' ब' पर हर बिन्दु निम्नतम स्वर्ण बिन्दु को दिखाता है। म प रेखा का हर बिन्दु एक निश्चित समय पर विनिमय की टकसाली दर को दिखाता है। अ ब और अ' ब'

रेखायें दो सीमाओं को दिखाती है, जिनके बीच से जो टेढ़ी-मेढ़ी रेखा है वह व्यावहारिक या दैनिक विनिमय दर के उतार-चढ़ाव को दिखाती है।

स्वर्णमान और रजतमान के बीच विनिमय दर

ऐसे दो देशो के बीच जबकि एक देश स्वर्णमान पर है, और दूसरा रजतमान पर, विनिमय दर निर्धारित करने से पहले दोनो देशो की मुद्राओं की क्रमशः सोने और चाँदी की मात्रा मालूम करनी होगी। उसके पश्चात् चाँदी का मूल्य सोने में मालूम करके विनिमय दर प्राप्त हो जायगी। उदाहरणार्थ—यदि इगलैण्ड और भारत के बीच विनिमय दर निर्धारित करनी है, तो भारतीय रुपए मे विशुद्ध चाँदी की मात्रा मालूम करके फिर उसका सोने में मूल्य मालूम करने के बाद पौड और रुपए का अनुपात निकाल लेगे। यह ही अनुपात दोनो देशों की मुद्राओं की विनिमय की टकसाली दर हो जायगी। सन् १८९२ तक भारत और इगलैण्ड के बीच, विनिमय दर इसी प्रकार निश्चित होती थी। इसे हम अधिक स्पष्ट इस प्रकार कर सकते है —

भारतीय रुपया में १८५ ग्रेन वजन चाँदी होती थी, जिसमें विशुद्ध चाँदी की मात्रा १६५ ग्रेन होती थी। इस चाँदी का मूल्य उस समय ७.५३३४४ ग्रेन सोने के बराबर था। उस समय पौंड मे विशुद्ध सोने की मात्रा ११३.००१६ ग्रेन थी। इसलिए पौड बराबर हुआ—$\frac{११३.००१६}{७.५३३४४}$ रुपए या १५ रुपए

इस प्रकार जब १५ रु० = १ पौंड के, इसलिए १ रुपया = १ शि० ४ पैंस।

स्वर्णमान और अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा वाले देशों के बीच विनिमय दर

दो देशो के बीच, जब एक स्वर्णमान पर और दूसरा अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा पर आधारित होता है, विनिमय दर दोनो देशो की मुद्रा की सोना खरीदने की शक्ति के अनुसार निर्धारित होती है। स्वर्णमान वाले देश की मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निश्चित होता ही है, इसलिए कागजी मुद्रा का स्वर्ण मूल्य मालूम करना होता है। दोनो का अनुपात मालूम करने के पश्चात् विनिमय दर निश्चित हो जाती है। परन्तु इसमे एक बडी कठिनाई यह है कि कागजी मुद्रा वाले देश की मुद्रा के स्वर्ण-मूल्य मे बहुत अधिक परिवर्तन होते रहते है, जिसके कारण ऐसे देशो के बीच विनिमय दर मे स्थिरता लाना असम्भव हो जाता है। इसके अतिरिक्त विनिमय दर के नीचे गिरने की सीमाये मालूम करना भी कठिन हो जाता है, क्योंकि स्वर्णमान वाले देश मे वास्तविक विनिमय दर, उच्चतम स्वर्ण बिन्दु (Upper Specie Point) द्वारा निर्धारित होती है, परन्तु कागजी मुद्रा वाले देश की उपस्थिति से एक कठिनाई और हो जाती है। क्योंकि ऐसे देश से सोने का निर्यात तो हो नही सकता, इसलिए स्वर्णमान वाले देश की वास्तविक दर गिरने की कोई सीमा नही रहती। हाँ, यह अवश्य है कि वास्तविक विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु से अधिक नही हो सकती। कागजी मुद्रा वाले देश मे वास्तविक विनिमय दर के उतार-

चढ़ाव की कोई सीमा नही होती।

अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा वाले देशों के बीच विनिमय दर

अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा वाले देशो के बीच विनिमय दर निर्धारित करना इतना सरल नही, जितना कि और परिस्थितियो मे है। ऐसी मुद्रा-प्रणाली मे एक देश की मुद्रा का दूसरे देश की मुद्रा से कोई सम्बन्ध नही होता, क्योकि देशो की मुद्रायें परिवर्तनीय नही होती, और इसीलिए ऐसी मुद्राओ का कोई एक निश्चित माप भी नही होता। ऐसे देशो के बीच विनिमय दर के निर्धारण के लिए सबसे महत्वपूर्ण सिद्धान्त क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त है।

क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त (Purchasing Power Parity Theory)

स्वर्णमान ससार मे जब सिसकियाँ भर रहा था और दम तोडने वाला था, उस समय मे विभिन्न देशो मे कागजी मुद्रा का चलन हो जाने से विनिमय दर का निर्धारण एक विषम समस्या बन गई थी। स्वीडन के अर्थशास्त्री गस्तव कैसल (Gustav Cassel) ने इस समस्या को सुलझाने का प्रयत्न किया और एक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, जो क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त के नाम से प्रसिद्ध है। ऊपर से देखने मे इस सिद्धान्त के अनुसार कागजी मुद्रा वाले देशो मे विनिमय दरो का निर्धारण, किसी प्रकार से भी स्वर्णमान वाले देशो के बीच विनिमय दर निर्धारण से भिन्न नहीं लगता, परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। स्वर्णमान मे विनिमय दर विभिन्न मुद्राओ की स्वर्ण की क्रय-शक्ति की समानता द्वारा निर्धारित की जाती है, परन्तु कागजी मुद्रा मे मुद्राओ की साधारण वस्तुओं या सेवा की क्रय-शक्ति की समानता प्राप्त करके विनिमय दर प्राप्त की जाती है। जैसे यदि भारत मे किसी एक वस्तु की निश्चित मात्रा १५ रुपए मे मिलती है, जबकि इगलैण्ड मे १ पौंड मे मिलती है, तो दोनो देशो के बीच विनिमय दर १ पौंड = १५ रुपए होगी। परन्तु यह रीति कैसल की बताई हुई विधि से भिन्न भी है और उपयुक्त भी नही है, क्योकि सोने की भाँति किसी भी अन्य वस्तु को क्रय-शक्ति के सामान्य मापक के रूप मे उपयोग नही किया जा सकता। कैसल के अनुसार सबसे सरल विधि दो देशो के बीच विनिमय दर मालूम करने के लिए यह है कि उनकी मुद्राओ की सामान्य क्रय-शक्ति मे समानता स्थापित कर दी जाए। सामान्य क्रय-शक्ति से हमारा अभिप्राय एक देश की मुद्रा की वस्तुओ और सेवाओ की औसत क्रय-शक्ति से है। यदि भारत मे १०० प्रतिनिधि वस्तुओ और सेवाओ के एक समूह का मूल्य १५ रुपए है, जबकि इगलैण्ड मे उन्ही का मूल्य १ पौंड है, तो पौंड और रुपए की विनिमय दर १५ रुपए = १ पौंड होगी या १ शि० ४ पैंस = १ रुपया। कैसल के शब्दो मे, "दो मुद्राओ की विनिमय दर आवश्यक रूप से इन मुद्राओ की आन्तरिक क्रय-शक्तियो के गुणनफल पर निर्भर होनी चाहिए। यह सरलता से देखा जा सकता है यदि हम इस सत्य पर ध्यान दे कि जो मूल्य हम विदेशी मुद्रा मे देते है, वह एक ऐसा मूल्य है, जिसका अन्तिम

दशा में देशी बाजार में वस्तुओं के मूल्यों से एक निश्चित सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए।"[१] टामस (Thomas) ने इस सिद्धान्त की परिभाषा तनिक विस्तार से दी है। उनके अनुसार, "जबकि किसी मुद्रा इकाई का दूसरी मुद्रा में मूल्य, किसी एक निश्चित समय में बाजार में माँग और पूर्ति की दशाओं से निर्धारित होता है, दीर्घकाल में यह मूल्य दोनों मुद्राओं के तुलनात्मक मूल्यों द्वारा होता है, जो कि उनकी वस्तुओं और सेवाओं की सापेक्षिक क्रय-शक्ति द्वारा सूचित होता है। दूसरे शब्दों में विनिमय दर की प्रवृति उस बिन्दु पर टिकने की होती है, जो दोनों मुद्राओं की क्रय-शक्तियों की समानता व्यक्त करता है। यह बिन्दु क्रय-शक्ति समानता (Purchasing Power Parity) कहलाता है।"[२]

कैसल ने अपने सिद्धान्त में केवल विनिमय दर की निर्धारण विधि का ही उल्लेख नहीं किया है, बल्कि उस ने यह भी बताने का प्रयत्न किया है कि विनिमय दरों में परिवर्तन क्यों होते हैं, और यह परिवर्तन किस दिशा में होते हैं और इनकी सीमा क्या होती है। उनके अनुसार दोनों मुद्राओं की सामान्य क्रय-शक्ति के परिवर्तनों के कारण ही विनिमय दर में उतार-चढाव होते है और इन परिवर्तनों की दिशा और सीमा भी क्रय-शक्तियों के तुलनात्मक परिवर्तनों द्वारा निश्चित होती है। मुद्राओं की क्रय-शक्तियों में परिवर्तन या तो समान होते है या तुलनात्मक। यदि परिवर्तन समान होते है तो विनिमय दरों में कोई अन्तर नहीं आयगा। हम एक उदाहरण ले सकते है—यदि सन् १९३९ में भारत और इगलैण्ड में मूल्य का सूचक अंक १०० था और यदि १९५२ में भारत और इगलैण्ड दोनों ही में मुद्रा प्रसार के कारण मूल्य तीन गुने बढ जाते है, अर्थात् सूचक अंक दोनों देशों में ३०० हो जाता है, तो इसका अर्थ यह तो अवश्य हुआ कि दोनों मुद्राओं की क्रय-शक्ति घट गई, परन्तु इनकी विनिमय दर में अन्तर नहीं आयगा, क्योंकि क्रय-शक्ति की समानता भंग नहीं हुई है, अर्थात् दोनों मुद्राओं की क्रय-शक्तियों में समान परिवर्तन हुए है। जब देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति में तुलनात्मक परिवर्तन होते है, तब विनिमय

१. "The rate of exchange between two currencies, must stand essentially on the quotient of the internal purchasing powers of these currencies. This is easily seen if we reflect on the fact that the price paid in a foreign currency is ultimately a price which must stand in a certain relation to the prices of commodities on the home market."

२. "While the value of the unit of one currency in terms of another currency is determined at any particular time by the market conditions of demand and supply, in the long run, that value is determined by the relative values of the two currencies as indicated by their relative purchasing powers over goods and services. In other words, the rate of exchange tends to rest at the point which expresses equality between the respective purchasing powers of the two currencies, This point is called the Purchasing Power Parity",

दर में भी परिवर्तन हो जाते हैं। यह उस समय हो सकता है जबकि दोनों देशों की मुद्राओं में परिवर्तन एक ही अनुपात में न हो या परिवर्तन समान न हो। उपरोक्त उदाहरण में यदि १९५५ में भारत में सूचक अंक ३०० है, और इंगलैंड में २५० है तो विनिमय दर निम्न प्रकार होगी। यदि सन् १९३९ में रुपया और पौंड की दर १५/ रुपया = १ पौंड थी।

भारत का सूचक अंक × रुपए = इंगलैण्ड का सूचक अंक × पौंड

या ३०० × १५ रुपए = २५० × १ पौंड

या ४,५०० रुपए = २५० पौंड

या १ रुपया $= \frac{२५०}{४५००} =$ ००५ पौंड

या १ पौंड = १८ रुपए

या १ रुपया = १ शि० १$\frac{१}{३}$ पैंस।

उपरोक्त उदाहरण से स्पष्ट है कि भारत और इंगलैण्ड दोनों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति घटी है, परन्तु भारतीय रुपया की क्रय-शक्ति पौंड की तुलना में अधिक घट गई है। इसीलिए अब एक पौंड = १८ रुपए विनिमय दर हो गई। इस प्रकार क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त विनिमय दर निर्धारण सम्बन्धी सारी समस्याओं पर विचार करता है। स्वर्ण-मान में विनिमय की टकसाली दर (Mint Par of Exchange) एक निश्चित दर होती है, परन्तु क्रय-शक्ति समानता दर दोनों देशों के मूल्यों के परिवर्तनों के साथ-साथ चलती है और इस समानता के आस-पास व्यावहारिक समानता दर घूमती है। परन्तु व्यावहारिक दर किस सीमा तक घटेगी, और बढ़ेगी, इसको निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता, क्योंकि क्रय-शक्ति समानता दर स्वयं स्थिर नहीं रहती। यह नीचे के चित्र से स्पष्ट हो जाता है :—
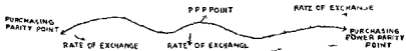
सिद्धान्त की आलोचनाएँ—यह सिद्धान्त विनिमय-दर को दो देशों की मुद्राओं की क्रय-शक्ति में समानता स्थापित करके निश्चित करता है। देश का मूल्य-स्तर या दूसरे शब्दों में मुद्रा की क्रय-शक्ति नापने की एकमात्र विधि सूचक अंक हैं। परन्तु सूचक अंक मुद्रा की क्रय-शक्ति के उतार-चढ़ाव को ठीक-ठीक नापने में समर्थ नहीं होते और सूचक अंक औसत क्रय-शक्ति को सूचित करते हैं न कि वास्तविक क्रय-शक्ति को, अर्थात् सूचक अंक द्वारा केवल क्रय-शक्ति के औसत उतार-चढ़ाव का ही ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है, वास्तविक उतार-चढ़ाव का नहीं। क्योंकि सूचक अंक बनाते समय हम देश में क्रय-विक्रय होने वाली सारी वस्तुओं को लेते हैं, और इन वस्तुओं में से कुछ ऐसी वस्तुएँ अवश्य होती हैं, जो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में नहीं आती, परन्तु उनके मूल्यों के उतार-चढ़ाव का सूचक अंक पर बहुत प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार यदि ऐसे सूचक अंकों के आधार पर हम विनिमय दर निर्धारित करें, तो वह वास्तविक विनिमय

दर से बिल्कुल पृथक् होगी। हाँ, इतना अवश्य है कि यदि हम केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में आने वाली वस्तुओं के आधार पर ही सूचक अंक बनाए, तब यह कठिनाई नहीं होगी। परन्तु ऐसे सूचक अंक सामान्य क्रय-शक्ति के सूचक नहीं होते, इसलिए साधारण सूचक अंक विनिमय दर का ठीक-ठीक निर्धारण करने के लिए कम-से-कम अल्पकाल में उपयुक्त नहीं है। हाँ, दीर्घकाल में क्योंकि सभी वस्तुओं के मूल्य में एक ही दिशा में परिवर्तन होता है, इसलिए सूचक अंकों का उपयोग किया जा सकता है और तभी क्रयशक्ति सिद्धान्त भी लागू होगा।

(२) क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त केवल मूल्यों के उतार-चढ़ाव द्वारा विनिमय दर पर होने वाले परिवर्तनों को स्पष्ट करता है। यह विनिमय दर को मान कर आगे चलता है, स्वयं उसका निर्धारण नहीं करता।

(३) इस सिद्धान्त के अनुसार मूल्य-स्तर के परिवर्तनों को विनिमय दरों के परिवर्तनों का एक मूल कारण माना है और विनिमय दरों के परिवर्तनों से जो मूल्य-स्तर में परिवर्तन होते हैं, उनकी ओर कोई ध्यान ही नहीं दिया है, जो कि ठीक नहीं है, क्योंकि मूल्य-स्तर और विनिमय-दर के परिवर्तन एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है। मान लिया, भारत में अन्य मुद्राओं की तुलना में रुपए का मूल्य गिरने की सम्भावना है, जिसका परिणाम यह होगा कि भारत से विदेशी पूँजी निकलनी शुरू हो जायगी। ऐसी अवस्था में विदेशी मुद्राओं का मूल्य रुपए की तुलना में बढ़ जायेगा अर्थात् विदेशी वस्तुओं के मूल्य भी भारत में ऊँचे हो जायेंगे, जिससे भारतीय आयात गिर जायेंगे, दूसरी ओर भारत की वस्तुएँ विदेशों में सस्ती बिकने लगेंगी, भारतीय व्यापारी अधिक लाभ कमाने के लालच से वस्तुओं का मूल्य बढ़ायेंगे, जो कि विदेशी मूल्यों की अपेक्षा तब भी कम होंगे। इस प्रकार स्पष्ट है कि विनिमय दरों के परिवर्तन मूल्य-स्तर को किस प्रकार प्रभावित करते हैं।

(४) यह सिद्धान्त विदेशी विनिमय बाजार में विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति की ओर ध्यान नहीं देता, जबकि हर वस्तु का मूल्य बाजार में उसकी माँग और पूर्ति द्वारा निर्धारित होता है। यह सिद्धान्त उनको बिल्कुल ही छोड़ देता है। इसलिए यह सिद्धान्त सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता।

(५) यह सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि विनिमय दरों में परिवर्तन का एकमात्र कारण मूल्य-स्तर के परिवर्तन हैं, जबकि विनिमय दर में अनेकों कारणों का प्रभाव पड़ता है। वास्तव में विनिमय दर में भुगतान सन्तुलन के किसी भी मद के परिवर्तन होने से परिवर्तन हो सकते हैं। इन मदों के परिवर्तनों का देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर पर तो कोई प्रभाव नहीं होता, परन्तु विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति पर पूर्ण प्रभाव पड़ता है, और ऐसी अवस्था में क्रय-शक्ति समानता का वास्तविक विनिमय दर से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ओहलिन (Ohlin) ने इसी आधार पर इस सिद्धान्त की कड़ी आलोचना की है।

इसके अतिरिक्त पूँजी का प्रवाह, व्यापार का विस्तार, सट्टेबाजी आदि ऐसी बातें हैं, जिनका विनिमय पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। परन्तु क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त में

इन बातो की ओर ध्यान न देकर कैसल ने उसका व्यावहारिक महत्व समाप्त कर दिया है।

(६) यह सिद्धान्त यह मान कर आगे बढता है कि विदेशो मे देशी वस्तुओ की माँग की लोच इकाई (Unity) रहती है। परन्तु यह मान्यता सही नही है, क्योकि ऐसा अनुभव किया गया है कि मूल्य बढने पर भी माँग नही घटती और कभी-कभी मूल्यो के परिवर्तन, माँग पर अनुपात से अधिक परिवर्तन उत्पन्न कर देते है।

(७) यह सिद्धान्त, अन्य प्राचीन सिद्धान्तो की भाँति, केवल दीर्घकालीन प्रवृत्तियो को स्पष्ट करता है, न कि अल्पकालीन को, जिससे सिद्धान्त की व्यावहारिकता कम हो जाती है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे विनिमय दर का निर्धारण भी भिन्न-भिन्न रीतियो द्वारा होता है, परन्तु व्यावहारिक जीवन मे इन सिद्धान्तो से विनिमय दर कभी भी निश्चित नही होती ।

तीसवां अध्याय

विनिमय दरों के परिवर्तन और उनका नियन्त्रण

पिछले अध्याय मे हमने विदेशी विनिमय के निर्धारण सम्बन्धी समस्याओ की विवेचना की थी। इस अध्याय मे हम विनिमय दरो में होने वाले परिवर्तनो के कारणों, सीमाओ और उनके स्थिर रखने के विभिन्न प्रयत्नो का अध्ययन करेंगे।

विनिमय दरों में उतार चढ़ाव के कारण

विनिमय दरो की स्थिरता एक दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि हर देश में इसका प्रयत्न किया गया है कि विनिमय दर स्थिर रहें, परन्तु उनमें कोई विशेष सफलता प्राप्त नही हो सकी है। विनिमय दरो के परिवर्तन स्वर्णमान मे कोई विशेष महत्व नही रखते, क्योकि उनमें स्वय स्थिर रहने की प्रवृत्ति होती हैं और विनिमय दर स्वर्ण निर्यात और आयात बिन्दुओ द्वारा निश्चित सीमाओ के भीतर ही उतरती चढती रहती है, परन्तु कागजी मुद्रा में विनिमय दरो को नियन्त्रित करने के उपाय सरकार द्वारा किये जाते हैं। विनिमय दरो के परिवर्तन स्वर्णमान मे भी होते हैं और कागजी मुद्रा मान में भी। इन परिवर्तनो के मुख्य कारण निम्न हैं —

(१) विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति
(२) देशी मुद्रा की परिस्थिति
(३) राजनीतिक दशाएँ।

अब हम उपरोक्त कारणो का स्पष्टीकरण करेंगे —

विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति का विनिमय दरो पर पूर्ण प्रभाव पडता है। विदेशी मुद्रा की माँग बढने पर विनिमय दर ऊँची हो जाती है, और माँग घटने पर नीची हो जाती है। विदेशी मुद्रा की माँग और पूर्ति भी निम्न बातो पर निर्भर रहती है :—

(अ) **व्यापारिक संतुलन**—व्यापारिक सतुलन के प्रतिकूल होने से, अर्थात् निर्यातो की अपेक्षा आयात अधिक होने से एक देश की विदेशो का भुगतान करने के लिए विदेशी मुद्रा की माँग बढ जाती है, जिससे विदेशी मुद्रा की तुलना मे हमारी मुद्रा का मूल्य गिर जायगा और विनिमय दर हमारे विपक्ष मे हो जायगी। इसके विपरीत यदि हमारा व्यापारिक सतुलन अनुकूल है, अर्थात् हमारे निर्यात आयातो की अपेक्षा अधिक हैं, तो विदेशो को हमारा भुगतान करने के लिए हमारी मुद्रा की आवश्यकता होगी, जिससे विदेशी मुद्राओ की तुलना मे हमारी मुद्रा का मूल्य बढ जायगा और विनिमय दर हमारे अनुकूल हो जायगी। इस प्रकार व्यापारिक दशाओ का विनिमय दर पर काफी प्रभाव पडता है।

(आ) **सट्टे बाजार की क्रियाओं का प्रभाव**—सट्टे बाजार की क्रियाओं का विदेशी विनिमय दरो पर बहुत प्रभाव पड़ता है। सट्टे बाजार की क्रियाओं के अन्तर्गत हम विदेशी विनिमय बिलों तथा विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय सम्बन्धी सभी क्रियाओं को सम्मिलित करते है। जब हम विदेशो में विदेशी कम्पनियों के हिस्से और प्रतिभूतियाँ खरीदते है, तो हमको बेचने वाले देश की मुद्रा की आवश्यकता पडती है और विनिमय-दर हमारे प्रतिकूल हो जाती है। इसी प्रकार जब सट्टेबाज विदेशी मुद्रा को अधिक मात्रा मे खरीदने लगते है, तब उस मुद्रा की मांग अधिक होने से विनिमय-दर भी विदेशो के पक्ष में हो जाती है। इस के विपरीत जब हमारे देश की प्रतिभूतियाँ और शेयर्स विदेशो द्वारा खरीदे जाते हैं या विदेशी सट्टेबाज हमारी मुद्राओं को खरीदते है, तब विनिमय-दर हमारे पक्ष में हो जाती है।

(इ) **बैंकिंग दशाएँ**—बैंकिंग नीति का प्रभाव विनिमय-दरो पर दो प्रकार से होता है। प्रथम, बैंक दर मे परिवर्तन करके और द्वितीय, साख-पत्रो की अधिक निकासी करके। प्रथम रीति के अन्तर्गत बैंक-दर के बढने से विदेशी पूंजी के विनियोगो को प्रोत्साहन मिलता है, परन्तु क्योकि जिस देश मे विनियोग किया जाता है, उस देश की मुद्रा की विनियोग करते समय आवश्यकता होती हैं और उसकी माँग बढने से विनिमय दर उसके पक्ष मे हो जाती है। इसके विपरीत जब बैंक दर कम कर दी जाती है, तब विदेशी पूंजी विनियोगो मे बाहर निकलने लगती है, जिससे विदेशी मुद्राओं की माँग बढने से विनिमय दर विदेशों के पक्ष मे हो जाती है। इसी प्रकार जिस देश के बैंक दूसरे देशो के बैंको के नाम ड्राफ्ट लिखते है या विदेशो को जाने वाले यात्रियो के नाम साख पत्र जारी करते है, तब विनिमय दर उस देश के विपक्ष मे हो जाती है। इस प्रकार बैंको और मध्यस्थों (वह व्यक्ति या संस्थाएँ जो विदेशी मुद्रा और साख-पत्रों का क्रय-विक्रय करते है) की क्रियाओं (Arbitrage operations) का विदेशी विनिमय दर पर काफी प्रभाव पडता है।

देशी मुद्रा की परिस्थिति

मुद्रा के आन्तरिक मूल्य के परिवर्तन भी विनिमय-दरो को प्रभावित करते है। क्रय-शक्ति समानता सिद्धान्त तो इसी पर आधारित है। जब किसी देश मे मुद्रा-प्रसार होता है, तब देशी मुद्रा का मूल्य गिरने से विदेशी पूंजी देश से बाहर भागने लगेगी और देश की विदेशी विनिमय-दर भी गिर जायेगी। इसके विपरीत जब देश का मूल्य-स्तर गिरने लगता है और मुद्रा का मूल्य बढने लगता है, तब देश मे विदेशी पूंजी का विनियोग बढने से विनिमय दर अनुकूल हो जाती है।

राजनीतिक दशाएं

पूंजी का प्रभाव और विदेशी व्यापार पूर्णतया देशों के राजनैतिक सम्बन्धो और राजनीतिक नीति पर निर्भर रहते हैं। जिन देशों मे राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद हो गए है, उन देशो में न तो व्यापार ही होगा और न पूंजी का विनियोग ही। यदि कोई देश

आयात नियन्त्रण की नीति अपना रहा है, या अपने निर्यातो को नियन्त्रित कर रहा है, तो भी व्यापार पर प्रभाव पडेगा। युद्ध के कारण भी विभिन्न देश व्यापार पर विभिन्न प्रकार के नियन्त्रण लागू कर देते है। केवल अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे ही नही, वल्कि आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था मे भी सरकारी सरक्षण, विदेशी पूँजी, वित्त तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीतियो का विदेशी विनिमय पर बहुत प्रभाव पडता है।

विनिमय दर के परिवर्तनों की सीमाएँ (Limits to the Fluctuation in the Rate of Exchange)

विनिमय दर के परिवर्तन किस सीमा तक होते है ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिए हमें दो परिस्थितियो का अध्ययन करना पडता है। प्रथम, वह परिस्थिति जबकि दो देश स्वर्णमान पर होते है, द्वितीय, वह परिस्थिति जबकि दोनो देश अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा पर आधारित होते है। स्वर्णमान मे जैसा कि पहले बताया जा चुका है, परिवर्तन दो सीमाओ के अन्तर्गत होते है। यह सीमाएँ स्वर्ण निर्यात और स्वर्ण आयात बिन्दु द्वारा निर्धारित होती है। अधिक-से-अधिक विनिमय दर स्वर्ण निर्यात बिन्दु तक चढ सकती है और स्वर्ण आयात बिन्दु तक गिर सकती है। सीमाओ के बाहर निकलने पर स्वर्ण का आयात और निर्यात प्रारम्भ हो जाता है जिससे विनिमय दर फिर से अपनी स्वाभाविक परिस्थिति में आ जाती है। अपरिवर्तनीय कागजी मुद्रा मे विनिमय-दर के परिवर्तनो की कोई सीमा नही होती। उनमे स्थिरता केवल सरकारी प्रयत्नो द्वारा लाई जाती है।

विनिमय दरों को स्थिर रखने के उपाय या विनिमय नियन्त्रण

विनिमय दरो के परिवर्तनो को रोकने के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय किये गये है। क्योकि विनिमय दर मे व्यापारिक असतुलन के कारण परिवर्तन होते है, इसलिए सरकार उन सभी उपायो को करती है, जिनसे कि व्यापारिक असतुलन दूर हो जाता है, जैसे मुद्रा-सकुचन, मुद्रा-ह्रास, आयात-कर, विनिमय-नियन्त्रण, बैंक दर नीति आदि। इसके अतिरिक्त सरकार भुगतान सतुलन की विभिन्न मदो के असतुलनो को भी दूर करने का उपाय करती है। इस प्रकार विनिमय दरो को स्थिर बनाए रखने के लिए जब सरकार व्यक्तियो एव सस्थाओ की विदेशी विनिमय सम्बन्धी क्रियाओ मे हस्तक्षेप करती है, तब उसे विनिमय-नियन्त्रण (Exchange control) कहते है।

स्वर्णमान मे विनिमय-नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नही थी, क्योकि तब विनिमय दर के परिवर्तन स्वय ही ठीक हो जाने की प्रवृत्ति रखते थे। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद जब कि स्वर्णमान विश्व से लुप्त हुआ, विनिमय नियन्त्रण की आवश्यकता का अनुभव दिन प्रतिदिन किया जाने लगा। क्योकि एक तो परिवर्तन भी अधिक होने लगे और उनके स्वय ठीक होने की प्रवृत्ति भी समाप्त हो गई थी, इसलिए इन परिवर्तनो को दूर करने के लिए और विनिमय दर को स्थिर बनाये रखने के लिए विनिमय नियन्त्रण प्रणाली का उपयोग लगभग सभी देशो ने किया। इस प्रणाली मे विदेशी विनिमय

सम्बन्धी सभी क्रियाएँ एक ही संस्था मे केन्द्रित हो जाती है। यह संस्था या तो केन्द्रीय बैंक होती है, या यह कार्य सरकार द्वारा किसी अन्य संस्था को दे दिया जाता है। जनता की विदेशी विनिमय की आवश्यकताओ की पूर्ति केन्द्रीय कोष द्वारा की जाती है, जो कि विदेशी विनिमय के उपयोग तथा वितरण सम्बन्धी कार्यप्रणाली को निर्धारित करता है। सरकार विनिमय-सम्बन्धी क्रियाओ पर पूर्णरूप से भी नियन्त्रण करती है और आंशिक रूप से भी नियन्त्रण करती है। पूर्णरूप से नियन्त्रण करने का अभिप्राय यह होता है कि सभी विदेशी मुद्राओ का क्रय-विक्रय नियन्त्रित कर दिया जाता है और आंशिक नियन्त्रण मे केवल कुछ ही मुद्राओ पर प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। कभी-कभी विनिमय नियन्त्रण और विदेशी विनिमय मे किये गए हस्तक्षेप मे भेद किया जाता है। जिस समय सरकार विनिमय दर को स्थिर बनाए रखने के लिए स्वय विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करती है, तब ऐसी क्रिया को विदेशी विनिमय मे हस्तक्षेप करना कहते है, और जब व्यक्तिगत व्यापारियो की विदेशी विनिमय क्रियाओ और उनकी शक्ति पर नियन्त्रण लगा दिया जाता है, तब इस क्रिया को विनिमय नियन्त्रण कहते है।

विनिमय नियन्त्रण के उद्देश्य

विनिमय नियन्त्रण मुख्यत निम्न उद्देश्यो से किया जाता है —

(१) प्रथम उद्देश्य विनिमय दर को एक निश्चित दर पर स्थिर बनाये रखना हो सकता है। कागजी मुद्रा-प्रणाली में विदेशी विनिमय स्वतन्त्र होने के कारण कभी-कभी बहुत बडे परिवर्तन हो जाते हैं। इन परिवर्तनो के भयकर परिणाम होते है, जिनको रोकने के लिए सरकार विदेशी भुगतानो पर आवश्यक रोक लगा देती है।

(२) कभी-कभी सरकार आय प्राप्त करने के उद्देश्य से विनिमय-नियन्त्रण करती है।

(३) विनिमय-नियन्त्रण का तीसरा उद्देश्य व्यापारिक असतुलन को दूर करना होता है।

(४) आंशिक विनिमय नियन्त्रण का उपयोग विभिन्न देशो के बीच भेदभाव करने के लिए भी किया जाता है। कुछ देशो के साथ व्यापार करने मे व्यापारियो को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जाती है और कुछ देशो के साथ व्यापार करने मे प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं। कभी-कभी कुछ विशेष वस्तुओ के आयात निर्यात पर भी सरकार प्रतिबन्ध लगा देती है।

(५) विनिमय नियन्त्रण का एक उद्देश्य देशी उद्योगों को विदेशी प्रतियोगिता से बचाना भी होता है। यह संरक्षण का एक बहुत ही सप्रभावक यन्त्र है।

(६) इसका अन्तिम उद्देश्य देश मे विदेशी पूँजी के और विदेशों में देशी पूँजी के विनियोगो को रोकना हो सकता है।

इस प्रकार विनिमय-नियन्त्रण के विभिन्न उद्देश्य हो सकते है, जिनमें से किसी एक या अनेक उद्देश्यो की पूर्ति के लिए सरकार विनिमय-नियन्त्रण कर सकती है। परन्तु अनुभव यह बताता है कि अधिकतर विनिमय नियन्त्रण का प्रयोग विनिमय दर को स्थिर

बनाये रखने में किया गया है।

विनिमय नियन्त्रण की रीतियां

विनिमय नियन्त्रण के उपायो को मोटे तौर पर दो भागो में विभाजित किया जा सकता है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष। प्रत्यक्ष उपाय विदेशी विनिमय की व्यक्तिगत क्रिया को पूर्णतया ग्रन्त कर देते हैं और परोक्ष उपाय इन क्रियाओं पर आंशिक रूप में ही प्रतिबन्ध लगाते है। प्रत्यक्ष उपायो के बीच दो भाग किये जा सकते हैं—विनिमय-हस्तक्षेप और विनिमय-प्रतिबन्ध। परोक्ष उपायो में अधिकतर दो का उपयोग किया गया है—आयात-निर्यात करो का और ब्याज की दरो का। इन दोनो ही उपायो से पूंजी के आवागमन को रोका जाता है। प्रथम से आयात कम किये जाते हैं, जिसकी सफलता उसी समय हो सकती है जबकि अन्य देश भी इस नीति को न अपनाएँ। दूसरी रीति से पूंजी के आयात निर्यात को रोका जाता है। अब हम विनिमय नियन्त्रण की रीतियो का विस्तार में अध्ययन करेंगे।

(१) विनिमय समकरण खाता (The Exchange Equalisation Account)—सन् १९३१ में स्वर्णमान को स्थगित कर देने के बाद स्टर्लिंग की विनिमय दरो में बडी तीव्र गति से परिवर्तन होने के कारण इंगलैण्ड को बडी कठिनाइयो का अनुभव हुआ। स्टर्लिंग के बाह्य मूल्य को स्थिर रखने के लिए, इंगलैण्ड ने एक विनिमय समकरण खाते की स्थापना की। इस खाते का प्रबन्ध सरकारी कोषागार की देख-रेख में था और इस कार्य को बैंक आफ इंगलैण्ड सम्पन्न करता था। इसकी पूंजी प्रचलित कोषागार विपत्रो तथा खुले बाजार द्वारा या अन्य देशो से सोना खरीद कर इकट्ठी हुई थी। सन् १९३२ में कोष की कुल पूंजी १,५०० लाख पौंड थी, परन्तु आवश्यकतानुसार सन् १९३३ में यह ३,५०० लाख पौंड और सन् १९३७ में ५,५०० लाख पौंड हो गई थी। कोषागार विपत्रो की अवधि तीन मास होती थी, परन्तु उनको फिर से नया (Renew) करा लेने की सुविधा कोष को प्राप्त थी। कोष का मुख्य उद्देश्य स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय करके विनिमय दर में स्थिरता प्राप्त करना था। जिस समय स्टर्लिंग की माँग उसकी पूर्ति की अपेक्षा अधिक हो जाती थी और उसका मूल्य बढ जाता था, उस समय कोष द्वारा विदेशी मुद्रा खरीद ली जाती थी, और विनिमय दर को चढने से रोक लिया जाता था। इस प्रकार खरीदी हुई विदेशी मुद्रा को उसी देश के बैंको में जमा कर दिया जाता था। इसी प्रकार जब स्टर्लिंग की माग पूर्ति की अपेक्षा कम हो जाती थी और उसका मूल्य गिरने लगता था, तब विदेशी जमा से स्टर्लिंग खरीद लिया जाता था और स्टर्लिंग की विनिमय दर को गिरने से रोक लिया जाता था। आरम्भ में विदेशो में कोष की कोई भी पूंजी नही थी, परन्तु बाद में इस प्रकार की पूंजी अमेरिका, फ्रास आदि में हो गई थी। इस प्रकार कोष की सहायता से स्टर्लिंग का क्रय-विक्रय कर के विनिमय-दर की स्थिरता प्राप्त कर ली जाती थी। दूसरे शब्दो में विनिमय दर के परिवर्तनो का क्षेत्र सीमित कर दिया जाता था। विदेशो में जो पूंजी रक्खी जाती थी, उसका उपयोग केवल विनिमय दर के अल्पकालीन परिवर्तनो को ठीक

करने के लिए होता था। सरकार दीर्घकालीन और स्थायी प्रवृत्तियो मे हस्तक्षेप नही करती थी। हाँ, इतना अवश्य था कि वह सट्टे की क्रियाओ और पूँजी का विनियोग करने वाले लोगो की घबराहट से विदेशी विनिमय-दर पर पडने वाले हानिकारक प्रभावो को रोकती थी। यह विनिमय बाजार मे होने वाले परिवर्तनो के प्रभावो से देश की बैंकिंग प्रणाली को दूर रखने का एक सफल प्रयत्न था। यद्यपि कोष की कार्य-प्रणाली बहुत जटिल थी, परन्तु कोष विनिमय दरो के अल्पकालीन परिवर्तनो को रोकने मे काफी सफल हुआ था।

अपनी स्थापना के आरम्भिक काल मे कोष स्टर्लिंग के बदले डालर खरीदता था, क्योकि डालर स्वर्ण मे परिवर्तनशील था। सन् १६३३ मे अमेरिका के स्वर्णमान छोड देने के बाद कोष ने सन् १६३६ तक फ्रास से फ्रेंक (Frank) खरीदे और जब १६३६ में फ्रास ने भी स्वर्णमान का परित्याग कर दिया, तब बडी कठिनाई अनुभव हुई, जिससे मुक्त होने के लिए इगलैण्ड, अमेरिका और फ्रास के बीच एक समझौता हुआ। इसके अनुसार प्रत्येक देश दूसरे देश की प्राप्त मुद्रा के बदले चौबीस घण्टे के अन्दर उस देश के केन्द्रीय बैंक से सोना ले सकता था।

विनिमय प्रतिबन्ध—प्रत्यक्ष उपायो में से जहाँ तक विनिमय प्रतिबन्ध का प्रश्न है, उसका उपयोग सर्वप्रथम सन् १६३१ मे जर्मनी ने किया। उसके पश्चात् मध्य योरप के अन्य देशो ने और सन् १६३६ के बाद भारतवर्ष तथा दूसरे देशो ने युद्ध-कालीन अर्थ-व्यवस्था को ठीक करने के लिए इसका प्रयोग किया। सन् १६३१ मे जर्मनी को अपनी मुद्रा का अवमूल्यन करने के पश्चात् भारी आर्थिक कठिनाइयो का सामना करना पडा। युद्ध के कारण अर्थ-व्यवस्था मे जो उथल-पुथल हो गई थी, उसके ठीक करने के लिए जर्मनी ने बहुत-से अल्पकालीन ऋण भी लिये थे और इन ऋणो को लौटाने के लिए जर्मनी ने मार्क के परिमाण मे बहुत वृद्धि की थी, जिससे मूल्य बढ गए थे। विदेशो ने वस्तुओ मे अपने ऋणो का भुगतान लेने मे इन्कार कर दिया, क्योकि उन्हे यह डर था कि जर्मनी की अर्थव्यवस्था टूट जायेगी। निर्यातो के कम हो जाने और जर्मन मार्क का आन्तरिक मूल्य गिर जाने के कारण जर्मनी ने मार्क का कृत्रिम उपायो से मूल्य बढा दिया और माँग और पूर्ति मे सतुलन स्थापित करने के लिए बहुत-से प्रतिबन्ध लगाये, जैसे—विदेशी विनिमय सम्बन्धी क्रियाओ को एक सस्था में केन्द्रित करना और विनिमय के लिए लाइसेंस प्रणाली का उपयोग करना। इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय यह किया कि सभी लोगो से सरकार ने सारी विदेशी विनिमय सम्पत्ति, विदेशी प्रतिभूतियाँ आदि प्राप्त कर ली थी। सरकार ने विदेशी यात्राओ पर भी प्रतिबन्ध लगा दिये थे और विदेशी आयातो का एक अधिकतम कोटा निश्चित कर दिया था। विदेशी व्यापार सम्बन्धी क्षेत्र में भी लाइसेंस प्रणाली का उपयोग आरम्भ कर दिया था। जर्मनी ने तीसरा उपाय यह किया कि उसने देश मे विदेशियो के खाते बिल्कुल बन्द कर दिये थे। अब विदेशी अपनी पूँजी आदि को देश से बाहर नही ले जा सकते थे, और सरकार ने एक बन्द-खाता (Blocked Account) खोल दिया था जिसमे कि विदेशी पूँजी को जमा कर दिया गया था, जिसके अधीन हर ऋणी को अपने विदेशी ऋण का भुगतान

सरकार को करना पड़ता था, जिसको सरकार बन्द खाते में जमा कर दिया करती थी। इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशियों ने अपना भुगतान जर्मनी से वस्तुएँ खरीद कर प्राप्त करना आरम्भ कर दिया था। इसके अतिरिक्त जो भुगतान उन्हें जर्मन मार्क में किया जाना था, उसको वह कम दामों पर बेच दिया करते थे, जिससे विदेशियों को हानि होती थी और जर्मनी को लाभ होता था।

इस नीति के जन्मदाता डा० शाट (Schacht) थे। इस नीति ने जर्मनी को अपनी आर्थिक व्यवस्था दृढ़ बनाने में बहुत सहायता की थी।

(३) **स्टिल समझौता** (Stand-Still Agreement)—यह समझौता दो देशों के बीच होता है, जिसके अधीन या तो पूंजी के प्रवाह को नियन्त्रित कर दिया जाता है या विदेशी भुगतानों की विधि को स्पष्ट कर दिया जाता है या अल्पकालीन ऋण दीर्घकालीन ऋण बना दिये जाते हैं या ऐसी व्यवस्था कर दी जाती है जिससे कि ऋणों का भुगतान धीरे-धीरे हो जाय। इस विधि का उपयोग जर्मनी ने किया था।

(४) **निकासी समझौता** (Clearing Agreement)—यह एक ऐसा समझौता है जिसके अधीन दो देश आपस के ऋणों का भुगतान बिना विदेशी मुद्रा के प्रयोग किये हुए कर लेते हैं। विनिमय दर आपस में तय कर ली जाती है और आयातकर्ता अपने ऋणों का भुगतान केन्द्रीय बैंक में देशी मुद्राओं में ही करते हैं। ऐसे समझौतों का एक अच्छा परिणाम यह होता है कि विदेशी विनिमय बाजार का प्रयोग बिल्कुल स्थगित कर दिया जाता है। इस प्रकार इस समझौते के अधीन विदेशी व्यापार वस्तु-विनिमय का एक रूप हो जाता है। इसी प्रकार की एक विधि और है जिसके अनुसार ऋणों का भुगतान एक लम्बे काल के लिए स्थगित कर दिया जाता है। इस रीति के अनुसार आयातकर्ता, निर्यातकर्ताओं का भुगतान देश के बैंक को देशी मुद्रा में ही करते हैं और समझौते के अनुसार भुगतान की अवधि निश्चित की जाती है, उसके समाप्त होने के पश्चात् बैंक प्राप्त भुगतानों को विदेशों को भेज देते हैं।

(५) **विनिमय-राशनिंग** (Exchange control)—इस प्रणाली में विदेशी विनिमय का ऐसा प्रयोग किया जाता है जिससे कि वह आवश्यक आयातों के लिए उपलब्ध हो जाय। विनिमय की स्वतन्त्र क्रियाओं पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाते हैं और केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्राओं को एक निश्चित प्राथमिकता के क्रम के अनुसार बाँटती है। इस रीति का प्रयोग बन्द खातों के साथ भी किया जा सकता है।

(६) **आयात कोटा** (Import Quota)—विनिमय नियन्त्रण की यह एक ऐसी रीति है जिसका उपयोग अधिकतर देशों ने किया है। इस रीति के अन्तर्गत केवल आवश्यक वस्तुओं का ही आयात किया जाता है और निर्यातों को प्रोत्साहन दिया जाता है और निर्धारित कोटे के अनुसार ही आयात और निर्यात कर्ताओं को लाइसेंस दिये जाते हैं।

(७) **विनिमय उद्बन्धन** (Exchange pegging)—इस रीति का प्रयोग युद्धकाल में विनिमय दरों को कम करने के लिए किया जाता है। युद्ध के कारण देश में मुद्रा-स्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, और देश का मूल्य-स्तर ऊँचा होने

लगता है, परन्तु विदेशी व्यापार को मुद्रास्फीति के दुष्प्रभावों से बचाने के लिए सरकार मुद्रा की विदेशी विनिमय दर ऊँचा रखने का प्रयत्न करती है। दूसरे शब्दों मे सरकार विदेशी विनिमय दर को आन्तरिक मूल्य-स्तर के परिवर्तनों से बचाने के लिए प्रयत्न करती है। जब सरकार का उद्देश्य अवमूल्यन होता है, तब देशी मुद्रा का बाह्य मूल्य कम करके अधबन्धन (Pegging Down) कर देती है। और जब सरकार का उद्देश्य मुद्रा का बाह्य मूल्य ऊँचा रखना होता है, तब विनिमय-दर को ऊँचे स्तर पर उद्बन्धित (Pegging up) कर देती है। इस रीति का प्रयोग इगलैण्ड ने दोनों महायुद्ध काल में किया था।

(८) **बैंक-दर की नीति** (Bank Rate policy)—बैंक दर को घटा-बढ़ा कर भी विनिमय दर के परिवर्तनों को रोका जा सकता है। बैंक दर का प्रत्यक्ष प्रभाव पूंजी की आयात-निर्यात पर पड़ता है। विदेशों की तुलना में जब किसी देश में बैंक दर कम होती है, तब विदेशी पूंजी और देशी दोनों ही पूंजी देश से बाहर जाने लगती हैं और जब बैंक दर अधिक होती है तब देश में विदेशी पूंजी का प्रवाह होने लगता है। इस प्रकार केन्द्रीय बैंक बैंकदर को घटा-बढ़ा कर विदेशी विनिमय दर को स्थिर रखने का प्रयत्न कर सकती है।

भावी विनिमय (Forward Exchange)

प्रथम महायुद्ध के पश्चात् जब विश्व में कागजी मुद्रा का प्रचलन बढ़ने लगा और विनिमय दर में अधिक परिवर्तन होने लगे तब अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में देशों को भारी कठिनाइयां अनुभव हुई। विनिमय दर के परिवर्तनों की कोई सीमा न होने से विदेशी व्यापार बहुत अनिश्चित हो गया था। व्यापारियों को आयात और निर्यात सम्बन्धी वायदे करने में बड़ा सकोच होता था और प्राय हर व्यापारी विनिमय-दरों के परिवर्तनों के जोखिम से बचना चाहता था। इस जोखिम से बचने के लिए भावी-विनिमय की रीति का जन्म हुआ। यह एक ऐसी क्रिया होती है जिसके अनुसार एक व्यापारी माल बेचने और खरीदने के वायदे के साथ-साथ एक वायदा और करता है। जिसमे वह भविष्य में एक निश्चित तिथि पर वर्तमान दर के हिसाब से विदेशी विनिमय खरीदने या बेचने का किसी सट्टेबाज या किसी बैंक से ठेका कर लेता है, इसे हैध-रक्षण ठेका (Hedging Contract) कहते हैं। जिसके फलस्वरूप भविष्य मे विनिमय दर में जो परिवर्तन होते हैं उनका प्रभाव सट्टेबाज पर पड़ता है और व्यापार उससे बच जाता है। क्योंकि वह तो पूर्व निश्चित दर पर ही भुगतान प्राप्त करता है। भविष्य में विदेशी मुद्रा की खरीदने और बेचने की क्रियाओं को भावी विनिमय कहते हैं।

जिस दिन यह सौदा तय होता है, उस दिन की दर को वर्तमान दर (Spot Rate) कहते हैं और भावी विनिमय दर (Forward Exchange Rate) विनिमय की वर्तमान दर पर आधारित होती है। इन दोनों दरों में एक घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय करने वाले व्यापारी देशी तथा विदेशी अल्पकालीन ऋणों की ब्याज-दरों की तुलना करते हैं। यदि विदेशी दर देशी दर की

अपेक्षा अधिक होती है, तब विदेशी मुद्रा भविष्य में वर्तमान दर से कटौती (Discount) पर बेची जाती है और यदि विदेशों में ब्याज की दर कम है तो विदेशी मुद्रा भविष्य में लाभ (Premium) पर बेची जाती है।

परन्तु भावी विनिमय दरों को निश्चित करते समय एक सट्टेबाज या बैंक कई बातों का ध्यान रखता है।

(१) वह विदेशी मुद्रा के खरीदने बेचने के सम्बन्धों को जोड़ने की सम्भावनाओं को देखता है। विदेशी मुद्रा के खरीदने और बेचने के सम्बन्धों को ठेकों की विवाह (Marrying a Contract) करना कहते हैं। होता यह है कि एक समय में जब कि कुछ व्यापारी विदेशी मुद्रा को खरीदते हैं, तब उसे बेचते हैं। सट्टेबाज या बैंक केवल एक मध्यस्थ का कार्य करता है। वह एक व्यक्ति से विदेशी मुद्रा खरीद कर दूसरे को बेच देता है जिससे एक सौदे से होने वाला घाटा दूसरे सौदे से पूरा हो जाता है। बैंक को ऐसे सौदों की जितनी अधिक आशा होगी, उतनी ही वह भावी विनिमय दर को बट्टे पर लायगी और जितनी आशा कम होती है, उतनी ही भावी विनिमय दर को लाभ (Premium) पर बतायेगी। द्वितीय सट्टेबाज या बैंक जैसा कि पहले बताया जा चुका है, देशी तथा विदेशी ब्याज की दरों के अन्तरों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और अन्त में, देशी तथा विदेशी मुद्राओं की परिस्थिति का पता लगा लेते हैं। यदि उन्हें विदेशी मुद्रा के अधिमूल्यन (Appreciaton) की आशा होती है, तब भावी विनिमय दर बट्टे पर बताई जायेगी (Quoted at a discouut), क्योंकि सट्टेबाजों या बैंकों को ऐसी मुद्रा के खरीदने से लाभ की सम्भावना होती है। इसके विपरीत यदि विदेशी मुद्रा के अवमूल्यन की आशा है तब भावी विनिमय दर लाभ पर बताई जायेगी (Quoted at a Premium) क्योंकि व्यापारियों को इस अवस्था से हानि होने की सम्भावना होगी और वही विदेशी मुद्रा खरीदने के लिए उदासीन होंगे।

भारत में विनिमय नियन्त्रण (Exchange Control in India)

उक्त विवरण से यह तो स्पष्ट हो गया है कि सरकार द्वारा विनिमय व्यवसाय में किये गये हस्तक्षेपों व प्रतिबन्धों को ही विनिमय नियंत्रण कहते हैं। भारत सरकार द्वारा आयात-निर्यात की नीति व नियंत्रण का अन्यत्र वर्णन किया जा चुका है। आजकल जब भारत को विदेशी मुद्रा अर्जित करने की बहुत आवश्यकता है, विनिमय नियंत्रण का महत्व अधिक बढ़ गया है। सरकार ऐसे उपाय अपना रही है, जिससे भारत अधिकतम विदेशी मुद्रा कमा सके और कम-से-कम भारतीय मुद्रा विदेशों को जाये, क्योंकि द्वितीय पचवर्षीय योजना के अनेक कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिए काफी विदेशी मुद्रा की आवश्यकता है। गत वर्षों में विनिमय नियंत्रण में हुए परिवर्तनों का विवरण नीचे दिया जा रहा है।

सन् १९५३-५४ में भारत का विदेशी विनिमय कुछ अनुकूल हो जाने के कारण सरकार ने विनिमय प्रतिबन्धों को ढीला करने की नीति अपना ली थी, और सन् १९५५-५६ तक उसी का पालन किया और इस दिशा में निम्नलिखित प्रमुख परिवर्तन किये थे :—

(१) ७ जून, १९५५ को रिज़र्व बैंक के एक प्रपत्र के द्वारा भारतीय प्रतिभूतियों (Indian Securties) के नैपाल में रहने वाले व्यक्तियों को भेजने का अधिकार दे दिया गया था, परन्तु इन प्रतिभूतियों को रिज़र्व बैंक द्वारा दिये गये लाइसेंस के अन्तर्गत ही नैपाल को भेजा जा सकता है।

(२) अधिकृत व्यापारियों को अमेरिकन डॉलर्स, कैनैडियन डॉलर्स, पौंड पावना और पाकिस्तान के रुपए को छोड़ कर अन्य विदेशी विनिमय क्षेत्रों में बाज़ार की विनिमय दर पर व्यापार करने का अधिकार १५ जून सन् १९५५ से दे दिया गया। साथ ही इन व्यापारियों को चालू दर पर भावी वायदे (Forward Contracts) के सौदे करने का भी अधिकार दे दिया गया।

(३) इंगलैण्ड के विनिमय नियन्त्रण में परिवर्तन के अनुसार, १ जुलाई, सन् १९५५ से हस्तातरण लेखा-क्षेत्र (Transferable Account area) को बढ़ा कर टर्की को भी इसमे सम्मिलित कर लिया गया और २२ अगस्त, सन् १९५५ से इटली के लिरा (Lira) को भी विशिष्ट मुद्राओं (Specified Currencies) की सूची मे शामिल कर लिया गया है।

(४) अदृश्य मदों (Invisible items) पर नियन्त्रण ढीला करने के ध्येय से २६ अगस्त, सन् १९५५ से विदेशों में अध्ययन करने, व्यापार के लिए विदेशों की यात्रा करने व विदेशों में बसने के लिए विदेशी मुद्रा को अधिक मात्रा में देने का निश्चय कर लिया गया था। डालर क्षेत्र मे बसने के लिए ६६,६६७ रु० से ७५,००० रु० प्रति परिवार और गैर-पौंड पावना क्षेत्र के देशों के लिए १,२५,००० रु० का भत्ता स्वीकार किया गया था। यात्रियों द्वारा जेवरात ले जाने की मात्रा भी १०,००० रु० से २५,००० रु० प्रति व्यक्ति कर दी गई थी।

(५) १० नवम्बर, सन् १९५५ से भारत की पुर्तगाली बस्तियों मे जाने वाले यात्रियों द्वारा भारतीय नोट निकालने पर रोक लगा दी गई है।

(६) २५ नवम्बर, १९५५ से पाकिस्तान जाने वाले यात्री १०० रु० तक के पाकिस्तानी नोट प्रति व्यक्ति प्रति दिन ले जा सकते हैं। पर पाकिस्तान को भारतीय नोट ले जाने की मात्रा (५० रु० प्रतिव्यक्ति प्रति दिन), में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है।

इन ढीलों का प्रभाव यह हुआ कि विदेशी मुद्रा का आवागमन बहुत बढ गया। परन्तु द्वितीय योजना की अनेक विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यक्ता व भविष्य में योजना के लिए वित्तीय साधनों की कमी के कारण सन् १९५७ में फिर भारत सरकार ने अनेक विनिमय नियंत्रण लगा दिये हैं। हर प्रकार की विदेशी यात्राओं पर रोक लगा दी गई है। अध्ययन के लिए भी वे ही विद्यार्थी विदेश जा सकेंगे जिनकी शिक्षा की सुविधा भारत में प्राप्त नहीं है। इलाज कराने के लिए भी भविष्य मे वे ही लोग विदेश जा सकेंगे, जिनके इलाज की व्यवस्था भारत में न हो सके। व्यापार सम्बन्धी सभी विदेशी यात्राओं पर रोक लगा दी है। सास्कृतिक व अन्य डेलीगेशन भी विदेश कम-से-कम जा सकेंगे। केवल उन्ही वस्तुओं का आयात होगा जो भारत की योजनाओं के लिए आवश्यक होंगे। इसी प्रकार के अन्य प्रतिबन्ध भी भारत सरकार ने अधिकतम विदेशी मुद्रा बचाने के लिए हाल ही में लगा दिये हैं।

इकतीसवाँ अध्याय

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक

परिचय

प्रथम और द्वितीय महायुद्ध के बीच के काल में और द्वितीय महायुद्ध में भी प्रत्येक देश को भयकर आर्थिक परिवर्तनो का अनुभव हुआ। इस काल में मौद्रिक और चलन सम्बन्धी तथा विदेशी विनिमय के क्षेत्र में बडी नई-नई योजनाओ और नीतियो का निर्माण हुआ। ससार के महान् राष्ट्रो ने अपने चलन के प्रमाण को अपनी स्वर्ण निधि से कही अधिक बढा लिया था, जिसके कारण भयकर मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। स्वर्णमान का दम घुट रहा था, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार दिन-प्रति-दिन कम होता जा रहा था और अन्तर्राष्ट्रीय ऋण बाजार में एक भय की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गिरती हुई दशा और मौद्रिक तथा विनिमय अस्थिरता के कारण ससार के लगभग प्रत्येक देश को भारी कठिनाइयो का अनुभव हुआ। मूल्यो के परिवर्तनो के कारण प्रत्येक देश की आर्थिक व्यवस्था मे उथल-पुथल मच गई थी। देशो में एक दूसरे के प्रति विश्वास समाप्त हो गया था और प्रत्येक देश एक दूसरे को सदेह की दृष्टि से देखता था। विनिमय नियन्त्रण और मुद्रा अवमूल्यन ने हर देश की आर्थिक नीति में एक स्थाई स्थान प्राप्त कर लिया था। साराश में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग दम तोड चुका था।

यह स्पष्ट है कि इन दशाओ मे कोई भी देश आर्थिक उन्नति करने के योग्य नही था और प्रत्येक देश एक ऐसी योजना के निर्माण करने मे व्यस्त था, जिससे अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग प्राप्त हो सके, क्योकि ऐसी अवस्था को बनाये रखना राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय हितो के लिए हानिकारक होता। द्वितीय महायुद्ध काल मे अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग प्राप्त करने के लिए एक समुचित योजना का निर्माण करने की ओर विशेष प्रयत्न किये गये, क्योकि प्रत्येक देश इस बात को भली-भाँति समझता था कि युद्ध के परिणामस्वरूप ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न होगी जिनको बिना अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के सुलझाना कठिन ही नही, वरन् असम्भव होगा। इसके अतिरिक्त कुछ लोगो का ऐसा भी विचार बन गया था कि आधुनिक युद्ध मुख्य रूप से आर्थिक युद्ध होते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सहयोग इसलिए भी जरूरी था कि भविष्य में इस प्रकार के युद्ध न होने पाएँ। इन सब उद्देश्यों को ध्यान मे रखकर अमेरिका, कनाडा और इगलैण्ड ने अपनी अपनी योजनाएँ बनाई। जुलाई, सन् १९४४ मे अमेरिकन सरकार ने इस समस्या पर विचार करने के लिए ब्रिटेन वुड्स (Bretton Woods) में एक अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सभा का आयो-

जन किया। इसमे ४४ राष्ट्रो ने भाग लिया और अन्त मे एक योजना का निर्माण किया। इस योजना को दो भागो में विभाजित किया गया था। पहले भाग मे सभा ने एक अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund—I. M. F.) को स्थापित करने का सुझाव रक्खा था और दूसरे भाग मे एक अन्तर्राष्ट्रीय पुर्ननिर्माण तथा विकास बैंक (International Bank for Reconstruction and Development—I. B. R. D.) को स्थापित करने का सुझाव रक्खा था। इनका मुख्य उद्देश्य विदेशी विनिमय मे स्थिरता लाना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रोत्साहित करना था।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (I. M F.)

मुद्रा कोष के उद्देश्य

समझौते के अनुसार मुद्रा कोष के निम्न उद्देश्य बताये गये हैं। यह उद्देश्य समझौते की धारा १ में दिये गये हैं —

(१) एक स्थायी सस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सहयोग को प्रोत्साहन देना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार एव सन्तुलित विकास को सुविधाएँ प्रदान करना और सभी सदस्यो के रोजगार के ऊँचे स्तरो को बनाये रखना और प्रोत्साहन देना।

(३) विनिमय स्थिरता को प्रोत्साहित करना, सदस्यों के बीच नियमित विनिमय व्यवस्था को बनाए रखना और प्रतियोगी विनिमय ह्रास को टालना।

(४) सदस्यो के बीच चालू व्यवहारो से सम्बन्धित बहुउद्देश्यीय भुगतान प्रणाली की स्थापना मे सहायता प्रदान करना और विदेशी विनिमय प्रतिबन्धो को हटाने मे सहायता देना।

(५) सदस्यो को उपयुक्त सुरक्षा के साथ कोष के साधनो को उपलब्ध करके उनमें विश्वास उत्पन्न करना और इस प्रकार उन्हें ऐसे अवसर प्रदान करना, जिससे कि वे राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय वैभव को नष्ट किये बिना अपने भुगतान-सतुलन की त्रुटियों को दूर कर सकें।

(६) उपरोक्त के अनसार सदस्यो के अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान सतुलन के असतुलन की अवधि और अंश को कम करना।

मुद्रा कोष की पूँजी तथा सदस्यों के अभ्यंश (Capital of the fund and Quotas of the Members)

मुद्राकोष के पूँजी के साधन कोष मे सम्मिलित होने वाले विभिन्न देशो के चन्दो द्वारा जमा हुए हैं। प्रत्येक सदस्य को अपने चन्दे का कुछ भाग सोने में और बाकी अपनी मुद्रा मे जमा करना होता है। प्रत्येक देश का चन्दा निश्चित करते समय कई बातो का ध्यान रक्खा गया है, जैसे—देश की राष्ट्रीय आय, स्वर्णकोष, विदेशी व्यापार और देश के भुगतान-सतुलन में होने वाले उतार-चढाव। प्रत्येक सदस्य देश को

अपने चन्दे का २५% भाग या अपने स्वर्णकोषों और अमेरिकन डालर दोनों को मिला कर कुल राशि का १०% भाग (इन दोनों में से जो भी राशि कम हो) का भुगतान स्वर्णरूप में करना होता है और चन्दे की बाकी राशि को स्वदेशी मुद्रा में देना होता है, अर्थात् या तो अपने केन्द्रीय बैंक में कोष के नाम जमा करा देता है या बिना सूद वाले कोषागार विपत्रों के रूप में या अन्य सरकारी प्रतिभूतियों के रूप में जिनका भुगतान माँग करने पर तुरन्त ही स्वदेशी मुद्रा में प्राप्त हो जाय, देना होता है। यह अभ्यंश और चन्दा जो कि प्रत्येक सदस्य को देना होता है, आवश्यकता पड़ने पर उसको प्राप्त होने वाली साख को भी निश्चित करता है। कुछ बड़े-बड़े देशों के चन्दे या अभ्यंश निम्न प्रकार हैं :—

	करोड़ डालर में		करोड़ डालर में		करोड़ डालर में
संयुक्त राष्ट्र अमेरिका	२७५	चीन	५५	कनाडा	३०
ब्रिटेन	१३०	फ्रांस	४५	नीदरलैण्ड	२७.५
रूस	१२०	भारत	४०	बैलजियम	२२.५

इसी प्रकार अन्य सदस्यों के चन्दे भी निश्चित कर दिये गये थे। जिन देशों ने कोष की सदस्यता प्राप्त नहीं की थी, उनको बाद में सम्मिलित होने की स्वतन्त्रता दे दी गई थी और इनका चन्दा भी कोष द्वारा निश्चित किया जाता है। कोष को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह प्रत्येक देश के चन्दे की राशि को ५ वर्ष बाद ⅘ बहुमत से बदल सकता है। परन्तु ऐसा करने से पहले उस देश की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है। ऐसी भी व्यवस्था की गई है कि प्रत्येक देश अपने चन्दे की राशि में परिवर्तन करवा सकता है।

विनिमय दरों का निर्धारण

प्रत्येक सदस्य देश को अपनी मुद्रा की विनिमय दर या तो सोने में या अमेरिकन डालर (जैसा कि १ जुलाई, सन् १९४४ में था) में तय करनी पड़ती है। कोष विनिमय-दरों को स्थिर बनाए रखने के निमित्त सदस्यों द्वारा सोने के क्रय-विक्रय के लिए पूर्व निश्चित विनिमय दर से ऊपर और नीचे दो सीमाएँ निर्धारित कर देता है। कोई भी सदस्य देश सोने को समानता दर (Parity) – (Minus) निर्धारित की हुई नीची सीमा से कम पर नहीं बेचेगा और समानता दर (Parity) + (Plus) ऊपरी सीमा से अधिक पर नहीं खरीदेगा। इस प्रकार कोष ने प्रतियोगी अवमूल्यन की सम्भावनाओं को दूर करके विनिमय दरों को स्थिर करने का उपाय किया है, जिसमें हर देश अपना-अपना सहयोग देगा। कोष विनिमय दरों को स्थूल (Rigid) बनाने का प्रयत्न नहीं करता। हर देश को यह अधिकार है कि वह असाधारण परिस्थितियों में अपनी पूर्व निश्चित दर में १० प्रतिशत तक परिवर्तन कर सकता है। ऐसा करने में वह कोष से परामर्श करेगा, परन्तु उसकी स्वीकृति प्राप्त करना अनिवार्य नहीं, अर्थात्, कोष की बिना स्वीकृति के भी इस सीमा तक परिवर्तन किये जा सकते हैं। यदि कोई राष्ट्र

यह देखता है कि विनिमय दर मे १० प्रतिशत परिवर्तन करने पर भी असंतुलन दूर नही होता और वह और अधिक परिवर्तन करना चाहता है, तो वह १० प्रतिशत अधिक परिवर्तनों के लिए कोष से प्रार्थना करेगा और कोष विचार करके अपने निर्णय से प्रार्थी देश को ७२ घंटे के अन्दर सूचित करता है। उपरोक्त २० प्रतिशत से अधिक परिवर्तनों के लिए, कोष अपना निर्णय लेने में अधिक समय लेता है और बिना दो-तिहाई बहुमत की अनुमति के यह सम्भव नही होता। यदि कोई राष्ट्र इस नियम का पालन नही करता, तो कोष को अधिकार है कि उस सदस्य को वह अपनी सदस्यता से हटा सके। यह स्मरण रहे कि प्रत्येक देश अपनी विनिमय दरों मे परिवर्तन केवल मौलिक असतुलन को ठीक करने के लिए ही करेगा और वह परिवर्तन सदस्य देश के आन्तरिक मूल्य-स्तर और आय-स्तर के अनुसार होगें। इन परिवर्तनो का उद्देश्य लाभ प्राप्ति नही होता और ये प्रतियोगिता के कारण भी नही होते। यदि कोष किसी सदस्य की विनिमय दर के परिवर्तन की प्रार्थना को स्वीकार नही करता तो सदस्य को अधिकार है कि वह कोष की सदस्यता को छोड़ सकता है।

सदस्यों का विदेशी मुद्रा क्रय अधिकार

कोष अपने सदस्यों के लिए विदेशी मुद्रा के क्रय-विक्रय की व्यवस्था करता है। जब किसी सदस्य देश को विदेशी मुद्रा की माँग होती है, तब कोष उस देश की मुद्रा या सोने के बदले मे विदेशी मुद्रा देने की व्यवस्था करता है। परन्तु कोई भी देश एक वर्ष के अन्दर अपने अभ्यंश के २५ प्रतिशत से अधिक विदेशी मुद्रा नही खरीद सकता और साधारणत. कुल मिला कर अपने अभ्यंश का १२५ प्रतिशत से अधिक विदेशी मुद्रा नही खरीद सकता। परन्तु असाधारण परिस्थितियो मे यह शर्ते कुछ ढीली कर दी जाती है। यह शर्त कोष ने केवल इसलिए लगाई है, कि किसी सदस्य देश की मुद्रा कम न पड जाय और कुल ऋण की सीमा भी इसलिए निर्धारित की है कि प्रत्येक देश स्वय भी अपनी परिस्थिति को सुधारने का प्रयत्न करे। इसके अतिरिक्त कोष ने कुछ और शर्ते सदस्यों की ऋण लेने की शक्ति पर लगाई है, जिनका मुख्य उद्देश्य सदस्य देश को अनावश्यक ऋण लेने से रोकना होता है। जैसे-जैसे ऋणी पर मुद्रा-कोष का ऋण बढता जाता है, उसी के अनुसार ब्याज की दर भी बढती जाती है। यह दर साधारणत $\frac{1}{2}$ प्रतिशत से आरम्भ होकर २ प्रतिशत तक चलती हैं। परन्तु कोष को यह अधिकार है कि वह सूद की दर को किसी भी सीमा तक बढा सकता है। इस प्रकार कोष के ऋण प्रदान करने की नीति पूर्णतया दृढ साख नीति पर आधारित है।

दुर्लभ मुद्राएँ

जैसा कि पहले बताया गया है कि प्रत्येक सदस्य देश अपने अभ्यंश का एक निश्चित भाग अपनी मुद्रा में देता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रत्येक देश की मुद्रा एक सीमित मात्रा में होती है। कुछ देश ऐसे होते हैं, जिनकी मुद्रा की माँग लगभग प्रत्येक देश में होती है, जिसके कारण ऐसी परिस्थिति भी आ सकती है, जब कि किसी

अमेरिका के देशों द्वारा चुने जाते हैं और शेष पांच सदस्यो का निर्वाचन आनुपातिक प्रतिनिधित्व-प्रणाली (The Proportional Representation System) के अन्तर्गत सदस्य देशों द्वारा होता है। जिसके अनुसार हर सदस्य २५०+हर एक लाख डालर के अभ्यंश या उसके भाग पर एक वोट दे सकता है। समिति कोष के कार्य को एक-मत प्रस्ताव द्वारा १२० दिन से अधिक स्थगित नहीं कर सकती।

समझौते के अनुसार कोष का कार्यालय ऐसे देश में होगा जिसका अभ्यंश सबसे अधिक होगा। इसलिए कोष का प्रधान कार्यालय अमेरिका में है, क्योंकि अमेरिका का अभ्यंश सबसे अधिक है। कोष की शाखाएँ सदस्य देशों में स्थापित की जा सकती हैं।

मुद्रा कोष में स्वर्ण का स्थान

मुद्रा कोष की योजना में यह व्यवस्था की गई है कि स्वर्णमान स्थापित न होते हुए भी प्रत्येक सदस्य को स्वर्णमान जैसी सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। सोना मूल्यों के सामूहिक मापक का कार्य करता है और विभिन्न मुद्राओं का क्रय-विक्रय भी सोने में ही होता है। सोने का स्थान मुद्रा कोष में बहुत महत्वपूर्ण है, जैसा कि निम्न बातों से स्पष्ट होता है।

(क) कोष की योजना के अनुसार हर सदस्य को अपने अभ्यंश या चन्दे का एक निश्चित भाग सोने में देना अनिवार्य होता है।

(ख) हर सदस्य देश को अपनी मुद्रा का मूल्य स्वर्ण में निश्चित करना होता है।

(ग) और दुर्लभ मुद्रा को सोने में खरीदने की व्यवस्था की गई है।

मुद्रा कोष और स्वर्णमान

कुछ लोगों का विचार है कि कोष की स्थापना से विश्व फिर से एक बार स्वर्ण-मान पर लौट आया है। वास्तव में कोष के उद्देश्यों और स्वर्णमान में इतनी समानताएं हैं कि लोगों का यह विचार निराधार भी प्रतीत नहीं होता। कोष और स्वर्णमान में निम्न समानताएं मिलती हैं —

(१) स्वर्णमान में विभिन्न देशोंके बीच विनिमय दर सोने के आधार पर निश्चित किया जाता है। उसी प्रकार कोषमें भी विनिमय दर निश्चित की जाती है, क्योंकि विभिन्न सदस्य देशों को अपनी मुद्राओं का मूल्य सोने में व्यक्त करना पड़ता है।

(२) कोष में सोने को एक मुख्य स्थान प्राप्त है। प्रत्येक देश को सदस्यता प्राप्त करने पर अपने अभ्यंश या चन्दे का एक निश्चित भाग सोने में देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त मुद्रा का क्रय-विक्रय भी सोने में ही होता है।

(३) स्वर्णमान की भांति कोष में भी एक साथ सारे देशों का बहुपक्षी पद्धति (Multi lateral system) द्वारा भुगतान हो जाता है। क्योंकि विभिन्न मुद्राओं में एक निश्चित सम्बन्ध होता है, इसलिए वह सरलता से एक-दूसरे से बदली जा सकती हैं।

(४) स्वर्णमान की भांति कोष में भी सोने के आयात और निर्यात करके भुगतान किया जाता है और मुद्रा के परिवर्तनों का प्रभाव देश के मूल्य-स्तर पर भी पड़ता है।

इस प्रकार हेम (Halm) ने ठीक ही कहा है कि जो देश कोष को मुद्रा बेचता है उसकी स्थिति स्वर्णमान की भाँति एक सोने प्राप्त करने वाले देश की तरह होती है और विदेशी मुद्रा खरीदने वाले देश की स्थिति स्वर्णमान के सोना खोने वाले देश की तरह होती है।

निस्सन्देह मुद्रा कोष योजना स्वर्णमान मे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। परन्तु इसे पूर्णतया स्वर्णमान नही कहा जा सकता, क्योंकि इसमें स्वर्णमान के दोष नहीं मिलते। यह योजना स्वर्णमान से निम्न प्रकार से असमान है —

(१) स्वर्णमान मे विनिमय दर सोने के आयात और निर्यात मे स्वयं ही स्थाई और स्थिर रहती है। इस प्रकार सोने के द्वारा विनिमय दरो को स्थूल (Rigid) रक्खा जाता है। परन्तु मुद्राकोष मे ऐसा नही है। यह तो सत्य है कि कोष योजना में भी विनिमय दर सोने पर आधारित होती है, परन्तु असाधारण परिस्थितियो में इस दर को बदला जा सकता है। इस प्रकार कोष-योजना में स्वर्णमान की अपेक्षा अधिक लोच है। इसीलिए कीन्स जैसे अर्थशास्त्री का विचार था कि कोष योजना स्वर्णमान से बिल्कुल उल्टी है।

(२) स्वर्णमान के अन्तर्गत कोई भी देश अपने मूल्य-स्तर को अन्य देशो से भिन्न नही रख सकता था, क्योंकि ऐसा करने पर स्वर्ण का निर्यात हो जाता था, जिसके परिणामस्वरूप मुद्रा-सकुचन होने से मूल्य गिर जाता था। परन्तु कोष योजना में सदस्य-देशो के लिए ऐसी कोई बाधा नही है। प्रत्येक देश अपने क्षेत्र मे पूर्णतया स्वतन्त्र होता है। वह एक स्वतन्त्र नीति अपना कर भी कोष की सहायता से अपने प्रतिकूल भुगतान सतुलन को अनुकूल बना सकता है। कोष और स्वर्णमान मे यह एक प्रमुख भिन्नता है।

कोष के लाभ

(१) कोष योजना ने बहुपक्षी व्यापार (Multi Lateral Trading) और बहुपक्षी-भुगतान प्रणाली (Multi Lateral Payment System) को प्रोत्साहन दिया है और इस प्रकार विदेशी व्यापार तथा पूंजी के प्रवाह को सुगम बनाने मे कोष ने बहुत सहायता की है।

(२) कोष ने बिना स्वर्णमान के दोषो के ही उसके लक्ष्य को प्राप्त कर लिया है, अर्थात् विनिमय-स्थिरता प्राप्त कर ली है।

(३) कोष मे विभिन्न सदस्यो मे उनके चन्दे की राशि को उन्ही की मुद्राओ में जमा करके एक बहुत बडा रक्षित कोष स्थापित कर दिया है, जिसका उपयोग प्रत्येक देश अपने भुगतान सतुलन की असमता को दूर करने के लिए कर सकता है। जिन मुद्राओं की कमी हो जाती है, कोष उन मुद्राओं का राशनिंग कर देता है। इस प्रकार कोष हर परिस्थिति में अपने सदस्य देशों की कठिनाइयाँ दूर करने का अवसर प्रदान करता है।

(४) कोष योजना के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य-देश एक स्वतन्त्र आर्थिक नीति को अपनाते हुए भी विनिमय दरो को स्थिर रख सकता है।

(५) कोष योजना में ऐसी व्यवस्था की गई है कि विनिमय दरो का निर्धारण बडी सरलता मे हो जाता है और उनमें स्थिरता भी बड़ी सुगमता से बनी रहती है। यदि किसी समय किसी भी प्रकार की कोई समस्या अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक क्षेत्र मे उत्पन्न होती है, तब वह समस्या कोष की बैठकों मे सोच-विचार करके सुलझाई जा सकती है।

मुद्रा कोष के दोष

(१) कोष के विरुद्ध यह आलोचना की जाती है कि वह विभिन्न सदस्यों का अभ्यंश निर्धारित करते समय किसी एक निश्चित आधार का प्रयोग नही करता, इसलिए कोष ने जो भी अभ्यंश निर्धारित किये हैं, वे अनुचित हैं। इस सम्बन्ध में एक निश्चित सिद्धान्त इस लिए आवश्यक हो जाता है कि प्रत्येक सदस्य को कोष से प्राप्त होने वाले लाभ उसके अभ्यंश से निश्चित होते हैं।

(२) आलोचको का कहना है कि कोष का कार्यक्षेत्र बहुत सीमित है, इसका मुख्य उद्देश्य चालू सौदो (Current Transactions) से उत्पन्न होने वाली विदेशी विनिमय की समस्याओ को सुलझाना है। पूंजी के स्थानान्तरण, युद्ध ऋणो और पौंड-पावनो के भुगतानो से उत्पन्न होने वाली समस्याओ के सुलझाने मे इसकी उपयोगिता बिल्कुल कम हो जाती है।

(३) कुछ लोगों का विचार है कि डालरो की दुर्लभता के कारण कोष का टट जाना अस्वाभाविक नही है, क्योंकि निर्यात कर्ता तो डालर जमा करते जायेंगे और आयात कर्ता को डालर कोष प्राप्त नही होंगे। दूसरे शब्दो मे अमेरिका की निर्यातो पर मिलने वाले डालर तो कोष मे आ जायेंगे, परन्तु अमेरिका की आयातो पर दिये जाने वाले डालर कोष में न आकर व्यक्तियों के पास ही जमा हो जायेंगे। इस प्रकार कोष डालरो की मांग और पूर्ति में कभी भी सतुलन स्थापित न कर सकेगा और इसीलिए इसका समाप्त हो जाना स्वाभाविक-सा लगता है। परन्तु यह आलोचना उपयुक्त नहीं है। कोष के निर्माताओं ने इस सम्भावना पर बहुत पहले से ही सोच-विचार कर लिया था। इसीलिए कोष-योजना मे दुबारा खरीदने और राशनिंग की व्यवस्था की गई है, ताकि कोई भी मुद्रा दुर्लभ न होने पाये।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि ससार की आर्थिक स्थिरता को बनाये रखने के लिये कोष की स्थापना एक बहुत बडा उपाय है, इसीलिए इसका भविष्य भी बहुत उज्ज्वल है।

भारत और मुद्रा कोष (India and the Monetary Fund)

अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक सम्मेलन मे भारतीय सरकार ने भी अपने प्रतिनिधि जैरमी रैसमैन (Jeremy Raismen) को भेजा था। आरम्भ मे, कोष का सदस्य बनने के लिए भारतवर्ष ने सभा के सामने दो शर्तें रक्खी थी। पहली शर्त यह थी, कि भारत को कोष की कार्यकारिणी में एक स्थायी स्थान प्राप्त हो, और दूसरी शर्त यह थी कि भारत के पौंड पावनो के भुगतानो को कोष के कार्यक्षेत्र का एक भाग समझा जाय। परन्तु

दोनों माँगों के अस्वीकार हो जाने के कारण भारतीय सरकार ने कोष का सदस्य बनने में बड़ा संकोच किया। परन्तु इसी बीच रूस के चले जाने से भारत को स्थायी स्थान मिल गया और इंगलैण्ड से पौंड-पावने सम्बन्धी समझौता भी हो गया, और इस प्रकार सन् १९४६ मे भारत ने कोष की सदस्यता प्राप्त कर ली। कोष का सदस्य बनने से भारत को बहुत लाभ हुआ है। कोष का सदस्य होने के कारण ही भारत को विश्व बैंक की सदस्यता प्राप्त हो सकी है, जिसके कारण भारत को अपनी विकास योजनाये कार्यान्वित करने मे बड़ी सहायता मिली है। भारत ने कोष की सदस्यता का पूर्ण लाभ उठाया है। उसने स्टर्लिंग से विनिमय सम्बन्ध तोड दिया और कोष की आज्ञा प्राप्त करके अपने रुपए का अवमूल्यन कर दिया, जिससे उसने अपने व्यापारिक सतुलन को ठीक कर लिया। इसके अतिरिक्त भारत को, कोष से उद्योग सरक्षण नीति को जारी रखने की भी आज्ञा मिल गई। इस प्रकार स्वदेशी उद्योग-धधो को भारतीय सरकार विदेशी प्रतियोगिता से भी बचाये रख सकी।

सन् १९५४ मे भारत ने कोष से अपनी मुद्रा फिर खरीदने के लिए, कोष को ४७० लाख डालर दिये और मार्च सन् १९५५ में २५० लाख डालर और दिये। इस प्रकार कुल ७२० लाख डालर देकर भारत ने अपनी मुद्रा वापिस ले ली। भारत ने कोष से कुल १० करोड डालर लिये थे और अब उसे केवल २९० लाख डालर और देने रह गये। इस राशि पर भारत को कोई ब्याज नही देना है।

विश्व बैंक

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा सम्मेलन की रिपोर्ट के दूसरे भाग के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय पुनर्निर्माण तथा विकास बैंक अर्थात् विश्व बैंक की स्थापना की गई। बैंक के उद्देश्य निम्न प्रकार है :—

(१) उन सदस्य देशो की जिनकी आर्थिक व्यवस्था युद्ध के कारण बिगड चुकी थी, उनके पुनर्निर्माण (Reconstruction) तथा विकास मे सहायता देना बैंक का प्रमुख उद्देश्य था। बैंक उन सदस्य देशो के विकास मे भी सहायता करेगा जो अनुन्नत (Undeveloped) या कम उन्नत (Underdeveloped) है और जिनके प्राकृतिक साधनो के विकास और अधिकतम उपयोग के लिए आर्थिक सहायता की आवश्यकता है। इस प्रकार बैंक का मुख्य उद्देश्य युद्धकालीन अर्थव्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए शान्तिकालीन आर्थिक विकास की योजनाओ को आर्थिक सहायता प्रदान करके सफल बनाना है।

(२) बैंक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तिगत ऋणो की गारण्टी लेकर प्रोत्साहन देता है और यदि ऐसे ऋण उपलब्ध नही होते, तो स्वय उत्पादन कार्यों के लिए ऋण देता है।

(३) बैंक का तृतीय उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का विकास और दीर्घकालीन उन्नति की व्यवस्था करना है जिसके अधीन वह सदस्य देशो की उत्पादन शक्ति, जीवन-स्तर और श्रमिको की कार्य दशाओ की भी उन्नति करता है।

(४) बैंक का अन्तिम उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगो को उचित सुविधाएँ प्रदान करके प्रोत्साहन देना है।

सारांश में बैंक दीर्घकालीन अन्तर्राष्ट्रीय विनियोगों को प्रोत्साहित करके और उनको स्थिर करके, दीर्घकालीन सतुलित व्यापार में वृद्धि करके, सदस्य देशों की आर्थिक विकास में सहायता पहुँचा कर उनके भुगतान-संतुलन को ठीक करने का प्रयत्न करेगा, जिससे सदस्य देशों का जीवन-स्तर ऊँचा हो जाय।

बैंक की सदस्यता—बैंक की सदस्यता केवल उन्हीं देशों को प्राप्त हो सकती थी, जो ३१ दिसम्बर, सन् १९४५ को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य थे। जो सदस्य देश कोष की सदस्यता को त्याग देंगे, उनको बैंक का भी सदस्य नहीं समझा जायेगा। हाँ, जबकि ७५ प्रतिशत मत उसके पक्ष में हो, तभी वह बैंक का सदस्य हो सकता है। बैंक उस देश को, जो बैंक के नियमों का पालन नहीं करता, अपनी सदस्यता से निकाल सकता है।

बैंक की पूंजी तथा सदस्यों के अभ्यंश

बैंक की अधिकृत पूंजी (Authorised Capital) १,००० करोड डालर है, जिसको कि एक-एक लाख डालर के हिस्सों में बाँटा गया है। प्रत्येक देश को अपने चन्दे का २० प्रतिशत सदस्यता ग्रहण करते समय ही देना पड़ता है, और शेष ८० प्रतिशत बैंक आवश्यकता के समय अपने सदस्य से लेता है। प्रत्येक सदस्य को अपने अभ्यंश का २ प्रतिशत सोने में और १८ प्रतिशत अपनी मुद्रा में देना होता है। सदस्यों के द्वारा अभ्यंश में तीन-चौथाई बहुमत से वृद्धि की जा सकती है और इस बढ़ी हुई राशि को सदस्य या तो सोने में या डालर में या बैंक द्वारा बताई गई किसी मुद्रा में चुका सकता है। सदस्यों का दायित्व सीमित है। निम्न तालिका में कुछ मुख्य देशों के अभ्यंश दिये गये हैं —

करोड डॉलर में

अमेरिका	२४३.५	फ्रांस	४५
इंगलैण्ड	१००.०	भारत	४०
चीन	६०.०		

बैंक का संचालन एवं प्रबन्ध

बैंक का संचालन एक गवर्नर मण्डल (Board of Governors) एक कार्यकारिणी समिति (Executive Directors) और सभापति (President) द्वारा होता है। बैंक का प्रमुख संचालक गवर्नर-मण्डल होता है, जिसमें प्रत्येक सदस्य देश अपना एक-एक प्रतिनिधि भेजता है। बैंक की कार्यकारिणी समिति के १२ सदस्य होते हैं, जिनमें से ७ सदस्य मुद्रा कोष की भाँति प्रतिनिधि-निर्वाचन प्रणाली द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं और ५ सदस्य बड़े-बड़े अभ्यंश वाले देशों से निर्वाचित किये जाते हैं। प्रतिनिधि-निर्वाचन प्रणाली के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य देश २५० मत तथा एक लाख डालर चन्दे के पीछे एक और मत प्राप्त कर सकता है। सभापति की नियुक्ति कार्यकारिणी समिति द्वारा होती है। कार्यकारिणी समिति की अवधि दो वर्ष होती है। इसके अतिरिक्त गवर्नर-मण्डल समय-समय पर बैंक को सलाह देने के लिए एक सलाहकार समिति (Advisory Council) की नियुक्ति करता है, जिसमें कम-से-कम ७ सदस्य हो

सकते है। इस समिति का मुख्य कार्य बैंक को सामान्य नीति का निर्माण करते समय सलाह देना होता है। ऋण-सम्बन्धी आवेदन-पत्रो की जांच-पड़ताल एक विशेष समिति द्वारा की जाती है, जिसकी नियुक्ति कार्यकारिणी समिति करती है।

बैंकों की कार्य विधि

बैंक सदस्य-देशों को उनके विकास एव पुनर्निर्माण के लिए ऋण प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त बैंक व्यक्तिगत विनियोगकर्ताओ से भी ऋण दिलायेगा और उनकी पूरी जिम्मेदारी अपने ऊपर लेगा। बैंक अपना व्यवसाय केवल सदस्य-देशो की सरकारो द्वारा करता है। इसको व्यक्तियो और व्यक्तिगत सस्थाओ से व्यवसाय करने का अधिकार प्राप्त नही है। बैंक के ऋणो की मात्रा सदस्यो के चन्दो पर निर्भर नही रहती। चन्दे तो केवल शासन-सम्बन्धी बातो पर प्रभाव डालते है। बैंक ऋणो के सम्बन्ध मे देशो से प्रतियोगिता नही करता, बल्कि यह ऐसे ऋणो को प्रोत्साहन देता है। बैंक ऋण स्वय उस समय देता है, जबकि व्यक्तिगत देशो से ऋण उपलब्ध नही होते। बैंक इस प्रकार अपने ऋणो पर ब्याज प्राप्त करने के अतिरिक्त, व्यक्तिगत देशों के ऋणों की जिम्मेदारी लेने पर भी कमीशन लेता है। यह कमीशन एक अलग कोष मे जमा कर दिया जाता है, जिसका उपयोग किसी सदस्य देश द्वारा ऋण का भुगतान न करने पर किया जा सकता है। बैंक ऋण प्रदान करते समय या व्यक्तिगत ऋणो की जिम्मेदारी लेते समय पूर्ण रूप से यह निश्चित कर लेता है कि ऋणी देश की माँग उचित है या नही, और ऋणदाता देश की शर्तें न्यायपूर्ण है या नही। बैंक निम्न शर्तों पर ऋण प्रदान करता है और व्यक्तिगत ऋणो की जिम्मेदारी लेता है —

(१) बैंक केवल उसी समय ऋण प्रदान करती है जबकि सलाहकार समिति ऋण देने के प्रस्ताव का समर्थन कर देती है। यह समिति ऋण माँगने वाले देश की आर्थिक स्थिति और ऋण लेने के उद्देश्य की पूर्णरूप से जाँच करती है और तभी ऋण देने की सलाह देता है।

(२) जब ऋण किसी देश के उद्योगो या स्थानीय सरकारो द्वारा लिया जाता है, उस समय उस ऋण की जिम्मेदारी उस देश की सरकार को लेनी पड़ती है, तभी विश्व बैंक ऋण प्रदान करता है या व्यक्तिगत ऋणों की जिम्मेदारी लेता है।

(३) यदि बैंक ऋणदाता देश के ब्याज की दर और शर्तो से सन्तुष्ट है और ऋणो के भुगतान करने की नीति उसे उचित लगती है, तभी वह ऋण प्रदान करता है।

(४) जिम्मेदारी लेते समय बैंक ऋणी तथा ऋणदाता और अन्य देशों के हितो को ध्यान मे रखता है।

(५) बैंक केवल विकास तथा पुनर्निर्माण के लिए ऋण देता है, परन्तु असाधारण परिस्थितियो में यह शर्त कुछ ढीली की जा सकती है।

(६) बैंक इस बात का भी निरीक्षण करता है कि ऋण जिस उद्देश्य के लिए लिया गया है, उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऋण का उपयोग किया जा रहा है कि नही।

(७) बैंक स्वय ऋण उसी समय प्रदान करता है जब कि ऋण माँगने वाले

देश को किसी अन्य देश से ऋण प्राप्त नही होता।

(८) ऋणी देश ऋणदाता देश से वस्तुओं के रूप में ऋण लेने के लिए मजबूर नही किया जा सकता।

(९) किसी भी समय में बैंक द्वारा दिये गए ऋणो और जिम्मेदारी लिये गय ऋणों की कुल राशि बैंक की पूंजी (Subscribed Capital) और संचित कोप (Reserve Fund) से अधिक नही होगी। इस प्रकार बैंक के कुल दायित्व उसके कुल साधनों के बराबर रहेंगे।

(१०) दिये गए ऋणो का जोखिम सदस्य देशो मे उनके हिस्सो के अनुपात मे होगा।

बैंक की आलोचना

विश्व बैंक के निम्नलिखित दोष बताये जाते है —

(१) कुछ के अनुसार बैंक ऋणी देशो का पक्ष करता है और इसीलिए उसके सदस्यो में ऋणदाता देशों की अपेक्षा ऋणी देश अधिक है। क्योंकि इसका कार्य बहुमत द्वारा चलता है, इसलिए इस पर ऋणी देशो का नियन्त्रण रहने की सम्भावना अधिक रहती है। परन्तु यह आलोचना न्यायपूर्ण नही है, क्योकि ऋण प्रदान करने की योजना सदस्यो की व्यक्तिगत एवं संयुक्त जिम्मेदारी पर आधारित है। यद्यपि ऋणदाता देश कम है, फिर भी उनके ऋणो का जोखिम सभी सदस्यो पर रहता है। इस प्रकार यह ऋणदाता और ऋणी दोनों ही के हितो को ध्यान मे रखता है।

(२) अन्य लेखकों के अनुसार बैंक की अपेक्षा ऋण प्रदान करने का कार्य और पिछड़े हुए देशों में पूंजी के विनियोग करने का कार्य व्यक्तिगत देशों द्वारा अच्छी प्रकार से किया जा सकता है। परन्तु यह आलोचना भी उचित नही है, क्योकि बैंक व्यक्तिगत देशों के बीच किसी प्रकार से भी कठिनाई उत्पन्न नही करता और न ही उनसे प्रतियोगिता करता है। इसके अतिरिक्त वह ऋण केवल उसी समय देता है जबकि व्यक्तिगत ऋण उपलब्ध नही होते। ऐसे ऋणों के अभाव में ऋणी स्वयं ही बैंक से ऋण लेते है। केवल यही नही, बल्कि ऋणदाता तथा विनियोगकर्ता देशो में जोखिम उठाने की पर्याप्त शक्ति भी नही होती और वह ब्याज की दर भी अधिक चाहते है। इसलिए यह नही समझ में आता कि किस प्रकार व्यक्तिगत ऋणदाता तथा विनियोग कर्ता बैंक की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कार्य कर सकते हैं।

भारत और विश्व बैंक

भारत ने विश्व-बैंक से बहुत अधिक आर्थिक सहायता प्राप्त की है। आर्थिक विकास के लिए भारत को पहला ऋण ४ प्रतिशत ब्याज की दर पर ३४ मिलियन डालर का प्राप्त हुआ, जिसकी अवधि १९५०–५४ है। यह ऋण रेलो के इंजिन खरीदने के लिए लिया गया था। दूसरा ऋण १० मिलियन डालर का ट्रैक्टर खरीदने के लिए सन् १९५२–५६ तक की अवधि के लिए ३½ प्रतिशत ब्याज की दर पर लिया गया था। तीसरा ऋण १८५ मिलियन डालर का ४ प्रतिशत ब्याज की दर पर बुकारो

थेरोमल प्रणाली (Bokaro thermal System) के लिए दिया गया था। इसके अतिरिक्त सन् १९५४-५५ में भारत को दो ऋण और प्राप्त हुए। पहला ऋण टाटा कम्पनी को ट्राम्बे (Tromway) विद्युत योजना के लिए १६२ लाख डालर का था, और दूसरा १ करोड़ डालर का जो कि औद्योगिक साख व विनियोग कारपोरेशन (Industrial Credit Investment Corporation) के लिए था। भारत सरकार ने इन दोनों ऋणों की जिम्मेदारी ली है, क्योंकि यह व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा लिये गए हैं। इस प्रकार अब तक भारत को विश्व-बैंक द्वारा लगभग २०.५२ करोड़ डालर के ऋण मिल चुके हैं। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में भारत ने १२ करोड़ रु० के ऋण, जो विश्व-बैंक से स्वीकृत हुए थे, उसमें से ३१ मार्च १९४६ तक केवल ८.५ करोड़ रु० निकाल कर प्रयोग किये थे। शेष ३.५ करोड़ रु० द्वितीय योजना-काल में व्यय किये जायेंगे। विश्व-बैंक के द्वारा दिये गये ऋणों में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि ऋण की सारी मात्रा उसी काम पर व्यय की जानी चाहिए, जिसके लिए बैंक द्वारा दी गई है। इस नियम का कठोरता से पालन होने के कारण भारत पूरे स्वीकृत ऋणों का प्रयोग नहीं कर सका है। इसीलिए द्वितीय योजना के लिए भारत सरकार ने बैंक से यह प्रार्थना की है कि वह निश्चित उद्देश्य ऋण (Specific Loans) की जगह राशि-ऋण (Block Loans) प्रदान करे, जिसका उपयोग भारत सरकार पर छोड़ दिया जाय जिससे कि वह इस ऋण को जिस कार्यक्रम पर उचित समझे, उसी पर व्यय कर सके। इस प्रकार का ऋण इससे पूर्व आस्ट्रेलिया को विश्व बैंक दे ही चुकी है। इसलिए ऐसा अनुमान है कि भारत को भी द्वितीय योजना काल में राशि-ऋण (Block Loans) मिलने में कोई अड़चन नहीं होगी। अप्रैल, सन् १९५६ में विश्व बैंक का एक विशेषज्ञ दल भारत की प्रार्थना पर द्वितीय योजना की आवश्यकताओं व कार्यक्रमों की योजनाओं का निरीक्षण करने आया था। इस दल ने अनुकूल रिपोर्ट प्रस्तुत की है, अत. आशा है कि शीघ्र ही भारत को और ऋणों की स्वीकृति विश्व बैंक से प्राप्त हो जायेगी।

विश्व बैंक से सबसे अंतिम ऋण भारत को अगस्त १९५६ में प्राप्त हुआ था जिसके अन्तर्गत टिस्को (Tisco) अर्थात् टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिए ७ करोड़ ५० लाख डालर ३$\frac{3}{4}$% सूद की दर पर मिले हैं। इस ऋण का भुगतान सन् १९७१ तक किया जायेगा। अब तक भारत को जितने भी ऋण प्राप्त हुए हैं, उनमें यही सबसे बड़ा है।